पहला खण्ड

अश्क 75

Hindi Premi

अश्क 75

हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार
उपेन्द्रनाथ अश्क
की
पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर
दो खण्डों में प्रकाशित
चुनी हुई रचनाओं
का
पहला खण्ड

अश्क 75

पहला खण्ड

(कथा साहित्य, कविताएँ और समीक्षा)

राधाकृष्ण

प्रकाशकीय

14 दिसम्बर 1985 को हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने जीवन के पचहत्तर संघर्षशील वर्ष पूरे किये। लगभग साठ वर्षों में फैले अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में अश्कजी ने उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, संस्मरण, यात्रा-विवरण, ललित निबन्ध, समीक्षा आदि साहित्य की सभी विधाओं में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

अश्कजी की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर हम इन सभी विधाओं से चुनकर अश्कजी का श्रेष्ठ कृतित्व दो खंडों में प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि पाठकों को अश्कजी के कृतित्व की एक समग्र झाँकी एक स्थान पर उपलब्ध हो सके।

अश्क : 75 के इस पहले खंड में अश्कजी के बहुचर्चित उपन्यास—'पत्थर-अलपत्थर'—के अलावा उनके वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' के अब तक प्रकाशित पाँच खंडों तथा 'गर्म राख' और 'निमिषा' दो अन्य उपन्यासों के अंश संकलित हैं। साथ ही अश्कजी की चुनी हुई कहानियाँ, कविताएँ और समीक्षाएँ दी जा रही हैं।

अश्क : 75 के दूसरे खंड में अश्कजी के अत्यन्त लोकप्रिय नाटक—'अंजो दीदी'—के साथ उनके चुने हुए एकांकी, संस्मरण, यात्रा विवरण, ललित निबन्ध, डायरी के पन्ने प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनके अलावा अश्कजी के आत्म-कथ्य 'आईने के सामने' तथा चुने हुए पत्रों के माध्यम से उनके विवादग्रस्त व्यक्तित्व को परखने का एक झरोखा भी उपलब्ध होगा।

क्रम

उपन्यास अंश

कहानियाँ

कविताएँ

समीक्षा

उपन्यास

उपन्यास-अंश

अश्क जी पिछले पचास वर्षों से अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति—अपना वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें'—लिख रहे हैं। पाँच विशाल खण्डों और लगभग पाँच हज़ार पृष्ठों में फैले इस उपन्यास में अश्क जी ने पंजाब के एक निम्न-मध्यवर्गीय युवक की ज़िन्दगी के पाँच वर्षों का अन्तरंग चित्रण करने की योजना बनायी है। चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और हिन्दी के पाठकों ने ही नहीं, आलोचकों ने भी 'गिरती दीवारें' को मध्यवर्गीय जीवन का महाकाव्य कहकर सराहा है। ज़ाहिर है इतने वृहद, पैनोरैमिक उपन्यास के अंश छाँटना बेहद कठिन काम है, क्योंकि अश्क जी ने बार-बार कहा है, वे अपने उपन्यास में किसी पात्र-विशेष का नहीं, बल्कि चारों ओर फैली ज़िन्दगी का चित्रण कर रहे हैं, जो पंजाब ही की नहीं, बल्कि सारे देश के मध्यवर्ग की कहानी है। तो भी हमने 'गिरती दीवारें' तथा उसके अब तक प्रकाशित अन्य खण्डों—'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्हीं किन्दील' तथा 'बाँधो न नाव इस ठाँव'—से ऐसे अंश चुने हैं जिनसे पाठकों को इस जीवन तथा अश्क जी की शैली की एक झलक मिल सके।

मध्यवर्गीय जीवन अश्क जी के अन्य उपन्यासों में भी चित्रित हुआ है। 'गर्म राख' हो या 'बड़ी-बड़ी आँखें' या 'निमिषा' मगर इन उपन्यासों में अश्क जी की दृष्टि पात्रों और प्रसंगों पर केन्द्रित रही है। 'गर्म राख' में अगर शहरी यथार्थ की विभिन्न झाँकियाँ अंकित हैं, तो 'निमिषा' में मध्यवर्गीय पारिवारिक माहौल के कड़वे-मीठे दृश्य। रहा 'बड़ी-बड़ी आँखें' तो उसमें अश्क जी ने एक राजनीतिक रूपक बुनने के साथ-साथ एक अपूर्व प्रेमकथा भी कही है।

'गिरती दीवारें' के अंशों के साथ हमने इन उपन्यासों का भी एक-एक अंश बानगी के रूप में चुना है।

'गिरती दीवारें' से

"एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को, चलो कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को !"

एक पाँव ताँगे के बम पर और दूसरा अगले पायदान पर रखे, खुले गले का कुर्ता और एड़ियों के नीचे लटकता हुआ तहमद पहने ताँगे पर खड़ा, बायें हाथ से लगाम को हिलाता और दायें से मूँछों को ताव देता हुआ ताँगे वाला आवाज़ लगा रहा था, "चलो भई कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को, चलो कोई एक सवारी···"

चेतन को बड़ी सड़क पार करके बस्ती के अड्डे की ओर बढ़ते हुए देखकर उसने आवाज़ लगायी।

"बैठिए बाबू साहब, बस एक ही सवारी दरकार है।"

अगली सीट पर एक जगह ख़ाली थी। चेतन चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गया। लेकिन ताँगेवाला चला नहीं। तहमद को ऊपर खोंसते हुए, घोड़े को हंटर जमाकर उसने ताँगे को वहीं अड्डे पर एक चक्कर दिया और यद्यपि चार सवारियाँ पूरी हो चुकी थीं तो भी उसने ज़ोर से हाँक लगायी :

"चलो भई कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को !"

चेतन चुप बैठा रहा। पहले की तरह वह ज़रा भी नहीं झल्लाया। एक और सवारी के पैसे भी उसने नहीं दिये। अपने विचारों में मग्न बैठा, वह चुपचाप सामने के मकान की ओर देखता रहा, जिसके परनाले से गन्दा पानी निरन्तर अड्डे के नाले में गिर रहा था।

वह प्रातः जालन्धर पहुँचा था। घर पहुँचकर माँ के पाँव छुए और आशीर्वाद पाने के बाद जब उसने चन्दा के बारे में पूछा तो उसे पता चला कि चन्दा तो सात दिन से बस्ती गयी हुई है। नीला की बारात आज आने वाली है और उसका साला रणवीर दो बार चेतन के सम्बन्ध में पूछ गया है।

तब सितार और दिलरुबा, जिनसे उसका प्रेम कब का खत्म हो गया था और जिनके साथ चिटें लगाकर, उसने सुन्दर अक्षरों में 'चन्दा के लिए' लिख रखा था, एक ओर रखकर, नहा-धो, कपड़े बदलकर वह बस्ती की ओर चल दिया।

चल तो वह दिया था, लेकिन उसका मन जाने को ज़रा भी न हो रहा था। कुछ अजीब-सा संकोच उसके मन में कहीं से आ बैठा था। कविराज का उपदेश, चन्दा से मिलने का सुख, वैवाहिक जीवन का पुलक—सब कुछ उस समय उसे भूल गया था। उसके सामने आ गयी थी नीला, उसके साथ बीती हुई घड़ियाँ, इलावलपुर के वे दिन, उसकी अपनी मूर्खता, नीला की होनेवाली शादी और बीसियों दूसरी बातें। और उसे संकोच होता कि इलावलपुर को अपनी उस मूर्खता के बाद, वह कौन-सा मुँह लेकर नीला के सामने जायगा।

कभी वह सोचता था कि नीला उस घटना को भूल गयी होगी, अपनी शादी में ख़ुश होगी और यह सोचकर वह तेज़-तेज़ कदम रखने लगता। लेकिन फिर उसे ख़याल आता, यदि वह न भूली, यदि वह ख़ुश न हुई···और उसकी गति मन्द पड़ जाती। इसी प्रकार तीव्र-मन्द गति से चलता-चलता वह बस्ती के अड्डे पर पहुँचकर तांगे में आ बैठा था। लेकिन उसकी विचारधारा न टूटी थी। उसे मालूम नहीं कब ताँगा चला, कब बस्ती के अड्डे पर पहुँचा, वह कब उतरा और बस्ती का टेढ़ा-मेढ़ा बाज़ार तै करके पंडित वेणी प्रसाद के मकान के मामने जा पहुँचा।

डेवढ़ी पार करते ही सबसे पहले जिससे उसका साक्षात्कार हुआ, वह थी नीला। आँगन के कोने में नाली पर अपनी पतली बाँह बढ़ाये हुए वह बैठी थी! उसकी कलाई पर जोंकें लगी हुई थीं और उसका लोहू पीकर धीरे-धीरे फूल रही थीं!

पल-भर के लिए चेतन उस गोरी-गोरी कलाई और उससे चिपटी हुई उन भूरी-भूरी जोंकों को देखता रहा। फिर वहाँ से हटकर चेतन की दृष्टि उसके मुख पर गयी। उसे लगा जैसे वह कुछ पीला हो गया है। उसे लगा जैसे नीला कुछ दुबली भी हो गयी है। लेकिन उसने यह भी महसूस किया कि पीली-दुबली होकर वह पहले से भी सुन्दर दिखायी देने लगी है। वह शायद माईयाँ बैठी थी, क्योंकि उसके कपड़े मैले थे और उन पर जगह-जगह उबटन के धब्बे पड़े हुए थे। उन मटमैले कपड़ों में भी उसकी देह का सोना जैसे कुन्दन बनकर दमक उठा था। यौवन अभी पूरे वेग से न उतरा था और वह अर्ध विकसित कली-सी लगती थी, जिसे किसी के स्नेह-स्पर्श ने अभी फूल न बनाया हो।

एक रूखी-सी 'नमस्ते' चेतन की ओर फेंककर नीला फिर अपनी कलाई से चिमटी हुई जोंकों को देखने लगी।

चेतन का समस्त संकोच जैसे पूरे वेग से लौट आया। उसके पास से होकर वह चुपचाप दालान की ओर बढ़ गया और लोहे की ख़ाली कुर्सी पर जा बैठा।

क्या शिमले से इतना फ़ासला उसने केवल यह रूखी-फीकी 'नमस्ते' पाने के लिए तै किया था? उसे खेद हुआ, वह क्यों चला आया इस विवाह में। इलावल-पुर की घटना के बाद उसे कभी नीला के सम्मुख न आना चाहिए था।

उसने कनखियों से नीला की ओर देखा। चेतन की ओर पीठ किये वह लगा

तार उन जोंकों की ओर देख रही थी। एक बार भी पलटकर उसने चेतन की ओर न देखा था। शायद नीला उस घटना को न भूली थी, उसने उसे क्षमा न किया था। वह क्यों चला आया वहाँ ? और उसका जी चाहा कि वापस भाग जाय। लेकिन तभी उसकी बड़ी साली गोद में अपने डेढ़-दो वर्ष के रिरियाते बच्चे को उठाये हँसती-मुस्कराती वहाँ आ गयी।

"नमस्ते जी !" बच्चे के मुँह में निस्संकोच अपना बड़ा बेडौल स्तन देते हुए उसने चेतन का अभिवादन किया।

निमिष-भर के लिए चेतन के कानों में नीला के वे शब्द गूँज गये, जो उसने इलावलपुर में अपनी इस बड़ी बहन के गृह-जीवन के बारे में कहे थे। इस फूहड़ को कौन इंजीनियर पसन्द करेगा—चेतन ने सोचा, किन्तु प्रकट उसने हँसकर कहा, "नमस्ते मीलाजी, कहिए प्रसन्न तो हैं।"

"कहिए कब आये ?" मीलाजी बोलीं, "आपकी राह देखते-देखते तो आँखें थक गयीं।"

"आज ही सुबह आया हूँ," चेतन बोला और फिर उसने नीला की ओर देख कर कहा, "नीला की बाँह में क्या कष्ट है ?"

"फोड़ा उठ आया था कलाई पर, हकीम ने जोंकें लगाने का आदेश दिया है।"

"ब्याह स्थगित क्यों नहीं कर दिया आपने ?"

"लड़के को (दूल्हे को) फिर छुट्टी नहीं मिल सकती। बड़ी मुश्किल से एक महीने की छुट्टी लेकर आया है। सेना की नौकरी ठहरी, फिर निकट हो तो भी कुछ हो सकता है। लेकिन बर्मा से तो बार-बार नहीं आया जा सकता।"

"बर्मा !' चेतन के दिल को धक्का-सा लगा, "क्या करता है वह ?"

"मिलिट्री एकाउंटेंट है रंगून में।"

तब चेतन के सामने नीला का पीला दुर्बल मुख घूम गया। उसके गले में गोला-सा आकर अटक गया। आर्द्र होकर उसने कहा, "लेकिन आपने बड़ी दूर तै की नीला की शादी !"

उत्तर में उसकी साली ने बताया कि लड़का अढ़ाई सौ रुपया मासिक पाता है और नाते में उसका देवर होता है—उसके ससुर के बड़े भाई का लड़का। बड़ा नेक, सहृदय और परिश्रमी है। पाँच वर्ष हुए, उसकी पत्नी मर गयी थी। इसके बाद उसने विवाह नहीं किया। एक से दूसरे स्थान पर बदली होती रहती थी, एक जगह टिक न पाता था। अब उसे विश्वास है कि शीघ्र ही उसकी बदली पंजाब में हो जायगी। इसलिए उसने लिखा था कि उसके लिए लड़की देख दी जाय।

"मुझे पता चला तो मैंने झट नीला की सगाई वहाँ कर दी।" मीला जी ने सोल्लास कहा। और अपनी इस कारगुज़ारी पर खुद ही हँसते हुए उन्होंने स्तन को बरबस जोंक की तरह चिमटे हुए अपने लड़के के मुंह से खींचा और हल्का-सा

थपेड़ा उसकी पीठ पर जमाते हुए कहा, "कमबख़्त इतना बड़ा हो गया है फिर भी मेरी जान खाये जाता है।" तभी शायद काम में व्यस्त चन्दा उधर से गुज़री। तब चिल्लाकर उसे चेतन के लिए कुछ लाने का आदेश देकर चेतन की बड़ी साली पड़ौसिन से बात करने को बढ़ गयी और वह मर्माहत-सा वहाँ बैठा रह गया।

रंगून, विधुर (पाँच वर्ष का), मिलिट्री एकाऊंटेंट—ये तीनों शब्द उसके कानों में बार-बार गूँजने लगे। चेतन ने एक बार फिर नीला की ओर देखा। उसके हाथों से जोंकें उतार ली गयी थीं। फोड़े का उभार कम हो गया था। रक्त-स्राव के कारण उबटन की केसर से मिला उसका पीलापन कुछ और अधिक बढ़ गया था। उसकी आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी, पर उस समय वह तेरह की दिखायी देती थी। यह कली खिलने से पहले ही बिंध जायगी और फिर धीरे-धीरे मुरझा जायगी। चेतन के हृदय में टीस-सी उठी। यदि वह इलावलपुर में पंडित वेणी प्रसाद से वह सब न कहता तो क्या नीला इतनी जल्दी काले कोसों दूर, एक विधुर मिलिट्री एकाउंटेंट की दूसरी पत्नी बनने जाती। अपनी मूर्खता की गुरुता और भी बढ़कर चेतन के सामने आने लगी। उसके लिए वहाँ बैठना दुष्कर हो गया। वह उठा, लेकिन तभी अपने गोल गुलगोथने मुख पर मृदु-हास बिखेरती हुई, तश्तरी थामे चन्दा वहाँ आ गयी।

सारा दिन चोरों की तरह, वह नीला से बातें करने का अवसर ढूँढ़ता रहा। वह ज़रूर उससे नाराज़ थी। वह इतने महीनों के बाद आया था, अगर नाराज़ न होती तो अपनी मुखर चंचलता से घर-भर को गुंजा देती। विवाह में उसकी चंचलता रुक जाय—चाहे वह उसका अपना ही क्यों न हो—ऐसा सम्भव न था। पर वह तो ऐसे यन्त्र-चालित-सी घूमती थी, जैसे विवाह उसका अपना नहीं, किसी दूसरी सर्वथा अपरिचित लड़की का था। चेतन से वह कन्नी काटती रही। सहेलियों, बहनों, भावजों या पड़ौसिनों में घिरी रही। दो-एक संक्षिप्त शब्दों या एक-आध वाक्य के अतिरिक्त उन दोनों में कोई भी बात न हो सकी थी।

"नीला कैसी हो?"

"अच्छी हूँ।"

और वह किसी सहेली से कोई बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहने चल दी।

"नीला तुम तो दुर्बल हो गयी हो।"

"नहीं तो जीजा जी।"

और सहसा भावज से कोई आवश्यक मन्त्रणा करना उसे याद आ गया।

"नीला अब तो तुम बड़ी दूर चली जाओगी।"

"हाँ जीजा जी।"

"नीला तुम मुझसे नाराज़ हो?"

"नहीं जीजा जी।"

और इससे अधिक उत्तर चेतन उससे न पा सका था। उस छोटे-से आँगन में एक साथ इतना कुछ हो रहा था। इतनी चहल-पहल थी, इतने लोग आ-जा रहे थे और फिर इस सब कोलाहल में उसकी बड़ी साली अपने देवर के स्वभाव, वेतन, रहन-सहन आदि का बखान निरन्तर इस प्रकार करती रही थी कि नीला से जुदा होने से पहले उससे खुलकर बातें कर लेने, उससे क्षमा माँगकर हल्का हो लेने का अवसर चेतन न पा सका था। झल्लाकर खाना खाने के बाद वह ऊपर चौबारे में निवाड़ के पलंग पर जा लेटा था।

रंगून के उस विधुर मिलिट्री एकाऊंटेंट की प्रशंसा न जाने चेतन को क्यों अच्छी न लगी थी। लेटे-लेटे उसे खयाल आया कि नीला के इस मौन का कारण कदाचित कहीं इतना अच्छा दुल्हा पाने का गर्व तो नहीं। उसकी साली नीचे आँगन में फिर किसी पड़ौसिन से अपने देवर की प्रशंसा कर रही थी, अपनी बहन के भाग्य को सराह रही थी और लड़का रोक लेने में उसने जिस त्वरा से काम लिया था, उसकी दाद पा रही थी। चेतन के लिए वहाँ लेटे रहना कठिन हो गया। अपने भावी पति के इन गुणों को सुनकर नीला की आकृति पर कैसे भाव आते हैं, यह जानने के लिए वह आतुर हो उठा। झपाके के साथ नीचे गया। दालान के अँधेरे कोने में घुटनों पर ठोढ़ी टिकाये, अपने दोनों हाथ पैरों पर रखे, नीला चुप बैठी थी। न जाने वह अपनी बहन की कोई बात सुन भी रही थी या नहीं। चेतना-हीन, भावना-हीन-सी वह बैठी थी। बहाने से जब चेतन उसके पास जा बैठा तो नीला ने ठोढ़ी के बदले गाल अपने घुटनों पर टिकाकर मुँह दूसरी ओर कर लिया। क्या नीला रो रही है? चेतन का हृदय धक-धक करने लगा। क्या उसे इस शादी का दुख है, क्या उसके हृदय के किसी कोने में अब भी अपने 'जीजा जी' के लिए प्रेम है? और चेतन मन-ही-मन सान्त्वना भरे, पश्चाताप भरे, क्षमा भरे कुछ शब्द सोचने लगा। लेकिन तभी उसकी सास ने नीला को आवाज़ दी। (बारात आने वाली थी और उससे पहले किसी रस्म का पूरा होना आवश्यक था।) नीला उठकर आँगन में गयी तो प्रकाश में चेतन ने देखा कि नीला के मुख पर रोने जैसा कोई चिह्न नहीं। वहाँ दर्प की भी कोई भावना नहीं। राग-द्वेष, उल्लास-विषाद, सुख-दुख का कोई भी भाव वहाँ नहीं। एक विचित्र, कठोर, कठिन उदासीनता-सी वहाँ छायी हुई है। चेतन विमूढ़-सा खड़ा रह गया।

तभी बाहर बारात के आने का शोर मचा और उसकी सास ने उसे बारात के स्वागत को जाने के लिए कहा।

बस्ती के एक एडवोकेट से माँगी हुई ब्यूक मोटर में दुल्हा के रूप में जो व्यक्ति मुँह पर सेहरा लगाये बैठा था, उसे देखकर न केवल चेतन को किसी प्रकार की ईर्ष्या हुई, बल्कि नीला के भाग्य और भविष्य पर उसका हृदय करुणा

से भर आया।

क्या यही वे देवर महोदय हैं, जिनके गुण सुबह से गाये जा रहे थे? बस्ती के एक दरवाज़े से दूसरे दरवाज़े के बाहर धर्मशाला तक (जहाँ बारात के ठहराने का प्रबन्ध था) बारात के साथ जाते-जाते, उसके उतरने और नाश्ते आदि का प्रबन्ध करते-कराते चेतन ने इस मिलिट्री एकाउंटेंट दूल्हे को हर कोण से देख लिया। गंजी होती हुई चाँद पर जवानी की यादगार के रूप में चंद बाल, आँखों के नीचे बढ़ते हुए गढ़े, उभरे हुए जबड़े, पिचके हुए कल्ले, (जहाँ हँसने से तो दूर मुस्कराने ही से झुर्रियाँ पड़ जाती थीं) कृत्रिम दाँत और पेंतीस से चालीस को पहुँचती हुई उम्र—यह था वह 'लड़का', जिसे श्रीमती प्रमिला देवी ने अनदेखे ही अपनी छोटी बहन के लिए चुना था।

बारात को धर्मशाला में उतार कर जब चेतन घर पहुँचा तो उसने रसोई-घर की चौखट में खड़ी अपनी सास को अपनी बड़ी साली से कहते पाया :

"तुमने देखा न था लड़के को मीला ?"

चेतन की बड़ी साली ने आँखों में आँसू भर लिये। "मुझे क्या पता था चाची कि इतनी उम्र है। वह तो बर्मा ही में था जब मैं ससुराल गयी, मुझे तो चित्र दिखाया गया था। पिताजी नीला की सगाई जल्दी करने पर ज़ोर दे रहे थे। अढ़ाई सौ रुपया लड़के का वेतन था। मैंने रोक लिया।"

"बेचारी नीला!" चेतन की सास ने दीर्घ-निश्वास छोड़ा, "वह तो बच्ची है अभी।"

अपनी सास के ये शब्द तीर की तरह चेतन के अन्तर में पैठ गये। उसके लिए वहाँ बैठना, नीला से आँखें मिलाना कठिन हो गया। वह फिर ऊपर चौबारे में चला गया और जाकर अनबिछे पलंग पर लेट गया।

नीला के पिता ने जल्दी की और उसकी बहन ने अनदेखे, अनजाने (रिश्ते में अपने दूर के) देवर का केवल चित्र देखकर उससे अपनी छोटी बहन की सगाई कर दी। लेकिन उनकी इस जल्दी की तह में था क्या? इलावलपुर की वह छोटी-सी घटना, जब नीला ने अपने इस डरपोक जीजाजी के बालों पर हाथ फेरते हुए, प्रेम प्रकट किया था! क्या वह इतना बड़ा दोष था? इतना बड़ा पाप था कि उसको जीवन-भर उस बूदम मिलिट्री एकाउंटेंट से बाँध दिया जाय! उसने क्यों नीला के पिता से वह सब कहा? क्यों वह चुप न रहा? उसे लगा जैसे इस प्रकार नीला का गला घोंटने में समस्त दोष उसी का है। आत्म-भर्त्सना से उसका गला भर आया, उसके सामने नीला और उसके दूल्हे का चित्र साथ-साथ आया और उसके जी में आया कि जाकर नीला के सामने फ़र्श पर माथा पटक दे और उस समय तक न उठाये जब तक वह उसे क्षमा न कर दे। तभी उसने सुना कि चौबारे के बाहर दो स्त्रियाँ धीरे-धीरे मिसकौट कर रही हैं :

"लड़की का गला घोंट दिया बहन ने, ललतो की माँ। कुछ सुना तुमने; चालीस-पेंतालीस वर्ष का होगा दूल्हा।"

"और नीला तो अभी बच्ची है," ललिता की माँ बोली।

"मैंने तो यह भी सुना ललतो की माँ कि यह तो उसकी तीसरी शादी है।"

"तीसरी !" ललिता की माँ आश्चर्य प्रकट कर रही थी कि किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"ललतो की माँ, छन्ने भरने जा रही हैं हम, आओ जल्दी।"

और ललिता की माँ अपनी साथिन को साथ लिये नीचे चली गयी।

"तीसरी शादी !"—ये दो शब्द हथौड़े की निरन्तर चोटों की तरह चेतन के मस्तिष्क को ठकोरने लगे और लेटा रहना उसके लिए कठिन हो गया। वह फिर उठा।

नीचे आँगन में मुहल्ले भर की स्त्रियाँ इकट्ठी हो रही थीं। रणवीर और उसकी पत्नी रस्सी, डोल और मिट्टी के छन्ने (कूज़े-कुल्हड़) लिये हुए छन्ने भरने के लिए चलने को तैयार थी। चेतन के नीचे उतरते-उतरते स्त्रियाँ रणवीर को आगे-आगे किये, नीला को झुरमुट में लिये, छन्ने भरने की रस्म पूरी करने के लिए चल दीं। चेतन चुपचाप उनके पीछे हो लिया।

जब डोल भर कर ऊपर आता तो उसे फिर कुएँ में उलटतीं, रणवीर को सतातीं, गातीं, हँसी-ठिठोली करतीं बस्ती के विभिन्न कुओं से छन्ने भरती हुई स्त्रियाँ, दरवाज़े के बाहर उस धर्मशाला की ओर को मुड़ीं जिसमें बारात उतरी थी तो चेतन उनके साथ नहीं गया, वह सीधा चलता गया। धर्मशाला के आगे की दो-एक दुकानें और लकड़ी के टाल पीछे रह गये। चेतन चलता गया, यहाँ तक कि वह खेतों में पहुँच गया। तब वह एक खेत की मेंड़ पर हो लिया।

तृतीया का चाँद रात के इस पहले पहर ही में क्षितिज की गोद में सो गया था। तारे अपनी टिमटिमाती हुई ज्योत्स्ना से रात के बढ़ते हुए अंधकार को भरसक दूर रखने का प्रयास कर रहे थे। खेतों की मेंड़ों पर जहाँ-तहाँ उगे हुए शीशम के घने पेड़ अपनी सत्ता की सारी भयावहता के साथ प्रहरियों-से खड़े थे। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। केवल दायीं ओर पेड़ों के झुरमुट में रहँट निरन्तर रिरिया रहा था और दूर धर्मशाला में छन्ने भरती हुई स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। चेतन को लगा जैसे रहँट के रिरियाते संगीत में और उन स्त्रियों के गानों में कोई अंतर नहीं, वे भी जैसे उस रहँट ही की भाँति रिरिया रही थीं। उनकी रूह का कोई तार जैसे उनके संगीत में न था, केवल प्रथा की पूर्ति के लिए उनके होंट हिल रहे थे।

चेतन रहँट के पास ही पड़े हुए एक पुराने शीशम के तने पर बैठ गया। एक कुत्ता ज़ोर-ज़ोर से भूँक उठा, कोई चमगादड़ पंख फटफटाता हुआ ऊपर से गुज़र गया और फिर सन्नाटा छा गया। दूर धर्मशाला में स्त्रियाँ छन्ने भर और इस बहाने नीला को दुल्हा के दर्शन कराके चली गयीं। लेकिन चेतन वहीं बैठा रहा और रहँट उसी तरह 'रीं, री' करता रहा।

"जीजा जी, जीजा जी !"

करवट बदल कर चेतन ने आंखें खोलीं। सामने के दरवाज़े से नवोदित सूर्य की धूप सीधी उसकी आंखों में पड़ रही थी। वह जान न सका कि गहरी नींद से उसे यों झकझोरने वाला कौन है ? लेकिन दूसरे क्षण सूर्य की किरणों को सीधे चेतन के मुख पर पड़ने से रोकता हुआ उसका बड़ा साला रणवीर उसके सामने आ गया।

"जीजा जी, हुनर साहब आये हैं।"

"हुनर साहब !" चेतन ने व्यंग्य-भरी दृष्टि रणवीर के उल्लसित मुख पर डाली और करवट बदलते हुए कहा, "तुम चलो रणवीर, मैं कुछ देर बाद आता हूँ।"

रणवीर आशा करता था कि हुनर साहब जैसे प्रसिद्ध कवि का नाम सुनते ही उसके जीजा जी उछल कर उठेंगे और उसके साथ नीचे को भाग चलेंगे, किन्तु चेतन की अन्यमनस्कता और उसकी दृष्टि के व्यंग्य को देखकर उसे कुछ ज़्यादा अनुरोध करने का साहस न हुआ। "वे सुबह से आये हुए हैं। मैं पहले भी दो बार आपको बुलाने आया था, पर आप सोये हुए थे। हमारे सामने के मकान की बैठक में हैं। आप वहीं आइएगा।" एक ही साँस में यह सब जैसे चेतन की गर्दन के पिछले हिस्से को सुनाकर रणवीर चलने को हुआ। लेकिन फिर कुछ रुककर उसने इतना और कहा, "हुनर साहब एक बड़ा सुन्दर सेहरा लिख रहे हैं।"

'सेहरा'—चेतन मन-ही-मन हँसा। न जाने उस सेहरे की रचना में किस-किस कवि की कृति पर डाका पड़ेगा, न जाने वह (अभी लिखा जाने वाला) सेहरा पहले कितने दूल्हों और उनके सगे-सम्बन्धियों को प्रसन्न कर चुका होगा और उसके बल पर हुनर साहब ने कितनी जेबों को हलका किया होगा ? रणवीर की आँखों में जो उल्लास और उसकी वाणी में जो उत्साह था, उसे देखकर चेतन को अपना उस समय का उल्लास और उत्साह स्मरण हो आया, जब पहली बार हुनर साहब से उसकी भेंट हुई थी। मन-ही-मन रणवीर की मूर्खता पर दया-भाव से हँसकर उसने आँखें मूंद लीं।

चेतन सारी रात जागता रहा था। बारात के आने से लेकर विवाह संस्कार के अन्तिम मन्त्र तक खोया-खोया-सा प्रत्येक रस्म को देखता रहा था। नीला के इस अनमेल विवाह पर उसे अतीव दुख था और यद्यपि वह अपने मन को कई तरह से समझा चुका था, किन्तु फिर भी हृदय के किसी कोने में वह अपने-आपको उसका दोषी समझता था। नीला जीते जी, उसके देखते-देखते, कब्र में डाली जा रही थी और वह मजबूर था। और फिर ये बाजे, ये रस्में, ये गीत ! जिस चीज ने उसकी मानसिक पीड़ा और भी अधिक बढ़ा दी थी, वह यही गीत थे। उसने ज्योंही दूल्हे को देखा था उसके कानों में 'सोहाग' के वे बोल गूंज उठे थे जो उसने घर में प्रवेश करते ही सुने थे :

चन्दन दे ओहले ओहले क्यों खड़ी, नी बेटी !
चन्दन दे ओहले
मैं ते खड़ी आँ बाबल जी दे कोल, बाबल वर लोड़िए।
नी बेटी !
केहो जेहा वर लोड़िए ?
बाबल, ज्यों तारियाँ विचों चन्न, चन्ना विच्चों कान्ह,
कन्हैया वर लोड़िए[1]

साँझ को देर तक रहँट के पास बैठे रहने के बाद जब वह लौटा था तो घोड़ी की रस्म कभी की समाप्त हो चुकी थी और लग्नों की तैयारियाँ हो रही थीं। दूल्हा वेदी के नीचे आ बैठा था, पंडित जो हवन की आग सुलगा रहे थे और आँगन में वर और वधू पक्ष के लोग इकट्ठे हो चुके थे। चेतन चुपचाप जाकर आँगन की दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया।

नीला का विवाह आर्य-समाजी रीति के बदले सनातनी ढंग से हो रहा था। पंडित वेणी प्रसाद स्वयं आर्य-समाजी विचारों के थे, किन्तु मध्यवर्गीय घरानों में प्राय: लड़की के पिता का धर्म वर अथवा उसके पिता के विचारों के अनुसार बदलता रहता है। वे समस्त रस्में, जिनका अभाव चेतन को अपने विवाह पर खटकता था, अपने समस्त गुण-दोषों के साथ यहाँ विद्यमान थीं। भाँवरें भी सनातनी ढंग से हो रही थीं। जब गठरी-सी बनी नीला को दो बालिश्त घूंघट काढ़े वेदी के नीचे खारे पर बैठा दिया गया तो सामने बरामदे में बैठी हुई स्त्रियों ने गीत छेड़ दिया।

ओह दिन याद कर कान्हा···

कान्हा ! और चेतन के ध्यान में फिर सुहाग के वे बोल गूंज उठे। "कैसा कान्हा वर ढूंढ़ा है नीला के लिए !' उसने मन-ही-मन कहा और एक व्यंग्यमयी मुस्कान उसके होंठों पर फैल गयी। कौन लड़की है जो चाँद-सा वर नहीं चाहती ! किन्तु चाँद-सा वर क्या सभी को सुलभ है ! उनकी बात तो दूर रही जो स्वयं कुरूपा होने पर भी चाँद-सा वर चाहती हैं, पर उन युवतियों में से भी कितनों को ऐसा वर मिलता है, जो हर प्रकार से ऐसे वर के योग्य हैं ? प्रतिदिन कान्त-कामिनी तरुणियाँ, अनमेल युवकों, अधेड़ों अथवा विधुरों के संग बाँध दी जाती है और ये अपढ़ स्त्रियाँ अपने गीतों में निरन्तर उन्हें 'कान्ह' और 'कन्हैया' बनाया करती हैं। क्या इनके आँखें नहीं ? क्या ये चुप नहीं रह सकतीं ? यदि लड़की का गला घोंटना ही अभीष्ट है तो क्या वह 'सत्कार्य' मौन रूप से नहीं हो

1. ऐ बेटी तू चन्दन के पेड़ की ओट में क्यों खड़ी है ?
मैं तो बाबुल (पिता) के हुजूर में खड़ी हूँ क्योंकि मुझे वर चाहिए ?
ऐ बेटी तुझे कैसा वर चाहिए ?
ऐ पिता जैसे तारों में चाँद और चाँदों में कान्हा, वैसे ही मुझे भी कन्हैया-सा वर चाहिए !

सकता ? क्या इन बाजों-गाजों और बेचारी लड़की के जले हुए दिल को भी जलाने वाले इन गीतों के बिना काम नहीं चल सकता ? चेतन ने देखा उन गाने वालियों में उसकी सास भी थी जिसने साँझ ही को भरे हुए गले से कहा था— 'और नीला तो अभी बच्ची है ?' और वह पड़ोसिन भी थी, जो बोली थी, 'लड़की का गला घोंट दिया बहन ने, ललतो की माँ।' यन्त्र-चालित-सी वे इन घिसे-पिटे गीतों को भावना रहित, निर्लिप्त भाव से गा रही थीं। उनके लिए जैसे इन गीतों का गाना विवाह की इस रस्म की पूर्ति का एक अंग मात्र था।

और चेतन को यह सब सोचते-सोचते उन समस्त रस्मों से घृणा हो उठी— उन अन्धी-बहरी रस्मों से, जो भावनाहीन चक्की की तरह मानवों के हृदय और जीवन कुचले जा रही थीं। क्या कभी ऐसा समाज न बनेगा जो इन रस्मों से आज़ाद हो या जहाँ ये रस्में देखें, सुनें, अनुभव करें और समय के अनुसार (कुर्बानियाँ चाहे बिना) अपना चोला बदलती रहें।

अपने मनोभावों का, उस पीड़ा का जो उसके अन्तर में प्रति पल तीव्रतर हो रही थी, विश्लेषण करते-करते चेतन नीला की मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में सोचने लगा। वह क्या सोचती होगी ? ये गाने और रस्में उसके दिल पर क्या प्रभाव कर रहे होंगे। उसने आँख उठाकर नीला की ओर देखा। गठरी-सी बनी वह चुपचाप बैठी विवाह-सस्कार में योग दे रही थी। चेतन को लगा, जैसे वह मिट्टी का एक बड़ा-सा लौंदा बन गयी है, और उसके अन्तर की बिजली सदा के लिए जमकर रह गयी है।

आँगन की दीवार से पीठ लगाये वह इसी प्रकार खौलता रहा था और विवाह की जंजीर नीला के गिर्द दृढ़ से दृढ़तर होती गयी। वह बैठा रहा था और पंडित ने अन्तिम मन्त्र पढ़ कर घर के बड़े भाई को बधाई दी थी और स्त्रियो ने अल-साये हुए कंठों से नया गाना छेड़ दिया था।

रणवीर के चले जाने के बाद चेतन ने फिर सोने का प्रयास किया। लेकिन उसकी मुँदी हुई आँखों के सामने रात की घटना अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे के साथ घूमने लगी और उसके विश्रृंखल विचार और भी बिखर उठे।

अब, जब नीला सदा के लिए उससे बिछुड़ रही थी, चेतन को महसूस होता था कि वह उसे कितना चाहता है। बाह्य-संयम, समाज के प्रतिबन्धों और नैति-कता के आवरण के नीचे दबा हुआ उसका हृदय घायल पक्षी की तरह छटपटा रहा था। वह गर्व, जो वह नीला के प्रेम को दबाकर, ठुकराकर, सारी बात उसके पिता को बताकर, अनुभव किया करता था, उसे कोरी प्रवंचना दिखायी देने लगा। अपना वही कृत्य जिस पर, अपनी पत्नी के प्रति अपनी वफ़ादारी के विचार से उसे गर्व था, उसे घोर अपराध दिखायी देने लगा।

चेतन की नींद बिलकुल उड़ गयी। उसकी आँखें भी मुँदी न रह सकीं। उसने करवट बदल ली। दिन बहुत चढ़ आया था। प्रकाश से कमरा जगमगा रहा था। नीचे ख़ूब चहल-पहल थी। लेकिन वह उठा नहीं। वहीं लेटा चुपचाप शून्य में देखता रहा।

यदि वह नीला के पिता को सब बात न बताता—उसकी विचारधारा ने एक दूसरा रुख़ पकड़ा तो करता भी क्या? क्या वह चन्दा को छोड़ सकता था? क्या नीला से विवाह कर सकता था? और वह मन-ह
सामाजिक और नैतिक स्थिति में यह कब सम्भव थ
विवाह किसी सुन्दर, स्वस्थ, तरुण से होता तो क्या व
उसका यही कृत्य जो पाप बनकर रह गया था, पुण्य
परिचय एक अति सुन्दर स्वस्थ लड़के के साथ हुआ थ
और वह नीला के जेठ का लड़का था। चेतन ने सोचा
से न होकर भतीजे से होती तो कितना अच्छा होता
किसी सम्पन्न किन्तु मूर्ख, कुरूप लड़की से ब्याहा जा
का पति बनेगा जो कदाचित भतीजे के लिए उपयुक्त
कि उसके, नीला के, त्रिलोक के, इस जर्जर मध्यवर्ग के समस्त स्त्री-पुरुषों के गिर्द रूढ़िग्रस्त समाज की लौह-दीवारें खड़ी हैं। क्या यह दीवारें कभी न गिरेंगी? क्या इनकी चारदीवारी में घुटकर मरने वाले स्वतन्त्र होकर कभी सुख की साँस न ले सकेंगे।

बाहर गली में बाजे बजने लगे। बारात शायद खाना खाने के लिए आ रही थी। चेतन उठा। उँगलियों में उँगलियाँ डालकर उसने एक लम्बी अँगड़ाई ली। अपने उन्मन विचारों को सिर के एक झटके से दूर करने का प्रयास करते हुए वह बाहर निकल गया।

नहा-धोकर जब वह गली के चौक में गया तो बारात खाना खा चुकी थी और खादी का कुर्ता-धोती पहने, बड़ी अदा से हाथ में कागज़ लिये हुनर साहब खड़े थे। रणवीर ने बड़े गर्व स्फीत शब्दों में उनकी कवित्व शक्ति का परिचय दिया था और वे सेहरा पढ़ने वाले थे। चेतन ने सोचा कि सेहरा पढ़ा गया होगा। उसके जी में आया कि मुड़ जाय, लेकिन इस तरह आकर चला जाना किसी को बुरा न लगे, इसलिए वह एक ओर जाकर चुपचाप खड़ा हो गया।

सेहरा पढ़ने से पहले उन्होंने एक छोटा-सा भाषण देना आवश्यक समझा। बताया कि उनका सम्बन्ध वर तथा वधू दोनों पक्षों से है। जन्म उन्होंने जालन्धर में लिया है, लेकिन जवानी के दिन उनके अमृतसर में बीते हैं। इसलिए यद्यपि वे वधू-पक्ष की ओर से आये हैं तो भी उन्हें अधिकार होता है कि वर का सेहरा पढ़ें। और इस तरह वर के साथ अपना नाता स्थापित करके उन्होंने सेहरा

पढ़ना शुरू किया।

वही पुरानी तर्ज़ और वही पुराने विचार—सेहरे और दूल्हे की प्रशंसा में चाँद-तारों की उपमाएँ। हर शेर के बाद चेतन सोचता—क्या इस कवि को दिखायी नहीं देता कि दूल्हे के मुख से एक भी उपमा मेल नहीं खाती। रात स्त्रियों के गीतों को सुनकर उसके हृदय में क्रोध का जो बवण्डर उठा था, वह इस सेहरे को सुनकर फिर हरहरा उठा। तभी हुनर साहब ने उपस्थित जनों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हुए शेर पढ़ा :

यह तार हैं सेहरे के गर सीमीं शुआएँ तो
अपने में है आरिज़ भी दूल्हे का महे कामिल[1]

चेतन और न सुन सका। अधेड़ उम्र के इस गंजे विधुर को पूर्णिमा का चाँद कहना! चेतन को लगा कि न केवल सेहरा पढ़ने वाला ही अन्धा है, बल्कि सुनने वाले भी आँखों से वंचित हैं। उसका ध्यान सहसा रणवीर की ओर गया। विस्फारित नेत्र, सिर से पैर तक मानो कान बना वह खड़ा था। ऐसा लगता था जैसे हुनर साहब के मुखारविन्द से निकला हुआ प्रत्येक शब्द अमृत समान वह पी रहा है। चेतन ने चाहा जाकर दो थप्पड़ उस बूदम के मुँह पर जमा दे। सेहरा पढ़ने के लिए हुनर साहब को बुला लाया है! यदि कहीं उसकी अपनी बहन इस जैसे दूल्हे से ब्याही जाती, चेतन ने सोचा, तो वह सेहरे के बदले मरसिया पढ़ता फिर चाहे उसके पिता मार-मारकर उसकी चमड़ी ही क्यों न उधेड़ देते।

लेकिन उसने रणवीर से कुछ भी नहीं कहा। केवल मन-ही-मन 'गधे' का खिताब देकर उसे दाँतों में 'गदहा' कहकर वह चुपचाप वहाँ से खिसक आया।

नीला गठरी-सी बनी दालान के एक कोने में बैठी थी। सहानुभूति का एक अथाह सागर उसके लिए चेतन के हृदय में ठाठें मार उठा। वह उसके पास पड़ी हुई लोहे की कुर्सी पर जा बैठा। किन्तु नीला ने उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। वह बैठी रही और पाँव के अँगूठे से धरती पर बे-नाम की शक्लें बनाती रही।

चेतन नीला से कुछ कहना चाहता था। पर क्या कहे, उसे सूझ न पाया। वह चुपचाप बैठा रहा और नीला ही की तरह पाँव के अँगूठे से धरती पर बेनाम की शक्लें बनाने लगा।

सहसा बाहर ज़ोर-ज़ोर से बाजे बज उठे। शायद हुनर साहब ने सेहरा खत्म कर दिया था और बारात वापस जाने को तैयार थी। तभी बाहर आँगन में चेतन को अपनी बड़ी साली के दो शब्द सुनायी दिये, "चले आओ इधर त्रिलोक, यह रही इधर तुम्हारी चाची।"

1. सेहरे के तार यदि चाँद की किरणें हैं तो वर का मुख पूर्णमासी का चाँद हैं।

दूसरे क्षण हँसता-लजाता त्रिलोक दालान की चौखट में आ खड़ा हुआ। चेतन उसके लिए कुर्सी छोड़कर अलग हो गया।

"नीला यह है त्रिलोक, तेरे जेठ का लड़का।"

चेतन की दृष्टि उस नवयुवक पर गयी। पंच-शर-हस्त मदन-सा सुन्दर! फिर उसने नीला की ओर देखा—रति क्या इससे अधिक रूपवती होगी?

तभी त्रिलोक ने कहा, "चाची जी नमस्ते!"

नीला ने आँख उठाकर देखा। चेतन को लगा जैसे क्षण-भर के लिए नीला की दृष्टि त्रिलोक के मुख पर रुकी, उसका पीला-सा मुख लाल हो उठा और उस अँधेरे में उसकी उदास आँखों में एक अज्ञात-सी चमक कौंध गयी।

साडा चिड़ियाँ दा चम्बा वे
बाबल असाँ उड़ जाना।
साडी लम्बी उडारी वे
खबरे किस देस जाना?

आधी रात की निस्तब्धता में यह करुण गीत, जैसे किसी दूरस्थ प्रदेश से आकर निरन्तर चेतन के कानों में दर्द उँडेल रहा था। उसका गला भरा आ रहा था और आँखें आर्द्र हो चली थीं।

नीला की शादी हो गयी थी। चेतन अपनी पत्नी को वापस जालन्धर ले आया था। यद्यपि चन्दा इतने दिनों के बाद उससे मिली थी और यद्यपि आकाश पर बादल रिमझिमा रहे थे और ऋतु अत्यन्त सलोनी और सुहानी थी, लेकिन जब वह उसके साथ बरसाती के एकान्त में, एक ही चारपाई पर सोया तो उसके मन में ज़रा भी प्यार न जगा। उसकी बाँह पर अपना सिर रखे, उसके गदराये गर्म वक्ष से लगा वह चुपचाप छत की ओर देखता रहा था। चन्दा ने एक-दो बार बात चलाने का प्रयास भी किया, पर चेतन के संक्षिप्त उत्तरों ने उसे हतोत्साह कर दिया था। इस एक-डेढ़ वर्ष के साहचर्य के बावजूद चन्दा कभी प्यार में पहल न कर पायी थी। वह कई दिनों की थकी हुई थी, इसलिए चेतन की उदासीनता ने उसके शरीर में सोयी हुई नींद उसकी पलकों में भर दी थी और वह चेतन से शिमले के बारे में बातें पूछते-पूछते सो गयी थी।

उसका इस तरह सो जाना चेतन को बुरा लगा था, लेकिन उसका ध्यान उस समय अपने अथवा अपनी पत्नी के मानापमान की ओर न था। उसके सामने तो नीला की विदाई की दृश्य बार-बार आ रहा था और उसके कान निरन्तर सुन रहे थे—वही मधुर करुण गीत:

साडी लम्बी उडारी वे, खबरे किस देस जाना।

लम्बी उड़ान! कितनी लम्बी!! कहाँ जालन्धर और कहाँ रंगून? न

जाने सदियों पहले अपने मायके और सहेलियों से दूर, अपनी ससुराल में बैठी किस दुखिनी की भावनाएँ इस करुण गीत में फूट पड़ी थीं। सदियाँ बीत गयीं, पर उस दुखिनी की परवशता उसी प्रकार बनी हुई है।

चेतन सोचता था इस गीत को सुनकर नीला के हृदय पर क्या बीत रही होगी? कितना पूरा उतरता था उसकी स्थिति पर यह गीत:

साडी लम्बी उडारी वे···

बाहर वर्षा थम गयी थी। चेतन उठकर छत पर चला आया। बादल छँटकर नीलाम्बर पर बहे जा रहे थे। हल्की-हल्की समीर चल रही थी। दूर सामने के मकान की ओट में छिपा हुआ पचमी का चाँद अपनी मन्द ज्योत्स्ना से काली छत को बादलों की बराबरी करने से रोक रहा था। चेतन के देखते-देखते रजत-वक्र सींग की नोंक-सी छत के ऊपर बादल से बाहर निकलने लगो। आकाश में कई जगह फटे हुए मेघों में नीलिमा चमक उठी, नीचे अन्धकार में सोये-खोये-से मकानों की रेखाएँ उभर आयीं। धीरे-धीरे वह वक्र-सींग बाहर निकल आया, कुछ क्षण तक बहते हुए बादलों पर तैरता रहा; फिर शायद कोई भयानक काला बादल चढ़ दौड़ा और वह रजत सींग जैसे एक ओर से निकला था, वैसे ही दूसरी ओर से बढ़ती हुई उस कालिमा में डूब गया। मकान की छत फिर बादलों की बराबरी करने लगी। मकानों की रेखाएँ फिर तिमिर के उस बढ़ते सागर में डूब गयीं।

चेतन कुछ क्षण छत पर चक्कर लगाता रहा, फिर सीमेण्ट की ठण्डी, गीली शहनशील पर बैठ गया। बायीं ओर मकानों की छतों के ऊपर दिखायी देता हुआ 'बरने पीर' का नीम एक बड़ा-सा धब्बा बनकर रह गया था। चेतन निर्मिमेष उस धब्बे की ओर देखता रहा, फिर उसी धब्बे पर नीला के विवाह की समस्त घटनाएँ अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे के साथ चित्रित हो उठीं।

त्रिलोक के प्रति नीला की आँखों में जो चमक पैदा हुई थी, उसने चेतन के मन में अज्ञात रूप से कहीं एक छोटा-सा ईर्ष्या का अंकुर उत्पन्न कर दिया था और रात होते-होते अंकुर एक पेड़ का आकार धारण कर गया था।

दिन-भर चेतन उखड़ा-उखड़ा-सा घूमता रहा था। अपने सहपाठी मित्रों को उसने उनके घरों में जा खोद निकाला था और उनकी संगति में किसी-न-किसी तरह वक्त का गला घोंटकर वह संध्या को अपने चौबारे में जा लेटा था। जब बारात खाना खाने आयी थी तो वह अस्वस्थता का बहाना करके वहीं लेटा रहा था।

किन्तु जब बारात जाने लगी और बाजे बजने लगे तो उसके लिए वहाँ लेटे रहना कठिन हो गया था। उठकर वह आँगन की मुँडेर पर जा बैठा और जब नीचे आँगन में उसने त्रिलोक की आवाज़ सुनी तो उसका दिल धक-धक

करने लगा !

नीचे चची और जठीए (जेठ के लड़के) में क्या बातें हुई, यह चेतन न जान सका, लेकिन जब त्रिलोक चला गया तो वह सब जानने के लिए वह आतुर हो उठा। अपनी छोटी साली शीला को अपने 'जीजा जी' के लिए पानी का गिलास लाने का आदेश देकर वह फिर अन्दर चारपाई पर जा लेटा था। जब शीला गिलास ले आयी तो उसने एक घूंट भरकर गिलास को सिरहाने के ताक में रख दिया और अपनी उस नन्ही-मुन्नी साली को गोद में लेकर पूछा : "नीचे कौन आया था शीलो !"

और भोली-भाली शीला ने अपने जीजा जी की प्यार-भरी गोद में बैठे-बैठे सब कुछ बता दिया था कि, "और कौन आता, त्रिलोक आया था। नीला बहन से मज़ाक करता रहा। बेचारी नीला लजा-लजाकर रह गयी लेकिन उसे शर्म न आयी।"

और अपने जीजा जी के गले में बाँहें डालकर उसने कहा, "आप तो बडे 'बीबे'[1] हैं जीजा जी, पर त्रिलोक बड़ा 'गोला'[2] है।"

"क्या मज़ाक किये त्रिलोक ने तुम्हारी बहन से, शीलो ?"

पर शीलो बेचारी इस बारे में अपने जीजा जी को कुछ न बता सकी। चेतन ने अन्दर-ही-अन्दर त्रिलोक की इस आदत पर जलकर अपनी साली को गोद से उतार दिया और अनमना-सा लेट गया।

त्रिलोक के प्रति यह जलन कैसी ? निमिष-भर के लिए चेतन के मन में ध्यान आया था कि उसे नीला के पति के प्रति क्यों ईर्ष्या न हुई जिसने नीला का सब कुछ हथिया लिया था, उसके इस भोले-भाले तरुण भतीजे के प्रति क्यो हुई ?

लेकिन इस प्रश्न पर विचार करके उसका ठीक उत्तर ढूंढ़ सके, ऐसी स्थिति चेतन के मन की न थी ! नीला का पति कुरूप था और चेतन के हृदय में यह सत्य अज्ञात रूप से छिपा हुआ था कि नीला अपने तन को भले ही अपने पति के चरणों पर रख दे, उसका मन उसे कभी न मिलेगा। वह मन उसके जीजा जी का ही रहेगा, चेतन को इस बात का विश्वास था। और उन मिलिट्री-एकाउंटेण्ट के प्रति ईर्ष्या के बदले एक दया का भाव उसके मन में वर्तमान था।

और यह त्रिलोक, इसने उस विश्वास को डिगा दिया था, और नीला के तन और मन दोनों से वंचित हो जाना कदाचित चेतन को प्रिय न था। वह बेचैनी से निरन्तर करवटें बदलता रहा था।

रात को चन्दा उसे स्वयं खाना खिलाने आयी थी और उसने चेतन को बताया कि सुबह ही नीला विदा हो जायगी। वर को शीघ्र ही अपनी नौकरी पर जाना है, इसलिए तीन से अधिक 'रोटियाँ'[3] वे लोग नहीं चाहते, सुबह नाश्ते के

1. बीबा—अच्छा। 2. गोला—बुरा। 3. दावतें

बाद ही वे नीला को विदा कराके ले जायेंगे। चन्दा ने उससे यह भी प्रार्थना की थी कि यदि उसकी तबीयत ज़्यादा खराब न हो तो नीला की विदाई के समय चेतन को अवश्य नीचे जाना चाहिए। गौना साथ ही दिया जा रहा था, इसलिए चन्दा ने उसे बताया था कि पहले नीला सुबह ही विदा होकर बारात के अड्डे (धर्मशाला) में जायगी। फिर जब बारात नाश्ते को आयेगी तो साथ ही उसे भी लेती आयेगी और दस बजते-बजते दूसरी और अन्तिम विदाई हो जायेगी। चन्दा ने पाँच रुपये भी उसके सिरहाने रख दिये थे कि विदाई के समय वह नीला के हाथ में रख दे।

चेतन ने कुछ उत्तर न दिया था। रुपये चेतन ने तकिये के नीचे रख लिये थे और चुपचाप लेटा रहा था। तब चन्दा ने पूछा था : "क्या आपकी तबीयत कुछ ज़्यादा खराब है ?"

"नहीं-नहीं, कोई ऐसी बात नहीं, मैं दे दूंगा शगुन के रुपये !" और चन्दा आश्वस्त होकर नीचे चली गयी थी।

लेकिन चेतन की तबीयत वास्तव में खराब थी। तन मे न सही, मन से वह अस्वस्थ था। वहीं लेटे-लेटे एक बार फिर उसके सामने इलावलपुर की वह घटना घूम गयी। किस तरह उसकी बीमारी की खबर सुनते ही नीला उसकी सेवा-सुश्रूषा में आ जुटी थी, उन चार-छह दिनों में वह कितना उसके समीप आ गयी थी। लेकिन अब···? वह कितना भी बीमार क्यों न हो जाय, वह न आयेगी। चेतन का जी चाहा, वह सचमुच बीमार पड़ जाय, मरणासन्न हो जाय। वह मर रहा है, यह सुनकर तो वह एक बार ज़रूर आयेगी। मरकर वह अपने उस पाप का प्रायश्चित्त कर देगा जो उसने अनजाने ही नीला का जीवन नष्ट करने में किया था। तब उसकी विकृत-अस्वस्थ-कल्पना के सामने उसकी अपनी मृत्यु का दृश्य भी घूम गया—वह मर रहा है, चन्दा उसके सिर को गोद में लिये बैठी है। उसकी सास, उसकी माँ, उसके भाई सब आँखों में आँसू भरे उसके आस-पास बैठे हैं। बाहर बाजे बज रहे हैं। नीला को जाना है। वह रुक नहीं सकती। उसके मिलिट्री-एकाउंटेण्ट पति मिलिट्री के नियन्त्रण से बँधे हैं। उन्हें रंगून पहुँचना है। उनकी नव-परिणीता पत्नी के 'जीजा जी' की बीमारी या मौत कुछ भी उन्हें नहीं रोक सकता। जाने से पहले नीला क्षण-भर के लिए आती है। अपने जीजा जी को मरणासन्न देखकर दो आँसू आप-से-आप उसके गालों पर ढुलक आते हैं। फिर वह चुपचाप उसके चरणों को छूकर, मुंह फेरकर भाग जाती है।

नीचे आंगन में किसीने उसकी पत्नी का नाम लेकर पुकारा था। चेतन की कल्पना का तार झन से टूट गया था। अपनी इस मूर्खता पर वह ज़ोर से हँस पड़ा था।

लेकिन उसकी हँसी ज़्यादा देर उसके होंठों पर नहीं रही। उसकी आँखों के

सामने से अचानक एक पर्दा उठ गया था। अपना वास्तविक नग्न रूप उसके सामने आ गया था। वह नीला को चाहता है, इस डेढ़ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अंग को उसी शिद्दत से चाहता है, जिस शिद्दत से उसने उसे उस दिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने बस्ती गज़ाँ आया था और उसने नीला की चंचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहना और उसकी शिद्दत में ज़रा भी तो कमी नहीं आयी थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह यह सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थीं, कल्पना में गिर गयी थीं और उसके प्रेम की लौ, जिसे फ़ानूस की बिल्लौरी दीवार ने धुंधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी। चेतन ने बेचैनी से करवट बदली।

और उसकी रात करवटें बदलते गुज़र गयी थी। दूर किसी मुर्ग़ ने प्रातः की अज़ान दी जब उसका मस्तिष्क थक कर सो गया था।

सुबह जब वह जगा था तो बारात नाश्ता खाकर जा चुकी थी। नीला की पहली बिदायगी हो चुकी थी और वह दूसरी और अन्तिम बार जाने को तैयार थी।

"जीजा जी उठिए, जीजा जी उठिए!" शीला के निरन्तर झकझोरने से वह उठा था और यद्यपि उसने, 'चलो मैं आता हूँ शीलो' कहकर फिर लेटने का प्रयास किया था, किन्तु शीला ने उसे सोने न दिया था, "चन्दा बहन ने आपको बुलाया है," उसने उसे फिर झकझोरा था, "नीला जा रही है!"

वह उठकर बैठ गया था और शीला नीचे भाग गयी थी। लेकिन चेतन नीचे न गया था। मन में उसने निश्चय कर लिया था कि जब नीला लम्बा-सा घूंघट निकाले अपने बड़े भाई या चाचा की गोदी में बैठ, अपने वर के पीछे-पीछे जाकर ताँगे में बैठ जायगी तो वह बिना उससे आँखें मिलाये उसके हाथ में पाँच रुपये की भेंट दे आयगा।

न जाने क्यों, न जाने कहाँ से, एक अज्ञात क्रोध उसके मन में आकर बैठ गया था। वह सोचता भी था वह किससे रूठा हुआ है? नीला से! उससे रूठने का उसे क्या अधिकार है? इसका उत्तर उसे न मिला था। लेकिन उत्तर न पाकर उसके मन का क्रोध कम न हुआ था और न वह वहाँ से हिला ही था।

अभी शीला को गये चन्द ही मिनट हुए होंगे कि चन्दा भागी-भागी ऊपर आयी, "चलिए भी! आप अभी तक यहीं बैठे हैं।"

"तुम घबराओ नहीं," चेतन ने अपनी पत्नी को आश्वासन देते हुए कहा था, "मैं जा कर नीला का शगुन दे आऊँगा। अभी मेरे सिर में चक्कर आ रहे हैं।"

"आपकी तबीयत खराब है तो आराम कीजिए," चन्दा घबरा गयी थी, "क्या करूँ इतना काम है नीचे कि आपके पास बैठ नहीं पायी। नीला की बिदा-

यगी हो जाय तो आपके सिर में तेल मल दूंगी। लाइए रुपये दे दीजिए, आपकी ओर से मैं ही शगुन दे दूंगी।"

लेकिन चेतन को यह स्वीकार न था। नीला से चाहे उसका साक्षात्कार न हो, लेकिन वह उसकी अन्तिम झलक अवश्य पा लेना चाहता था। चन्दा को तसल्ली देते हुए बोला, "नहीं, नहीं कोई ऐसी बात नहीं, तुम चलो मैं आता हूँ।"

और चन्दा के जाने के बाद वह इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि कब बाजे बजने लगें, कब स्त्रियाँ नीला को लेकर गाती हुई चलें तो वह भी नीचे उतरकर उनके पीछे-पीछे हो ले।

तभी बाजे बजने लगे और स्त्रियोंने गीले, भारी स्वर में गाना शुरू किया :

साडा चिड़ियाँ दा चम्बा वे
बाबल असाँ उड़ जाना
साडी लम्बी उडारी वे
खबरे किस देस जाना?

चेतन के जी को कुछ होने-सा लगा था। उसे अपने-आप पर क्रोध हो आया था। क्यों उसने चन्दा को रुपये न दे दिये। उसका जी कहीं भी जाने को न चाहता था। वह तो चाहता था, वहीं लेटा रहे और इतने दिन से मन में एकत्र होने वाली घटनाओं को आँखों के रास्ते बहा दे।

क्षण-भर को वह फिर लेट गया। जब बाजे दूर चले जायँगे तब वह उठेगा, उसने मन-ही-मन सोचा और करवट बदली। लेकिन तभी सीढ़ियों में उसे गहनों-कपड़ों में लदी नीला छम-छम करती हुई आती दिखायी दी।

चेतन उठकर बैठ गया। उसका दिल धक-धक करने लगा।

नीला चौखट में आकर खड़ी हो गयी। दोनों हाथ बाँधकर मस्तक तक ले जाते हुए उसने लगभग आर्द्र स्वर में कहा, "जीजा जी नमस्ते, मेरी भूल-चूक क्षमा कर दीजिएगा।"

वह तेजी से मुड़ने को थी कि चेतन ने उठकर उसका हाथ थाम लिया। उसके क्रोध, ईर्ष्या, दर्द की चट्टानें जैसे नीला के एक ही वाक्य से पानी-पानी होकर बह चलीं।

"नीला मुझे माफ़ कर दो, मैंने सचमुच तुम्हारा बड़ा अपराध किया है।" और वह उसके चरणों में झुक गया!

"जीजा जी आप क्या करते हैं!" नीला ने उसे कन्धों से थामा, और फिर पीठ मोड़कर वह सिसकी को दबाती हुई नीचे को भाग गयी।

बादलों की नयी तहें आकाश पर छा गयी थीं। पंचमी के चाँद की ज्योत्स्ना गहरे अंधकार में जा छिपी थी। मकान, उनकी छतें, बरसातियाँ और बरने पीर का नीम सब अंधकार का अंग बन गये थे। एक दो-बूंदें चेतन की नाक पर गिरीं। उसके

विचारों का क्रम टूट गया। गीली शहनशीन पर बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी। वह उठा और अन्दर बरसाती में चला गया।

चन्दा गहरी नींद सो रही थी। चेतन चुपचाप उसके साथ जा लेटा। यौन-सम्बन्ध पर कविराज का उपदेश उसके कानों में गूंज उठा। उसे अपना प्रण भी याद आया और वह मन-ही-मन हँस दिया। कहाँ है उसका वह प्रण, उसकी वह वासना, उसकी नसों में तरल आग का उबाल। उसकी पत्नी उसके पास लेटी है, उसका गर्म गदराया शरीर उसके शरीर के साथ सटा हुआ है, लेकिन पास-पास लेटे हुए भी उसे लगता है जैसे वे एक-दूसरे से कोसों दूर हैं; जैसे एक अभेद्य, अदृश्य दीवार उन दोनों के बीच खड़ी है।

वहीं लेटे-लेटे अंधकारमय-शून्य में उनींदी आँखों से तकते-तकते चेतन को लगा कि यह दीवार उसके और पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक के मध्य भी है, और जब उसने और भी सोचा तो जाना कि नीला और त्रिलोक के मध्य ही नहीं, बल्कि इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अगनित दीवारें खड़ी हैं—कविराज में और उसमें, उसमें और जयदेव में, जयदेव में और यादराम में—इन दीवारों का कोई अन्त नहीं। उस तिमिराच्छन्न निस्तब्धता में चेतन ने अगनित प्राणियों की मूक सिसकियाँ सुनीं जो इन दीवारों में बन्द थे और निकलने की राह न पा रहे थे। इन दीवारों की नींव कहाँ है ? ये कब गिरेंगी, कैसे गिरेंगी ? बार-बार सोचने पर भी चेतन को कुछ मालूम न हो सका। उद्विग्न-व्यथित वह उठकर घूमने लगा।

बाहर ज़ोर-ज़ोर से वर्षा होने लगी और आँगन के जँगले पर पड़ी हुई टीन की चादरें वर्षा के निरन्तर थपेड़ों से क्रन्दन कर उठीं।

'शहर में घूमता आईना' से

जालन्धर के इस कल्लोवानी मुहल्ले में न जाने कब से क्षत्री-ब्राह्मणों में ठनी आ रही थी। इस संघर्ष का सूत्रपात न जाने राज-सत्ता के लिए अपनी कशमकश से हुआ अथवा ब्राह्मणों की चातुरी के चंगुल में फँसे क्षत्रियों ने विद्रोह कर दिया (जिन्हें गर्भाधान संस्कार से लेकर नवजात-शिशु के जन्म, छठी, ग्यारहवीं, मुण्डन, यज्ञोपवीत, सगाई, विवाह, मरण, चौथे, तेरहवीं और उसके बाद हर वर्ष श्राद्धों पर ब्राह्मणों का घर भरना पड़ता था।) जो भी हो, इसी प्रतिद्वंद्विता के कारण शायद विश्वामित्र को, क्षत्री होते हुए भी, ब्रह्मर्षि कहलाने की सूझी अथवा महामन्त्री पुष्यमित्र को ब्राह्मणों का राजवंश चलाने की। यह प्रतिद्वन्द्विता जालन्धर के इसी कल्लोवानी मुहल्ले में इस परिभ्रष्टावस्था को पहुँच गयी थी कि क्षत्री (जो अब खत्री कहलाते और रण-क्षेत्र के बदले व्यापार-क्षेत्र में तीर चलाते थे) ब्राह्मणों को (जो 'बाह्मन' रह गये थे और ज्ञान-दान देने के बदले केवल दान-दक्षिणा लेते थे) 'बाह्मन कुत्ते' कहते थे और ब्राह्मण क्षत्रियों को चोर और बेईमान। दोनों ने एक-दूसरे के बारे में बड़ी टुच्ची लोकोक्तियाँ बना रखी थीं। जो ब्राह्मण पढ़-लिख गये थे, उन्होंने दान-दक्षिणा लेना छोड़ दिया था और खत्रियों ने जन्माष्टमी आदि त्योहारों पर ब्राह्मण-कन्याओं और कुमारों को भोजन पर बुलाने के बदले खत्री-कन्याओं और कुमारों को भोजन पर बुलाना शुरू कर दिया था।

मुहल्ले में खत्रियों का ज़ोर था—अधिकांश घर भी उन्हीं के थे और खाते-पीते लोग भी वे ही थे। ब्राह्मणों के तीन घर थे और तीनों पुरोहितों के, जिनका काम न्योते खाना और यजमानों की चिरौरी करना रहा था, इसलिए ब्राह्मण दबकर रहते थे और खत्री उन्हें दबाकर रखते थे।

लेकिन चेतन के पिता, उस ज़माने में, जब हज़ारों में कोई बिरला ही मिडल तक जाता, मैट्रिक तक पढ़ गये थे और रेलवे में मुलाज़िम हो गये थे। फिर वे मुहल्ले ही के नहीं, शहर-भर के प्रसिद्ध लड़ाके थे और उनके आगे खत्रियों की एक न चलती थी···लेकिन वे तो सिगनेलर होकर नॉर्थ-वेस्टर्न रेलवे के दूरस्थ स्टेशनों पर चले गये। पीछे रह गयी उनकी दादी गंगादेई और नव-परिणीता

पत्नी लाजवन्ती—चेतन की माँ।

चेतन ने जब से होश सम्हाला था, वह अपनी माँ के मुँह से उस जुल्म के किस्से सुनता आया था, जो धन के दर्प में चूर उन खत्रियों के हाथों उन्हें निरन्तर सहना पड़ा था। एक किस्सा तो उसने इतनी बार सुना था कि कमज़ोर होने पर भी उसका ख़ून उबल उठा करता था।

बात उस वक्त की है, जब चेतन के पिता रिलीविंग में थे और हिसार स्टेशन पर स्थानापन्न सिगनेलर के रूप में काम कर रहे थे और चेतन की माँ, परदादी गंगादेई के साथ, उसी खँडहर-से मकान में रहती थी। तभी एक दोपहर मुहल्ले में अचानक शोर मच गया। हुआ यह कि पण्डित शादीराम का पागल चाचा चूनी, जो शहर भर में नंग-धड़ंग घूमता रहता था, कहीं मुहल्ले में आ गया। उनके पड़ोसी लाला जीवनलाल की बीवी दम्मो को (जिसे ब्याह कर आये हुए ज़्यादा वर्ष नहीं हुए थे) जाने क्या शरारत सूझी कि सूत अटेर कर गुच्छी बनाते हुए ख़ाली अटेरन उसने उसके चूतड़ों में दे दी। वह ठहरा पागल, पलट कर उसने एक थप्पड़ दम्मो के जड़ दिया। तब दम्मो सिर और छाती पीटती अपने पति और तीनों देवरों को बुला लायी और उन्होंने उस पागल को इतना पीटा कि उसका सारा बदन नीला हो गया। पिटता-पिटता वह किसी तरह घर के अन्दर आ गया और चेतन की माँ ने किवाड़ बन्द कर लिये। खत्रियों ने इसी पर बस नहीं की। वे किवाड़ तोड़ने लगे कि जिस तरह दम्मो के थप्पड़ लगाया है, उसी तरह चेतन की माँ के थप्पड़ मारेंगे। तीन दिन तक (ऐसा चेतन की माँ ने बताया) वे दोनों मकान में बन्द रहीं और खत्री आते-जाते गालियाँ बकते रहे और परदादी अपने पागल बेटे को सेंक देती रही। तीसरे दिन चेतन की माँ ने झरोखे से ब्राह्मणों के एक लड़के के हाथ चेतन के पिता के मित्र चौधरी गुज्जरमल और तेजपाल को बुलाया। उन्होंने खत्रियों को (कि वे उनके यार-दोस्त ही थे) समझाया और मकान का दरवाज़ा खुलवाया।

चेतन की माँ इस अपमान से जलती रही। जब कुछ महीने बाद चेतन के पिता एक स्टेशन से दूसरे स्टशन को जाते हुए, जालन्धर आये और उनके मित्र (लाला जीवनलाल के दोनों छोटे भाई) धर्मचन्द और मुकन्दीलाल उनकी महफ़िल में दो घूँट पीने को आ शामिल हुए, तो जब रात के एकान्त में चेतन के पिता ऊपर आये, चेतन की माँ ने बड़े ही क्षोभ से उन्हें अपने और दादी के अपमान की कथा सुनायी। शराब के नशे में चूर पण्डित शादीराम ने जीवनलाल और उसके सभी भाइयों और मुहल्ले के दूसरे खत्रियों को माँ-बहन की बीस-बीस गालियाँ सुनायीं और कहा कि ये रामानन्द और चेतन साले चूहे पैदा हुए हैं, अबके जो लड़का वे पैदा करेंगे, उसका नाम वे परशुराम रखेंगे, जो इन साले क्षत्रियों का बीजनास कर देगा।

जिन खत्रियों का बीजनास करने की गहर-गम्भीर घोषणा पण्डित शादीराम ने की थी, वे सब उनके हम-निवाला, हम-प्याला थे। पण्डित जी अपने साथ

बठाकर उन्हें पिलाते थे, ज़रूरत के वक्त रुपये-पैसे से उनकी मदद करते थे और आते-जाते उनके बीवी-बच्चों को उपहार देते थे।

पण्डित शादीराम शराब के नशे में यह घोषणा करके भूल गये, लेकिन जिन पड़ौसियों ने उनकी यह घोषणा सुनी थी, वे नहीं भूले और चेतन की माँ जब बच्चे से हुई तो लोग परदादी गंगादेई से पूछने लगे, "क्यों दादी, परसराम कब आ रहा है?"

चेतन की परदादी उनके सात-सात पुरखों को गालियाँ सुनाती। आँखों से उसे अब दीखता न था और उमर भी उसकी अस्सी को पार कर गयी थी। पुराने खँडहर-घर की डेबढ़ी में अब वह बैठी रहती थी। लेकिन मुहल्ले के बच्चों और जवानों को (उनमें लड़के-लड़कियाँ दोनों शामिल थे) परदादी की गालियाँ सुनने में कुछ ऐसा मज़ा आता था कि वे बार-बार पूछते—"क्यों दादी परसराम कब आ रहा है?"

और चेतन की माँ आँगन में, या रसोई-घर में, या दालान में बैठी यह सोचा करती कि उसने किस बुरी सायत में पण्डित जी से खत्रियों के उस अत्याचार की बात कह दी; वे तो शराब के नशे में सारे मुहल्ले को सुनाकर घोषणा कर गये और उसकी जान पर आ बनी। अगर लड़के की जगह लड़की हुई तो?…और माँ भगवान से प्रार्थना करती कि इस बार उसके पति की बात रह जाय, इसके बाद चाहे उसके सात लड़कियाँ हों, पर इस बार तो लड़का ही हो…और वह मन में कहती कि वह परशुराम ही हो और अपनी माँ के अपमान का बदला ले।

और शायद भगवान ने उसकी सुन ली। परशुराम ने एक दिन दोपहर के एक बजे जन्म लिया और उस दिन जो शान्ति और सन्तोष चेतन की माँ को उस दुख और कष्ट-भरे जीवन में मिला, वह बयान के बाहर है। सौभाग्य से पण्डित जी भी उन दिनों वहीं आ गये। (रात के समय बाज़ार शेखाँ के शराबख़ाने से होकर, झूमते-झामते घर पहुँचे।) उन्हें जब मालूम हुआ कि उनकी घोषणा के अनुसार उनके यहाँ लड़का ही पैदा हुआ है और माँ ने उनकी इच्छा के अनुसार, आनन्द-वानन्द छोड़, उसका नाम परशुराम ही रखा है तो उन्होंने नयी घोषणा की कि उनके अगले पुत्र का नाम मेघनाद होगा—मेघनाद—देवताओं के राजा इन्द्र को जीतनेवाला; चारों वेदों के वक्ता रावण का बेटा; जिसने लक्ष्मण को अपनी शक्ति से घायल कर, अचेत कर दिया था और उनका पाँचवाँ पुत्र शिव शंकर होगा—शिव शंकर—जो क्रोध से तीसरा नेत्र खोलेगा तो यह सारी सृष्टि भस्म हो जायगी।

वे अपने उस जोश में अपने आने वाले सभी बेटों का नाम-करण कर देते (क्योंकि पण्डित जी का दृढ़ विश्वास था कि मर्द के कम-से-कम एक दर्जन लड़के होने चाहिए) लेकिन उसी वक्त उनका यह तीसरा सुपुत्र, जो इक्कीस बार खत्रियों का नाश करनेवाला था, उनकी इस भयंकर घोषणा को सुनकर रो पड़ा। पण्डित शादीराम ने अपनी आदत के अनुसार उसे एक टाँग से पकड़कर हवा में

एक चक्कर दे दिया। वे तो उसे पवनसुत की तरह सिर के बल धरती पर पटक कर उसी वक्त उसकी शक्ति की परीक्षा कर देखना चाहते थे, पर बच्चा सहम-कर चुप हो गया और इसी परीक्षा से प्रसन्न होकर पिता ने उसके शक्तिशाली होने की घोषणा कर दी और वचन दिया कि वे उसे एक तेज़ फरसा बनवाकर देंगे, जिससे वह सब खत्रियों का नाश करेगा।

यद्यपि पण्डित जी शराब के नशे में की गयी घोषणा भूल गये और दूसरी रात उन्हीं खत्रियों के साथ बैठकर उन्होंने खूब पी, पर माँ उस घोषणा को नहीं भूली। उसने न केवल अपने चौथे बेटे का नाम मेघनाद रखा, बल्कि पाँचवें का शंकर और अपने तीसरे बेटे को परशुराम-सा शक्ति-सम्पन्न बनाया···

···छुटपन ही से माँ ने परशुराम को—जो साधारणतः परसराम कहलाता था—उस ऋषि-बालक की कहानी सुनानी शुरू की, जिसने अपने पिता के अप-मान का बदला लेने के लिए राजा सहस्रबाहु की हज़ार भुजाएँ अपने फरसे से काट दी थीं।

···कभी जब बचपन में बालक परसराम रोता तो माँ कहती, "तू रोता है। तू तो परसराम है। परसराम होकर तू रोता है! तुझे शर्म नहीं आती।" और बालक चुप हो जाता।

···एक बार उसके सारे शरीर पर फोड़े निकल आये। चेतन के पिता उन दिनों हिसार के निकट ऊजड़ स्टेशन, 'बुगाना' पर असिस्टेण्ट स्टेशन-मास्टर थे। पैरों के तलवों को छोड़कर उसका सारा शरीर फोड़े-फुंसियों से भर गया। वह पीड़ा से कराहा भी तो माँ ने उसके नाम की याद दिलायी और वह चुप हो गया ···चेतन उससे केवल ढाई वर्ष ही बड़ा था। वह तब भी अपने इस छोटे भाई की सहन-शक्ति और संयम को देखकर चकित रह जाता था। लेकिन वे दिन उसके मानस-पट पर अमिट प्रभाव छोड़ गये थे और उसे अजाने ही अपार शक्ति भी दे गये थे। चेतन (तब वह केवल पाँच-छै वर्ष का था) सोचा करता था कि उसका यह छोटा भाई सचमुच बड़ा होकर ज़ालिम खत्रियों का नाश कर देगा। यह वह रोज़ देखता था कि परसराम लेटता था तो पीड़ा से तड़फड़ाता था, पर उसकी होंटों से चीख न निकलती थी, चाहे उसकी आँखों में आँसू आ जाते थे। न जाने उसके पिता कहाँ से दवा लाये थे। उसकी माँ मक्खन को सौ बार पानी में धोकर, उसमें वह दवा मिलाकर, उसके शरीर पर लगाती थी। इसी से उसे आराम आ गया था।

···बुगाना ही में एक बार बालक परसराम के पैर पर भैंस का खुर पड़ गया और उसका पैर कट गया। वह भागा-भागा घर आया और लँगड़ाता और तड़-पता हुआ कमरे में घूमने लगा। लहू-सने पैर के निशान धरती पर बनते गये और उसकी आँखों से आँसुओं की धाराएं बहती गयीं, लेकिन वह लगातार कहे जाता था—'मैं परसराम हूँ, मैं रोता नहीं!'···'मैं परसराम हूँ, मैं रोता नहीं।'

चेतन के सामने जब वह दृश्य आता तो उसके गले में गोला-सा अटक जाता

…पर उसे याद था कि उसकी माँ रसोई-घर से भागी आयी थी, अपने बच्चे के कटे हुए पैर को देखकर न रोयी थी, न चिल्लायी थी। जल्दी में धोती का किनारा फाड़कर, उसे पानी में भिगो, उसने पैर बाँध दिया था और बच्चे की पीठ ठोंकते हुए कहा था—"हाँ, मेरा बेटा परसराम है, बहादुर है, वह कभी नहीं रोता! …और उसे छाती से लगा लिया था।"

"तुम लोगों के होते उस साले की यह मज़ाल कैसे हुई कि वह तुम्हारी चाची को पकड़कर घसीटे और उसके जूते लगाये। तुम सालो, अखाड़े काहे के लिए जाते हो, यह हज़ार-हज़ार डण्ड किसलिए पेलते हो। ये पट्ठे, यह जवानी, साली किस दिन काम आयेगी। ये नामर्द खत्री ब्राह्मणों की बहू-बेटियों पर हाथ उठायें, इससे पहले तुम डूबकर क्यों नहीं मर गये…?"

चेतन के पिता की पाटदार आवाज़ ग़ली खोसलियाँ तक आ रही थी।

मुहल्ले में पहुँचकर चेतन ने देखा कि उसके पिता कुएँ की जगत पर टाँगें नीचे लटकाये बैठे हैं, उनके सामने अपराधियों-ऐसे परसराम और देबू खड़े हैं, लाला फ़कीरचन्द उनके पास चुपचाप कुएँ की जगत पर बैठे हैं। कुएँ की चर्खियाँ (जिन पर इस वक्त बेपनाह भीड़ होती है) एकदम खाली हैं। मुहल्ले में सन्नाटा है। खत्री औरत-मर्द अपने किवाड़ लगाकर कोठों पर जा चढ़े हैं। परे सुनारों के दरवाज़े में कुछ औरतें अवश्य खड़ी यह तमाशा देख रही हैं; कुछ औरतें-बच्चे भुआड़े में भी खड़े हैं और पण्डित जी दोनों बेटों को (वे अपने मित्र पण्डित दौलतराम ज्योतिषी के बेटे देबू को भी अपना बेटा कहते थे) धाराप्रवाह मल्लाहियाँ सुना रहे हैं।

परसराम अखाड़े से सीधा भागा आया था और उसके शरीर पर अभी मिट्टी लगी थी। उसने और देबू ने एक साथ कहा कि वे लोग उस वक्त वहाँ नहीं थे। देबू ने कहा कि वह कचहरी से लौटा तो उसने माँ से यह किस्सा सुना। परसराम ने कहा कि शंकर मुझे बुलाकर लाया, मैं होता तो किसी की मजाल थी कि चाची को हाथ भी लगा जाता।

"तुम्हारे होते नहीं लगाता, मैं मानता हूँ," पण्डित शादीराम ने कहा, "पर तुम लोगों की ग़ैर-हाज़िरी में भी उसे यह जुर्रत कैसे हुई? इसका मतलब है, उसे तुम लोगों के ज़ोरे-बाज़ू का कोई डर नहीं, या वह अपने आपको बड़ा शहज़ोर समझता है।"

पण्डित जी को देखते ही भागवन्ती की चारपाई लोगों ने वहीं कुएँ के पास रख दी और उन्हें घेरकर खड़े हो गये। भागवन्ती कराहते हुए उठकर बैठ गयी और उसने घूंघट कुछ और खींच लिया। उनकी अन्तिम बात सुनकर भीड़ में से किसी ने कहा, "अमीरचन्द डिप्टी हो गया है, इसलिए अमीरचन्द को यह साहस हुआ।"

"उसके डिप्टी की माँ की—" पण्डितजी ने अपनी गरजदार आवाज़ में बड़ी

सी वज़नी गाली भुवाड़े की ओर फेंकते हुए कहा, "मैं देखता हूँ, उसका साला वह डिप्टी भाई क्या कर लेता है, अगर वह आकर अपनी इस माँ के (उन्होंने भागवन्ती की चारपाई की ओर संकेत किया) पैरों में पड़कर माफ़ी नहीं माँगता तो मैं उस साले को मुहल्ले में नहीं रहने दूंगा। मैं उस साले अमीरचन्द को डिप्टी नहीं बनने दूंगा। मैं ख़ुद जाकर अफ़सरों से मिलूंगा और उन्हें समझाऊँगा कि जो साला महज़ कम्पीटीशन में पास होकर मुहल्ले की माँ-बहनों पर यह ज़ुल्म ढा सकता है, वह अफ़सर बनने पर क्या इन्साफ़ करेगा?"…और पण्डित जी ब्राह्मणों की उस भीड़ की ओर पलटे, "सालो, पुलिस में जाने की क्या ज़रूरत थी? पुलिस में नामर्द जाते हैं। पुलिस साली पैसे की है। तुम जिसे कहो, मैं पचास-सौ ख़र्च करके दो दिन हवालात की हवा खिलवा दूं। तुम लोगों में जान नहीं, जो पुलिस में भागे? अमीरचन्द को मारकर बिछा देते और पुलिस में वह या उसका वह डिप्टी भाई या उस डिप्टी भाई का बाप जाता।"

और पण्डित जी उठे और उन ब्राह्मण जवानों का ज़ोर आज़माने के लिए, उन्होंने बारी-बारी देबू, परसराम और हन्से की गर्दन पर एक-एक ज़ोरदार धौल जमा दी। हालाँकि पण्डितजी की धौल से अच्छे-तगड़े लड़खड़ा जाते थे, देबू और हन्सा गिरते-गिरते बचे, लेकिन परसराम सीना ताने खड़ा रहा और टस-से-मस न हुआ।

पण्डित जी ने प्रसन्न होकर अपने बेटे की पीठ ठोंकी तो देबू तनकर खड़ा हो गया और बोला कि अचानक धौल पड़ने से वह लड़खड़ा गया था, नहीं वह परसराम से कम ताकतवर नहीं और 'बाऊजी' अब उसके धौल जमा देखें।

पण्डित जी ने मुट्ठी बाँधकर हाथ उठाया, देबू सीना ताने परसराम ही की तरह तनकर खड़ा हो गया, दूसरे क्षण पण्डित जी की कसी बाँह का, कलाई और कोहनी के बीच का हिस्सा, देबू के दायें कन्धे के ऊपर गर्दन पर पड़ा। उसका बायाँ पैर ज़रा-सा अपनी जगह से हटा, पर दूसरे ही क्षण फिर अपनी जगह आ गया।

पण्डित जी ने ख़ुश होकर उसकी पीठ ठोंकी।

"मैं बे-ध्यान खड़ा था, इसलिए लड़खड़ा गया था, "देबू ने सीना फुलाकर डींग हाँकी, "नहीं, इसे तो कई बार चित्त कर चुका हूँ।"

उसका इशारा परसराम की ओर था, जिसने उसकी बात सुनते ही खम ठोंका और कहा, "आ बच्चू, देख कौन चित करता है?"

और दूसरे क्षण, दोनों आमने-सामने आ गये और बाहें ताने, पंजों में पंजे उलझाये, ज़ोर-आज़माई करने लगे।

पण्डित जी ने सिर से पगड़ी उतारकर बग़ल में रख ली और एक पाँव ऊपर करके कुएँ की जगत पर आधा फसकड़ा मारकर बैठ गये। भागवन्ती उनके दिमाग़ से निकल गयी और वे एकाग्र होकर उन दोनों की कुश्ती देखने लगे।

देबू चूँकि छुटपन ही से गुण्डा था और परसराम को माँ ने शक्तिशाली, पर सच्चरित्र बनाया था, इसलिए कई बार शत्रुओं से लड़ने में देबू की सहायता करने के बावजूद, देबू की-सी अकड़, गुण्डई और शेखी उसके यहाँ न थी। परसराम के शरीर के सभी अंग तने हुए थे और सभी वृत्तियाँ इस इच्छा पर केन्द्रित थीं कि वह देबू का दाँव न चलने दे। देबू को इस बात का पता था कि यदि वह जीत गया तो पण्डित जी न केवल आध सेर गर्म-गर्म दूध पिलायेंगे, बल्कि पुरस्कार-स्वरूप एक-दो रुपये भी देंगे, और वह इस कोशिश में था कि जैसे पहले कभी वह उसे उठाकर पटक देता था, एक ही बार उसे उठाकर पटक दे। लेकिन एक तो परसराम उसके सब दाँव जान गया था, दूसरे देबू ने अखाड़े जाना छोड़ दिया था और वह केवल गुण्डई में शक्ति नष्ट करता था, जबकि परसराम बाकायदा अखाड़े जाता और हज़ार-हज़ार डण्ड-बैठकें निकालता और पहले से कहीं अधिक बलवान हो गया था।

देबू ने एक बार उसे धोबी पटरा देने की कोशिश की, फिर उसकी दोनों बाँहों को कन्धे पर रख, अपनी दोनों बाँहों का हठात झटका देकर उसे गिराने का प्रयास किया; कमर को बाँध, उठाकर पटकने की कोशिश की और एक बार कुछ परे हटकर अपना प्रसिद्ध दाँव चलाने और डुबकी-सी लगाकर दोनों टखनों से पकड़, उसे चारों खाने चित गिराने का भी प्रयास किया, लेकिन परसराम उस पर निरन्तर उकाब की-सी तेज़ दृष्टि लगाये रहा और उसने उसका हर वार खाली कर दिया और इसके बाद जब देबू ज़रा-से असमंजस में पड़ा कि अब क्या करे, परसराम ने उसके हाथ को ज़ोरदार झटका देकर, उसके पीछे होकर उसे बाँध लिया और बिजली की-सी गति से उठाकर पटक दिया।

अब पण्डित जी बैठे न रह सके। वे उठकर उनके पास आ गये और देबू को दाँव बताने लगे। देबू उनके बताये दाँव से ऊपर आ गया तो परसराम ने नीचे से उसकी गर्दन बाँधकर उसे फिर नीचे रख लिया। पण्डित जी ने फिर दाँव बताया। वह फिर ऊपर आ गया। लेकिन परसराम ने फिर नीचे कर लिया और अब उसने अपनी दोनों टाँगें अकड़ाकर उन्हें उसकी गिरफ़्त से बाहर रख, उसे कुछ ऐसे रगड़ना शुरू किया कि पण्डित जी के लाख दाँव बताने पर भी वह ऊपर न आ सका।

पण्डित जी कुछ देर इस बात की प्रतीक्षा करते रहे कि परसराम ही उसे चित कर दे। पर देबू रगड़ा जाता रहा, चित नहीं हुआ। तब पण्डित जी ने दोनों की कुश्ती बराबर छुड़ा दी। उनकी पीठ ठोंकी, उन्हें कभी आपस में न लड़ने और शत्रुओं का मिलकर मुकाबिला करने का सदुपदेश दिया और उन्हें रामदित्ते हलवाई की दुकान पर गर्मागर्म दूध पिलाने ले चले।···

तभी उनकी दृष्टि अपने पीछे खड़े ब्राह्मणों की भीड़ और भागवन्ती की चारपाई पर पड़ी, जिनके अस्तित्व तक को वे एकदम भूल गये थे। भागवन्ती ने

उन्हें देखकर घूंघट को कुछ और खींच लिया ।

"देख भागवान,' पण्डित जी ने बाज़ार को जाते-जाते उसकी चारपाई के पास रुककर उसी पाटदार आवाज़ में कहा, "तू धर्मचन्द की बीवी थी तो मेरी छोटी भाभी थी । मैंने ही तेरी शादी धर्मचन्द के साथ करायी थी । अब तू तेलू के घर बैठ गयी है तो भी मेरी छोटी भाभी है और छोटी भाभी हमारे धर्म में बेटी के समान होती है । तू मेरी बेटी ही के बराबर है । मेरे रहते कोई तेरी बेइज़्ज़ती नहीं कर सकता । तू जा, अपने घर बैठ । वह साला अमीरचन्द और उसका वह ढोंगी बाप अगर तेरे पाँवों पर गिरकर माफ़ी न माँगे तो मैं अपनी मूंछें मुड़ा डालूंगा ।"

और उन्होंने हन्से और श्यामे को आदेश दिया कि उसे सहारा देकर उठायें और घर ले जायें ।

भागवन्ती उनके सहारे उठी और उसने पण्डित जी के चरण छुए और करा-हती हुई भुवाड़े की ओर चल दी ।

भागवन्ती अभी भुवाड़े तक पहुँची भी न थी कि बाज़ार की ओर से अपने काले-भुजंग, मोटे, पर गठे शरीर को लिये, तेलू लुढ़कता हुआ-सा आता दिखायी दिया ।

पण्डित जी ने उसे कमेटी के लैम्प के नीचे ही पकड़ लिया और लगातार गालियाँ देते हुए पूछा कि उसने अपनी बीवी को अकेले मुहल्ले में क्यों भेजा और स्वयं क्यों वहीं दुबका रहा और वे डण्ड-बैठकें और वह मुगदर-सा शरीर किस दिन काम आयगा ? "यह तेल मल-मलकर और डण्ड-बैठकें पेल-पेलकर शरीर को तूने इसीलिए पाला है कि तेरी बीवी को तेरा पड़ोसी जूतों से मारे और तू मण्डी में मज़े से बैठा रहे ?"

तेलू ने हकलाते हुए अस्फुट स्वर में सफ़ाई दी कि उसकी बीवी उसे बताये बिना चली आयी । उसे पता होता तो वह उसे कभी न आने देता । उसे तो अभी श्यामे ने बताया कि मुहल्ले में यह काण्ड हो गया है और वह भागा-भागा आ रहा है ।

"साले, उसे मुहल्ले में आने से रोक रखने के बदले तू पहले ही उसके साथ क्यों नहीं आया ? यह मुहल्ला क्या अमीरचन्द के बाप का है, या तू उसकी जागीर में बसता है, या उसकी दी रोटी खाता है ? अमीरचन्द ने जिस दिन कहा था कि भागवन्ती या तेलू कोई भी मुहल्ले में आयेगा तो वह कत्ल कर देगा, तू उसी दिन उसे लेकर क्यों उससे यह पूछने नहीं आया कि दिखा तो ज़रा मर्दुमी, कैसे कत्ल करता है···नामर्दों की तरह तू मण्डी में क्यों बैठा रहा ?'

तेलू ने कुछ हकलाहट-भरा उत्तर देने की कोशिश की, लेकिन पण्डित जी ने अपनी गरज में उसकी मिन-मिन बन्द कर दी ।

"असल में तुम लोगों के खून में पुरोहिताई घुसी हुई है सालो ! अपना कमाते

हो, अपना खाते हो और ये मुहल्ले के खत्री तुम्हें भंगी-चमार समझते हैं।" और पण्डित जी ने पाँव बढ़ाकर तेलू की मोटी गर्दन थामकर उसे आगे धकेलते हुए कहा, "चल मेरे साथ और चलकर ढूँढ़ उस अमीरचन्द को और पूछ उससे कि क्यों उसने अपनी माँ पर हाथ उठाया और यह कल्लोवानी मुहल्ला कब से उसके बाप की जागीर बन गया ?"

'एक नन्हीं किन्दील' से

पागलखाने से आने के बाद, अपनी सास के हठ की वजह से चेतन अत्यन्त विक्षुब्ध था। सास को अपना घर दिखा देने और यह जान लेने के बाद कि उसकी मनः-स्थिति उसकी सास की समझ में नहीं आती और उसकी हर बात उसकी सास के मस्तिष्क पर से पत्थर की बूंद-सरीखी फिसल जाती है, वह न फिर कभी स्वयं गोविन्द गली गया था और न उसने अपनी पत्नी को वहाँ जाने दिया था। उसकी सास ही हफ़्ते में एकाध बार आती थी और अपनी बेटी से मिल जाती थी, लेकिन इस तमाम अर्से में वह एक बार भी उसके सामने नहीं पड़ा था। पत्नी से ज़्यादा बात करने से वह कन्नी काटता रहा था और ख़ाली वक्त को उसने दूसरी सर-गर्मियों से भर लिया था — इतना कि अपनी व्यक्तिगत समस्या उसके अन्तर की गहराई में कहीं बहुत नीचे चली गयी थी।

बहुत नीचे चली गयी थी, लेकिन एकदम ख़त्म हो गयी हो, ऐसी बात नहीं। ···उसकी पत्नी चुप और उदास रहती थी तो चेतन को वह असुन्दर लगती थी। पहले की तरह उसे हँसा देने और उसके चेहरे को खिला देने की मानसिक स्थिति में वह नहीं था। वह न उससे बात करता, न घुमाने ले जाता। चन्दा के स्वभाव में जो सफ़ाई और स्फूर्ति अपने पति के स्नेह के कारण आ गयी थी, वह न जाने कहाँ चली गयी। वह निर्जीव और निस्पन्द, यन्त्रवत सारे काम किये जाती। अपने पहनने-ओढ़ने की तरफ़ से वह नितान्त बेपरवाह हो गयी थी और उसे देखकर चेतन को वही मोटी-मुटल्ली, सुस्त लड़की याद आने लगी थी, जिसे स्कूल से आते देखकर, अपनी पत्नी के रूप में उसने नापास कर दिया था। वह इतनी उदास और इसीलिए असुन्दर, सुस्त और फूहड़ लगती थी कि चेतन को उसकी सूरत तक से दहशत होने लगी थी। वह उसके नैकट्य से भागता था और बदले में उसे उदास और कुरूप और निर्जीव बना जाता था। चूंकि इस तमाम अर्से में वह अपनी उस समस्या का कोई समाधान न पा सका था, इसलिए तमाम पलायन के बावजूद उसका तनाव बढ़ता गया था, वह चिड़चिड़ा और रूखा हो आया था।

यद्यपि महाशय जीवनलाल कपूर चाहते थे कि चेतन तत्काल 'भूचाल' का

सम्पादन सँभाल ले और वे अखबार का डेक्लेरेशन दे दें। उन्होंने ज़ख्मी से कह भी दिया, लेकिन चेतन ने फ़ैसला करने में लगभग एक महीना लगा दिया। उसके मन में कोई चीज़ वहाँ नौकरी करने का सख्त विरोध करती थी, पर महाशयजी ने 'गुरु घण्टाल' में 'भूँचाल' का एलान कर दिया था। सम्पादक के रूप में उसके नाम का विज्ञापन भी दे दिया था। तब ज़ख्मी साहब ने ज़ोर दिया, पण्डित रतन ने समझाया और आखिर वह 'वीर भारत' छोड़कर 'भूँचाल' में चला गया। लेकिन रात की नौकरी की बजाय दिन की नौकरी करने की दूसरी सुबह ही इतने दिन से चला आने वाला उसका मानसिक तनाव ज़्यादा कसे तार की तरह हलके-से स्पर्श से टूट गया।

अपनी पत्नी और सास के खिलाफ़ इतने दिन से रुका हुआ उसका क्रोध एक निहायत मामूली घटना के कारण—बेमालूम-सी चिनगारी से बारूद के अम्बार की तरह—संयम, सीमा और शिष्टाचार की सीमाओं को लाँघता हुआ फट पड़ा।

०

लाहौर में गुलाबी जाड़ा उतर आया था। दिन-भर गर्मी पड़ती, लेकिन शाम खुनक हो जाती और रात के तीसरे पहर कम्बल या रज़ाई लेने की ज़रूरत महसूस होती। चेतन और उसकी पत्नी रात को दो चारपाइयाँ बैठक में बिछा लेते। सुबह उठकर एक चारपाई और बिस्तर उठाकर पिछले कमरे में रख देते, एक चारपाई पर बिस्तर सँवार कर पलँगपोश बिछा देते और मेज़ (जो रात को घसीटकर खिड़की के पास कर दी जाती) अपनी जगह करके बैठक को टिप-टॉप कर देते। लेकिन जितने दिन तक चेतन 'वीर भारत' में रात की ड्यूटी पर जाता रहा, यह सब आठ-साढ़े आठ बजे, उसके जगने के बाद ही होता। चन्दा सुबह उठकर दबे पैरों चलती हुई इस तरह चिटखनी खोलती कि ज़रा भी आवाज़ न हो। दरवाज़ा खोलकर बाहर चली जाती और अपने पीछे दरवाज़ा भिड़ा जाती कि आँगन अथवा ड्योढ़ी की किसी आवाज़ से चेतन की नींद न खुल जाय! लेकिन दिन की नौकरी के कारण चेतन रात ग्यारह बजे ही सो गया था। वह रात की ड्यूटी देता था तो चन्दा शाम को खाना-वाना और चौका-बर्तन खत्म करने के बाद एक-डेढ़ घण्टा पढ़कर दस बजते-न-बजते सो जाती थी। चेतन के साथ वह भी ग्यारह बजे तक जागती रही थी। चेतन तो सुबह साढ़े पाँच बजे ही उठ गया, लेकिन चन्दा गहरी नींद सोयी रही।

चेतन की आदत थी कि वह छै घण्टे से ज़्यादा कभी न सोता। वह दो बजे रात को सोता तो सुबह आठ-साढ़े आठ बजे उठ जाता। ग्यारह बजे सोता तो पाँच बजे उठ जाता। इसके विपरीत चन्दा को नींद प्यारी थी। आम दिनों में चूँकि चेतन देर तक सोया रहता, इसलिए चन्दा उसे हमेशा जगी और काम-काज लगी मिलती, पर उस दिन वह साढ़े पाँच बजे ही उठ गया था—सर्दियों के दिन, अभी बाहर अँधेरा था, इसलिए उसे पत्नी सोयी मिली।···चेतन का जी

हुआ, रजाई हटाकर उठे, ओवर कोट पहने और सुबह की ठण्डी स्वच्छ हवा में लॉरेंस तक सैर को जाय ! सुबह को सैर किये उसे एक अर्सा हो गया था। लेकिन अभी अँधेरा था, सर्दी थी और वह यह जानता था कि चन्दा गहरी नींद सोती है और उसके लिए इतनी सुबह उठना मुश्किल है।

वह चुपचाप रज़ाई लिये लेटा रहा। लेकिन उसकी नींद पूरी तरह खुल गयी थी। बेकार लेटे रहना उसके स्वभाव के विपरीत था। लेटे-लेटे वह 'भूँचाल' के लिए कहानी सोचने लगा। काफ़ी देर सोचने और निरन्तर करवटें लेने के बावजूद पहले कोई थीम उसके दिमाग़ में नहीं आयी, लेकिन फिर उसने कहानी सोच ली।

चेतन तब नहीं जानता था कि कहानियाँ तो उसके गिर्द बिखरी पड़ी हैं, कि उसका अपना जीवन और संघर्ष दसियों कहानियों की सामग्री दे सकता है। वह देर तक शिमला की पहाड़ियों, केलू के छतनार पेड़ों और कलकल बहते झरनों में भटकता रहा और आखिर उसने शिमला के एक निकटवर्ती गाँव के एक निठल्ले प्रेमी की कहानी सोच निकाली, जो गाँव की एक युवती से प्यार करता है, पर जब वह उस निठल्ले के बदले एक कमाऊ युवक को चाहने लगती है तब अपने मार्ग से उस प्रतिद्वन्द्वी का काँटा दूर करने के लिए वह पहाड़ के शिखर पर जा चढ़ता है और जब उसका प्रतिद्वन्द्वी नीचे से गुज़र रहा होता है, वह ऊपर से चट्टान लुढ़का देता है।···लेकिन उसका प्रतिद्वन्द्वी बच जाता है और उसके हाथ असफलता ही आती है।

चेतन इस कहानी में सबसे ज़्यादा ज़ोर उस प्रेमी की कुण्ठा और उससे जनित क्रोध पर देना चाहता था—प्रातः के भिनसारे में कुण्ठित प्रेमी कई कोस की मंज़िल मार, पहाड़ की चोटी पर जा चढ़ता है, प्रतिद्वन्द्वी की बाट देखता है। जब उसका प्रतिद्वन्द्वी नीचे से गुज़रता है तो चट्टान को लुढ़काकर वह एक शैतानी कहकहा लगाता है। चेतन को कहानी में वह कहकहा महत्त्वपूर्ण लग रहा था और उस वक्त उसके कानों में उसकी गूंज तक आने लगी थी।

जब सारी-की-सारी-कहानी चेतन ने सोच ली तो उसके लिए लेटे रहना कठिन हो गया। रोशनदान से सुबह का उजला प्रकाश आने लगा था। बाहर सड़क पर आवा-जाई शुरू हो गयी। डेवढ़ी से किसी के तेज़-तेज़ गुज़रने की आवाज़ आयी। चेतन ने रज़ाई हटा दी और उठ बैठा। चन्दा बराबर में अब भी गहरी नींद सोयी थी। रज़ाई से उसने मुँह-सिर ढँक रखे थे। चेतन ने उसे ठहोका दिया। जब वह नहीं उठी तो उसने रज़ाई झटके के साथ उसके चेहरे से हटा दी। वह अब बेसुध सोयी थी। उसके बासी चेहरे को देखकर चेतन की वितृष्णा और झल्लाहट बढ़ गयी। उसने उसे फिर ठहोका दिया कि उठे, दिन चढ़ आया है।

चन्दा नहीं उठी। कुनमुना कर उसने करवट बदल ली और रज़ाई उसने फिर मुंह पर खींच ली। चेतन बिफर गया। चिल्लाने लगा और रज़ाई उसने

फिर हटा दी।

चन्दा उठी। उसने निहायत मैली-चीकट धोती पहन रखी थी, रूखे बाल उसके माथे और गर्दन पर बिखरे थे, सुरमे के बिना बड़ी-बड़ी आँखें बुझी हुई दिखती थीं, होंट सूखे और श्रीहीन थे—आज कई महीने बाद सुबह उठते ही उसने अपनी पत्नी का बासी चेहरा देखा था। रोज़ तो जब वह उठता था, चन्दा नहा-धोकर काम में लगी होती थी। अपने पति की गहरी नज़र को देखकर चन्दा मुस्करायी—एक दयनीय और उदास मुस्कान, जो उसके चेहरे के बासीपन और कुरूपता को और भी उभार गयी—काश ! चेतन कोई मज़ाक कर सकता और चन्दा की बत्तीसी खिल जाती और उसके दाँतों के मोती उसके चेहरे को उद्भासित करते हुए उसकी कुरूपता हर लेते ! लेकिन चेतन ने सिर्फ़ इतना कहा :

"जल्दी करो, यह चारपाई और बिस्तर उठायें, कमरा ठीक करें। मैंने अभी एक कहानी सोची है और मैं उसे रफ़ लिख लेना चाहता हूँ।"

और उठकर उसने डेवढ़ी का दरवाज़ा और बाहर सड़क पर खुलने वाली खिड़कियाँ खोल दीं। चन्दा ने बिस्तर गोल करके कन्धे पर रखा और दूसरे हाथ से चेतन के साथ मिलकर चारपाई टेढ़ी खड़ी की। वे उसे बाहर निकालने जा रहे थे कि सहसा चेतन की नज़र चारपाई के दूसरी ओर खड़ी अपनी पत्नी की मैली-चीकट धोती पर गयी। वह बमका :

"यह बिस्तर और चारपाई छोड़ो, पहले जाकर यह मैली, गन्दी धोती बदलो। कोई आ ही जाता है।"

"चलिए इसे बाहर निकालिए !" चन्दा ने हाथ से चारपाई का पाया उठाते हुए कहा, "झाड़ू-बुहारी करके बदलूंगी। इतनी सुबह कौन आता है !"

और जैसे उसकी बात को झुठलाने के लिए ही होनी की तरह बाहर से चातकजी की आवाज़ आयी, "कहो भाई चेतन कैसे हो ? निम्मोजी कल ही आयी हैं दिल्ली से। बड़ा प्यारा मौसम है। इन्हें लॉरेंस तक घुमाने जा रहा हूँ। इधर से निकला तो सोचा, तुम दोनों को भी ले लूं।"

चेतन चौंककर पलटा। डेवढ़ी में चातकजी और उनके पीछे वही चंचला खड़ी थी, जिसका नृत्य उसने सब्ज़ीमण्डी दिल्ली के फ़्लैट में देखा था। यद्यपि मुश्किल से सवा छह-साढ़े छह का समय था, पर चातकजी एकदम दूध-धुली खादी का धोती-कुर्ता पहने, उस पर सफ़ाई से तूश ओढ़े, बालों को सँवारे और उस सरकश लट को माथे पर बिखेरे थे और निम्मो अपनी चुँधी आँखों को नीले चश्मे में और चेचक के हलके दाग़ों को बड़े हलके पाउडर की तह में छिपाये, अपनी पतली-छरहरी देह पर जोगिया रंग की साड़ी और उसी रंग की कश्मीरी शाल ओढ़े थी और खासी खूबसूरत लग रही थी।

चेतन को देखकर उसने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी अदा से माथे पर रख दिये।

चेतन उसके 'नमस्कार' का उत्तर देना भूल गया। उन दोनों पर एक नज़र डालकर उसने कन्धे पर बिस्तर उठाये, टेढ़ी चारपाई का पाया पकड़े, मैली-चीकट धोती पहने अपनी पत्नी को देखा। उसका खून खौल उठा। दाँत पीसते हुए दबे स्वर में उसने अपनी पत्नी के पास जाकर कहा, "आ गया कि नहीं कोई सुबह-सुबह!" और कुर्सी पर पड़ी लोई उठाते और उसे कन्धों पर डालते हुए डेवढ़ी में निकल आया, "इसके तैयार होने में बहुत देर लगेगी,' उसने पीछे को सिर का संकेत करते हुए कहा, "चलिए मैं चलता हूँ।"

और वह उन दोनों से पहले बाहर निकल गया।

चेतन आध घण्टे बाद ही लौट आया—बेहद उखड़ा और झल्लाया हुआ! चातकजी निम्मो की उपस्थिति को न केवल स्वयं महसूस कर रहे थे, वरन चेतन को भी उसका एहसास दिला रहे थे। वे बड़े मूड में थे। अपने काव्य की सविस्तार चर्चा करते हुए वे लगातार अपने प्रशंसकों के किस्से सुना रहे थे कि कैसे और कहाँ उनकी किस कविता की किसने प्रशंसा की। चेतन का ध्यान उनकी बातों में नहीं था। वह खादी की कमीज और लट्ठे की तहमद और पैरों में पेशावरी चप्पल पहने था और कन्धों पर उसने घर के बने मोटे ऊन की गहरे भूरे रंग की लोई ओढ़ रखी थी। बार-बार उसकी निगाह चातकजी की लकदक वेश-भूषा और उन पर निगाहें टिकाये और जैसे उनकी बातों को पीती हुई-सी उस युवती पर चली जाती थी और उनके साथ अपना अस्तित्व उसे ज़िन्दा शरीर के साथ लगे लुंज-पुंज अंग-ऐसा लगता। फिर बार-बार उसके सामने कन्धे पर बिस्तर उठाये, चारपाई का पाया पकड़े, मैली-चीकट धोती पहने, निहायत फूहड़ अन्दाज़ में खड़ी अपनी पत्नी की सूरत आ जाती और बार-बार उसे खयाल आता कि चातकजी की वह 'सहोदरा' उनके बारे में क्या सोचती होगी! उसका खून खौलने लगता और चातकजी क्या कह रहे हैं, उसे सुनायी न देता। जब उनके साथ और चलना उसके लिए दूभर हो गया तो उसने 'क्रिस्टल' के पास उनसे छुट्टी ले ली और मन-ही-मन उबलता-खौलता, चप्पल फटफटाता तेज़-तेज़ घर लौट आया।

चन्दा रसोई-घर में वही मैली-चीकट धोती पहने बर्तन मल रही थी। चेतन आँगन में जाकर बमकने लगा कि वह इतनी गन्दी और मैली धोती क्यों पहने रहती है···कि उसका कौन मर गया है, जिसका वह सोग मना रही है···कि जब चेतन ने कहा था, पहले जाकर धोती बदल ले तो उसने क्यों फ़ौरन उसकी बात नहीं मानी···क्यों उसके मित्रों के सामने उसे बेइज़्ज़त किया?···वह निम्मो दिल्ली के कॉलेज में पढ़ती है, काव्य और कला में रुचि लेती है, वह उनके बारे में क्या सोचती होगी? यही न कि यह कवि और कथाकार बनने वाला व्यक्ति और उसकी पत्नी निहायत गन्दे, ग़लीज़ और फूहड़ हैं।···

चेतन बमक रहा था, जब भाई साहब क्लिनिक को जाने के लिए तैयार हो

कर अपने कमरे से निकले और बिना एक भी शब्द कहे, चुप-चाप उसके पास से होकर बाहर चले गये।

उनके जाते ही चेतन के क्रोध का पारा जैसे सातवें आसमान पर जा चढ़ा। वह दाँत किचकिचाता हुआ बोला, "यह तुमने धोती पहन रखी है, लगता है, जैसे कीचड़ लपेट रखा हो! तुम्हारी माँ ने क्या तुम्हें सफ़ाई-अफ़ाई का ज़रा भी खयाल रखना नहीं सिखाया?...गूजरी ने तो तुम्हें दूध पिलाया है, पर क्या पाला भी गूजरी ने ही है? कभी ब्लाउज़ के नीचे अँगिया नहीं पहनतीं, पेटीकोट के नीचे अण्डरवियर नहीं पहनतीं, पागलों और गँवारों की तरह डेवढ़ी में जा खड़ी होती हो।" (चेतन अपने क्रोध में यह भूल गया कि उसकी पत्नी ये दोनों चीज़ें पहनने लगी है और अब वह डेवढ़ी में उस तरह नहीं खड़ी होती, पर दुर्वार क्रोध के अधीन उसने उसके पिछले गुनाह भी नयों के साथ शामिल कर लिये।) "तुम्हें इस बात का ज़रा भी खयाल नहीं कि तुम बस्ती ग़ज़ाँ के किसी टुच्चे दुकानदार की बीवी नहीं हो, बल्कि एक मशहूर पत्रकार और कथाकार की बीवी हो। तुम क्यों मेरी सारी इज़्ज़त धूल में मिलाने पर तुली हो..."

बिना इस बात की परवाह किये कि उसकी आवाज़ ऊपर तक जाती है, चेतन ग़ुस्से से पागल होकर चिल्लाता रहा। जब उसकी पत्नी ने उत्तर में एक भी शब्द नहीं कहा तो वह और भी झल्ला गया। "मैं इतनी देर से बक रहा हूँ और तुम मुँह में घुँघनियाँ डाले बैठी हो," वह और भी ज़ोर से चिल्लाया, "मैं क्या कुत्ता हूँ, जो भूँक रहा हूँ? क्या तुमने मुझे भी अपने पिता की तरह पागल समझ लिया है?...क्या मैं झूठ-मूठ चिल्ला रहा हूँ...ग़लत चिल्ला रहा हूँ? तुम मुँह से कुछ तो फूटो!..."

लेकिन जब इस पर भी उसकी पत्नी ने कोई जवाब नहीं दिया और वह चुपचाप उसी मन्द गति से बर्तन मलती रही तो चेतन वहीं रसोई-घर की चौखट में बैठ गया। सहसा उसका ध्यान रसोई-घर की नाली की ओर गया, जिसके खुरे[1] पर बैठी वह बर्तन मल रही थी। जाने कितने दिनों से नाली और खुरा साफ़ नहीं किये गये थे। तह-दर-तह उनमें राख और कीचड़ जमा था। चेतन का क्रोध उधर मुड़ गया..."यह ब्राह्मणों की रसोई है? मेहतरों की रसोई भी इससे साफ़ होगी!"...और उसने मँजी-धुली कटोरी और एक गिलास उठाया।..."ये तुमने बर्तन साफ़ किये हैं? किसी पर ज़रा भी तो चमक नहीं...क्या तुम्हारी माँ ने तुम्हें बर्तन मलना या रसोई-घर साफ़ करना भी नहीं सिखाया?"

चेतन के सिर पर जैसे जुनून सवार हो गया। उसने अपनी पत्नी की बाँह पकड़ कर उसे उठाया और रसोई-घर के बाहर धकेल दिया—"हटो, मैं तुम्हें बर्तन मलकर दिखाता हूँ।"

---

1. पंजाबी रसोई-घरों में नाली पर प्रायः नल के नीचे बना छोटा-सा हौज़, जिसमें बर्तन मले जाते हैं।

और वह बाल्टी लेकर, उसे माँज-धो, ग़ुसलखाने के नल से ताज़ा पानी भर लाया। फिर उसने सारे बर्तन दोबारा मले। धोये। और जब वह उन्हें टोकरे में सजाने गया तो उसने देखा कि वहाँ जो बर्तन रखे हुए हैं, उन पर धूल की मोटी परत जम गयी है। तब जैसे दुगने जोश और क्रोध से बड़बड़ाता और अपनी पत्नी और उसकी फूहड़ माँ को कोसता हुआ (जिसने उसे घर-गिरस्ती का कुछ भी नहीं सिखाया) वह टोकरे के सारे बर्तन नाली पर ले आया। वे सारे बर्तन उसने बड़े मनोयोग से माँजे-धोये और पोंछे। फिर टोकरे को धोया-पोंछा और उसमें वे सारे-के-सारे बर्तन करीने से सजाये। इस काम से छुट्टी पाकर उसने बाल्टी के शेष पानी को खुरे में बहा दिया। जाकर फिर बाल्टी भर लाया और खुरा धोने लगा, लेकिन न जाने कितने दिनों की राख, मैल और कीचड़ वहाँ जमा था। एक बाल्टी भर पानी से वह क्या साफ़ होता ! वह बाल्टी भर-भर लाता रहा और उसने सारी रसोई धो डाली। हाथ डालकर खुरा और नाली साफ़ की और बाल्टियों पानी बहाकर आँगन और डेवढ़ी की नाली के रास्ते सारी गन्दगी बाहर गली की नाली में बहा दी। उसका बस चलता तो अपने जुनून में वह गली की नाली भी रेलवे रोड तक साफ़ कर आता, पर उसने किचन की गन्दगी को आँगन और डेवढ़ी से बहा देने और दो-चार बाल्टियाँ उसके पीछे गली की नाली में छोड़ देने पर ही बस की।

उसकी पत्नी इस बीच राख-सने हाथ लिये आँगन में मर्माहत-सी खड़ी रही। डेवढ़ी से वापस आकर चेतन बमका, "अब क्या सारी उम्र यहीं खड़ी रहोगी, जाकर कमरे साफ़ करो और अपनी यह बेशकीमती पोशाक बदलो।"

चन्दा ने कुछ नहीं कहा। उसने नल पर जाकर हाथ धोये और झाड़ू लेकर अन्दर कमरा साफ़ करने चली गयी।

चेतन ने बाल्टी को अच्छी तरह माँजा-धोया। कोहनियों तक अपने हाथ साबुन से साफ़ किये। फिर बाल्टी भरकर रसोई-घर की नाली पर रख आया और जाकर बैठक में बिस्तर पर ढह गया। उसका क्रोध, जो इतना बकने-झकने के बावजूद शान्त नहीं हुआ था, ऐसी आँधी की तरह उसके दिमाग़ पर छा गया, जिसका वेग छत और छप्पर उड़ाने के बाद कम हो जाय, पर जो और भी ऊँची होकर आकाश की गहराइयों में फैल जाय और उसे धुँधला दे !

तभी उसकी पत्नी अन्दर वाला कमरा साफ़ करके आ गयी और बैठक में झाड़ू देने लगी। चेतन वैसे ही लेटा रहा। न उसकी पत्नी ने उसे उठने को कहा; न वह स्वयं उठा। चन्दा ने धीरे से बाँह बढ़ाकर चारपाई के नीचे से मिट्टी बुहार ली और चुपचाप, बिना धूल उड़ाये, धीरे-धीरे कमरे में झाड़ू देने लगी।

चेतन ने दीवार की ओर करवट बदल ली। सहसा उसकी दृष्टि कोनों में जमी धूल पर गयी, जहाँ चारपाई के नीचे चन्दा के हाथ का झाड़ू पहुँच नहीं सका था। उसने चारपाई के नीचे सिर झुकाकर देखा। खिड़की से आने वाली रोशनी में फ़र्श पर दो-तीन जगह धूल के चकत्ते दिखायी दिये और जैसे उसका सारा

क्रोध वापस आ गया। वह दुगने क्रोध से उछल कर उठा—"यह झाड़ू दे रही हो या बेगार टाल रही हो" वह चिल्लाया, "किसी ने तुम्हें कमरा बुहारना भी नहीं सिखाया ! यह कोनों-अँतरों को किस ख़ैरात में बख़्शा जा रहा है ? बस्ती ग़ज़ाँ में क्या कोने-अँतरे नहीं झाड़े-बुहारे जाते ?"

और वही जुनून फिर उसके सिर पर सवार हो गया। उसने पागलों की तरह बिस्तर गोल किया। उसे जाकर पिछले कमरे में रख आया। फिर उससे चारपाई को एक पहलू खड़ा किया। अपनी पत्नी से झाड़ू छीनकर उसने एक-एक कोना-अँतरा अच्छी तरह बुहारा। चारपाई के नीचे वाली जगह दो-तीन बार बुहारी। फिर उसने चारपाई बिछा दी। उसे धकेलकर दीवार के साथ सटा दिया और वहीं एक ओर किंकर्तव्य-विमूढ़-सी खड़ी अपनी पत्नी की ओर देखकर एक विषैली और व्यंग्य-भरी मुस्कान के साथ बिछी हुई चारपाई की ओर संकेत करते हुए कहा, "अब यहाँ विराजिए !"···चन्दा निगाहें झुकाये निर्विकार वहीं खड़ी रही तो उधर से पीठ मोड़ कर वह फिर कमरा बुहारने में जा लगा।

वह मेज़ के नीचे बैठकर कन्धे के ज़ोर से उसका एक पाया उठाकर उसके नीचे से फ़र्श साफ़ कर रहा था, जब उसकी सास अपनी बेटी से मिलने आ गयी। अपने दामाद को कमरा बुहारते और बेटी को एक ओर चुपचाप खड़ी देखकर उसने ड्योढ़ी ही से कहा, "तेरा मर्द कमरा साफ़ करे और तू चुपचाप खड़ी देखे, बेटी यह क्या अच्छी बात है ?"

इससे पहले कि चन्दा कुछ कहती, चेतन ने व्यंग्य और विष से बुझी हँसी के साथ कहा, "अच्छी तो नहीं है अम्मा, पर तुमने अपनी इस लाडली को अच्छा कुछ सिखाया भी है ? झाड़ू-बुहारी यह नहीं कर सकती, बर्तन ठीक से यह नहीं मल सकती, खाना-पकाना और सीना-पिरोना इसे नहीं आता, और-तो-और ठीक से पहनने-ओढ़ने और कपड़ों की साज-सँभाल करने की भी इसे तमीज़ नहीं। बस यह खाना और सोना जानती है—चाहे इसे छत्तीस घण्टे सुला लो !"

चेतन वहीं मेज़ के नीचे से बमके जा रहा था कि चन्दा ने अपनी माँ से अन्दर आने और चारपाई पर बैठने को कहा। माँ ने अन्दर आकर अपनी बेटी के दोनों कन्धों से थाम उसे चारपाई पर बैठा दिया और स्वयं नीचे साफ़ फ़र्श पर बैठ गयी।

तब चेतन मेज़ के नीचे से निकला, बाँह से पत्नी को पाँयते की ओर धकेल कर अपनी सास के सामने चारपाई की पट्टी पर आ बैठा और अपने क्रोध की मुहार[1] उसने अपनी सास की ओर (कि जो वास्तव में उसका कारण थी) मोड़ दी।

"कुत्ता भी बैठता है तो पूँछ हिलाकर जगह साफ़ कर लेता है," उसने तीखे व्यंग्य से कहा, "लेकिन तुम्हारी लाडली साहबज़ादी धूल-भरे गन्दे फ़र्श पर

---

1. लगाम

रेशमी साड़ी पहने बैठने में नहीं हिचकती। जब यह दिनों-हफ़्तों अपनी और अपने कपड़ों की सफ़ाई नहीं करती तो यह कमरे और रसोई क्या साफ़ करेगी। लड़की को दूसरे घर भेजना था तो कुछ सिखा कर तो भेजा होता कि न इसे तकलीफ़ होती, न उस कम्बख़्त को जिसके पल्ले इसे बाँध दिया है।"

उसकी सास अपने झुर्रियों वाले चेहरे को उसकी ओर उठाकर नीम-अंधी आँखों से उसे देखती हुई दोनों हाथ जैसे फ़रियाद की सूरत में उठाये हुए बोली, "हमने तो बेटा, अपनी तरफ़ से सब कुछ सिखाया है…"

चेतन ने उसे बात नहीं ख़त्म करने दी। उसने बायें हाथ से पत्नी की मैली-चीकट धोती का आँचल खींचकर अपनी सास की नीम-अंधी आँखों में झोंकते हुए कहा, "यह देखो, यही सिखाया है तुमने इसे? ऐसी मैली-चीकट धोती तो मेहतरानियाँ भी नहीं पहनतीं!"

"बेटा, इसके पास धोतियाँ कम हैं। स्कूल जाती है, घर का काम करती है, बार-बार बदल नहीं पाती। बाप ने लाड़-प्यार में पाला है। रोज़-रोज़ कपड़े इसने कभी नहीं धोये··"

चेतन के सिर ख़ून सवार हो गया। बात चूंकि सच्ची थी, उसके कलेजे जा लगी। तमक कर वह उठा और बोला, "तो कोई गवर्नर ढूंढ़ते अपनी इस लाडली के लिए, जिसके पास बँगला होता, रसोइए, बैरे और धोबी होते; दाइयाँ और नौकरानियाँ होतीं, जो तुम्हारी लाडली के मालिश करतीं, इसे नहलातीं, कपड़े पहनातीं और उसका साज-शृंगार करतीं। क्यों मुझ ग़रीब के पल्ले बाँध दिया इस बेचारी को?"

और वह कमरे में घूमता हुआ वाही-तबाही बकता और कहनी-अनकहनी बातें कहता रहा।

उसकी सास कुछ नहीं बोली। वह घुटनों पर कोहनियाँ रखे और हाथों में सिर दिये अपने दामाद की मल्लाहियाँ सुनती रही।

बोल-बोल कर चेतन थक गया, पर चुप होने से पहले क्रोध के उस तूफ़ान में उसने मन की बात सीधे कह डाली। अपनी सास के सिर पर खड़े होकर हवा को तर्जनी के ठहोके देता हुआ वह बोला, "जब तुम्हें ही मेरी इज़्ज़त का खयाल नहीं और तुम उसी शहर में, जहाँ तुम्हारा दामाद अखबार का एडीटर और जाना-माना कहानी-लेखक है, एक सेठ का चौका-बर्तन करने लगी हो और उसके लाख इशारे करने पर भी नहीं समझीं तो तुम्हारी बेटी ही क्या समझेगी! आदमी रात को मैला कपड़ा धोकर डाल देता है और सुबह साफ़-सुथरा पहन लेता है। घर में लोग चने चबाते हैं और बाहर कहते हैं कि हम बादाम खाते हैं। तुम लोग तो सब होते-सोते मेरी इज़्ज़त लेने पर तुले हो। अब इसके कपड़े मैं धोऊँ, इस्त्री मैं करूँ, बर्तन मैं मलूं, रसोई मैं साफ़ करूँ, कमरों में झाड़ू-बुहारो मैं दूं और यह महारानी बनी बैठी रहे। इतना लाड इसे लड़ाया था तो मुझ-जैसे ग़रीब से इसकी शादी क्यों की?"

बकते-झकते चेतन का गला सूख गया था, होंठों पर पपड़ियाँ जम गयी थीं। मुँह पर फिचकू आ गया था। जब वह एकदम थक गया और उसके कोसनों और उलाहनों का ख़ज़ाना खाली हो गया और न उसकी पत्नी सनकी न सास, तो वह फिर झाड़ू लेकर मेज़ के नीचे जा बैठा और कन्धे से उसके पाये उठाकर धूल साफ़ करने लगा।

उसकी सास अपनी बेटी से न जाने क्या दुख-सुख की बातें करने आयी थी। लेकिन बात करना तो दूर, बैठना भी उसके लिए मुश्किल हो गया। घुटनों पर हाथ रखकर वह उठी।

तभी चन्दा ने भरे गले से कहा, "माँ आज से तुम यहाँ फिर कभी न आना।"

उसकी आवाज़ में न जाने कैसी भर्राहट थी कि मेज़ का एक कोना कन्धे से उठाये-उठाये चेतन की निगाहें उधर उठ गयीं।

उसकी सास डेवढ़ी में निकल गयी थी। चन्दा निर्विकार वहीं बैठी थी और आँसू ख़ामोश उसके गालों पर बह रहे थे।

'बाँधो न नाव इस ठाँव-1' से

चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए
नी, लै जा, लै जा सन्योड़ा सोहने यार दा[1]

नीचे बैलगाड़ी चरख़-चूं चली जा रही थी। ऊपर नीला, निरभ्र आसमान, सड़क की दोनों ओर लगे शीशम के घने पेड़ों पर शामियाने-सा तना था। वसन्त का त्योहार आकर जा चुका था, लेकिन सर्दी वैसी ही तीखी थी, बल्कि हवा में गलन बढ़ गयी थी और धूप सुहानी लग रही थी। कहीं-कहीं किसी घने पेड़ की नीची डाल चेतन के ऊपर से लहराती निकल जाती और सहसा उसका मन उसे पकड़ने के लिए ललक उठता था।

बैलगाड़ी पर आगे को बरातियों के ट्रंक और पीछे की ओर को शीरीनी तथा नमकीन सेव और शकरपारों के कनस्तर थे (कि रास्ते में उन्हें निकालना पड़े तो कठिनाई न हो)। उनके ऊपर गोल किये हुए और रस्सियों से बंधे बिस्तर तह-दर-तह जमा कर रखे गये थे और सबके ऊपर मोटी फ़र्शी दरी तहाकर डाल दी गयी थी और यूं बैलगाड़ी के ऊपर पेड़ों को छूता हुआ-सा बहुत ऊंचा, चौड़ा मंच-सा बन गया था। चेतन बायीं ओर चित लेटा हुआ आसमान को ताक रहा था। उसके बराबर हुनर साहब और निश्तर कोहनी के बल लेटे थे। ज़रा परे भाई साहब दोनों घुटनों को बाँहों में बाँधे पीछे को झुके हुए थे। उनके पास ही रणवीर बैठा था। चूंकि बैलगाड़ी पर सब-के-सब एक साथ खुली तरह नहीं बैठ सकते थे, इसलिए बैठे-बैठे उकताकर कुछ युवक बैलगाड़ी के साथ-साथ जर्नैली सड़क पर चल रहे थे और रणवीर की गली का सुनार युवक रतना दायीं ओर नीचे को पैर लटकाये बैठा, दिशाओं को गुंजाती हुई अपनी लोच और सोज़-भरी आवाज़ में 'चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए' गा रहा था।

लेटे-लेटे करवट बदलकर चेतन ने अपने भाई की ओर देखा।—अगर उन्हें लाहौर ही में पता चल जाता कि रणवीर की शादी लालड़ाँ नाम के जिस गाँव में होने जा रही है, वहाँ रेलगाड़ी और ताँगे-इक्के नहीं जाते (बसों का तो उन

1. ऐ विरह-वेदना से भरी हुई चिट्ठी, मेरे सुन्दर प्यारे यार के लिए संदेसा ले जा।

दिनों रिवाज ही नहीं था) बैलगाड़ियाँ ही जाती हैं और बरात उन्हीं में जायगी तो चेतन को विश्वास था, रणवीर के तमाम अनुरोध और अनुनय के बावजूद, भाई साहब कभी न आते। अपनी प्रैक्टिस के कारण यूँ भी किसी शादी-ब्याह में शामिल होना उनके लिए मुश्किल था। एक मरीज़ प्रसन्न हो जाय तो दो मरीज़ों से सिफ़ारिश करता था, ज़रूरत पड़ने पर देर-सबेर वे उनके क्लिनिक में आते थे और एक मरीज़ असन्तुष्ट हो जाय तो चार को बहका देता था। प्रैक्टिस उनकी अभी इतनी चली न थी मरीज़ों की तरफ़ से वे एकदम निश्चिन्त हो जाते और रोगियों को दिनों पहले उनसे समय लेना पड़ता। उनकी ज़िन्दगी में तो हर मरीज़ की आमद एक विशेष घटना थी। लेकिन रणवीर ने उन्हें ऐसा भर्रा दिया था कि वे अनिच्छापूर्वक गुप्ता पर दुकान छोड़कर बरात में शामिल होने चले आये थे।

रणवीर उनको शादी का निमन्त्रण देने गया था तो दो-तीन दिन वहीं रहा था। जब उसे मालूम हुआ कि भाई साहब ने एक शागिर्द रखा है, जिसे वे दन्दान-साज़ी सिखा रहे हैं तो उसने उन पर ज़ोर दिया था कि वे उसे भी शागिर्द बना लें। शादी के बाद ही वह आ जायगा और जितने रुपये उन्होंने गुप्ता से लिये हैं, उतने उन्हें पेशगी दे देगा। फिर बातों-बातों में उसने डेण्टल कॉलेज का सपना उनके सामने लहरा दिया था।

"भाई साहब, आप डॉ० सत्यपाल की तरह एक डेण्टल कॉलेज क्यों नहीं खोल लेते," उसने हठात कहा था।

"भाई साहब का ध्यान दूसरी तरफ़ था। "डेण्टल कॉलेज!" उन्होंने चौंककर वही शब्द दोहरा दिये। फिर क्षण-भर रुककर बोले, "मैं डेण्टल कॉलेज कैसे खोल सकता हूँ!"

"क्यों, इसमें क्या मुश्किल है?" रणवीर ने कहा, "जहाँ आप एक शागिर्द रखते हैं, वहाँ दस रखिए।"

"एक शागिर्द को तो मैं दुकान में सिखा सकता हूँ। दस को कैसे सिखाऊँगा?" भाई साहब ने पूछा था।

"अलग बिल्डिंग लेकर कॉलेज खोलिए!"

"दुकान कौन देखेगा? कॉलेज चलाना कोई एक आदमी का काम थोड़े ही है!"

तब रणवीर ने मन की बात कही थी:

"आप भाई साहब, मुझे डेण्टिस्ट बना दें और आपको मंजूर हो तो हम मिलकर यहाँ डेण्टल कॉलेज खोल लें। प्रॉस्पेक्टस छपवा लेंगे और अखबारों में इश्तहार देंगे तो शागिर्दों की कमी न रहेगी। जो मुनाफ़ा होगा, वह हम आधा-आधा बाँट लेंगे।"

लाहौर में उन दिनों एक ही डेण्टल कॉलेज था—डॉ० सत्यपाल का। दूसरे

कॉलेज की गुंजाइश थी। लेकिन इससे पहले कि भाई साहब कुछ कहते, चेतन ने कहा था, "मुनाफ़ा तो आधा-आधा बाँट लोगे, लेकिन डेण्टल कॉलेज क्या सिर्फ़ तुम्हारे डेण्टिस्ट्री पास करने से खुल जायगा? कम-से-कम दो डेण्टल चेयर्स, डेण्टल इंजन, मकान और दूसरा साज़-सामान चाहिए। इतना पैसा कहाँ से आयेगा?"

"मेरे पास तो लगाने को एक पैसा भी नहीं।" भाई साहब ने तुरन्त चेतन का समर्थन किया था।

"आपको पैसा लगाने की ज़रूरत नहीं," रणवीर ने माथे पर आये बालों की लट को पीछे हटाते और पान से काले दाँत दिखाते हुए कहा था, "आप बस मुझे काम सिखा दीजिए, रुपये मैं लगाऊँगा।" फिर क्षण-भर रुककर उसने पूछा था: "कॉलेज शुरू करने के लिए कितना रुपया दरकार होगा?"

भाई साहब ने कुछ रफ़ हिसाब करके बताया था कि शुरू में आठ सौ-हज़ार से काम चल जायगा।

"अगर इतने से हो जाय तो शादी के बाद ही मैं पिताजी को इतने रुपये देने के लिए मना लूँगा।"

"क्या दन्दानसाज़ी सीखते ही तुम शागिर्दों को सिखाने भी लगोगे?" चेतन ने सव्यंग्य कहा था!

लेकिन भाई साहब उत्साहित हो उठे थे और उन्होंने यह सूरत निकाली थी कि गुप्ता को साथ ले लेंगे और वे दो घण्टे कॉलेज को देंगे। उसमें जो कुछ वे सिखायेंगे, गुप्ता और रणवीर उसी को शागिर्दों के सामने दोहरा देंगे। इस तरह उनकी अपनी शिक्षा भी पक्की होगी और शागिर्दों को सिखाना भी उन्हें आ जायगा। डेण्टल कॉलेज में ग़रीब रोगियों का इलाज मुफ़्त किया जायगा। उसमें रणवीर और गुप्ता की प्रैक्टिस भी होगी और कॉलेज के शागिर्द भी सीखेंगे।

"और फिर जो 'कॉम्प्लिकेटेड केस होंगे," रणवीर ने अपनी कुमारी अन्तरीप सी ठोड़ी ऊपर उठाकर कहा था, "उन्हें भाई साहब कॉलेज के अस्पताल से अपने क्लिनिक में ट्रांसफ़र कर सकते हैं। इनकी प्रैक्टिस भी चलेगी और कॉलेज का काम भी चलेगा।"

चेतन क्षण-भर अपने उस मूर्ख साले की तरफ़ देखता रह गया था। ऐसी बुद्धिमत्ता की बात वह कर सकेगा, इसकी अपेक्षा तो उसे रणवीर से नहीं थी। वह क्या कहे और कैसे उसकी बात काटे, उस क्षण चेतन सोच न पाया था। वह अचानक उठा था। उसे याद आया कि उसे तो शाह आलमी दरवाज़े के अन्दर लाला मानिकचन्द, सम्पादक 'गृहस्थी' से मिलना है। मन-ही-मन उसने तय किया कि उस वक्त भले ही वे जितनी स्कीमें चाहे बनायें, बाद में वह भाई साहब को समझा देगा कि वे रणवीर के चक्कर में न पड़ें।

"मैं ज़रा 'गृहस्थी' के दफ़्तर जा रहा हूँ।" उसने सिर्फ़ इतना कहा, "बिना

सोचे-समझे आप कोई फ़ैसला न कीजिएगा। रणवीर से कहिए, पूरी स्कीम बनाये, फिर उसके सभी पहलुओं पर विचार करके हम फ़ैसला करेंगे।"

और यह कहता हुआ वह बाहर की तरफ़ चल दिया था।

"जीजा जी ज़रा रुकिये।" सहसा रणवीर भी उठा था। स्कीम बनाने में सिर खपाना उसके बस की बात नहीं थी। वह काम उसने भाई साहब पर छोड़ दिया, "भाई साहब, आप पक्की स्कीम बना लीजिए," उसने कहा, "कहीं जगह-वगह देख रखिए। शादी के बाद ही मैं पिताजी से रुपया ला दूँगा।"

और बढ़कर दाँत निकोसते हुए उसने चेतन से कहा था, "जीजा जी, मुझे भी ज़रा 'गृहस्थी' के एडीटर से मिला दीजिएगा।"

और यह कहते हुए वह चेतन के साथ ही दुकान से बाहर निकल आया था।

चेतन दिन-भर घूमता रहा था और जहाँ-जहाँ वह गया था, रणवीर उसके साथ चिपका रहा था। यही नहीं, बाकी दो दिन भी डेण्टल कॉलेज को भूल वह लाहौर के शायरों, अदीबों और एडीटरों से सम्पर्क बनाता रहा था। चेतन का ख़याल था कि वह डेण्टल कॉलेज की बात भूल गया है, लेकिन जाती बेर वह भाई साहब से पक्का कर गया कि शादी पर वे ज़रूर पहुँचें और अगर उसके पिता डेण्टल कॉलेज के बारे में पूछें तो हामी भर दें। चेतन से उसने कहा था—"जीजा जी, आपसे पूछे बिना पिताजी कुछ करेंगे नहीं। आप सेटल होने में मेरी मदद कीजिए। बस्ती या जालन्धर में मेरे लिए कोई स्कोप नहीं है। आप मुझे लाहौर बुला लीजिए। जो खिदमत आप मुझसे लेंगे, मैं दूँगा।"

"लाहौर में तू कौन-सा रणजीत सिंह का किला सर करेगा," चेतन ने मन-ही-मन कहा था। प्रकट उसने न 'हाँ' की, न "ना', सिर्फ़ उसका कन्धा थपथपा दिया था और इतने ही से वह खुश होकर रणवीर चला आया था।

उसके जाने के दस दिन बाद चेतन को उस खिदमत का आभास मिला था, जो रणवीर अपने इस परम आदरणीय जीजा जी को लाहौर में देने वाला था। 'गृहस्थी' का ताज़ा अंक देखते ही चेतन का ख़ून खौल उठा था। उसकी एक पुरानी कहानी, हज़रत रणवीर 'नाशाद' के नाम से वहाँ छपी थी। जाने कब वह उस कहानी की प्रतिलिपि चेतन की फ़ाइल से उड़ा ले गया था।

कहानी वह निहायत मामूली थी। चेतन की शुरू की कहानियों में से थी। लेकिन चेतन उन दिनों अपनी तमाम कहानियों को मास्टरपीस समझा करता था और उसे लगा था कि जैसे उसके उस मुँह-लगे साले ने उसकी यादगार कहानी पर डाका डाल दिया था। ग़नीमत यही था कि वह कहानी दो वर्ष पहले मुन्शी गिरिजा शंकर के मासिक 'गिरिजा' में छप चुकी थी। (यह बात याद आते ही चेतन ने उसी वक़्त तराशों की फ़ाइल देखकर तसल्ली कर ली थी कि दो वर्ष पहले छपी उस कहानी की कतरन तो फ़ाइल में सुरक्षित है।) उसे यह जानकर

हैरत हुई थी कि 'गृहस्थी' के सम्पादक को यह मालूम ही नहीं हुआ—रणवीर उन्हें अपने नाम से जो कहानी दे रहा है, वह पहले चेतन के नाम से 'गिरिजा' में छप चुकी है।

"शायद ये लोग दूसरी पत्रिकाओं को नहीं पढ़ते।" तब उसने सोचा था, जब एक मासिक में दो वर्ष पहले छपी कहानी दूसरे मासिक में छप सकती है तो किसी दैनिक के सण्डे एडीशनों में छपी कहानियाँ निश्चय ही मासिकों में छप सकती हैं और चेतन ने तय किया था कि वह अपनी तमाम पुरानी कहानियाँ दोबारा छपवा डालेगा। इस घटना का यह लाभप्रद पहलू निकल आने पर, हालाँकि, अन्दर-ही-अन्दर उसका क्रोध किंचित शान्त हो गया था, लेकिन चन्दा स्कूल से आयी तो सारी घटना उसे बताते हुए चेतन ने घोषणा की थी कि अगर रणवीर लाहौर आया और उसने भाई साहब के साथ मिलकर डेण्टल कॉलेज खोला तो उसे रहने का दूसरा प्रबन्ध करना पड़ेगा।

"यह कैसे हो सकता है?" चन्दा ने भोलेपन से कहा था, "मैं उसे समझा दूंगी कि वह आपकी फ़ाइलों को न छुए। मैं उन्हें ट्रंक में बन्द कर दूंगी।" फिर क्षण-भर रुककर उसने कहा था, "उसे शुरू से ही छपने का बड़ा शौक है। आप इतना लिखते हैं, छोटी-मोटी कोई रचना उसे दे दिया कीजिए। वह चोरी नहीं करेगा।"

चेतन चुपचाप अपनी पत्नी की ओर देखता रह गया था। उसे बेहद ग़ुस्सा था, पर नितान्त भोलेपन से भरा हुआ चन्दा का यह उत्तर सुन, जैसे परास्त होकर वह हँस दिया था। चन्दा को यह समझाना असम्भव था कि किसी लेखक के लिए अपनी रचना किसी को दे देना ऐसा ही है, जैसे माँ के लिए अपने बच्चे को किसी दूसरे के हवाले करना। वह जानता था कि उसकी पत्नी अपने ताऊ के लड़के-लड़कियों को (अपने सगे भाई-बहनों के अभाव में) बहुत चाहती है। उसने चन्दा से बहस नहीं की थी, पर जब भाई साहब दुकान से आये थे तो उसने उन्हें सारा किस्सा सुनाया था। "अब तो शुक्र है, कहानी पहले 'गिरिजा' में छप चुकी है, लेकिन वह छपी हुई न होती तो···" और वह ज़ोर-ज़ोर से बमकने लगा था और उसने भाई साहब को चेतावनी दी थी कि वह रुपये अपने पिता से चाहे झटक लाये, लेकिन न वह ढंग से काम सीखेगा, न कॉलेज में मन लगायेगा; वह लाहौर के टुटपूंजिये शायरों के साथ घूमेगा और रिसालों के दफ़्तरों की ख़ाक छानेगा।

लेकिन भाई साहब मन-ही-मन डेण्टल कॉलेज की स्कीम बना चुके थे। उन्होंने दार्शनिक भाव से कहा था, "अभी तक उसके मन में किसी काम-धाम का पक्का खयाल नहीं, इसलिए भटक रहा है।" और उन्होंने अपनी मिसाल दी थी, "मैं क्या कम भटका हूँ। मैं तो चित्रकार बनना चाहता था। लेकिन अब मुझे वह सब बेवकूफ़ी लगती है। ज्योंही काम पर उसका हाथ जमा, वह सब शायरी-वायरी भूल जायगा।"

चेतन चुप हो गया था। उसने अपने भाई से भी बहस नहीं की थी, लेकि, मन-ही-मन उसने तय कर लिया था कि रणवीर के पिता, पण्डित वेणीप्रसाद उससे पूछेंगे तो वह उन्हें हरगिज़ डेण्टल कॉलेज में रुपया लगाने की सलाह नहीं देगा।

चन्न चड़्या कुल आलम वेक्खे
मैं वी वेक्खाँ मुख यार दा
ओ मेरेआ चन्ना
मैं वी वेक्खाँ मुख यार दा[1]

रतना अपनी सोज़-भरी आवाज़ में गा रहा था। और अन्तरा खत्म होते ही बैलगाड़ी के साथ-साथ चलने वाले रणवीर के दोस्तों ने समवेत स्वर में टीप का बन्द उठा लिया था :

चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए
नी, लै जा, लै जा सन्योड़ा सोहने यार दा।

चेतन कुछ क्षण चुपचाप वह गीत सुनता रहा था। कितना प्यारा सोज़-भरा गीत था! चेतन के सामने कुछ वर्ष पहले के वे दिन घूम गये, जब वह कुन्ती की गली के नीचे से सिर्फ़ उसकी एक झलक पाने को गुज़रा करता था। उसे याद था, ईद की एक शाम, जब लोग छतों पर चढ़े चाँद को देख रहे थे, सहसा बारीक-सा चाँद नज़र आ गया था और बराबर के मुसलमान मुहल्लों से खुशी के नारे बुलन्द हो गये थे और दूर इमाम नासरुद्दीन में दमामे बज उठे थे, अपनी छत की रौंस पर बैठा हुआ देर तक वह 'चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए' गाता रहा था :

चन्न चढ़्या कुल आलम वेक्खे
चन्न चढ़्या कुल आलम वेक्खे
मैं वी वेक्खाँ मुख यार दा

और सुध-बुध भुलाकर वह बार-बार यही पंक्तियाँ गाता रहा था।

भाई साहब को गाने का वैसा शौक नहीं था। लेकिन चेतन ने देखा—घुटनों को बाँहों में बाँधे, वे धीरे-धीरे झूम रहे थे। वह मन-ही-मन हँसा—"आखिर भाई साहब ने बैलगाड़ी की सवारी से समझौता कर लिया है।" और उसके सामने सुबह की घटना घूम गयी···

बरात को सुबह छह बजे बस्ती ग़ज़ाँ से चल देना था। बैल हृष्ट-पुष्ट और नागौरी सींगों वाले थे और गाड़ीवानों ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि यदि बरात सुबह वक्त पर चल देगी तो शाम होते-होते वे यकीनन लालड़ाँ पहुँच जाएंगे। पण्डित

---

1. चाँद चढ़ा। कुल दुनिया देख रही है। काश मैं अपने प्यारे का मुंह देखूं।

वेणीप्रसाद ने तय किया था कि छह बजे के बदले वे साढ़े पाँच बजे ही चल देंगे। सभी बरातियों का सामान रात ही को आ गया था, लेकिन भाई साहब शाम तक न पहुँचे थे। चेतन ने रणवीर को लाख समझाया था कि भाई साहब रात एक बजे वाली गाड़ी से ही आयेंगे—आठ बजे दुकान बन्द करके, खाना-वाना खाकर दस बजे लाहौर से गाड़ी पर बैठेंगे और रात को जालन्धर पहुँचेंगे—उन्होंने आखिरी गाड़ी से चलने की बात कही थी।--लेकिन रणवीर को बेसब्री थी। उसने दो बार अपने छोटे भाई रिपुदमन को स्टेशन भेजा था और जब वह नाकाम वापस आ गया था तो रणवीर ने चेतन से अनुरोध किया था कि जीजाजी आप रिपु के साथ जाएँ और भाई साहब को लिवा लाएँ।

"लेकिन भाई साहब सीधे इधर (उसका मतलब बस्ती ग़ज़ाँ से था) नहीं आयेंगे। पहले वे कल्लोवानी ही जायेंगे।" चेतन ने कहा था।

"तब आप इतनी मेहरबानी कीजिएगा कि उनका सामान रिपु के हाथ भिजवा दीजिएगा। ताकि वह लद जाय! और आप तड़के ही उन्हें ले आइएगा।"

"उसकी तुम फ़िक्र न करो," चेतन ने उसे आश्वासन दिया था,"भाई साहब रात को दो बजे सोयें तो भी सुबह पाँच बजे उठ जाते हैं।"

लेकिन इस बात के बावजूद कि स्टेशन ही से भाई साहब का सामान चेतन ने रिपु के हाथ बस्ती भिजवा दिया था और रात को दो बजे सोकर भाई साहब सुबह पाँच बजे उठ भी गये थे, लेकिन वे लोग समय से बस्ती पहुँच न पाये थे।

हुआ यह कि जब डेढ़ बजे के करीब चौरस्ती अटारी में ताँगे से उतर, वे घर पहुँचे थे और माँ ने दरवाज़ा खोला था तो ऊपर आँगन में ही बैठकर वे माँ के साथ बतियाने लगे थे।...बैलगाड़ी के उस गुदगुदे मंच पर लेटे सुबह की घटना की याद करते हुए चेतन और भी कई वर्ष पीछे चला गया।...वह जब भी कभी एक बजे वाली रात की गाड़ी से जालन्धर पहुँचा था, रात को भी न सो पाया था। स्टेशन से ताँगा लेकर 'चौरस्ती अटारी' या 'कादेशाह के चौक' उतरकर या (सामान न हो और ताँगेवाला बहुत पैसे माँगे तो) पैदल ही डेढ़-दो मील की मंज़िल मारकर, जब-जब वह मुहल्ले में पहुँचा था, कभी चौधरी रूपलाल की हवेली के कोने पर लगा कमेटी का लैम्प टिमटिमा रहा होता (जिसकी रोशनी कुएँ के इधर पहुँचते-पहुँचते दम तोड़ देती) और कभी घुप्प अँधेरा पूरे चौक को ग्रसे होता। अभ्यस्त होने के बावजूद, चेतन अन्दाज़ ही से सँभलकर अपने मकान की डेवढ़ी के सामने जा खड़ा होता और पहले ज़रा परे ही से परसराम अथवा शिवशंकर का नाम लेकर आवाज़ देता। जब ऊपर कोई सुन-गुन न मिलती और इस बीच आँखें अँधेरे की अभ्यस्त हो जातीं तो वह आगे बढ़कर शीशम की पुरानी लकड़ी के मज़बूत किवाड़ों पर दस्तक देता और फिर ज़ोर से मोटी साँकल

खटखटाता । उस कर्कश ध्वनि से पूरे मुहल्ले पर छाया मौन बेतरह घायल हो जाता। रायज़ादा खुशवन्तराय की हवेली के छज्जे की कोटरों में बसेरा लेने वाले कबूतर डरकर पंख फटफटाते और भयातुर गुटर-गूँ गुटर-गूँ कर उठते । कई बार ऊपर बैठक की खिड़की खुलती और रायज़ादा खुशवन्तराय की दूसरी पत्नी बीरो, अपनी डरी, लेकिन चिढ़ी आवाज़ में पूछती—"कौन एँ-एँ-एँ !"

चेतन जवाब में बढ़कर अपने मकान की कुण्डी फिर खटखटा देता ।

बीरो ज़ोर से खिड़की बन्द कर लेती ।

तभी अन्दर सीढ़ियों से माँ के उतरने की पदचाप आती । दूसरे क्षण माँ दरवाज़ा खोलती । हरीकेन लालटेन के मद्धम प्रकाश मे चेतन उसके झुर्रियों-भरे चेहरे पर हठात आ जाने वाले वात्सलय की चमक देखता और बढ़कर पाँव छूता । माँ आशीर्वाद देती । तब कई बार चेतन वहीं डेवढ़ी की चौखट में बैठ जाता। उसके पास सामान होता तो ऊपर आँगन में पहुँचकर, बिस्तर या ट्रंक या दालान की चौखट या आँगन के मोघे (लोहे के जँगले) पर बैठकर माँ से बतियाते हुए, सुबह कर देता । माँ अपने सुख-दुख की बातें करती । छोटे भाइयों का पढ़ाई या भविष्य के बारे में चिन्ता प्रकट करती, मुहल्ले की खबरें देती । चेतन लाहौर के अपने संघर्ष की, अपने सपनों और महत्त्वाकांक्षाओं की बातें करता और कब सुबह हो जाती और मुहल्ले के कुएँ पर सुबह नहाने या पानी भरने वाले आ जाते, उन्हें पता न चलता ।···

भाई साहब के साथ जब वह ऊपर आँगन में पहुँचा था तो स्वभावानुसार वह दालान की चौखट में बैठ गया था । भाई साहब आँगन में बिछे पीढ़े पर जा बैठे थे, माँ जँगले की चौखट पर बैठ गयी थी और वे अनायास बातें करने लगे थे। चेतन अपनी माँ को बता रहा था कि उसने कानून पढ़ने का फैसला किया है। किसी तरह पैसे जुटाकर वह उसी वर्ष लॉ कॉलेज में दाखिल हो जाएगा । दो साल कानून पढ़ेगा और पास होकर सब जजी के कम्पीटीशन में बैठेगा और सब जज बनकर दम लेगा ।

माँ बड़ी खुश हुई थी । "मैं तॉ पहले ई कैहन्दी सी कि तूं जाने की कागद काले करदा रेहन्दा ऐं ।" उसने कहा था, "चार पैसेयाँ दी आमदनी नइँ । अक्खाँ उपरों खराब हुन्दियाँ ऐं ।"[1] और उसने बताया था कि वह तो कई बार सोचती है कि चेतन की अपेक्षा तो परसराम ही अच्छा है, जो मैट्रिक पास करते ही इंस्पेक्टर के दफ़्तर में क्लर्क हो गया है और पूरे चालीस रुपये महीना घर लाता है ।

माँ जब लाहौर आयी थी, तब भी उसने परसराम की नौकरी की खबर देकर यही कहा था कि चेतन बी० ए० पास करके भी कुछ नहीं कमा पाता, जबकि

---

1. मैं तो पहले ही कहती थी कि तू न जाने क्या काग़ज़ काले करता रहता है । चार पैसे की आय नहीं और आँखें ऊपर से ख़राब होती हैं ।

उसका छोटा भाई मैट्रिक करके चालीस रुपये पाने लगा है। चेतन को बुरा तो बहुत लगा था, पर उसने माँ को समझाया था कि इन्हीं काले कागज़ों से वह किसी दिन धन और यश, दोनों कमायेगा···और माँ ने अब फिर वही बात कही थी। लेकिन अबके उसने बुरा नहीं माना। लाड़ से वह माँ के पास जा बैठा और उसके कन्धे को बाँह में लेते हुए उसने कहा था, "माँ, मैं तेरे सारे उलाम्भे लाह देने एँ[1] !" और वह ज़ोर से ठहाका मारकर हँसा था।

लेकिन तभी उसकी नज़र भाई साहब पर गयी थी। वे शायद वहीं पीढ़े पर बैठे-बैठे सो गये थे और उसके ठहाके से अचानक चौंक उठे थे।

भाई साहब की यह पुरानी आदत थी। वे बातें करते या सुनते हुए अचानक सो जाते थे और बात करने वाले को पता भी न चलता था कि वे सो गये हैं। तब चेतन ने कहा था, "भाई साहब, ज़रा कमर सीधी कर लीजिए। अब तो दो-ढाई बजने को होंगे। मैं आपको पाँच बजे जगा दूंगा।"

"हाँ तुम ठीक कहते हो," भाई साहब खामोशी से उठे थे। नाइट सूट, जो उन्होंने स्टेशन पर सूटकेस से निकाल लिया था, अभी तक उनकी बाँह में लटक रहा था। दालान में जाकर उन्होंने सूट और टाई उतार, कपड़े खूंटियों पर टाँग दिये। चेतन ने माँ की मदद से अन्दर कमरे में रखे, बड़े ट्रंक से नयी रजाई-दुलाई निकाल, दालान मे बिछे पलँग पर बिस्तर बिछा दिया और 'मुझे पाँच बजे ज़रूर जगा देना,' कहते हुए, भाई साहब लेट गये थे और दूसरे क्षण सो गये थे।

चेतन लालटेन लेकर बाहर आ गया था और फिर वहीं आँगन में बैठा, माँ से बतियाने लगा था। दिल और कमर तोड़ देने वाले, लाहौर के संघर्ष से दूर, अपने घर के इस आँगन में, किसी कुर्सी के बिना, मूढ़े या दहलीज़ या पीढ़े पर बैठे, माँ से बातें करते हुए उसे पलों-घड़ियों का कोई ध्यान न रहता था।···सर्दी काफ़ी थी, आँगन ऊपर से थोड़ा खुला था, पर वह अपना वही पुराना ओवरकोट पहने बैठा था। माँ को उसने पीढ़े पर बैठा दिया था और स्वयं उसके घुटने से लगा, मोघे की चौखट पर बैठा, लगातार बातें करता रहा था। कब शेष रात बीत गयी, उसे होश नहीं रहा। कुएँ में पहली गागर के डूबने की आवाज़ से वह चौंका। "मैं भाई साहब को जगा दूं माँ ?" उसने हठात उठते हुए कहा था, "बरात साढ़े पाँच बजे बस्ती से रवाना हो जायेगी।"

"हाँ, तू ओहनूं जगा दे।" माँ ने कहा था, "मैं अग्ग बाल के चाह बना देन्नी आँ, इक-इक गिलास पी लैणाँ !"[2]

"चाय तो अभी लाहौर में हमने पीना नहीं सीखा माँ, लस्सी ही पीते हैं।"

"सर्दी ऐ। रात-भर दे थक्के ओ। जाण तों पहलाँ दो-दो मठरियाँ नाल चाह पी लैणाँ। तुलसी दे दो-तिन्न पत्ते ते इन्नी-कु-जेही दालचीनी मैं चाह च उबाल

---

1. माँ, मैं तुम्हारे सब उलाहने दूर कर दूंगा।
2 हाँ तू उसे जगा दे। मैं आग जलाकर चाय बना देती हूँ, एक-एक गिलास पी लेना।

देआँगी।"[1]

"अरे माँ नहाना पड़ेगा और हमें जल्दी जाना है।"

"लै, न्हाए बिना किद्दाँ मुँह जूट्ठा करोगे ? खूह ते जाके दो गड़वियाँ पानी दियाँ पा लओ। घर तों निराहार नईं निकल्लना चाहीदा[2] !"

और माँ ने पंजाबी कहावत कही थी, "घरों जाइए खा के, अग्गों मिलन पका के घरों जाइए भुक्खे, अग्गे कोई न पुच्छे।"

"तुम्हारी मर्ज़ी।" कहता हुआ चेतन दालान की ओर बढ़ा था।

चन्न चढ़्या कुल आलम वेक्खे
चन्न चढ़्या कुल आलम वेक्खे
मैं वी वेक्खाँ मुख यार दा
ओ मेरेआ चन्नाँ
मैं वी वेक्खाँ मुख यार दा

रतना उसी बन्द को दोहरा कर गा रहा था। भाई साहब बाँहें घुटनों में लिये हुए झूम रहे थे। लगता यही था कि वे गाने पर झूम रहे हैं, पर उनकी आँखें बन्द थीं और वे दरअसल ऊँघ गये थे।

चेतन को अपने भाई पर दया हो आयी। वे मुश्किल से दो-ढाई घण्टे सोये होंगे कि चेतन ने उन्हें जगा दिया था। उसने ज़ोर से आवाज़ नहीं दी थी, न उन्हें झकझोरा था। बस उनका कन्धा ज़रा-सा हिलाया था और धीरे से एक बार कहा था—"भाई साहब!" और वे रज़ाई उलट, ऐसे उछलकर उठे थे, जैसे वे सो नहीं, जाग रहे हों। छोटे भाइयों द्वारा ताक में रखी दातुनों में से एक-एक दोनों भाइयों ने मुँह में डाली थी और निबटकर कुएँ पर नहाने चले गये थे।

चेतन ने पीतल का घड़ा कुएँ से भरकर पहले भाई साहब की बाल्टी में पलट दिया था। वे नहा चुके तो उसने अपने लिए बाल्टी भर ली थी। ठण्ड बहुत ज़्यादा थी। लेकिन लाहौर के नलकों की अपेक्षा कुएँ का पानी गुनगुना था। पहला लोटा शरीर पर पड़ते ही नस-नस झनझना उठी थी, लेकिन फिर शरीर गर्म हो आया था—कुएँ की जगत पर नहाते-नहाते चेतन के सामने दुसुआ के दिन घूम गये थे, जब वह अपने पिता के पास वहाँ गया था। क्वार्टर के बाहर बिना चर्खी का कुआँ था। पिता के आदेश से पानी वाला कुएँ से पानी भर देता था और वहीं खड़ा-खड़ा चेतन लोटे-पर-लोटा पानी डालता और ठिठरता हुआ जल्दी-जल्दी नहाता। खुले में ठण्डी हवा आरी-सी शरीर चीरती चली जाती थी और

---

1. सर्दी है। रात भर के थके हो। जाने से पहले दो-दो मठरियों के साथ चाय पी लेना। तुलसी के दो-तीन पत्ते और ज़रा-सी दालचीनी मैं चाय में उबाल दूँगी।
2. लो, नहाये बिना कैसे मुँह जूठा करोगे ! कुएँ पर जाकर दो लोटे पानी के डाल लो। घर से निराहार नहीं निकलना चाहिए।

उसे अपने पिता पर बड़ा क्रोध आता था···उसके सामने शिमले के दिन घूम गये, जब वह रूल्दू भट्टे के बाहर नल पर बाल्टी रखे, नहाया करता था और कविराज उसकी हिम्मत को सराहते हुए पास से निकल जाते थे। उन दोनों अवसरों पर उसका मन कड़वा जाता था—क्योंकि उस नहाने के पीछे उसकी विवशता थी। लेकिन अपने मुहल्ले के कुएँ की जगत पर बैठकर नहाना—जाने कितने दिनों बाद उसे यह सुख मयस्सर हुआ था। यह अजीब बात है कि जब-जब वह इस कुएँ की जगत पर बैठकर नहाता था—उसके कानों में कभी बचपन में नाइन द्वारा सुनी किसी 'घोड़ी' के दो असम्बद्ध बोल गूंज उठते थे। शरीर पर पानी डालकर, जल्दी-जल्दी बदन मलता हुआ, वह उन्हें मन-ही-मन दोहराये जाता था :

कुएँ पर मल-मल न्हावेगा
बन्ना मिरदंग बजावेगा

बैलगाड़ी पर लेटे-लेटे, उन बोलों की याद आने पर चेतन हँसा—मन की यह कैसी गति है—कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचता है। कमरे में बाल्टी भरकर या गुसलखाने में नल पर नहाते हुए वे बोल उसे कभी याद नहीं आये। लेकिन अपने कुएँ की जगत पर जब-जब वह नहाया, उसके होंठों में ये बोल गुनगुना उठे··

बजते दाँतों और काँपती आवाज़ से कुएँ पर बन्ने के मल-मल कर नहाने के बोल गाते हुए, चेतन पानी का लोटा डाल, जल्दी-जल्दी बदन को मलते हुए नहाया था। फिर सूखा साफ़ा कमर में लपेट, गीले साफ़े को धो-निचोड़, उसी से बदन पोंछकर उसने पानी का घड़ा झटके से कन्धे पर रखा था और दायें हाथ में खाली बाल्टी-लोटा लेकर चला आया था।···पन्द्रह-बीस मिनट में तैयार होकर वे दो-दो मठरियाँ चाय के साथ लेकर घर से बाहर निकले थे तो मुहल्ले में हल्का सा उजेला फैल गया था।

अगर चौरस्ती अटारी में ताँगों अथवा इक्कों का कोई अड्डा होता तो शायद वे ठीक वक्त से बस्ती ग़ज़ाँ पहुँच जाते। लेकिन कल्लोवानी मुहल्ले के चारों ओर, तंग गलियों-बाज़ारों का एक जाल बिछा था; वहाँ से मील-आध मील चलकर ही कहीं इक्का-ताँगा मिल सकता था। इसलिए प्रातःकालीन झुटपुटे के नीम-अँधेरे में दोनों भाई जैसे उन सूने, वीरान बाज़ारों को चीरते हुए चले आये थे। दिन के वक्त भीड़-भड़भड़ और खुली दुकानें और उसमें रंगारंग चीज़ें निगाहों को यूँ उलझा लेती थीं कि आदमी कभी ऊपर निगाह उठाकर न देखता था, लेकिन सुबह चेतन की आँखें बार-बार दुकानों के सिरों पर उठ जाती थीं—आकाश की नीली-काली पट्टी में धीरे-धीरे सफ़ेदी मिल रही थी, दुकानों की छतें आसमान से अलग दिखायी देने लगी थीं और उजाला बाज़ारों को कुछ अजीब-सा खुलापन प्रदान कर रहा था।···जौड़ा बाज़ार, चौक सूदाँ, छत्ती गली, लाल बाज़ार और बाँसवाला बाज़ार से होते हुए, वे बस्ती के अड्डे पहुँच ताँगे पर आ बैठे थे। साढ़े छह का वक्त होगा, जब उनका ताँगा बस्ती पहुँचा था। वे अभी अड्डे से

कुछ दूर ही थे, जब चेतन के कानों में रणवीर की आवाज़ आयी—"जीजा जी आ गये।"

दोनों भाइयों ने निगाहें उधर घुमायीं तो देखा कि रणवीर, हुनर साहब और निश्तर, पान की दुकान पर खड़े हैं। वहीं एक ओर सामान से लदी बैलगाड़ी ओट के सहारे खड़ी थी, पास ही बैल बैठे पगुरा रहे थे। वहीं उसने रिपु, रतने और बस्ती के दो-तीन और लड़कों को भी घूमते पाया।

इससे पहले कि ताँगा अड्डे पर रुकता, रणवीर भागकर उनकी ओर आया था। भाई साहब को उसने नमस्ते की और बोला—"मैं तो उम्मीद ही छोड़ चुका था, कल दो-दो गाड़ियाँ देखकर रिपु नाकाम लौटा, पर जीजाजी ने कहा, आप रात की गाड़ी से आयेंगे। बहुत ही अच्छा किया जो आप आ गये।"

और एक अकथनीय खुशी उसके कुरूप चेहरे को उद्भासित कर गयी थी। उस वक्त, जब हुनर साहब भाई साहब का हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर बड़ी गर्मजोशी से दबा रहे थे, रणवीर गाड़ीवान को बैल जोतने का आदेश दे रहा था।

लेकिन जब वे सड़क पार कर बैलगाड़ी के नज़दीक आये तो भाई साहब ऐसे रुक गये, जैसे आगे बैलगाड़ी नहीं, कोई गगनचुम्बी पहाड़ खड़ा हो, जिस पर चढ़ने के खयाल से ही रूह काँप जाती हो।

गाड़ीवान ने पलक-झपकते बैल जोत दिये और बरातियों से कहा कि वे बैठ जायें, देर हो रही है।

तब हुनर साहब पीछे से निकलकर सबको बढ़ावा देते हुए, बिल्कुल छोटे बच्चों की तरह, बैलगाड़ी पर जा चढ़े थे। रतना, हरनामा, रणवीर और रिपु के दूसरे मित्र भी सवार हो गये थे। सिर्फ़ रिपु और रणवीर अपने जीजा और उनके बड़े भाई की अर्दली में खड़े रहे कि वे बैलगाड़ी पर सवार हों तो वे भी चढ़ें।

सभी बरातियों ने रास्ते के कपड़े पहन रखे थे—हुनर साहब खादी के धोती-कुर्ते पर पट्टी की जैकेट पहने हुए थे। ऊपर उन्होंने गर्म चदरा डाल रखा था। निश्तर कमीज़-धोती और गर्म कोट में था। रिपु और निश्तर लट्ठे के पायजामे-कमीज़ें और बन्द गले के कोट पहने थे। रतने ने बोस्की की कमीज़ और लट्ठे के तहमद पर घर का बुना, डिज़ाइनदार पुलोवर पहन रखा था। हरनामे ने तहमद-कमीज़ पर काली जैकेट पहन रखी थी। चेतन स्वयं कुर्ते-पायजामे पर ओवरकोट पहने और गले में गुलूबन्द डाले था—सिर्फ़ भाई साहब अपने एकमात्र बढ़िया गर्म सूट में सजे थे।...चेतन को खयाल आया कि रात ही को जब भाई साहब ट्रंक से नाइट-सूट निकाल रहे थे, उसे उन्हें बता देना चाहिए था कि सुबह बैल-गाड़ी पर सफ़र करना है, कोई पुराना कोट और पायजामा निकाल लें। वे ताँगे से उतरकर, जहाँ खड़े थे, वहीं जड़ हो गये थे।—बरात को बैलगाड़ी पर जाना है, यह जानकर उनका सारा उत्साह मन्द पड़ गया था।

तब हुनर साहब ने बैलगाड़ी की छत से पुकारा था कि चलिए, पहले ही बड़ी देर हो गयी है।

लेकिन भाई साहब टस-से-मस न हुए थे। "बैलगाड़ी किधर को जायेगी ?" सहसा उन्होंने प्रश्न किया था।

"लालड़ाँ !" हुनर साहब ने वहीं बैलगाड़ी के ऊपर बैठे-बैठे उत्तर दिया था।

"लालड़ाँ !—किधर से जायेंगे लालड़ाँ को ?" भाई साहब ने फिर सवाल किया था।

तब गाड़ीवान ने बताया था कि बस्ती के अड्डे से जर्नैली सड़क पकड़, सिविल हस्पताल के सामने से होते हुए अड्डा नकोदर पहुँचेंगे, फिर कम्पनी बाग़ के सामने से होते हुए जालन्धर छावनी ! चहेड़ू की बेयीं[1] पर पहला पड़ाव होगा। वहीं पण्डित वेणीप्रसाद रुककर उनकी प्रतीक्षा करेंगे। बेयीं के एक मील आगे रास्ता लालड़ाँ को उतरता है। और वह बोला, "हुण बादशाहो, तुसीं बहस छड्डो ते चढ़ बहवो। पहलाँ ई बड़ी देर हो गयी ए। दूज्जी बैल गड्डी ताँ कम्पनी बाग तक पहुँच गयी होएगी। रस्ते च रात हो गयी ते फ़ेर सान्नूं उलाम्भा न देणाँ[2]।"

"पण्डित वेणीप्रसाद तो रात ही से ज़ोर दे रहे थे," हुनर साहब ने रद्दा जमाया, "कि साढ़े पाँच बजे बैलगाड़ियों को चल देना चाहिए। वे तो रात पूरी तरह सोये भी नहीं, बीस मिनट आधा घण्टा उन्होंने आपकी राह देखी, फिर वो यह कहकर चल दिये कि हम देर न लगायें और आप दोनों के आते ही चल दें। ...अब आप क्या सोच रहे हैं ? यहाँ से नहीं चढ़ना चाहते तो अड्डे के बाहर से चढ़ जाइएगा। लेकिन देर हो गयी है..."

तब भाई साहब ने चेतन के कान में जो कहा, उसका यह मतलब था कि रास्ते में हस्पताल के सामने डॉ० सत्यप्रकाश का क्लिनिक पड़ता है। वे बरस-डेढ़ बरस वहाँ काम सीखते रहे हैं। हस्पताल के सभी डॉक्टर और इर्द-गिर्द के लोग उनके परिचित हैं। रास्ते में कोई मित्र-परिचित ही मिल जाता है। वहाँ से बैलगाड़ी पर बैठना उनके लिए असम्भव है।

चेतन भाई साहब की कठिनाई समझ गया था। (मन-ही-मन उसे फिर इस बात पर गुस्सा आया कि उसने पहले ही क्यों इस स्थिति की कल्पना नहीं की।) उसने रणवीर और हुनर साहब को सुनाते हुए कहा कि भाई साहब रास्ते में ज़रा डा० सत्यप्रकाश से मिलना चाहते हैं। वह उन्हें ताँगे में ले जाता है, वे लोग कम्पनी बाग़ पर उनकी प्रतीक्षा करें।

"अव्वल तो हमीं पहले पहुँच जायेंगे," उसने कहा, "दस-पाँच मिनट की देर

---

1. नदिया।
2. अब बादशाहो, आप बहस छोड़ें और बैलगाड़ी पर चढ़ बैठें। पहले ही देर हो गयी है। दूसरी बैलगाड़ी तो कम्पनी बाग तक पहुँच गयी होगी। रास्ते में रात हो गयी तो फिर हमें दोष न देना।

हो तो आप कम्पनी बाग़ के मेन गेट पर हमारा इन्तज़ार करें।"

तब रणवीर मिनमिनाया—"वहाँ देर न लगाइएगा जीजा जी, पहले हीं चलने में···"

चेतन ने उसे बात ख़त्म नहीं करने दी, उसकी पीठ थपथपाते हुए उसने कहा कि वह जाकर बैलगाड़ी पर बैठे और चिन्ता न करें। वे उन लोगों से पहले ही पहुँच जायेंगे।

और उसने एक ताँगेवाले को आवाज़ दी और भाई साहब के बैठ जाने पर स्वयं भी उनके साथ पिछली सीट पर बैठ गया।

तभी हुनर साहब अचानक बन्दर की तरह उछलकर बैलगाड़ी से उतरे और लपककर उनके ताँगे की अगली सीट पर बैठ गये और पिछली सीट की ओर मुड़ कर उन्होंने कहा :

"डाक्टर साहब बात क्या है ? जा आप बरात में रहे हैं और सूरत आपने मुहर्रमी बना रखी है।"

भाई साहब ने तत्काल कोई जवाब नहीं दिया।

चेतन ने देखा—रणवीर वहीं सड़क पर खड़ा, किंचित् उदास भाव से उन्हें देख रहा था। बरात उसकी न होती तो वह भी निश्चय ही भागकर हुनर साहब के साथ जा बैठता। कुछ क्षण वह सड़क पर खड़ा, उन्हें जाते देखता रहा। फिर जब ताँगा बस्ती के अड्डे से मुड़ा तो वह पलटकर अपने छोटे भाई के साथ बैलगाड़ी पर जा चढ़ा।

"मुझे मालूम होता कि बरात बैलगाड़ी पर सफ़र करेगी तो मैं कभी न आता," अड्डे से बाहर सड़क पर आते ही भाई साहब सहसा फट पड़े थे।

हुनर साहब ठहाका मारकर हँसे थे और ढीले हो जाने वाले गर्म चदरे को खोलकर ठीक से फेंटा मारते हुए उन्होंने कहा था :

"तुम तो सचमुच डॉक्टर हो गये हो रामानन्द, वरना ऐसी बैलगाड़ी की सवारी के मुकाबिले में, जिसके नीचे गुदगुदे बिस्तर हों और जिसकी छत आसमान को छूती हो और जिस पर चार दोस्तों के साथ आराम से बैठा या लेटा जा सके, रेलगाड़ी के फ़र्स्ट क्लास का सफ़र भी हेच है।"

और उन्होंने उसी वक्त 'मीर' के हवाले से एक शे'र चुस्त करके सुना दिया :

बैलगाड़ी का सफ़र हो, साथ हों दो-चार यार
'मीर' जी को और क्या फिर इस जहाँ में चाहिए

चेतन ज़ोर से ठहाका मारकर हँसा था। "अरे हुनर साहब, जो शायर बागीचे की तरफ़ खुलने वाले दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द रखता था, वह बैलगाड़ी पर क्या सवार होता। क्यों 'मीर' की रूह को तकलीफ़ पहुँचा रहे हैं—ऐसे भौंडे शे'र उसके नाम से सुना कर ?"

लेकिन हुनर साहब चेतन की इस फटकार से ज़रा भी हतप्रभ न हुए थे।

"जिसने भी यह लिखा है कि 'मीर' बागीचे की तरफ़ खुलने वाली खिड़कियाँ बन्द रखते थे," हुनर साहब ने ज़ोर देकर कहा, "ग़लत लिखा है। मीर के शे'र ज़बाने-हाल से पुकारकर कहते हैं कि वो न सिर्फ़ खिड़कियाँ खुली रखते थे, बल्कि बाकायदा बागीचे की सैर करते थे, वरना वो ऐसे शे'र कैसे कहते?" और हुनर साहब ने एक-के-बाद-एक कई शे'र सुना दिये :

"बूटा-बूटा पत्ता-पत्ता हाल हमारा जाने है
जाने-न-जाने गुल ही न जाने बाग तो सारा जाने है।

कहा मैंने कितना है गुल का सबात[1]
कली ने यह सुन कर तबस्सुम किया[2]

चमन में गुल ने जो कल दावा-ए-जमाल किया[3]
जमाले-यार[4] ने, मुँह उसका, खूब लाल किया

दी आग रंगे-गुल ने बादे सबा चमन[5] को
यों हम जले कफस[6] में सुन हाल आशियाँ का

"बिना बाग़ीचे का हर रंग देखे, कोई गुलो-बुलबुलो-चमन के बारे में क्या ऐसे दिलनशीं शे'र कह सकता है?" हुनर साहब ने कहा और अपने उस्ताद के उस्ताद के उस्ताद के हवाले से (जो हुनर साहब के कथनानुसार 'मीर' के हम-असर और हम-सुखन[7] थे) बताया कि 'मीर' को बैलगाड़ी का सफ़र बहुत पसन्द था और उन्होंने 'मीर' के नाम से दो शे'र और सुना दिये थे :

बैलगाड़ी का सफ़र है ज़िन्दगी
चरख-चूँ जाने न कितने दिन चले

बैलगाड़ी का सफ़र है, रात पूरे चाँद की
याद ने तेरी अँधेरा पाख लेकिन कर दिया।

और उन्होंने बताया कि 'मीर' ही पर क्या बस है, 'ग़ालिब', 'ज़ौक,' 'मोमिन' और 'सौदा' तक ने अपने अशआर में बैलगाड़ी की यात्रा के गुण गाये हैं और वे एक किस्सा सुनाने लगे, जब 'मीर' ने दिल्ली से लखनऊ तक का सफ़र बैलगाड़ी में किया था और रास्ते में पूरा दीवान लिख डाला था। हुनर साहब तो अपनी रौ में 'मीर' का पूरा दीवान ही सुना देते, लेकिन तभी वे लोग डॉक्टर सत्यप्रकाश के क्लिनिक में पहुँच गये।

---

1. स्थायित्व
2. मुस्करायी
3. सौन्दर्य की बड़ हांकी
4. प्रिय के सौन्दर्य
5. हवा
6. क़ैद में
7. समकालीन और उनके साथ कविता करने वाले

डूँगी-डूँगी नदी-आ, तला वे पुराना
मैं अनतारू, तरन न जाना
नजर न आवे कण्डा पार दा
ओ मेरे आ यारा—
नज़र न आवे कण्डा पार दा[1]

रतना सहसा बैलगाड़ी पर खड़ा हो गया था। दायाँ हाथ कान पर रखकर, बायें को हवा में लहराते हुए उसने अन्तरा गाया। चेतन की विचार-शृंखला अचानक टूट गयी—कितना रसीला गला पाया है, रतने ने ! हठात उसने सोचा और उसकी आँखों के सामने शिमले के चैडविक प्रपात के नीचे उस तन्हाई को सोज़ और लोच-भरी अपनी आवाज़ से गुँजाते कविराज जी की सूरत घूम गयी और सोहनी का वह गीत उसे याद आ गया :

लंघ आ जा पत्तन झनाँ दा
ओ यार
आ जा पत्तन झनाँ दा
सान्नूं आसरा तेरे नाँ दा
ओ यार
आ जा पत्तन झनाँ दा[2]

इर्द-गिर्द की सारी फ़िज़ा को गुँजाता हुआ, रतने का गीत जाने किस प्रक्रिया से चेतन की श्रवण-शक्ति से परे चला गया था और उसकी जगह दो वर्ष पहले चैड-विक प्रपात के पार्श्व संगीत पर उठती सोहनी की पुकार कविराज के स्वर में चेतन के कानों में गूँजने लगी थी :

मेरे काग बनेरे उत्ते बोल्लेया
मेरा तत्तड़ी दा जिउड़ा डोल्लेया
मैं ते मंदड़ा बोल न बोल्लेया
ओ यार

आ जा पत्तन झनाँ दा[3]
लंघ आ जा पत्तन झनाँ दा
दूरों दिस्सदा ऐ माही आउन्दा

---

1. (पुराने घड़े के बल पर महींवाल से मिलने को जाती हुई, नदी पार करती सोहनी कहती है :) गहरी-गहरी नदी है। घड़े का तला पुराना है, मैं तैरना नहीं जानती और नदी का दूसरा किनारा दिखायी नहीं देता। ओ मेरे प्यारे, नदी का किनारा दिखायी नहीं देता।
2. चनाब का घाट पार कर आ जा, हमें तेरे ही नाम का आसरा है।
3. मेरी मुंडेर पर कौवा बोला। (प्रिय की आने की आशा से) मुझ बेचारी का दिल डोल उठा। मैंने तो कभी कोई बुरा बोल नहीं बोला (मेरा प्रिय क्यों नहीं आयेगा ?)

हत्थ कंगन ते बाँह लटकाउन्दा
मैंन्नूं रमज़ाँ नाल बुलाउन्दा[1]
ओ यार···

और वहीं बैलगाड़ी पर लेटे-लेटे, चेतन पुरानी यादों में खो गया। शिमला के चैडविक प्रपात से उड़कर उसका मन दुसुआ स्टेशन की सूनी, अकेली रातों में भटक गया, जिन्हें एक ही रात में बैठकर मन्थली (महीने का पूरा हिसाब) बनाने के प्रयास में उसके पिता मील-मील तक फ़िज़ाओं को गुंज़ाने वाली अपनी आवाज़ से खनखना देते थे—और राँझे का वह दर्द-भरा गीत :

इश्क तेरे ने कमलिए हीरे
जग विच्च मैंन्नूं ख्वार कीत्ता ई !

चेतन कितना चाहता था कि उसके कण्ठ में भी वैसा ही लोच और सोज़ हो, लेकिन उसकी बात तो दूर रही, छह भाइयों में एक के यहाँ भी पिता के स्वर की मिठास न थी। चेतन को इस बात का भी अफ़सोस था कि न उसके पिता ने अपने स्वर का कोई लाभ उठाया था, न कविराज रामदास ने। कविराज तो फिर भी दूसरों को रिझाने के लिए कभी-कभार गाते थे, लेकिन उसके पिता तो वीरानों में सुगन्ध लुटाने वाले फूल की तरह, मन्थलियाँ बनाते हुए, सोज़ और लोच से भरी अपनी मीठी, रसीली आवाज़ से वीरान रातों के सन्नाटों को गुंजाया करते थे। इससे ज़्यादा उस विभूति का उनके निकट कोई उपयोग नहीं था।···

रतना बैठ गया था और उसके स्वर को नीचे सड़क पर चलने वालों ने उठा लिया था।—"इसके पास भी इस विभूति का बस यही उपयोग है,"—चेतन ने सोचा—"कि वह अपने स्वर से मित्रों की महफ़िलों को गुलज़ार बना दे।"··· और चेतन को अपना पुराना अभाव सालने लगा।···काश उसके पास ऐसा कण्ठ-स्वर होता ! वह किसी गुरु के चरणों में बैठकर उसे साधता और देश-विदेश में अपने नाम का डंका बजा देता।

रतना बदस्तूर 'चिट्ठिए दर्द फ़िराक बालिए' गा रहा था :

माही ! कदीं तूं सान्नूं पास बुला, वे
नई ताँ कदीं तूं ढोल, कोल साड्डे आ, वे
कुझ ताँ मज़ा आवे
कुझ ताँ मज़ा आवे
कुझ ताँ मज़ा आवे प्यार दा[2]
ओ यार दा

चिट्ठिए दर्द फ़िराक बालिए—

---

1. प्रिय दूर से आता दिखायी देता है—हाथ में कंगन और बाँह को लटकाये हुए—मुझे इशारों से बुलाता हुआ।
2. ओ प्रिय, कभी तू हमें अपने पास बुला; नहीं तो ओ प्रिय, कभी तू हमारे पास आ; कुछ तो मज़ा आये प्यार का !

भाई साहब आँखें बन्द किये, नीम-ग़नूदगी में झूम रहे थे कि हुनर साहब ने हठात उठकर दाद देते हुए जोश से कहा, "वाह-वा ! क्या हस्बे-हाल बात कही है ! —हमें बुला, या खुद आ ! ···वाह-वा, वाह-वा !"

हुनर साहब की इस पुरशोर दाद ने सहसा भाई साहब को उनकी ग़नूदगी से जगा दिया । झटके से चौंककर उन्होंने आँखें खोलीं और सीधे होकर बैठ गये । हुनर साहब ने रतने पर ज़ोर दिया कि एक बार वह उन पंक्तियों को फिर गाये ।

रतना दुगुने उत्साह से गाने लगा :

माही, कदीं तूं सान्नूं पास बुला, वे ।

चेतन भी कोहनी के बल अधलेटा हो गया ।···सुबह से अब तक हुनर साहब का व्यवहार उसकी आँखों के आगे घूम गया ।—बस्ती के अड्डे से ताँगे में बैठते ही हुनर साहब बोलने लगे थे । जब वे डॉक्टर सत्यप्रकाश के क्लिनिक पहुँचे थे तो चेतन का ख़याल था कि वे ताँगे में ही बैठेंगे और वे दोनों भाई डॉक्टर सत्यप्रकाश से मिल आयेंगे । इससे पहले कि वे हुनर साहब को ताँगे में ही रुकने के लिए कहते, हुनर साहब कूदकर उतर गये थे और क्लिनिक की ओर को दो कदम बढ़ गये थे ।

सिविल हस्पताल के सामने, सड़क के किनारे दो-मंज़िली बिल्डिंग में डॉक्टर सत्यप्रकाश का बोर्ड लगा था । नीचे उनका क्लिनिक था । ऊपर वे रहते थे । अभी आठ नहीं बजे थे, इसलिए वे ऊपर की मंज़िल पर ही थे । चेतन और हुनर साहब को नीचे ड्राइंग-रूम में बैठाकर भाई साहब दायीं ओर सीढ़ियों में गये और उन्होंने कॉल-बेल का बटन दबाया । दूसरे क्षण नौकर आया तो उन्होंने कहा, "डॉक्टर साहब से कहो, लाहौर से रामानन्द आये हैं ।"

डॉक्टर सत्यप्रकाश नाश्ता कर रहे थे । कुछ मिनट बाद ही वे नीचे आ गये । उन्होंने भाई साहब और चेतन से हाथ मिलाया । तभी उनकी निगाह हुनर साहब पर गयी । भाई साहब ने हुनर साहब का परिचय दिया । उनकी ओर हाथ बढ़ाते हुए डॉक्टर प्रकाश हँसे थे, "अब आप से तआरुफ़[1] हुआ है तो कुछ शे'र-ओ-शायरी सुनने का मौका मिलेगा ।"

तब चेतन ने अपना कर्त्तव्य समझते हुए हुनर साहब को बताया था कि डॉक्टर साहब बड़े खुश-ज़ौक़[2] और सुख़न-फ़ह्म[3] हैं ।

बस हुनर साहब के लिए इतना ही काफ़ी था । उन्होंने एक नज़र डॉक्टर सत्यप्रकाश पर डाली थी—तीस-बत्तीस वर्ष की उम्र; मँझला कद; पतला न मोटा शरीर; गोरा-चिट्टा रंग; गोल-मटोल चेहरा; छोटी-छोटी, दोनों ओर से

---

1. परिचय
2. सुरुचि-सम्पन्न
3. रसज्ञ, मर्मज्ञ

छँटी मूँछें। हँसते तो मोतियों-से सफ़ेद दाँत चमकते। मुस्कराते तो उनकी दायीं आँख ज़रा-सी दबती, जो उनके मुख को और भी सुन्दर बना देती।···चेतन ने देखा—हुनर साहब को वे बहुत अच्छे लगे हैं—इस सुन्दर सूरत के साथ वे सुरुचि-सम्पन्न और रसज्ञ भी हैं, यह जानकर हुनर साहब बहुत ख़ुश हुए थे। डॉक्टर साहब के बढ़े हुए हाथ को निहायत गर्मजोशी से अपने दोनों हाथों में लेकर उन्होंने दबाया, उनसे मुलाकात होने पर ख़ुशी ज़ाहिर की फिर रणवीर की शादी और बैल गाड़ियों पर बरात के जाने का जिक्र करते हुए कुछ गम्भीर और कुछ अगम्भीर स्वर में बैलगाड़ी के सफ़र से भाई साहब की वितृष्णा के उल्लेख से बात शुरू कर दी। पहले 'मीर' के वही शे'र सुनाये, जो उन्होने ताँगे में सुनाये थे (डॉक्टर सत्यप्रकाश ने दाद दी) फिर अल्ला दे और बन्दा ले के अनुसार शे'र-पर-शे'र और किस्से-पर-किस्सा वे सुनाते चले गये। चेतन अथवा भाई साहब को डॉक्टर सत्यप्रकाश से मिनट-भर को अन्तरंग बात करने का अवसर उन्होंने नहीं दिया। चेतन न जाने कितनी बार वे किस्से और शे'र सुन चुका था, वह बेहद बोर हुआ था। लेकिन कोई चारा नहीं था, हुनर साहब की गाड़ी एक बार चल देती तो उसे रोकना आसान नहीं था। डॉ० प्रकाश के ड्रॉइंग-रूम में बैठा, वह चुपचाप एक डेण्टल मैगज़ीन के पन्ने उलटने लगा था।

तभी उसकी निगाह सड़क की ओर गयी थी और उसने देखा था कि बैलगाड़ी पर लदे हुए रणवीर, निश्तर और दूसरे युवक बराती क्लिनिक के आगे से निकले जा रहे हैं और उसने हुनर साहब को टोक दिया था।

लेकिन हुनर साहब नहीं रुके थे। "उन्हें कम्पनी बाग़ पहुँचने में अभी पन्द्रह-बीस मिनट लगेंगे," उन्होंने कहा था, "अभी चलते हैं।"

और अपनी बात ख़त्म करके ही वे उठे थे। डॉ० सत्यप्रकाश उनकी बातों से इतने प्रभावित हुए थे कि हाथ बढ़ाते हुए उन्होंने आशा प्रकट की थी कि वे आगे भी दर्शन देते रहेंगे। हुनर साहब ने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों में लेकर, उसे बग़ल की ओर ज़रा-सा खींचते और स्वयं आगे झुकते और दाँत निकोसते हुए, उनसे मुलाकात होने पर पुनः 'मसर्रत'[1] प्रकट की थी और उन्हें विश्वास दिलाया था कि वे शादी में शामिल हो आयें तो ज़रूर उनकी ख़िदमत में हाज़िर होंगे और इधर उन्होंने आसान उर्दू ज़बान में गीता और उपनिषदों का जो भावानुवाद किया है, उन्हें सुनायेंगे। (चेतन ने समझ लिया था कि मन-ही-मन हुनर साहब ने डॉक्टर सत्यप्रकाश का नाम भी अपने 'सरपरस्तों' में—याने उन मूर्खों में—लिख लिया है, जिन्हें वे चूना लगाते रहते थे।)

हुनर साहब से हाथ मिलाकर डॉक्टर सत्यप्रकाश ने चेतन और उसके भाई से हाथ मिलाया था और दोनों भाइयों से वादा लिया था कि वापसी पर वे बिना उनसे मिले, न जायँ—ऐसी दो मिनट की मुलाकात में उनसे दिल की बात ही

1, ख़ुशी

न हो सकी ।

डॉक्टर सत्यप्रकाश के क्लिनिक से बाहर निकलकर वे तीनों ताँगे में बैठे तो हुनर साहब इतने प्रसन्न थे कि जब उनका ताँगा बरात वाली बैलगाड़ी के पास से गुज़रा तो बाहर को मुँह निकाल और हवा में बाँह हिलाकर, बिल्कुल बच्चों की तरह रणवीर और उसके मित्रों को चिढ़ाते हुए, हुनर साहब ने ज़ोर की 'ओय-ओय' की । जब ताँगा आगे निकल आया तो बच्चों ही की तरह उन्होंने नारा लगाया था :

याराने-तेज़गाम ने महमिल को जा लिया[1]

और इस तरह ताँगे की सीट से पीठ लगा ली थी, जैसे सचमुच उन्होंने भागकर महमिल में बैठी लैला को जा पकड़ा हो और इस प्रयास में बेहद थक गये हों ।

लेकिन दूसरे ही पल वे उछलकर उठे थे और चेतन और उसके बड़े भाई की ओर पलट कर, डॉक्टर सत्यप्रकाश की तारीफ़ों के पुल बाँधने लगे थे ।···वे डॉक्टर सत्यप्रकाश का ज़िक्र करते हुए न जाने अपने किस सरपरस्त की तारीफ़ शुरू कर देते कि तभी कम्पनी बाग़ आ गया ।

चेतन ने ताँगा वहीं छोड़ दिया और वे लोग बरात वाली गाड़ी की प्रतीक्षा में कम्पनी बाग़ की बहार लेने लगे । हुनर साहब ने गीता का सरल पद्यानुवाद करने के बाद ईशावास्य उपनिषद के कुछ श्लोकों को उर्दू का जामा पहनाया था । इस दौरान भाई साहब को वे लगातार वही सुनाते रहे थे । अनुवाद सुनाकर हुनर साहब यह बताना नहीं भूले थे कि किस बन्द या शे'र या पंक्ति की तारीफ़ किस-किसने की थी ।

तभी बैलगाड़ी कम्पनी बाग़ के दरवाज़े पर आकर रुक गयी । रणवीर और उसके साथी उतर आये, लेकिन उनके ज़ोर देने के बावजूद, न भाई साहब ने वहाँ अपना सूट बदला, न वे गाड़ी पर बैठने को तैयार हुए । उन्होंने यही कहा कि अव्वल तो छावनी के फाटक तक, नहीं नीली कोठी तक वे पैदल ही जायेंगे, वहीं जाकर कपड़े बदलेंगे और बैलगाड़ी पर बैठेंगे ।

चेतन के कानों में हुनर साहब की फब्ती गूँज गयी थी, जो उन्होंने बस्ती के अड्डे से बाहर निकलते ही उन पर कसी थी कि वे सचमुच डॉक्टर हो गये हैं । ···अगर भाई साहब साथ न होते, चेतन ने मन-ही-मन सोचा था, तो कम्पनी बाग़ दूर, वह तो बस्ती के अड्डे से ही बैलगाड़ी पर बैठ जाता । डॉ० सत्यप्रकाश भाई साहब के ही नहीं, उसके भी मित्र थे, बल्कि पहले उसी के मित्र थे और उसी ने ज़ोर देकर भाई साहब को वहाँ शागिर्द रखवाया था। फिर शहर का प्रसिद्ध शायर होने के नाते उसका भी सभी लोगों से परिचय था । लेकिन चेतन उन सब की ज़रा भी परवाह न करता और बैलगाड़ी की छत पर, अन्य बरातियों के साथ

---

1. तेज़ चलने वालों ने महमिल (ऊँट पर बना हुआ पर्देदार पलान, जिसमें बड़े घरों की औरतें यात्रा करती थीं) को जा पकड़ा ।

बैठा चला आता । चेतन को तब लगा था कि भाई साहब कुछ वैसी ही ग्रन्थि का शिकार हैं, जो उसे परेशान किये हुए थी, जिसकी वजह से सेठ वीरभान के यहाँ अपनी सास का काम करना उसे खलता था और वह दूसरों से ही नहीं, अपने आपसे भी छिपता फिरता था ।...

"ज़रा जल्दी पैर पुट्टो महाराज, पहलाँ ई देर हो गयी ए ।" गाड़ीवान ने बेताबी से कहा था ।

तब रणवीर ने गाड़ीवान से कहा कि वह चले, नीली कोठी तक वे पैदल ही चलेंगे ।

चेतन रात का जगा था, वह बैलगाड़ी पर जा बैठना चाहता था, लेकिन उसके बड़े भाई पैदल चलें और वह गाड़ी पर जा बैठे, यह उससे न हो सकता था । वह भी उनके साथ पैदल चल पड़ा था । रणवीर और हुनर साहब को पैदल चलते देखकर निश्तर भी उतर आया था और वे सब गाड़ी के पीछे-पीछे जर्नैली सड़क पर चलने लगे थे । हुनर साहब ने अपनी बातों का तार पकड़ लिया था और चेतन ने अपने विचारों का ।

...भाई साहब को इस बात का डर था कि उनका कोई पुराना परिचित कम्पनी बाग़ के सामने उन्हें सूट उतार कर कपड़े बदलते अथवा बैलगाड़ी पर चढ़ते न देख ले, इसलिए वे आबादी से मील-आधमील दूर जाकर ही बैलगाड़ी पर बैठना चाहते थे । चेतन को भाई साहब की इस झिझक पर हँसी आयी थी ।...लेकिन दूसरे ही क्षण उसे उनका संकोच ठीक लगा था...भाई साहब डॉक्टर हैं...उसने सोचा था...उनकी पोज़ीशन है । वह अपने से बेकार उनकी तुलना करता है । वह डॉक्टर नहीं है—फक्कड़, मन-मौजी कवि है और कवि आधे पागल समझे जाते हैं और उनकी हर सनक क्षमा कर दी जाती है । वह बैलगाड़ी की छत पर चढ़ा-चढ़ा, शहर के बीचों-बीच जर्नैली सड़क से गुज़र सकता है । भाई साहब नहीं गुज़र सकते । वह तो कॉलेज के दिनों में लंगोट लगाये, नंगे बदन, चौरस्ती अटारी तक निकल जाता था और लाहौर में जब-जब उन्हें मकान बदलना पड़ा है, वह रहीम चंगड़ की बैलगाड़ी पर सामान ढोता रहा है और कई बार बैलगाड़ी के साथ-साथ चलता हुआ और कई बार मेज़ और चारपाइयाँ थामे, बैलगाड़ी पर सवार, भरी अनारकली से गुज़रा है और मित्र-परिचितों से मिलने पर उनसे आँखें चुराने की बजाय, 'आदाब अर्ज़' अथवा 'नमस्ते' करते हुए उनका ध्यान खींचता रहा है । लेकिन भाई साहब, न जालन्धर में कभी ऐसा कर सके हैं, न लाहौर में ।

तभी फिर चेतन के विचारों ने पल्टा खाया—अगर भाई साहब बस्ती से ही बैलगाड़ी पर सवार हो जाते और हस्पताल के सामने डॉ० सत्यप्रकाश उन्हें मिल ही जाते तो कौन-सा कहर टूट जाता । यह सारी झिझक, यह समस्त संकोच, ये तमाम ग्रन्थियाँ मन ही की तो हैं । उसने ज़रूरत पड़ने पर अगर अनारकली में रूमाल बेच कर रोज़ी कमा ली तो कौन कयामत टूट गयी ? क्या पण्डित रत्न

या किसी भी दूसरे की नज़र में उसकी वक़अत ज़रा भी कम हुई ? भाई साहब अगर अपने फ़न में माहिर हो जाते हैं तो वे पैदल चलें अथवा बैलगाड़ी में, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। लोग झख मार कर उनसे दाँत बनवाने अथवा उखड़वाने आयेंगे कसब-ए-कमाल कुन कि अज़ीज़े जहाँ शवी।[1]

···चेतन के मन में अपने पिता की उक्ति घूम गयी। उसने अपने अनुभव से यह जान लिया था कि इस तरह की ग्रन्थि केवल हीन-भाव अथवा आत्म-विश्वास की कमी के कारण उपजती है। मध्य वित्त का युवक अपनी पतलून की क्रीज़ का इसीलिए खयाल रखता है कि वह थोड़ा सभ्य, विशिष्ट अथवा सम्भ्रान्त समझा जाय, जबकि किसी करोड़पति को अगर बेक्रीज़ की ढीली पतलून में आराम महसूस होता हो तो वह मज़े से उसी में घूम सकता है। आदमी अपने फ़न में इतनी सिद्धि पा ले कि ज़माने की आलोचना-प्रत्यालोचना से ऊपर उठ जाय। ···महात्मा गांधी सिर्फ़ लंगोट लगाये हुए, ब्रिटेन के सम्राट जॉर्ज पंचम से मिलने गये और भाई साहब बैलगाड़ी पर चढ़ने से हिचकिचाते हैं ··चेतन मन-ही-मन हँसा और उसने वहीं भाई साहब के साथ बैलगाड़ी के पीछे-पीछे पैदल जाते हुए तय किया था कि वह अपने फ़न में इतनी सिद्धि पा लेगा कि दुनिया जब उसे देखे तो उसके रहन-सहन और खान-पान पर उसका ध्यान न जाय। ···'कितनी अजीब बात है'—उसने सोचा—'कि हम अपने आप को ज़िन्दगी की छोटी-छोटी फ़िज़ूल की बातों पर लगा देते हैं और जो तत्व की बातें हैं, वे हमारी नज़रों से ओझल हो जाती हैं और ज़िन्दगी बीत जाती है और हम कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं कर पाते।'···

नीली कोठी तक हुनर साहब शे'रों, नज़्मों, चुटकुलों से सब का मनोरंजन करते रहे थे और नीली कोठी के चौरस्ते पर जब गाड़ी रुकवा कर भाई साहब ने कपड़े बदल लिये थे और गाड़ी पर आ बैठे थे और उन्होंने ताश निकाल ली थी तो हुनर साहब थक कर ऐसे चुप लेट गये थे, जैसे अब सारा रास्ता वे न बोलेंगे। जालन्धर छावनी से पहले सड़क के किनारे लगे एक गन्ने के बेलने पर जब भाई साहब ने रस पीने की इच्छा प्रकट की थी, रणवीर ने तत्काल गाड़ी रुकवा कर सब को रस पिलाया था तो भी हुनर साहब (हालाँकि चेतन को विश्वास था कि वे रस की बाटियों को ले कर दो-एक शे'र चुस्त करेंगे) चुप रहे थे। लेकिन हठात रतने का गाना सुनते हुए उनका मौन टूट गया था और वे फिर उठ बैठे थे और बढ़-बढ़ कर दाद देने लगे थे।

---

1. किसी व्यवसाय में कमाल हासिल कर, तू अपने-आप दुनिया में लोकप्रिय हो जायगा।

'बाँधो न नाव इस ठाँव-2' से

सी० पी० के मेले से तीन दिन पहले, चेतन अपने मित्र अनन्त को पत्र लिख रहा था :

मैं तो यार ख़ासी परेशानी में फँस गया हूँ। चन्द्रा को थप्पड़ मारने और उसके बाद अपने पढ़ाने के ढंग को बदलने की बात मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, लेकिन उससे लगता है कि खाई से निकल कर, मैं कुएँ में जा गिरा हूँ। उस कमबख़्त का मन पढ़ने में है नहीं। मैं पहले उसकी तरफ़ देखता न था, उससे बात नहीं करता था। फिर मैंने सोचा कि शायद इसी कारण वह ऊब जाती है और उसका मन पढ़ने में नहीं लगता। लेकिन अब मैं जान गया हूँ कि वह महज़ बातें करना चाहती है, हँसना-हँसाना चाहती है, छेड़ती है और चाहती है, मैं भी उसे छेड़ूँ। पढ़ना वह नहीं चाहती। ऐसी मुँहज़ोर और उदमाती लड़की तो मैंने कभी नहीं देखी। पिछले कुछ दिनों से जिस तरह उसने शोख़ी और शरारत शुरू की है, मैं हैरान रह गया हूँ। हो सकता है, मेरा तजुरबा उतना न हो; पर लड़कियाँ, जिन्हें हमारे यहाँ शील-संकोच की देवियाँ कहा जाता है, यह सब कर सकती हैं—अगर कोई मुझसे कहता तो मैं विश्वास न करता···

पत्र लिखते-लिखते, चेतन के सामने पिछले दिनों की कई घटनाएँ घूम गयीं : ···झण्डालाल के घर अखण्ड कीर्तन था—शनि की रात और इतवार का पूरा दिन ! वे लाला जी को सपरिवार निमन्त्रण देने आये थे। नीचे उसके कमरे में आकर, चेतन को भी खास तौर पर आमन्त्रित कर गये थे। जब से चेतन ने किसी क्लर्क को यह कहते सुना था कि लाला हाकिमचन्द ने ट्यूटर नहीं, दामाद रखा है, उसने अजाने ही तय कर लिया था कि वह कसुम्पटी और छोटे शिमले के उन क्लर्कों से, जो लाला जी के मित्र अथवा परिचित थे, (चाहे वे उनके अधीन हों अथवा किसी दूसरे विभाग के) अच्छे सम्बन्ध बनाये रखेगा। इसी कारण वह प्रॉस्पेक्ट हिल की पिकनिक में भी गया था और इसीलिए उसने सी० पी० के मेले में जाने की भी हामी भर दी थी। उन सब में और उसमें बात-चीत का साझा कोई विषय न था। कला और साहित्य से उनका दूर का भी

नाता नहीं था। 'रमी,' 'ह्विस्ट,' 'डौड्की' और 'फ़्लाश'—ऐसे ताश के खेलों में, जो वे खाली वक्त में प्राय: खेलते थे, चेतन की रुचि न थी। मज़ाक उनके निहायत फूहड़ और गन्दे थे। चेतन केवल यह करता कि जब भी उनमें से किसी को रास्ते में मिलता, हाथ जोड़, मुस्कराकर 'नमस्ते' कर देता और उसकी तथा उसके बाल-बच्चों की कुशल-क्षेम पूछ लेता।

शनि की रात लाला जी तो दो-एक घण्टे के लिए चेतन के बराबर वाले कमरे में अपने दोस्तों के साथ बैठ कर फ़्लाश खेला करते थे। फिर वे आर्य समाजी थे, कीर्तन में क्या जाते। उन्होंने निचले कमरे में महफ़िल जमा ली तो चेतन खाना खाने के बाद टहलता-टहलता, कसुम्पटी चला गया…

झण्डालाल के पास भी ऊपर की मंज़िल में दो-तीन कमरे थे। नीचे बाज़ार ही से चेतन के कानों में हार्मोनियम के स्वर के साथ किसी युवा लड़की के कण्ठ से निकली, करुण-मधुर आवाज़ आयी। सूरदास का पद था :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
कैसे रहैं रूप-रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी
अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

और फिर छैने बज उठे और चिमटा खनक उठा। बार-बार समवेत स्वर में सभी गाने लगे :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
ओ अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
रे अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
हाय अँखियाँ…

चेतन सीढ़ियाँ चढ़ रहा था कि सहसा ऊपर मौन छा गया और वही मधुर, दर्द-भरा स्वर लहराया :

अवधि गनत, इक टक मग जोवत, तब एती नहिं झूँखी
अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

चिमटा बज रहा था। मँजीरे छनक रहे थे। हार्मोनियम बजाने वाला उस पर झुका पड़ रहा था और उपस्थित जन झूम-झूम कर गा रहे थे :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
श्रो अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
रे अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

चेतन, बिना शोर किये, चुपचाप जा कर बैठ गया।

उसने देखा—सामने, एक बड़ी-सी चौकी पर, चौखटे में जड़ा राधा-कृष्ण का चित्र दीवार के साथ टिका है। उस पर कितने ही हार चढ़े हैं। आगे घी के दिये जल रहे हैं। उस चौकी के पास ही झण्डालाल की बड़ी लड़की, राधा, हाथ में मंजीरे लिये, गा रही है—बीस-एक वर्ष की वय, गोल-गुलगोथना, गोरा, चाँद-सा मुख; गदराया और पूरे यौवन पर आया शरीर—शलवार-कमीज़ पहने-

फसकड़ा मारे, आँखें बन्द किये, एकदम तन्मय भाव से वह झूम-झूम कर अपने कल-कण्ठ से अलाप रही थी :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

धीरे-धीरे बाजे की, चिमटे की, मँजीरों की गति तेज़ होती गयी। गाने वाले, तन्मय होकर, उनसे भी त्वरित गति में गाने लगे :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
ओ अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
रे अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
हाय अँखियाँ···

कि सहसा लड़की ने हाथ का संकेत किया और आँखें खोल दीं और पूरे स्वर में अगला चरण गाया :

अब इन जोग सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी
अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

और उसने फिर आँखें बन्द कर लीं; मँजीरे और चिमटे खनक उठे और उपस्थित मण्डली झूम-झूम कर गाने लगी।

चेतन अपलक उस गोरे मुख को लाल होते देखता रहा। दुपट्टा उसका गले में उलझ गया था, बाल बिखर रहे थे, पर वह तन्मय भाव से सुध-बुध भूल कर गा रही थी। जो लोग आगे गोल दायरा बनाये बैठे थे, उसी की तरह झूम रहे थे। पीछे वालों में—बायीं ओर स्त्रियाँ और दायीं ओर पुरुष—कुछ लोग, उसी ज़ोर से गा रहे थे; कुछ के सिर्फ़ होंट हिल रहे थे···

···चेतन के सामने बचपन में, चिन्तपुरनी के मेले में, हाल पर आने वाली एक जवान लड़की घूम गयी। मन्दिर के बाहर, विशाल आँगन में एक मण्डली दुर्गा की स्तुति गा रही थी कि एक युवा लड़की झूमने लगी। स्तुति में गति आ गयी। लड़की के झूमने की गति भी तेज़ हो गयी। आँखें बन्द; शरीर की कोई सुध-बुध नहीं; कभी-कभी उसके होंटों से केवल ज़ोर से 'जय दुर्गे' निकलता और वह कमर के ऊपर शरीर को गोल दायरे में घुमाये जाती; कुछ देर बाद उसकी चोटी भी पूरे दायरे में घूमने लगी; पर लड़की को उसका भी होश नहीं रहा। दर्शकों में किसी ने कहा कि माता दुर्गा उसमें उतर आयी हैं और ज़ोर का जयकारा गूँजा और भक्त-स्त्रियों ने माथे टेक दिये और मन्नतें मानने लगीं।···

राधा को देखते हुए चेतन को लगता था कि इसको भी अभी वैसा ही हाल पड़ जायगा। लेकिन राधा ने फिर हाथ से संकेत किया। मौन छा गया और उसने अगला बन्द गाया :

बारक वह मुख फेर दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी
अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

और वह आँखें बन्द करके, वह फिर झूमने लगी···

तभी चेतन के कानों में, बराबर ही बैठे किसी आदमी के हल्के-से फुसफुसाने की आवाज़ आयी—"झण्डालाल को इसकी शादी कर देनी चाहिए। किसी साधू-आधू के साथ भाग गयी तो पड़ा रोयेगा; बीस बरस की होने को आयी है।"

"काहे से कर दे शादी, इतने वच्चे पैदा कर दिये हैं साले ने, उनकी रोटी ही चल जाय तो वहुत है। पढ़ गयी होती तो बात भी थी।"

'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी' का संकीर्तन पूरे जोरों पर था; चेतन हाथ धरती पर रखकर, ज़रा-सा पीछे को मुड़ा। झण्डालाल ही के दफ़्तर के दो क्लर्क फुसफुसा रहे थे।

तभी चेतन के हाथ पर किसी ने ज़ोर से चिकोटी काट दी। तड़प कर चेतन मुड़ा। उसने देखा कि उसके बायीं ओर को, औरतों के हुजूम में, इस किनारे चन्द्रा तथा झण्डालाल की छोटी लड़की रमा, साथ-साथ बैठी, प्रकट तन्मय भाव से गाना सुन रही हैं। उसने फिर हाथ वैसे ही रखकर, दायीं ओर बैठे क्लर्कों की बातें सुनने का प्रयास किया।

"पढ़ने के लिए दिमाग़ चाहिए," दूसरा क्लर्क कह रहा था, "तीन बार हिन्दी प्रभाकर में फ़ेल हो गयी।"

"हो सकता है, इसी के चलते झण्डालाल को भगवान मिल जायँ।"

बड़ी हल्की-सी हँसी चेतन को सुनायी दी।

तभी फिर उसके हाथ पर किसी ने बारीक चिकोटी भरी। वह जल्दी से मुड़ा। उसने चन्द्रा का हाथ देख लिया और रमा की आँखों में हल्की-सी मुस्कराहट भी। चेतन क्षण-भर वैसे रहा, लेकिन चन्द्रा नितान्त तन्मय भाव से राधा पर दृष्टि टिकाये थी। चेतन को उसकी दूधिया गर्दन का ज़रा-सा भाग ही दिखायी दे रहा था।—'ये कब आकर यहाँ बैठ गयीं?' उसने सोचा, 'जब मैं आकर बैठा था तो जगह खाली थी।'···उसने मुड़कर देखा—कमरा बाहर के दरवाज़े तक भर गया था; दोनों लड़कियाँ, एक-दूसरी के पीछे, बैठी थीं कि उनकी शरारत कोई देख न सके। वहाँ रोशनी भी अपेक्षाकृत कम थी। रमा तो बिल्कुल उसके बराबर बैठी थी, उसके घुटने के नीचे से हाथ लाकर ही चन्द्रा ने उसके उल्टे हाथ पर चुटकी काटी होगी···'अजीब शोख़ और निडर लड़कियाँ हैं,' चेतन मन में बड़बड़ाया, 'अगर किसी ने उनकी शरारत देख ली हो तो?'··· सहसा उसका दिल धड़क उठा। वह धीरे-धीरे खिसक कर पीछे बैठे लोगों में रास्ता बनाता हुआ, सीढ़ियों तक आया। चप्पल ढूंढ़ कर उसने पहनी और क्षण-भर सीढ़ियों में रुका। राधा गा रही थी :

सूर जोग जनि नाव चलावहु, ये सरिता है सूखी
अँखियाँ हरि दरसन की भूखी

तभी चन्द्रा ने पलटकर उसकी ओर देखा। लेकिन चेतन ने उससे आँखें नहीं मिलायीं। वह सीढ़ियाँ उतर रहा था और ऊपर संकीर्तन पूरे जोरों से चल रहा था :

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी
रे अँखियाँ···
ओ अँखियाँ···

···रात चेतन को बहुत देर तक नींद न आयी थी—'यह लड़की मुझे पिट-वायेगी!' बार-बार उसके दिमाग़ में यही ख़याल आता था, 'भाई साहब ठीक ही कहते थे। मुझे यह ट्यूशन न लेनी चाहिए थी। लेकिन मैंने समझा, भाई साहब अपनी प्रैक्टिस बिगड़ने के डर से मुझे रोक रहे हैं। अपने आपको बड़ा समझदार गिनता था न तू!" अपने आपको सम्बोधित करते हुए उसने मन-ही-मन कहा, 'मैं अगर कुछ न करूँगा तो कैसे गड़बड़ होगी?···मूर्ख कहीं का ···तू कुछ भी न करेगा तो भी गड़बड़ होगी·· तू अकेला तो नहीं, दूसरी लड़की भी है। तू उसे क्या जानता था? लड़की है, जिसमें कोई कॉम्प्लेक्स नहीं; नॉर्मल, इसीलिए ठस; जो केवल शरीर है···तेरे जैसा कॉम्प्लेक्स दिमाग़ तो उसके पास नहीं···पढ़ने में उसका मन नहीं, धर्म-कर्म में उसका मन नहीं···सुबह दो अण्डे का आमलेट खाकर, दूध का गिलास पीती है; गोश्त-मछली खाती है, जवान हो गयी है···"

चेतन को लाला हाकिमचन्द पर क्रोध आने लगा···उनके क्या आँखें नहीं··· उन्हें उसे सात्विक भोजन देना चाहिए, सन्ध्या-वन्दन करना सिखाना चाहिए··· जब वह दो बार मैट्रिक में फेल हो गयी तो क्यों नहीं उन्होंने उसकी शादी कर दी? जिस लड़की का मन पढ़ने में नहीं लगता, वह खुराफ़ात नहीं सोचेगी तो और क्या करेगी? पढ़ाई में जिसका मन लगता है, जिसके दिल में कुछ बनने की साध है, वह मन को मार सकती है, पर वह क्या करे?···यह तो आग है— जलेगी भी, जलायेगी भी; इसकी नियति, विवाह की नदी में इसका प्रवाह है ···उस नदी में, जिसे न जाने किस भगीरथ ने पहले-पहल समाज में बहाया था; जो न जाने कब से बह रही है और न जाने कितनी बेगिनती अग्नियाँ जिसने ठण्डी कर दी है···

इस उपमा पर चेतन मन-ही-मन प्रसन्न हुआ—उसने सोचा कि सुबह उठते ही नोट करेगा—कहीं इस्तेमाल करने के लिए। पर तभी उसे अनायास ऐसी तमाम लड़कियों पर दया हो आयी···क्या उनके तन में धधकती आग का, इसके सिवा कोई इलाज नहीं कि उसे दरिया के हवाले करके, बरबस बुझा दिया जाय!···चेतन ने सोचा तो पाया कि उसके इर्द-गिर्द के समाज में नहीं है। रूस, इंग्लिस्तान अथवा अमरीका में हो सकता है, यह आग अपना और समाज का कुछ कल्याण कर सके; कुछ नहीं तो खुलकर जल ही ले, चाहे फिर बुझने पर राख बनकर आवारा उड़ती फिरे और उसे ठौर-ठिकाना न मिले।···इस बन्द माहौल में वह इसी तरह दबी-दबी, जल और जला ही सकती है।···और वह जान-बूझ कर इस आग में हाथ जलाने चला आया है···उसे अपने बड़े भाई

की बात का विश्वास नहीं आया, ख़ुद ही अनुभव करके उससे जानना चाहा !

चेतन ने सोचा तो उसे लगा कि इन्सान की ट्रैजिडी (या कॉमेडी) यही है कि वह अपने तजुरबे ही से सीखना चाहता है । शायद उसकी इसी जिज्ञासु-वृत्ति के बल पर संसार चलता है । वरना, कौन-सा ऐसा सत्य है, जो शास्त्रों में नहीं मिलता । इन्सान उन सच्चाइयों का विश्वास कर ले तो सब कुछ छोड़-छाड़ कर, जंगल की राह ले ।···पर इन्सान हर सच्चाई को स्वयं परख कर देखना चाहता है । वह बार-बार आग से हाथ जलाता है । बार-बार गढ़ों में गिरता है। कभी वह नया अनुभव और नयी राह पा भी जाता है । यही उसकी उपलब्धि है ।···

और चेतन को लगा कि शायद इस मामले में पशु, इन्सान की अपेक्षा सुखी हैं । गायें दिन-रात चरती हैं, पर मजाल है किसी ज़हरीली बूटी को मुँह लगा जायँ । सहज-ज्ञान ही से उन्हें मालूम हो जाता है···

और चेतन की कल्पना के सामने, तूफ़ान के कारण एक नन्हें-से द्वीप में पनाह लेने को मजबूर कुछ परिवार आ गये । द्वीप पर घास-पाँत, जड़ी-बूटियों और पेड़-पौधों के सिवा कुछ नहीं । खाद्य सामग्री की खोज में परिवार बँट जाते हैं । जंगल में कुछ पौधे और फल ज़हरीले हैं । एक परिवार के कुछ प्राणी, उन्हें खाकर बीमार हो जाते हैं । जब दूसरा परिवार कुछ दिन बाद फलों की खोज में उधर आता है, तो उन्हें बताते हैं कि अमुक पेड़ के फल ज़हरीले हैं । वे लोग नहीं मानते, उन्हें सन्देह होता है—ये लोग हमें इसलिए डराते हैं कि हम इन्हें न खायें और ये इनके लिए सुरक्षित रहें । मना करने पर भी, वे स्वयं चखकर देखना चाहते हैं और नुकसान उठाते हैं ।

शंका, सन्देह और जिज्ञासा, प्रगति और विकास की शर्त सही, पर चेतन तो इन्हीं के कारण इस गढ़े में आ गिरा । उसने भाई साहब की बात मान ली होती तो क्यों इस मुसीबत में फँसता ?···और फिर क्या वह हर तरह से अछूता रहा ?···वह न योगी है, न पत्थर; कई बार जब वह सोता है, उसकी वह मुलायम, दूध-धुली गर्दन उसकी आँखों में कौंध जाती है, वह कल्पना में उस पर हाथ फेरता है, उसे चूम लेता है···चन्द्रा की वह करुण-मधुर मुस्कान, उसके दिल-दिमाग़ पर छायी रहती है···वह बेकार इस आग में जल रहा है···उसकी खैरियत इसी में है कि वह चुपचाप सुबह लाला जी की सेवा में उपस्थित होकर, उनसे निवेदन करे कि हुज़ूर, आपकी इस लड़की को मैं नहीं पढ़ा सकता ।···लेकिन अगर उन्होंने पूछा—"क्यों ?" तो वह क्या जवाब देगा ? नहीं उसे कहना यह चाहिए कि उसे घर से पत्र आया है, उसकी बीवी की तबियत ठीक नहीं, वह वापस जाना चाहता है ।···अगर उन्होंने कहा—"ठीक है, आप एक हफ़्ते के लिए हो आइए"—तो ? वह सारा सामान तो बाँधकर ले जा नहीं सकता । नीचे गर्मी है । न गर्म कपड़ों की ज़रूरत है, न गर्म बिस्तर की ! —वह सारा सामान ले जाना चाहेगा तो उन्हें शक होगा···हफ़्ते-भर के लिए जाने में क्या तुक है, मुफ़्त में आने-जाने का किराया उसके सिर हो जायगा और फिर भाई

साहब कहेंगे—"क्यों ! मैं कहता था न ?"···नहीं, वह भाई साहब के व्यंग्य न सह सकेगा।···वह लाला जी से कह देगा कि चन्द्रा पढ़ने में ध्यान नहीं लगाती, आप, उसे समझा दीजिए या मुझे छुट्टी दे दीजिए।···

लेकिन सोचने पर चेतन को लगा कि यह कायरता है। ऐसी ही कायरता से वह नीला का जीवन बर्बाद कर चुका है—बाप सब एक-सरीखे होते हैं। फिर लाला हाकिमचन्द-सा ज़ालिम बाप ! अगर कहीं उन्होंने चन्द्रा को पीट दिया ?··· वह कभी उससे आँखें न मिला सकेगा।···तो क्या इस मुसीबत से उबरने का कोई रास्ता नहीं ? यह सच है कि पशुओं-ऐसा सहज-ज्ञान उसे प्राप्त नहीं, पर भगवान ने उसे तेज़ दिमाग़ दिया है, वह उससे काम लेकर कोई सूरत नहीं निकाल सकता ?···सोच-सोच कर उसने यह तय किया कि वह सुबह चन्द्रा से खुल कर बात करेगा, उससे कह देगा कि अगर वह ध्यान से नहीं पढ़ेगी और उसे इसी तरह परेशान करेगी तो चाहे जैसे भी हो, वह ट्यूशन छोड़कर भाग जायगा···

इस निर्णय के बाद, चेतन का थका मस्तिष्क कुछ शान्त हो गया और वह सो गया।

···वह सो गया, पर नींद में भी उसका दिमाग़ परेशान रहा। न जाने क्या बजा होगा कि वह सहसा चारपाई पर उठकर बैठ गया—उसे अजीब सपना आया था···उसने देखा—वह अपने जालन्धर के पुराने खण्डहर मकान में (जिसे नया बने हुए भी दस वर्ष हो चुके थे) झण्डालाल की छोटी लड़की, रमा के साथ गीटियाँ खेल रहा है—वह छोटा-सा बच्चा बन गया है और रमा छोटी-सी लड़की —वे तन्मय भाव से गीटियाँ खेल रहे हैं; साथ-साथ गा रहे हैं :

एला एला एला
बैसाखी लग्गा मेला
ओत्थों लियान्दा केला
केला बड़ा मिट्ठा
शाम पराये डिट्ठा
डै-डो-डंका
रावण जी दी लंका
रावण चुरायी सीता
सीता बड़ी गोरी
राम लछमन दी जोड़ी

कि सहसा ऊपर रसोई की छत से कोई लड़की ज़ोर से 'जय दुर्गे' चिल्लाती है। वह चौंक कर देखता है—मुंडेर के ऊपर, गिरने की तरफ़ से एकदम बेपरवाह, राधा, फसकड़ा मारे बैठी है और उसे हाल आ रहा है—उसका सिर और कमर के ऊपर का शरीर, गोल दायरा बनाता हुआ, घूम रहा है और वह कभी-कभी

ज़ोर से दुर्गा माता का जयकारा बुला रही है।···चेतन के देखते-देखते उसकी गति तेज़ हो जाती है, उसकी लम्बी चोटी और भी बड़ा दायरा बना रही है।··· चेतन चकित होकर देखता है—उसमें एक ईंट बँधी है, जो पूरी गति से घूम रही है।···भयभीत, जड़वत—वह उसे देखता रह जाता है। तभी ईंट चोटी से छूटकर उसके माथे पर आ लगती है और वह बेहोश हो जाता है···

वह बेहोश हो जाता है, पर माथे से रक्त का फ़व्वारा छूटते देखता है। राधा, परी की तरह, उड़ती नीचे आती है और उसे अपनी दोनों बाँहों पर उठाकर, अन्दर दालान में चारपाई पर लिटा देती है। बेहोशी में भी, वह उसके वक्ष की गर्मी महसूस करता है।···जब वह होश में आता है तो उसे लगता है, कोई उसके ऊपर झुका हुआ है। वह आँखें खोल देता है—चन्द्रा!—बड़ी-बड़ी आँखें, धनुषाकार बरौनियाँ, घनी अर्ध-चन्द्राकार भौंहें और संगमरमर-सी नर्म, साफ़, दूधिया गर्दन! वह प्यार और करुणा से मुस्कराती है और फिर उसका माथा चूम लेती है। वह बाँह उसकी गर्दन में डालकर उसे और झुका लेता है और अपने गर्म होंट, उस नर्म, मुलायम, लगभग धड़कती, संगमरमरी गर्दन से लगा देता है—उसका शरीर एकदम तन जाता है। वह उठकर बैठ जाता है···

"ओह भगवान! मैं किस नरक में आ फँसा हूँ।" वह मन-ही-मन झींखा। बिस्तर से उतरा। बाथ-रूम गया। उसका गला बेतरह सूख रहा था। ठण्डे पानी का गिलास, लबालब भरकर, उसने एक ही साँस में ख़त्म कर दिया और रज़ाई ओढ़-कर सो गया।

···सुबह जब वह उठा तो इस बात के सिवा कि उसे वाहियात-सा सपना आया था और वह उठ गया था या उस फ़ैसले के अलावा, जो उसने सोने से पहले किया था, चेतन को कुछ भी याद न था।···

जब अपने वक्त पर चन्द्रा पढ़ने के कमरे में आयी तो वहाँ जाकर कुर्सी पर बैठते ही चेतन ने कहा था, "देखो चन्द्रा, तुम से एक बात मैं सीरियसली कहना चाहता हूँ; तुम मुझे परेशान न करो, नहीं मैं चला जाऊँगा।"

चन्द्रा ने सिर को ज़रा बायीं ओर झुकाते हुए, बड़ी मासूमियत से अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसकी ओर उठायीं और बोली, "हाय मास्टर जी, मैंने आपको क्या परेशान किया है?"

उसकी आँखों में मुस्कान की हल्की-सी रेखा थी। लगता था, अभी वह पूरी तरह मुस्करा उठेगी और उसका मासूमियत का यह पोज़, हवा हो जायगा। उसकी उन आँखों को देखते हुए, चेतन स्वयं मुस्करा देना चाहता था। लेकिन सयत्न गम्भीर बने रहकर, उसने कहा, "कल शाम तुमने क्या किया था?"

"हाय मास्टर जी, मैंने क्या किया?" मुस्कान उसके होंटों पर फिर फूट पड़ना चाहती थी, वह पर बरबस गम्भीर बनी, अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फैलाये, उसकी ओर एकटक देख रही थी।

"क्या किया है ? मैं कहता हूँ, अगर कोई देख लेता ?"

"हाय मास्टर जी, क्या देख लेता ?"

"तुम्हारा चिकोटी काटना और क्या !" चेतन ने झल्लाकर कहा ।

"मैंने चिकोटी काटी ? कहाँ ?"

"मेरे बाँएँ हाथ पर, और कहाँ ! इतनी बारीक चिकोटियाँ काटीं तुमने कि अभी तक दर्द हो रहा है ।"

"कहाँ ? दिखाइए !"

"यह देखो !"

चेतन ने हाथ आगे बढ़ा दिया । जिसकी पिछली ओर, त्वचा पर, बारीक चिकोटी के कारण रक्त जम जाने से, नीला-सा निशान बन गया था । चन्द्रा उसे देखने को झुकी, फिर उसने सहसा उस जगह को चूमने की कोशिश की । चेतन ने हाथ पीछे हटा लिया । चन्द्रा का मुँह मेज़ से जा टकराया ।

"अरे ! तुम्हें चोट तो नहीं आयी ?"

और क्षणिक आवेश में, अजाने, उसने बड़े प्यार से बायाँ हाथ उसकी नाक और होंटों पर फेरा ।

चन्द्रा ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया । उसने दोनों हाथों से उसका बायाँ हाथ कसकर पकड़ लिया और दो-तीन बार पागलों की तरह उस स्थल को चूम लिया । चेतन को रोमांच हो आया । वह सहसा उठा और उसने बरबस अपना हाथ खींच लिया ।

चन्द्रा ने हाथ छोड़ दिया । सिर को किंचित बायीं ओर झुकाते और उसकी आँखों में देखते हुए, उसने हल्की-सी मुस्कान के साथ कहा, "अब तो दर्द नहीं होता ?"

चेतन ने कोई उत्तर नही दिया । वह लगातार उसकी ओर घूरता रहा ।

"हाय मास्टर जी, आपके चेहरे पर ज़रा-ज़रा से दाने उभर आये हैं," उसके रोमांच का लक्ष्य कर, चन्द्रा ने कहा और अपने सामने रखी पुस्तक की जिल्द पर प्यार से हाथ फेरा, जिसकी रेक्सीन पर बारीक-से दाने बने थे, "बिल्कुल इस जिल्द की तरह !"

चेतन ने कोई उत्तर नहीं दिया । वह उसी तरह उसकी ओर घूरता रहा । अपनी कमज़ोरी और उस लड़की की शहज़ोरी पर उसकी त्योरियाँ चढ़ गयीं ।

"लीजिए मास्टर जी ! मेरे दो नहीं, चार चिकोटियाँ काट लीजिए, अगर इसी तरह आपका ग़ुस्सा दूर हो जाय ।"

और उसने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया ।

उन चन्द क्षणों में, उस निडर, उद्धत लड़की की ओर घूरते हुए, चेतन ने मन-ही-मन उसे सख्त क्रोध-भरा भाषण दे डाला कि तुम नहीं समझतीं, तुम क्या कह रही हो । तुम लाड़-प्यार में पली हुई, अमीर बाप की बेटी हो । जो मन में आता है, करती हो । मेरी हैसियत तुम्हारे सामने एक खरीदे हुए मामूली

ट्यूटर से ज़्यादा नहीं, जिसे जब चाहो, तुम जवाब दिलवा सकती हो; इसीलिए तुम मेरे साथ ऐसे खिलवाड़ कर रही हो, जैसे बिल्ली चूहे से। पर मैं चूहा नहीं हूँ; मेरी अपनी प्रतिष्ठा है, मान है, अहं है। इस सब चुहलबाज़ी में तुम्हारा कुछ नहीं जायगा; पढ़ना-पढ़ाना तुम्हें है नहीं; जिस दिन तुम्हारे बाप ने तुम्हारी कोई ऐसी हरकत देख ली, जिस दिन उन्हें यह एहसास हो गया कि कसूर ट्यूटरों का नहीं, तुम्हारी जवानी का है, वे किसी मोटे-पले दुम्बे से तुम्हारी शादी कर देंगे। लेकिन मैं तो बदनाम हो जाऊँगा। अपने भाई, अपनी बीवी और अपने दोस्तों के सामने मैं तो आँख न उठा सकूँगा। मेरा सारा कॅरियर चौपट हो जायगा।

वह और भी न जाने क्या-क्या कहने की सोचता रहा, पर जब उसने मुँह खोला तो सिर्फ़ इतना कहा :

"तो तुम नहीं चाहतीं कि मैं यहाँ रहूँ, तुम्हें पढ़ाऊँ। ठीक है, मैं जाता हूँ। तुम अपने माता-पिता से कह दो कि मास्टर जी कहते हैं, मैं नहीं पढ़ाऊँगा। वे वापस लाहौर जाना चाहते हैं।"

और वह मुड़कर, तेज़-तेज़ अपने कमरे में आ गया। कुर्सी पर जा धँसा। कुहनियाँ उसने मेज़ पर टिका लीं। हथेलियों में ठोड़ी रखकर बैठ गया और सामने शून्य में देखने लगा।

चन्द्रा उसके पीछे भागी-भागी आयी। ज़रा-सा परे रहकर, उसने दबे स्वर में कहा, "मास्टर जी, माफ़ कर दीजिए। अब आपको शिकायत नहीं होगी।"

"तुम जाओ!" चेतन ने जैसे दीवार से कहा, "मैं तुम्हारी शिकायत नहीं करूँगा, मैं कह दूँगा, मेरी बीवी बीमार है। पर मैं अब यहाँ रहूँगा नहीं।"

"मास्टर जी, आप मेरी शिकायत कर दीजिए। मुझे पिटवा दीजिए, अगर इसी तरह आपका ग़ुस्सा दूर हो जाय।"

"नहीं, मुझे न शिकायत करनी है, न तुम्हें पिटवाना है। मुझे वापस जाना है।" चेतन ने वैसे ही दीवार से कहा।

"मैं कसम खाती हूँ, मैं अब ध्यान से पढ़ूँगी, मैं आपके पैरों पड़ती हूँ।"

चेतन को लगा, जैसे वह उसके चरण छूने को झुकी। वह सहसा उठा और हारा-सा, वापस दूसरे कमरे की ओर चल दिया।

चन्द्रा अपनी कुर्सी पर जा बैठी। चेतन क्षण-भर अपनी जगह खड़ा रहा। सहसा उसकी दृष्टि, सामने दीवार पर लगे कैलेण्डर पर गयी। "देखो चन्द्रा," उसने कहा, "डेढ़ महीना मुझे यहाँ आये हो गया है। डेढ़ महीना और किसी तरह गुज़ार दो। लाहौर में तुम्हें ऐसी बोरियत नहीं होगी, न तुम्हारा दिमाग़ भटकेगा।"

और वह बैठ गया और पढ़ाने लगा। चन्द्रा ने फिर सिर नहीं उठाया। सारा दिन पूरे ध्यान से पढ़ती रही।

···दूसरी सुबह, चेतन कमरे में गया तो उसकी नज़र कैलेण्डर पर गयी, उसने सुख की साँस ली कि एक दिन और, किसी हादसे के बिना, बीत गया। कुछ ऐसी ही बात उसके मुँह से निकल भी गयी।

"हाय मास्टर जी, "आप तो दिन गिनने लगे।" चन्द्रा ने कहा, पर जब चेतन ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, तो फिर वह पढ़ने में तल्लीन हो गयी।

इसके बाद उसने कई दिन तक कोई शरारत नहीं की। ध्यान से पढ़ती रही। बस, जब कभी चेतन की नज़र कैलेण्डर पर चली जाती तो वह कह उठती, "हाय मास्टर जी, दिन गिन रहे हो!"

इसके अलावा वह उसे परेशान न करती।

लेकिन उसने चेतन को परेशान करने का एक दूसरा ढंग निकाल लिया था। और चेतन के सामने कुछ दिन पहले की घटना घूम गयी।

···वह सुबह जाकर अपनी जगह बैठा तो चन्द्रा ने एक काग़ज़ उसके आगे सरका दिया। चेतन ने देखा, अत्यन्त सुन्दर अक्षरों में एक कविता लिखी हुई थी। चेतन उसे सरसरी नज़र से पढ़ गया। हालाँकि ज़रा मुश्किल थी, पर थी बड़ी सुन्दर।

"किसकी कविता है?" उसने पूछा।

"यह तो मैं नहीं जानती। रमा ने दी है; वह इसके अर्थ समझना चाहती है, आपको कष्ट न हो और आप बुरा न मानें तो उसे समझा दीजिए। मेरी सहेली है, कई बार कह चुकी है।" उसने बड़े भोलेपन से कहा।

"ठीक है, कल समझा दूँगा।"

चेतन रात को शब्द-कोश लेकर बैठ गया। उसे कविता बेहद अच्छी लगी थी। दो-तीन बार वह उसे पढ़ गया था, पर वह हिन्दी उतनी न जानता था। कठिन शब्दों के अर्थ उसने शब्द-कोश में देखे और फिर कविता को दो-तीन बार पढ़ा। थोड़ी-सी अस्पष्ट थी। बार-बार गुनगुनाते हुए, चेतन के सामने उसके अर्थ स्पष्ट हो गये। उर्दू ग़ज़ल और नज़्म से परिचित उसके कानों को, इस कविता का रस एकदम नया लगा—मधुर, मदिर, करुण—सोते समय भी, वह कविता उसके दिमाग़ में गूंजती रही।

सवेरे, जब चन्द्रा पढ़ने को आयी तो रमा उसके साथ थी। दोनों उसके दायें-बायें, कुर्सियों पर बैठ गयीं।

"यह कविता किसकी है?" सहसा चेतन ने पूछा।

"महादेवी वर्मा की।"

चेतन ने महादेवी वर्मा का नाम तो सुना था, पर उनकी कविताएँ नहीं पढ़ी थीं। लेकिन अपना अज्ञान जताने में उसे संकोच हुआ। उसने कहा, "तुमने कहाँ से नकल की?"

"जी, राधा के पास एक पत्रिका है, उसमें महादेवी वर्मा के नाम से यह कविता छपी है। बड़ी अच्छी लगी, "पर समझ में नहीं आयी।"

"तुम अपनी बहन से पूछ लेतीं।"

"जी, वह भी नहीं समझा सकी।"

"इसमें क्या मुश्किल है," चेतन ने कहा, "कविता क्या, यह गीत है। बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही करुण।"

और वह एक-एक चरण पढ़कर, उसका अर्थ समझाने लगा :

मुखर पिक हौले बोल
हठीले, हौले - हौले बोल
जाग लुटा देंगी मधु कलियाँ, मधुप कहेंगे और
चौंक गिरेंगे पीले पल्लव, अम्ब चलेंगे मौर
समीरण मत्त उठेगा डोल
हठीले, हौले-हौले बोल

"वाह वा!" चेतन ने मस्त होते हुए कहा, "क्या बारीक बात कही है कवयित्री ने? यह कविता किसी विरह की मारी की तरफ़ से लिखी गयी है। वह कहती है कि ओ मुखर—ज़्यादा बोलने वाले—पिक—कोयल! (पिकी—याने मादा कोयल की बनिस्बत, पिक मधुर कण्ठ वाला होता है, यह बात तो तुम्हें मालूम ही होगी)—धीरे बोल। वह नहीं सुनता और निरन्तर 'कू-हू-कु, कू-हू-कु' की रट लगाये है, इसलिए वह कहती है—ओ हठीले, धीरे-धीरे बोल! —क्यों? इसलिए कि अगर तू ऐसे ही ज़ोर-ज़ोर से कूकेगा तो यह सोचकर कि वसन्त आ गया, कलियाँ जाग उठेंगी और अपना शहद लुटा देंगी और अतृप्त भँवरे 'और' 'और' चिल्लायेंगे।

"इसीलिए भी कि तुम्हारा स्वर सुनकर, पतझड़ के ज़र्द मुरझाये पत्ते काँप कर गिर जायेंगे और आमों पर बौर आ जायगा और हवा मद से मत्त—मस्त—होकर, दीवानी होकर, डोलने लगेगी। इसलिए हे हठीले कोयल, धीरे-धीरे बोल।"

"क्यों समझ गयीं?" चेतन ने रमा से कहा, "कोयल चूँकि वसन्त का सन्देश वाहक है, और आधी रात को 'कू-हू-कु' की टेर लगाये है, इसलिए वह कहती है कि भाई तू इतना शोर न मचा—तेरे स्वर को सुनकर और यह जानकर कि वसन्त ऋतु आ गयी, वहुत कुछ ऐसा होने लगेगा जो अभी नहीं हो रहा। ···समझीं?"

रमा ने सिर हिलाया। चन्द्रा केवल एकटक उसकी ओर देखती रही। चेतन ने दूसरा बन्द पढ़ा :

"मर्मर की वंशी में गूंजेगा, मधु-ऋतु का प्यार
झर जावेगा कम्पित तृण से, लघु सपना सुकुमार
एक लघु आँसू बन बे-मोल

हठीले, हौले-हौले बोल"

और उसने अर्थ समझाने शुरू किये, "कोयल को ज़ोर-ज़ोर से कूकने से वरजती हुई, वह विरहन आगे कहती है कि जब समीरण—हवा—मदमस्त होकर डोलेगी तो पत्तों की मर्मर होगी और इस मर्मर-रूपी वंशी से वसन्त का प्यार गूँजेगा और काँपते हुए तिनके से छोटे-से सुकुमार सपने-सा ओस-कण एक नन्हें-से आँसू सा झर जायेगा।"

क्षण-भर रुककर, उसने फिर कहना शुरू किया—"कविता के इस बन्द का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है—वह विरह की मारी, अपने प्रिय की याद में सूखकर, तिनके-ऐसी पतली हो गयी है और वह कहती है कि ऐ कोयल, तू ज़ोर से न कूक, क्योंकि सुबह हो जायगी, मेरा प्रिय नहीं आयेगा और मेरी तृण-सी देह से प्रिय के दर्शनों का मेरा सुकुमार सपना, एक छोटा-सा आँसू बनकर झर जायेगा।"

"कवयित्री ने खुद इन शब्दों में क्या अर्थ भरे हैं," चेतन ने कहा, "मैं नहीं जानता, पर मुझे ये दूसरे अर्थ अच्छे लगते हैं, क्योंकि अगले बन्द के बाद ही के चरण में, प्रतीक्षा-रत विरहन कहती है :

"पी मेरा निशीथ नीरवता में आता चुपचाप
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप
सुभग, ये पल-घड़ियाँ अनमोल
हठीले, हौले-हौले बोल

"वह कहती है कि मेरा प्रिय, निशीथ नीरवता—आधी रात के सन्नाटे—में आता है। मेरे निमषों—पलक झपकने को निमष कहते हैं—सो मेरे पलक झपकने की आवाज़ से भी ख़ामोश उसके पैरों की चाप है—ज़ाहिर है कि जो सपने में आयेगा, उसकी पद-चाप ऐसी ही होगी—तो वह कहती है कि ऐ अच्छे कोयल, तू मुझे सपना देखने दे, शोर न मचा; मैं सोऊँगी, तभी वह आयेगा, ऐ अच्छे कोयल, ये पल-घड़ियाँ अनमोल हैं···"

चेतन तन्मय भाव से कविता में डूबकर, उसकी व्याख्या कर रहा था कि सहसा चन्द्रा ने पूछा, " 'अच्छे कोयल' आपने किस शब्द का अर्थ लगाया मास्टर जी?"

"सुभग का।"

"रमा कहती है कि 'सुभग' शब्द कहीं डिक्शनरी में नहीं मिला।"

"पंजाब में अच्छी हिन्दी डिक्शनरियाँ मिलती ही कहाँ हैं।" चेतन ने बात टाली।

"तब मैंने सोचा," रमा आँखें मेज़ में लगाये, बड़े धीरे से बोली, "कि 'सु' प्रत्यय होगा, सो मैंने डिक्शनरी में 'भग' के अर्थ देखे—बड़े गन्दे-से अर्थ लिखे थे।"

चेतन को खुद 'भग' के अर्थ मालूम नहीं थे। वह पूछना चाहता था—क्या

अर्थ लिखे थे ? पर इससे तो उसका अज्ञान प्रकट हो जाता । बोला, "ज़रूरी नहीं कि कविता में शब्द-कोशी अर्थों के लिहाज़ से शब्द रखा जाय । इसका आम अर्थ यही है । मुझे मेरे एक दोस्त ने हिन्दी कवि बच्चन का गीत सुनाया था और उसमें 'सुभग'—"अच्छे' और 'सुन्दर' के अर्थों में लिखा था···"

वह, 'एक मिनट में आता हूँ,' कहता हुआ, अपने कमरे में गया था और जैसे बेखयाली में बीच का दरवाज़ा बन्द करता गया था । उसने शब्द-कोश में 'भग' के अर्थ देखे तो क्रोध से उसका मुँह लाल हो गया । 'फ्रॉम द सब्लाइम टु द रिडिक्युलस !'—उसने मन-ही-मन झल्लाकर कहा, "इन गधियों को कविता-अविता से क्या लेना है । गन्दी बातें सोचने से फ़ुर्सत मिले तो कुछ पढ़ें-समझें ।

चेतन को यकीन हो गया कि लड़कियों को शब्द के अर्थ पहले से मालूम थे; महज़ उसे परेशान करने को, वे कहीं से ढूँढ़कर वह कविता उठा लायी थीं । क्रोध से उसने अपने कमरे का एक चक्कर लगाया । फिर वह बाथ-रूम में गया । गिलास में उसने पानी भरा और यद्यपि उसे प्यास नहीं थी, पर एक-दो घूंट पीकर, गिलास को हाथ में लिये हुए, वह चन्द्रा के कमरे में वापस आया । गिलास उसने मेज़ पर रख दिया ।—इस बीच उसने तय कर लिया था कि वह ज़रा भी क्रोध नहीं करेगा और बड़ी सफ़ाई से उन लड़कियों की चाल विफल कर देगा । बिना उस सन्दर्भ में एक भी शब्द कहे (यद्यपि उसका मन चाहता था कि काग़ज़ को टुकड़े-टुकड़े करके रमा के मुँह पर दे मारे और उसे भाग जाने का आदेश दे) उसने कविता का अगला चरण पढ़ा :

"वह सपना बन-बन आता, जागृति में जाता लौट
मेरे श्रवण आज बैठे हैं, इन पलकों की ओट
व्यर्थ मत कानों में मधु घोल
हठीले हौले-हौले बोल

"पहली पंक्ति का अर्थ सरल है," उसने संक्षिप्त व्याख्या की, "दूसरे पंक्ति में विरहन कहती है—मेरे कान नहीं हैं, वे पलकों की ओट बैठे हैं—मैं नख-से-शिख-तक आँख बन गयी हूँ," और उसने खुद ही दाद दी, "वाह क्या बात कही है···"

"लेकिन मास्टर जी, जब शब्द के अर्थ गन्दे हैं, तो कवयित्री ने क्यों उन्हें रखा है ?" चन्द्रा ने कहा ।

लड़कियाँ अभी वहीं थीं । अगला चरण उन्होंने सुना ही नहीं था ।

तब चेतन को सहसा एक तरकीब सूझ गयी । उसने ज़रा तीखेपन से कहा, "उर्दू की डिक्शनरी में 'औरत' शब्द के अर्थ भी वही हैं, जो हिन्दी में 'भग' के, पर दिन-रात औरत-मर्द यह शब्द इस्तेमाल करते हैं, किसी का ध्यान शुरू के उन गन्दे अर्थों की तरफ़ नहीं जाता । तुम लोगों को कविता पढ़ते हुए यह तो सोचना चाहिए कि वह गन्दा अर्थ यहाँ नहीं लगता । और 'पिक'—मादा कोयल

नहीं है, नर कोयल है। फिर उन अर्थों में यह शब्द अब इस्तेमाल नहीं होता। 'सुन्दर' और 'अच्छे' के अर्थ ही में लिखा जाता है।"

और उसने काग़ज़ रमा के आगे फेंक दिया, "मेरा ख़याल है, तुम्हें कविता का मतलब समझ आ गया होगा। कुछ और पूछना हो तो बताओ?"

चेतन के स्वर में कुछ ऐसी कठोरता थी कि रमा को फिर और कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

"जी आ गया।" उसने कहा और उठ खड़ी हुई।

चन्द्रा उसे कुछ दूर तक छोड़ने गयी। चेतन को लगा, जैसे उसने दूर उनके घण्टियों-ऐसे ठहाके की आवाज़ सुनी। शायद वे उसका मज़ाक उड़ा रही थीं। वह लपककर बाहर आया। पर वे कॉटेज के उधर, ऊपर सड़क पर थीं···क्रोध से वह वहीं बरामदे में घूमता रहा। फिर आकर कुर्सी पर बैठ गया। ठण्डे दिल से सोचने लगा कि वह उन लड़कियों से कैसे पार पाये? सोच-सोचकर उसने तय किया कि वह क्रोध नहीं करेगा; वह उन पर अपनी कमज़ोरी प्रकट नहीं होने देगा; बड़ी सामान्यता से उनसे बात करेगा, और कभी बहस में नहीं उलझेगा।···यह सोचकर, उस दिन उसे जो पाठ पढ़ाना था, वह देखने लगा। ···लेकिन जब चन्द्रा आयी तो वह उसे डाँटने से अपने आपको बाज न रख सका।

"क्या तुम रमा के साथ यही सब ख़ुराफ़ात सीखती हो और शब्द-कोशों में गन्दे शब्द ढूँढ़ती फिरती हो?"

"हाय मास्टर जी, मैंने क्या किया?" चन्द्रा ने बड़ी मासूमियत से अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फैला दीं, "रमा ने कहा—'मुझे इस कविता में कुछ शब्दों के अर्थ नहीं आते' मैंने कहा—'मास्टर जी से पुछवा दूंगी'।"

···लेकिन दो ही दिन बाद, चेतन जब उसे गद्य की पुस्तक पढ़ा रहा था तो एक जगह शब्द 'उर' आया। तब चन्द्रा ने कहा, "मास्टर जी, 'उरोज' शब्द क्या 'उर' ही से बना है?"

"हाँ!" चेतन ने सामान्य स्वर में कहा।

"मास्टर जी, क्या अर्थ होते हैं इसके?"

"इस समय मैं जो पढ़ा रहा हूँ, पढ़ो!"

"हाय मास्टर जी, आप तो बेकार नाराज़ हो रहे हैं।"

"नहीं, मैं नाराज़ नहीं। तुम पढ़ो!"

···फिर जब चेतन ने दोबारा निराला की कविता पढ़ानी शुरू की, क्योंकि इस बीच में चन्द्रा का शब्द-ज्ञान काफ़ी हो गया था और निबन्ध भी वह अच्छा लिखने लगी थी तो उसने पहले ही चरण पर उसे टोक दिया—"मास्टर जी, आप अर्थ करते हैं—"तुम प्रेम हो और मैं उसमें से निकली शान्ति हूँ।" लेकिन

प्रेम में शान्ति कब होती है ? प्रेम में तो जलन होती है, दुख होता है । आपने नहीं पढ़ा :

जो मैं ऐसा जानती प्रीत किये दुख होय,
नगर ढिंढोरा फेरती प्रीत न करियो कोय ।"

"इस कविता में संसारी प्रेम का नहीं, भगवान के प्रेम का ज़िक्र है," चेतन ने उसकी बात को टालने के लिए कहा, "निराला का मतलब उसी प्रेम से है । भगवान से प्रेम करने में शान्ति मिलती है ।"

"मास्टर जी, आपने कभी प्रेम किया है ?"

"नहीं ।"

"आप पत्थर हैं ।"

"तुम पढ़ो, बेकार की बातें नहीं करो !"

इन घटनाओं का संक्षिप्त उल्लेख कर, चेतन ने अनन्त को लिखा :

मैं इतना परेशान हो गया, मैंने सोचा कि मैं चन्द्रा के पिता को इशारे-इशारे से बताऊँ कि उन्हें उसे कुछ अच्छी धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए; उसका मन सन्ध्या-वन्दन में लगाना चाहिए, ताकि उसका ध्यान पढ़ाई में जमे । आज सुबह छुट्टी थी । लाला जी मेरे कमरे में आ गये । मैंने बातों-बातों में लड़कियों की शिक्षा की बात चला दी कि कोरी शिक्षा से काम नहीं चलता । उन्हें धार्मिक शिक्षा भी देनी चाहिए, अपने फ़र्ज़ का ज्ञान कराना चाहिए··· तब बड़े उत्साह से बोले—"आप सच कहते हैं मास्टर जी, मैंने चन्द्रा को ऐसी ही शिक्षा दी है । सन्ध्या उसे ज़बानी याद है, रोज़ मेरे साथ बैठकर वो सन्ध्या करती है !" और उन्होंने अपनी बेटी को आवाज़ दी । वह आयी तो बोले, 'चन्दी, मास्टर जी को आचमन-मन्त्र सुनाओ ।' और बेटी फ़रफ़र बोलने लगी :

'ओ शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये
शंयोराभि स्रवन्तु नः'

'गायत्री मन्त्र सुनाओ ।' लाला जी ने प्रसन्न होकर कहा ।

और चन्द्रा खुश-खुश सुनाने लगी :

'ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् !'

मैं चाहता था, उससे उन श्लोकों के अर्थ पूछूं, पर उसकी पीठ थपथपाते हुए लाला जी ने कहा, "जाओ !"

जब वह चली गयी तो बोले—"यह इसके धार्मिक विचारों का ही फल है कि कविराज के भाई हेमराज जैसे बद ट्यूटरों की एक नहीं चली । मैंने अपनी लड़की को सिखा रखा है कि बेटी, अगर तेरे अन्दर शक्ति है तो किसी की मजाल नहीं कि कोई तेरी तरफ़ टेढ़ी नज़र से भी देख सके···"

मैं मन-ही-मन हँसता रहा। चाहता था, उनकी इस आज्ञाकारी लड़की की सब बातें उनके आगे खोलकर रख दूं, पर चुप लगा गया कि अपनी लड़की में दोष इस मूर्ख को कभी नज़र नहीं आ सकता।

सो बताओ यार, मैं क्या करूँ ? बहरहाल, तुम जो बताओगे, मैं जानता हूँ; लेकिन मैंने तय किया है कि सी० पी० का मेला देख आऊँ—(यहीं शिमले से लगती एक रियासत है—क्यार कोटी—उसमें मेला लगता है।) उसके बाद किसी-न-किसी तरह अपनी इज़्ज़त अपने हाथ लेकर यहाँ से भाग जाऊँ। यह ठीक है कि यह ट्यूशन लेने में मुझसे ग़लती हो गयी है। ग़लती इन्सान से होती है। मगर जो उस ग़लती से चिमटा रहता है, उसे गुणा करता है, वह मूर्ख है। और मैं अपने आपको समझदार गिनता हूँ।

तुम्हारा
चेतन

'गर्म राख' से

जगमोहन सुबह-सुबह सैर से आया और उसने लस्सी के लिए दही का दोना भाभी को दिया तो उसकी भाभी ने कहा, "अभी सत्या आयी थी ।"

"मैंने तो उससे कहा था कि वह यहाँ न आया करे !" जगमोहन ने झुँझलाकर कहा ।

"मैं तो जब से आयी हूँ, उसकी सूरत तक नहीं देखी," भाभी बोली, "अभी आयी थी और कहती थी सात-आठ दिन में उसकी शादी होने वाली है ।"

जगमोहन ने कुछ उत्तर न दिया और मौन रूप से ऊपर अपने कमरे की ओर बढ़ा। सीढ़ियों से उसने भाभी की आवाज़ सुनी, "अभी वह फिर आयेगी !"

जगमोहन अपने कमरे में चला गया । पानी की बाल्टी भरकर उसने स्नान किया, कपड़े बदले और ऊपर से आवाज़ दी, "भाभी, मुझे लस्सी बना दो ।" और जाकर चारपाई पर लेट गया । लेकिन लेटने से पहले उसने टॉल्स्टॉय का उपन्यास 'अन्ना केरिनीना' उठा लिया और जहाँ से छोड़ा था, वहीं से पढ़ने लगा ।

पर वह पढ़ नहीं पाया । 'किट्टी' के प्रति 'लेविन' और 'व्रांस्की' के प्रति 'अन्ना' के प्रेम की बात को सोचने लगा। यह कैसा प्रेम है जो आदमी को सब-कुछ भुलाकर अपने ही में तल्लीन कर लेता है ? उसके प्रति सत्या का, और हरीश के प्रति दुरो का प्रेम भी क्या वैसा ही नहीं है—अन्धा और मुँह ज़ोर ! स्वयं उसे क्यों वैसा प्रेम नहीं होता ? दुरो से उसे प्रेम सही, किन्तु क्या वह उसी प्रकार अन्धा है, उन्मादी है, जैसा कि उनका···कि तभी भाभी लस्सी लेकर आ गयी ।

भाभी ने लस्सी का गिलास उसे देते हुए सत्या जी की बात चलायी, "क्यों जगमोहन, तुमने क्या सत्या को मना कर दिया है, वह कहीं दूसरी जगह क्यों शादी कर रही है ? तुमको तो वह पसन्द थी ना, क्यों नहीं तुमने उससे शादी करली ?"

जगमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया । उदास-सी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गयी ।

भाभी फिर बोली, "तुम्हारा मन होता तो मैं तुम्हारे भाई साहब को मना लेती, तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ?"

जगमोहन की मुस्कान थोड़ी-सी मुखर हुई, "अपना तो ख़र्च मुझसे उठाया नहीं जाता और मैं शादी कर लूं !"

"सत्या पर तुम्हें क्या ख़र्च करना पड़ता ? उल्टे वह तुम्हारा ख़र्च बटाती। वह तो सोन-चिड़ी है।"

"पर वह सोने की चिड़िया, सोने का पिंजरा भी तो हो सकती है," जगमोहन ने कहा, "मेरी संगिनी ही कमाये और मैं अपनी ज़रूरतों के लिए उसी का मोह-ताज रहूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं !"

"पर तुम भी तो कमाते।"

"मैं सत्या से शादी नहीं कर सकता भाभी।" जगमोहन बोला, "तुम ग़लत समझती हो, मुझे उससे प्रेम नहीं। होता भी तो अपनी इस आर्थिक स्थिति में मैं कभी शादी नहीं करता। चालीस-पचास की नौकरी मिली भी तो उससे क्या बनता है ? उसका वेतन भी कौन सौ-दो-सौ है ! मैं अभी कुछ पढ़ना और सीखना चाहता हूँ। क्लर्की की चक्की में पिसकर ख़त्म होना मुझे मंजूर नहीं।"

और वह एक ही सांस में लस्सी पी गया।

ख़ाली गिलास लेकर जब भाभी चली गयी तो जगमोहन मन-ही-मन हँसा। क्या उसने जो कहा है, वह ठीक था ? क्या आर्थिक कठिनाई ही उसके रास्ते की सबसे बड़ी दीवार थी ? कल यदि दुरो उससे विवाह का प्रस्ताव करे तो क्या वह आर्थिक कठिनाई का बहाना बनाये ? दिशाओं के बन्धन को तोड़कर हहराने वाले तूफ़ान-सा वह उठे और आर्थिक कठिनाइयों के तृण-पात को अपने साथ उड़ा ले जाय ! उसके मन का प्यार, उस प्यार की आकांक्षा, उस आकांक्षा का ज्वार जगे तो ! !···जगमोहन ने लम्बी सांस ली। उसके प्यार का सागर तो सदा भाटे पर रहा, ज्वार उसने देखा ही कहाँ ! उन्मत्त महोर्मियों का वह नर्तन, तट से वह उनका घोर घर्षण, उस घर्षण का शोर, उस शोर से गुँथी हुई-सी फेन की वह लम्बी दूधिया दीवार—इस ज्वार-हीन सागर ने यह सब कहाँ देखा ? इसका पानी तो तट की ओर बढ़ा ही नहीं। किनारे से बहुत दूर, बेबस अरमानों की निर्जीव उर्मियों को लिये, जैसे अपने ही में बँधा-रुका मौन पड़ा है।···जग-मोहन बेचैन-सा कमरे में घूमने लगा···दरवाज़े से दीवार तक, दीवार से फिर दरवाज़े तक। 'लेविन' और 'व्रांस्की,' 'अन्ना' और 'किट्टी' और उनका वह सागर के ज्वार-सा प्यार···वैसा प्यार कहां है···

···पर सत्या जी का प्यार क्या वैसा नहीं ? कमरे की दीवार के पास पहुँचकर उसने सिर को झटका दिया। "हटाओ, जिस गाँव जाना नहीं, उसकी सोच काहे करना !" और उसके जी में आयी कि चले कुछ समय चातक जी के यहाँ गुज़ारे और उनकी कविताओं में दिमाग़ की इस परेशानी को भुला दे ! वह मुड़ा कि उसने देखा सत्या जी सामने चौखट में खड़ी हैं। जगमोहन न चाहता था कि

उसकी आँखों में आक्रोश आये, पर उस सबके बाद जो सत्या जी और उसमें घटा था, उनके इस आगमन पर आक्रोश की, उस क्षीण-सी रेखा का उसकी आँखों में आ जाना अनिवार्य था, स्वाभाविक था। इसलिए वह रेखा अपने-आप, अनचाहे अनजाने, अनपेक्ष उसकी आँखों में आ गयी।

सत्या जी के मुख का रंग उस दृष्टि के परस से एकदम सफ़ेद हो गया। फिर उनके मुख पर शिशिर के सूरज की-सी मुस्कान छा गयी। दो पग वे आगे बढ़ आयीं, तब जगमोहन सँभला। कुर्सी घसीट कर उसने आगे रखी, "आइए, आइए बैठिए!" उसने बढ़कर कहा। और उनके बैठ जाने पर स्वयं भी बैठ गया।

सत्या जी उस दिन दस-बारह घण्टे बैठीं। जगमोहन ने उन्हें जाने को नहीं कहा। इस खबर के बाद कि उनकी सगाई हो गयी है, वह आश्वस्त हो गया था। वह एक बार फिर पहले की तरह उनके लिए लस्सी बनाने को दही लाया; खाना भी उसने उन्हें वहीं खिलाया; वह उनसे बातें भी करता रहा; किन्तु उस अन्तर को, जो उसने उनमें और अपने आप में पैदा कर लिया था, उसने रंच-मात्र भी कम नहीं होने दिया।

वे चली गयीं और वह उन्हें होतूसिंह रोड तक छोड़ आया तो सहसा उसका मन भारी हो गया। उसे लगा कि उसके व्यवहार में कहीं फूहड़ता थी; कि उसे उनसे वैसा व्यवहार न करना चाहिए था; कि उसे उतना निर्मम न होना चाहिए था। वह मुक्त हो गया है, वे उसे अपने साथ विवाह के बन्धन में बाँधने की सारी कोशिशों, समस्त सूक्ष्म प्रयत्नों के बावजूद सफल नहीं हो सकीं, वह नहीं बहा, नहीं झुका, इस बात की उसे ख़ुशी थी। वह आश्वस्त था। पर जैसे रसोईघरों का धुँआ झड़ी के बरसते पानी में आकाश के विस्तार में खो जाने के बदले, धीरे-धीरे बरसती बूंदियों में दबा-दबा, अपनी जगह बनाता, रेंगता हुआ-सा बढ़ता है, जगमोहन के मन में उस उल्लास, उस आश्वासन, उस मुक्ति के एहसास के नीचे अपनी फूहड़ता और अपनी निर्ममता का ख़याल धीरे-धीरे, रेंगता हुआ, बढ़ने लगा। यहाँ तक कि वह उसके मन के आकाश पर छा गया।

सत्या जी वास्तव में एक और कोशिश कर देखने आयी थीं, पर वह तो पहले ही से सतर्क बैठा था, इसलिए उनके सब पैंतरे बेकार हो गये थे।··· पर क्या वे पैंतरे थे? उसने सोचा···क्या वह सब डूबते हुए आदमी का किनारे के लिए छटपटाना-भर न था? और जगमोहन का दिल डूबने-सा लगा। बोझ का वह एहसास कई गुना ज़्यादा होकर उसकी आत्मा को दबाने लगा।

···कुर्सी पर बैठते ही हँसते-हँसते सत्या जी ने बताया था कि उन्होंने उसकी बात मान ली है। उनकी सगाई हो गयी है।

"पर इतनी जल्दी?" उसने चकित होकर पूछा था।

"आपने कहा जो था।" वे बोलीं।

जगमोहन क्षण-भर चुप रहा। फिर उसने पूछा, "कहाँ हुई सगाई ?"

"अफ़रीका।"

"अफ़रीका !" जगमोहन के स्वर में आश्चर्य की मात्रा और भी अधिक थी, "वहाँ कैसे तय हो गयी इतनी जल्दी ?"

"वे यहाँ आये हुए हैं।"

"इसी ग़रज़ से ?"

"हाँ।"

"आते ही सफलता मिली उन्हें !"

"सफलता पाये बिना वे जाते जो नहीं !"

"आपका कैसे पता पा गये ?"

"ट्रिब्यून में विज्ञापन दिया था उन्होंने। पिताजी उनसे मिले थे। दो-एक दिन से पूछ भी रहे थे। मैं चाहती न थी। आपने कहा तो मैंने हाँ कर दी।"

उनके स्वर में कुछ ऐसा था जो उसके हृदय में दूर तक उतरता चला गया। वह खिन्नता से हँसा, "पर मैंने अफ़रीका शादी करने के लिए कब कहा था ?"

"अफ़रीका क्या और अमरीका क्या !" उन्होंने हल्की-सी लम्बी साँस भर कर कहा था, "जब यहाँ नहीं रहना तो सब जगहें बराबर हैं।"

जगमोहन के कण्ठ में कुछ गोला-सा उठा, पर उसे दबाता हुआ वह खोखली-सी हँसी हँसा। "हाँ, हाँ, आप ठीक कहती हैं।" उसने कहा और यों हँसी के इस आवरण से उसने अपने हृदय को भीगने से बचा लिया।

...फिर सत्या जी ने वैसे ही अवसाद-भरे स्वर में हँसते-हँसते बताया था कि उन्होंने तो अपने होने वाले पति को देखा भी नहीं।

"पर क्यों ?" जगमोहन ने कहा था।

"क्या लाभ ?" उन्होंने थके उदास स्वर में उत्तर दिया।

तब वह क्या कहे, जगमोहन तय न कर पाया। "आपको देख अवश्य लेना चाहिए था !" उसने यों ही कहा।

"क्या लाभ ?" सत्या जी ने वैसे ही अनमने भाव से दोहरा दिया और जगमोहन के हृदय में एक और कचोका लगा।

"आप देख आइए !" कुछ क्षण बाद सत्या जी ने कहा था, "मुझसे नहीं बनता।"

"उन्होंने भी आपको नहीं देखा ?" उत्तर न देकर जगमोहन ने पूछा।

"नहीं, उन्होंने शायद मुझे देखकर ही हाँ की है।" सत्या जी बोलीं, "खादी-भण्डार में पिताजी मुझे सामान खरीदने के बहाने ले गये थे। वहीं मेजर साहब भी थे। मुझे पिताजी ने संकेत भी किया, पर मेरी तो आँखें नहीं उठीं।"

"लेकिन आपकी चाची अथवा दुरो ने तो उन्हें देखा होगा ? दुरो भी

गयी थी ?"

"उन्हें तो कुछ बहुत अच्छे नहीं लगे। वे तो कहती हैं कि उम्र ज़्यादा है, बहुत मोटे हैं, शायद किसी आँख में भी दोष हो। गहरा चश्मा पहने थे।" और फिर बड़े अनुरोध-भरे स्वर में उन्होंने जगमोहन से कहा, "आप देख आइए!"

निमिष-भर के लिए जगमोहन ने सोचा—वह जाय, देख आये! पर दूसरे क्षण उसे ख़याल आया कि यदि अफ़रीका से विवाह-हेतु आने वाला वह व्यक्ति मोटा, भद्दा, कुरूप भी हुआ तो क्या होगा? वह क्या कर सकता है? सत्या जी तो अपने होने वाले पति के भद्देपन की बात जानती ही हैं! फिर उस देखने जाने का लाभ? सहसा उसने कहा :

"पर सगाई तो आपकी हो गयी।"

"नहीं, यदि पिताजी से मैं कह दूं तो टूट भी सकती है।"

"तो कह दीजिए!"

"आप देख आइए एक बार।"

जगमोहन चुप रहा।

"पिताजी कहते थे कि यदि तुम किसी दूसरी जगह चाहो तो वहाँ कर दें। प्रो० स्वरूप ने दो हज़ार रुपये दे दिये हैं। पिताजी ने वे शादी के लिए अलग रख दिये हैं।"

जगमोहन चुप रहा।

"अब तो यहाँ शादी हो ही रही है," सत्या जी ने कहा, "ये लोग बड़े धनी हैं, पर यदि मैं कहीं दूसरी जगह शादी करूँ, तो पिता जी मुझे दो हज़ार नकद भी देने को तैयार हैं।"

जगमोहन चुप रहा। दो हज़ार की रकम उसके लिए बड़ी थी। पर किस कीमत पर···कल्पना-मात्र से उसके शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गयी।

"आप एक बार ज़रा देख आइए।"

"देखिए सत्या जी," सहसा जगमोहन बोला, "मैंने आपसे यह नहीं कहा कि आप जाकर कुएँ में छलाँग मार दीजिए। मैंने आप ही के हित के लिए कहा था। मैं पुरुष हूँ और इस समाज में पुरुष के सात ख़ून माफ़ हैं। आपके पिता उदार सही, पर जिस स्थिति में उन्होंने आपकी माँ को सहायता का वचन दिया था, उस स्थिति में आपको देखकर शायद वे भी आपकी सहायता न कर सकते। इसलिए मैंने आपको रोका था। आप मेरा ख़याल छोड़, अपने जीवन को सफल बनाइए। आपको यहाँ पसन्द नहीं तो इस रिश्ते को छोड़ दीजिए। इतमीनान के साथ अपना जीवन-साथी चुनिए।"

सत्या जी ने जैसे यह सब नहीं सुना। "आप एक बार देख तो आइए!" उन्होंने फिर अनुरोध किया।

जगमोहन समझ गया। शायद सत्या जी जिससे शादी करने जा रही हैं वह बहुत कुरूप है। सत्या जी को पूरा विश्वास है कि जगमोहन उसे देखेगा तो

उनसे अनुरोध करेगा कि वहाँ शादी न करें और वह अंतर, जो दोनों के मध्य आ गया है, अपनत्व-भरे उस अनुरोध के बाद धीरे-धीरे मिट जायगा — न, वह ऐसा नहीं करेगा···वह चुप बैठा रहा। तभी उसने सोचा, शायद सत्या जी ने निराशा-जनित क्रोध के आवेग में अपने पिता को वहाँ शादी करने की अनुमति दे दी है और अब उस बन्धन से निकलना चाहती हैं। क्यों न वह उनके भावी पति को देख आये और उन्हें उस बन्धन से मुक्त होने में सहायता दे···लेकिन उन्हें उस बन्धन से निकालने का मतलब—विशेषकर उसके लिए—स्वयं उसमें फँसना था! ···न, वह यह नहीं कर सकता! वह चुप बैठा रहा। फिर उसने सिर्फ़ इतना कहा, "मैं जाकर क्या करूँगा। जब दुरो कहती है कि ठीक नहीं, तब आप क्यों कर रही हैं? छोड़ दीजिए, यों आत्महत्या करने से लाभ?"

"कर पाती तो अच्छा होता," सत्या जी ने कहा, "वही तो नहीं कर सकी।"

और उन्होंने बताया कि किस प्रकार पिछली शाम वे रावी पर गयी थीं। रावी का पानी, जो सर्दियों में एक क्षीण-सी रेखा में, मरियल साँप-सा लेटा रहता है, शेषनाग-सा फुफकारें मार रहा था। वे पुल पर इधर-से-उधर दो-तीन बार गयीं। पानी का बहाव इतना प्रबल था कि पुल काँप रहा था। वे कूद पातीं तो सब परेशानियों, लांछनों, कलंकों से सदा के लिए निष्कृति पा लेतीं। लेकिन चढ़ी हुई रावी को देखने इतने लोग गये हुए थे कि उन्हें साहस नहीं हुआ। एक बार वे बढ़ीं तो एक आदमी ने खींचकर उन्हें परे हटा दिया कि गिर जाओगी बीबी दूर से देखो! फिर जब उन्होंने कोशिश की तो पानी की लहरें जैसे उछल-कर उन्हें पीछे फेंकने को बढ़ीं—उन्हें लगा कि वे कूदीं तो शायद लहरें उठाकर उन्हें बाहर पटक देंगी···और सत्या जी जैसे गयीं थीं, चुपचाप चली आयीं। वे मुक्ति चाहती हैं, पर शायद उनकी किस्मत में इसी तरह घिसटना लिखा है··· सो वे अपनी नियति से नहीं लड़ेंगी···यदि उनके भाग्य में अफ़रीका ही जाना लिखा है तो जायेंगी।

जगमोहन के हृदय में फिर दूर तक कुछ धँसता चला गया। पर उस 'कुछ' को हृदय में पैठने का अवसर उसने नहीं दिया···"मुझे आप से हमदर्दी है," उसने कहा, "मैं आपकी इज़्ज़त भी करता हूँ। पर हम मिलकर सफल जीवन न बिता सकेंगे, इसका मुझे पूरा विश्वास है। आप मेरा खयाल छोड़ दीजिए। मैं नही कहता, आप यहीं शादी कीजिए। पर यदि आप करें तो उसे सफल बनाइए!"

···और उसने आन्तरिक सौन्दर्य पर एक छोटा-मोटा भाषण दे डाला। वह क्या बक रहा है, वह स्वयं न समझता था, पर वह चुप रहकर हारना न चाहता था। वह उदासी, जो सत्या जी की कर्कश आकृति को विचित्र प्रकार से दयनीय बनाये हुए थी, वह अवसाद, जो उनके स्वर को कुछ अजीब-सी नुकीली आर्द्रता दे रहा था, जगमोहन के सयत्न कठोर बनाये हुए हृदय को छेदे जा रहा था। वह छिदा कि खत्म हुआ! यह नारी, जो इतने दिन से उसके गिर्द मकड़ी का

का जाला बुने जा रही है, उसकी सारी प्रतिभा का रक्त चूस जायगी। एक अनचाहे संग को निबाहने के लिए वह बाध्य हो जायगा और उसे जीवन-भर बाध्य रहना पड़ेगा···और वह बके जा रहा था और इस प्रयास से उस निश्तर को अपने हृदय पर प्रहार करने से रोक रहा था।

"जो बाहर से सुन्दर लगते हैं, वे अन्दर से कितने कुरूप हो सकते हैं, सत्या जी, यह आप नहीं जानतीं," वह कह रहा था, "और बाहर से उतने सुन्दर न दिखायी देने वालों के सीने में प्राय: सोने का दिल होता है। अपने रूप की बदौलत नहीं, उस हृदय के सौन्दर्य की बदौलत वे अपने संगी का मन जीत लेते हैं। मैं न विद्वान् हूँ, न उपदेशक, पर मैं आपसे यही कहूँगा कि आप यदि वहीं विवाह करने जा रही हैं तो अपने पति को अपनी पूरी वफ़ादारी दीजिए! मुझे आशा है, आपका जीवन सफल होगा और कभी यह ख़याल भी न रहेगा कि आपने मुझ-जैसे निकम्मे, बेकार और अयोग्य व्यक्ति का संग चाहा था।"

सत्या जी की दृष्टि निरन्तर उस पर जमी थी, उनकी आँखें सजल हो गयीं और दरवाज़े के प्रकाश में चमक उठी थीं। सहसा जगमोहन की दृष्टि उन चमकती पनियारी आँखों पर गयी और अपनी वक्तृता का क्रम वह भूल गया और सहसा रुक गया।

वे कुछ आगे झुकीं, "बहुत देर से बैठी हूँ," उन्होंने कहा, "अब जाऊँगी। सारा दिन मैंने यहीं बिता दिया।"

लेकिन वे उठी नहीं। पूर्ववत बैठी रहीं। फिर ज़रा और आगे झुककर और पानी से झिलमिल आँखों से उसकी ओर देखते हुए और भी धीमे आर्द्र स्वर में उन्होंने कहा, "अच्छा, आप मेरी एक बात मानेंगे?"

जगमोहन ने आँखें उठायीं।

"मेरी शादी पर आयेंगे?"

जगमोहन की दृष्टि उनसे मिली। उसे लगा कि यदि वह कुछ क्षण और उसी स्थिति में बैठा रहा तो अपने-आपको संयत न रख पायेगा। ज़रा भी लड़खड़ाया कि बह जायगा, फिर वह कुछ न कर पायेगा। और वह उठा और कमरे में घूमने लगा और चुप रहने के बदले बोलने लगा:

"यदि मैं कहूँ कि मैं आपकी शादी में शामिल होना चाहता हूँ तो ग़लत न होगा," उसने कहा, "पर मैं हूँगा नहीं। मैं नहीं चाहता कि पिछला कोई तार आपको बाँधे रखे। आप अपने विगत से अपने-आपको एकदम तोड़कर, नयी धरती पर अपने पाँव जमाइए; बढ़िए, फूलिए, फलिए! आपका जीवन सुखी हो, इसकी मैं कामना करता हूँ! मैं आपकी शादी में शामिल न हूँगा; न आपसे मिलूंगा; आप भी अब मुझसे न मिलिए; न पत्र लिखिए। तभी आप सुखी हो सकेंगी।"

सत्या जी उठी थीं। जगमोहन के जी में आयी, वह उनसे अपने इस फूहड़पने के लिए माफ़ी माँग ले, पर उसने कुछ नहीं कहा। वह उन्हें सीढ़ियों तक छोड़ने

गया। भाभी रसोईघर में न थीं, सत्या जी ने उनसे मिलना जरूरी नहीं समझा। नीचे जाकर उन्होंने कहा, "अब आप जाइए। मेरी कोई ग़लती हो तो माफ़ कर दीजिएगा!"

तब फिर जगमोहन के मन में आया कि अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगे, पर क्षमा माँगने के बदले उसने कहा, "चलिए, मैं होतूसिंह रोड तक आपको छोड़ आता हूँ।"

अपने कमरे में पहुँचकर उसका मन और भी भारी हो गया। अपने इस फूहड़पने के लिए उसे उनसे क्षमा माँग लेनी चाहिए थी—बार-बार यही विचार उसके मन में आता—वह कमरे से बाहर छत पर आ गया। बाहर मालिक-मकान सूट-बूट पहनकर कहीं जाने को प्रस्तुत थे।

"किधर चल दिये बाबूजी?" उसने योंही पूछा।

"मोरी दरवाज़े जलसा हो रहा है न, बूचड़खाने के खिलाफ़।" बाबूजी ने कहा और फिर मकान की ओर देखकर उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्री को जल्दी आने का आदेश दिया।

तब जगमोहन को खयाल आया कि उसे जल्दी तैयार होकर चल देना चाहिए। बूचड़खाना-आन्दोलन के सिलसिले में मोरी दरवाज़े के बाहर बड़ी भारी मीटिंग होने जा रही थी। हरीश और दुरो तो उसमें व्यस्त होंगे, उसे समय से कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचना चाहिए, ताकि यदि कोई साँझ के स्कूल में पढ़ने आये तो निराश वापस न जाय।

वह नहा-धोकर तैयार हुआ, पर जब नीचे उतरा तो उसने सोचा कि सीधे कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचने के बदले वह पहले मोरी दरवाज़े जाय, कुछ क्षण जलसे का रंग-ढंग देखे, फिर अनारकली की सैर करता कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचे। समय अभी काफ़ी था, इसलिए वह घोड़ा अस्पताल की ओर चला दिया।

मोरी दरवाज़े के बाहर म्युनिसिपिल गार्डन्ज़ में बड़ी भीड़ थी। वह इतना लम्बा आयताकार मैदान खचाखच भरा हुआ था। भाटी दरवाज़े की ओर बड़ा ऊँचा मंच बना था और बिजली के हण्डों और लाउड स्पीकरों का समुचित प्रबन्ध था। जगमोहन को रास्ते में एक ताँगा मिल गया था। घासमण्डी के सिरे पर वह उतरा और सभा-स्थल की ओर बढ़ा। तभी उसने गनपत रोड की ओर एक जुलूस आते देखा और उसकी दृष्टि मैदान में इकट्ठे होने वाले उस अपार जन-समूह की ओर गयी।

शाम के साये काफ़ी बढ़ आये थे, पर डूबते हुए सूरज की किरणें दिन के शव से अभी चिमटी थीं। सड़कों पर हल्का-हल्का उजेला था, लेकिन बत्तियाँ जल उठी थीं। जगमोहन जुलूस के साथ मैदान की ओर बढ़ा। बिजली के हण्डे जगमगा रहे थे और सजे हुए मंच पर कांग्रेस के एक बड़े नेता गहर-गम्भीर वाणी

में भाषण दे रहे थे। मैदान के पास पहुँचकर जुलूस के फन से नारे के रूप में एक फुंकार उठी, जो उसकी दुम तक सरसराती चली गयी और फिर जैसे साँप घास में सरककर गुम हो जाता है, वह जुलूस उस जन-समूह में चुपचाप समा गया।

वह इतनी बड़ी विरोध-सभा केवल कांग्रेस की न थी। सरकार के साथ सहयोग के उस काल में, जब अन्य प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बना लिये थे और पंजाब विधान-सभा के विरोधी दल में भी और आम लोगों में भी अफ़वाह थी कि उसके नेता और सदस्य चाहे बाहर से कितना सरकार का विरोध करें, व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए सर सिकन्दर के कृतज्ञ हैं, पंजाब में कांग्रेस की साधारण सभाओं में उतनी भीड़ न होती थी। इस सभा का आयोजन चाहे कांग्रेस-पार्टी ने किया हो, पर उसे आर्यसमाज, हिन्दू-महासभा, सनातनधर्म-प्रतिनिधिसभा—सबका सहयोग प्राप्त था। यों कहना चाहिए कि लाहौर में उस बूचड़खाने के विरुद्ध हिन्दुओं में क्रोध की जो लहर उठी थी, उसे कांग्रेस ने सरकार का विरोध करने के लिए अपना वाहन बना लिया था।

नेता उस समय कुछ आँकड़े देकर समझा रहे थे कि उस सरकारी बूचड़ख़ाने में रोज़ कितनी गायें (और बैल) ज़िबह किये जायेंगे, हफ़्ते में कितने और साल में कितने? उनका कहना था कि भारत देश, जहाँ कभी दूध की नदियाँ बहती थीं, दूध की सूरत तक को तरस जायेगा। यह मामला उनके ख़याल में न धार्मिक था, न साम्प्रदायिक, यह केवल सामाजिक था। समाज के स्वास्थ्य का इससे सम्बन्ध था। आने वाली पौध के स्वास्थ्य का इससे सम्बन्ध था।

"हमें बताया जाता है," उन्होंने अपनी आवाज़ को किंचित ऊँचा करते हुए कहा, "कि बूचड़ख़ाने के साथ एक बड़ा डेयरीफ़ार्म भी होगा और वहाँ गाय, बैल, बकरी, बकरे पाले जायेंगे और उन्हीं को वहाँ ज़िबह किया जायगा। पर हम जानते हैं कि जब लड़ाई शुरू होगी—यह बूचड़ख़ाना दरअसल लड़ाई के दिनों में मांसाहारी अंग्रेज़ी सेना को गोश्त पहुँचाने के लिए बनाया जा रहा है—तो ग़रीब लोग, कीमतों में आसमान छू लेने से अपने दूध देने वाले जानवर ले जाकर वहाँ बेंच देंगे। हमारे बच्चों के मुँह से न केवल दूध छिन जायगा, बल्कि हमारी रोटी भी छिन जायगी, क्योंकि हमारी काश्त की रीढ़, हमारे हलों को चलाने वाले बैल भी धीरे-धीरे वहीं जा पहुँचेंगे और बिजली की मदद से क्षणों में सैकड़ों के सिर अलग कर देने वाले छुरों का शिकार हो जायेंगे। हिन्दू ही नहीं, हमारे देश के मुसलमान भी उतना ही नुकसान उठायेंगे। फिर कौन जान सकता है कि इस बूचड़ख़ाने में सूअर न मारे जायेंगे और उनका गोश्त प्रिज़र्व न किया जायेगा।"

तब समूह में एक क्रोध की लहर दौड़ गयी और 'शेम, शेम' और 'सिकन्दर हयात मिनिस्ट्री मुर्दाबाद' के नारे में फ़िज़ा गूँज उठे।

इसके बाद नेता ने बताया कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने पहले ही हमारी कृषि

को नहीं बढ़ने दिया। हमारी खेती-बाड़ी का तरीका सदियों पुराना है। अंग्रेज़ नहीं चाहते कि हमारे उद्योग-धन्धे बढ़ें, हमारी खेती बढ़े और हम आत्म-निर्भर होकर इंग्लिस्तान का मुकाबला करें। यदि हमने यहाँ बूचड़ख़ाना बनने दिया तो दूसरे सूबों में भी, जहाँ कांग्रेस की सरकारें नहीं हैं, ऐसे बूचड़ख़ाने बन जायेंगे। हमारी गायें और बैल हज़ारों की संख्या में वहाँ कटेंगे और हम बिलकुल अपाहिज होकर रह जायेंगे। यही कारण है कि कांग्रेस ने इस आन्दोलन का साथ दिया है। उन्होंने इस बात पर दुख प्रकट किया है कि हिंस्रता, निर्ममता और निर्दयता का ऐसा अड्डा बनाने का काम हरमन मोहता (महता) की हिन्दू फ़र्म ने लिया है। सभा में 'शेम, शेम' के नारों के थमने के बाद उन्होंने घोषणा की कि उनके ज़ोर देने पर हिन्दू कम्पनी ने पेशगी सरकार को लौटा दी है और बूचड़ख़ाना बनाने से इनकार कर दिया है। इस पर सभा-भर में अनायास तालियाँ गूँज उठीं और 'हरमन मोहता ज़िन्दाबाद' के नारे लगाये गये।

"लेकिन इस कम्पनी के इनकार करने पर," नेता ने कहा, "कोई और ठेका ले लेगा—कोई अंग्रेज, कोई ईसाई, कोई मुसलमान! हमें चाहिए कि हम इस आन्दोलन को साम्प्रदायिक न बनायें और इसमें ऐसी शक्ति भर दें कि सरकार को अपनी यह ख़ूनी-स्कीम वापस लेनी पड़े।"

इस पर नेता के पीछे बैठे किसी व्यक्ति ने एक चिट उनके हाथ में थमा दी और उन्होंने पढ़कर ऐलान किया, "येलो-बस-सर्विस के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री चोपड़ा दो हज़ार की रकम आन्दोलन के लिए दान देते हैं।"

सभा में तालियाँ गूँज उठीं। श्री चोपड़ा क्षण-भर को उठे। जगमोहन चकित रह गया, जब उसने सूट-हैट के बदले उन्हें दूध जैसी खादी के लिबास में आवृत देखा। चोपड़ा के पीछे मंच पर ही उसे खादी के वस्त्रों में सुसज्जित सरदार हरनाम सिंह और रोशनलाल भी दिखायी दिये। चोपड़ा साहब ने सभा के सामने विनम्रता से हाथ जोड़ दिये और बैठ गये।

सभा में फिर तालियाँ गूँज उठीं। तभी जगमोहन को खयाल आया कि उसे तो साँझ के स्कूल में पहुँचना है—दुरो ने कहा था कि उसे और हरीश जी को मोरी दरवाज़े की मीटिंग का प्रवन्ध सँभालना है, इसलिए जगमोहन समय से कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँच जाय! यह ध्यान आते ही वह पीछे को मुड़ा। बड़ी कठिनाई से बाहर निकला, क्योंकि तब तक न जाने कितने छोटे-बड़े जलूस आकर उस जन-समूह में समा गये थे। सड़क पर मोटरों का ताँता लगा था और रास्ता बिल्कुल बन्द था।

"इस सभा को देखकर मालूम होता है कि हां, काँग्रेस भी साँस ले रही है," उसने मन-ही-मन कहा, नहीं, जब से उसने अपने मन्त्रिमण्डल बनाये हैं, ऐसा लगता है (कम-से-कम पंजाब में, उसने मन ही में सुधार किया) जैसे वह कुम्भकरण की नींद सो गयी है।"

अनारकली पूरी बहार पर थी। वहाँ सभा में तो लगता था जैसे बाज़ार

बन्द हो गये हैं और बुद्ध और गांधी के देश में बूचड़खाने जैसी संस्था को मिटाने के लिए लोग सभास्थल की ओर भागे जा रहे हैं, पर सभास्थल से कुछ ही अन्तर पर यहाँ अनारकली में इस बात का आभास-मात्र भी न था कि कहीं निकट ही कोई महत्त्वपूर्ण सभा भी हो रही है, जिसमें एक-दूसरे की जेबें ही नहीं, वक्त पड़ने पर गला तक काट देने वाले लोग निरीह पशुओं की जान बचाने की चिन्ता में पसीने-पसीने हो रहे हैं। क्रय-विक्रय उसी निष्ठा से जारी था, अपनी धुन में मस्त लोग इधर-से-उधर आ-जा रहे थे। शोर-शराबा, हँसी-ठहाके, गहमा-गहमी—कान पड़ी आवाज़ सुनायी न दे रही थी और भीड़ के कारण बाज़ार से गुज़रना कठिन था—साड़ियाँ, सूट, तहमदें, पाज़ामे, सलवारें, ग़रारे—हर लिबास जैसे एक न ख़त्म होने वाली शोभा-यात्रा के रूप में आँखों को लुभा रहा था। 'बूचड़-खाने का ठेका लेने वाले सेठ हरमन मोहता और अनारकली के इन दुकानदारों में क्या अन्तर है?" जगमोहन ने सोचा, "शायद इनमें से एक भी ऐसा न हो, जो रुपये, आने, पाई को छोड़ बेचारी गौ या उससे भी बेचारे किसान की चिन्ता कर रहा हो।" हरमन मोहता का ध्यान आ जाने से वह हँसा, "क्या यह विडम्बना नहीं कि माँस छोड़ प्याज़ को भी छूने से परहेज़ करने वाला गुजराती या मार-वाड़ी उस बिजली से चलने वाले बूचड़खाने का ठेका ले, जहाँ सहस्रों पशु रोज़ ज़िबह किये जाने वाले हों और उनके गोश्त को ख़राब होने से बचाने के लिए कोल्ड-स्टोरेज का प्रबन्ध हो और उनके रक्त को खाद्य-सामग्री में परिवर्तित करने और उनकी खालों को साफ़ कर काम में आने लायक बनाने के लिए मशीनें लगने वाली हों!" हरमन मोहता से हटकर उसका ध्यान चोपड़ा साहब और उन दूसरे पूंजीपतियों की ओर चला गया, जो धन से कांग्रेस की सहायता कर रहे थे। "जिस प्रकार हिन्दुओं के इस आन्दोलन को कांग्रेस ने अपने हित के लिए मोड़ लिया है, कांग्रेस के इस आन्दोलन को पूंजीपति क्या अपने हित में न मोड़ लेंगे?" उसने सोचा, "ये लोग, जो रुपया कमाने के लिए अपने धर्म, विश्वास, रीति-नीति को छोड़ सकते हैं, सत्ता पाने पर क्या ये सब गांधी और अहिंसा के भक्त बने रहेंगे, किसानों और मज़दूरों को सचमुच लाभ पहुँचायेंगे और देश में जनता का राज्य कायम करेंगे और ये मिनिस्टर, जो 500 रुपया महीना वेतन लेकर अपने त्याग का ढिंढोरा पीट रहे हैं, क्या अंग्रेज़ों के जाने के बाद भी ऐसे ही त्यागी बने रहेंगे?"

और इन्हीं आशंकाओं में डूबता-उतराता वह कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँच गया। उसे भय था कि शायद उसे बहुत देर हो गयी, लेकिन जब हॉल में उसे कोई भी दिखायी न दिया तो उसने सुख की साँस ली।

जहाँ तक 'येलो-बस-सर्विस-यूनियन' के उस आन्दोलन का सम्बन्ध है, जगमोहन की स्थिति एक दर्शक की-सी थी। राजनीति और समाजशास्त्र के उस विशाल सागर के किनारे घुटनों तक पानी में खड़े उस व्यक्ति ऐसा वह लहरों को निरख

रहा था, जो अपनी उदासी के क्षणों में तैरना तो चाहे, पर जिसे लहरों की गति-विधि और उनमें तैरने की कला का कुछ भी ज्ञान न हो।

दुरो के कहने पर वह साँझ के स्कूल में पढ़ाने भी लगा था, हरीश के साथ वर्कर्ज़ के घरों में जाने और उनकी सभाओं में भाग भी लेने लगा था, पर उसकी वह सब सरगमी उस समय अपनी कटु आर्थिक स्थिति, शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं, प्रोफ़ेसर बैजनाथ और उनकी श्रीमती के दुर्व्यवहार और सत्या जी के जोंक-सरीखे प्रेम से उसके पलायन के फलस्वरूप ही थी। पर वह पानी में मौन-रूप से खड़ा केवल लहरों के दोलन-प्रदोलन ही को न देखना चाहता था, उनके सीने पर तैरना भी चाहता था। इस कुछ दिनों में दुरो और हरीश से उसने जो थोड़ा-बहुत सीखा था, उसी को तिरैंरी बनाये वह तैरने का प्रयास कर रहा था।

धीरे-धीरे वह समझने लगा था कि पूंजी और श्रम का क्या सम्बन्ध है? पूंजी की भूख भोजन पाने पर मिटने के बदले कैसे और बढ़ती है? उसका घेरा नीचे से ऊपर को जाते हुए मिस्र के पिरामिडों की भाँति संकुचित से संकुचिततर होता रहता है, यहाँ तक कि जनता के उस अपार जन-समूह के सिर पर कुछेक पूंजीपति आसन जमाकर बैठ जाते हैं। क्यों कुछेक को समस्त सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं और क्यों शेष सब कल्पनातीत अभाव में पलते हैं? क्यों कुछ के लिए शिक्षा-संस्कृति के मार्ग प्रशस्त हैं और क्यों शेष को पग-पग पर दुर्गम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है? ग़रीबी और अमीरी में क्यों इतना महान अंतर है? यह सब धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगा था। स्पष्ट रूप से नहीं, पर कुछ अस्पष्ट-सा धुंधला-सा, आभास इस समस्या के समाधान-सा मिलने लगा था और हरीश, दुरो और उस आन्दोलन में उसकी दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी थी। इसीलिए वह नियमित रूप से साँझ के स्कूल में आने लगा था। वह पढ़ाता था, पर पढ़ता भी था।

जहाँ तक उससे पढ़ने वालों का सम्बन्ध है, उनमें कोई ऐसा उत्साह न था, जो उसका साहस बढ़ाता—इतने दिन से वह पढ़ाने आ रहा था, पर उसके प्रौढ़ विद्यार्थियों की संख्या कभी आठ-दस से अधिक न बढ़ी थी। अपने थके-हारे अंगों को किसी शराबखाने अथवा सिनेमा-घर में आराम देना मज़दूरों को उस स्कूल में आने से कहीं अच्छा लगता था। नये-नये पढ़ने वाले आते रहते थे। पर पढ़ने की साध के बदले कुछ तमाशा देखने की भावना उनमें अधिक होती। दो-एक केवल दुरो के कारण आते। सीढ़ियों में (उतरते अथवा चढ़ते समय) उसने दो-एक बार उन्हें दुरो के सम्बन्ध में अश्लील बातें भी करते सुना था और उसके मन में शोला-सा लपका था। उसकी समझ में न आता था कि हरीश उन अनगढ़, अपढ़, असंस्कृत मजदूरों को पढ़ाने का काम दुरो को क्यों सौंपे हुए हैं? अपनी आशंका उसने हरीश के सम्मुख भी रखी थी। पर हरीश जी का ख़याल था कि वे धीरे-धीरे समझ जायेंगे, "साँझ के स्कूल का यही तो काम है," उन्होंने कहा था, "नारी की स्थिति भारत में पण्य-वस्तु से अधिक नहीं रही। और हमें जहाँ पूजी

का तिलिस्म तोड़कर मजदूरों को उसके इन्द्र-जाल से मुक्त करना है, वहाँ नारी को भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता पाने और पुरुष को उसे स्वीकार करने को तैयार, और ज़रूरत पड़ने पर विवश करना है। कांग्रेस के आन्दोलन ने यह बड़ा काम किया है कि नारी को घर की चारदीवारी से बाहर निकालकर पुरुषों के कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने की प्रेरणा दी है। यदि कहीं भारत स्वतन्त्र हुआ, यदि कहीं सचमुच जनता का राज हुआ तो नारी भी अपना समानाधिकार पायेगी और पुरुष को उससे अच्छा व्यवहार करने को बाध्य होना पड़ेगा। उस समय तक इस मोर्चे पर बहुत से पूर्वाग्रहों से लड़ना होगा। रही दुरो, सो उसकी तुम चिन्ता न करो। वह हिमातप से मुरझाने वाली लता नहीं, प्रबल शीत और प्रचण्ड घाम सहने की शक्ति रखने वाली करीर की झाड़ी है। उसकी आँखों में पर्याप्त तेज है। साधारण लोगों की मजाल नहीं कि उससे आंखें भी मिला सकें।"

हरीश जी की बात से वह पूर्णतः सहमत न था, पर दुरो के तेज को वह मानता था। उसके व्यवहार में सत्या जी जैसी रहस्यमयता न थी। कुछ ऐसा खुलापन था, जो संगी-भाव के बावजूद मन में आदर और श्रद्धा उपजाता था। उसकी आँखों में ऐसा तेज था कि आँख मिलने पर साधारण आदमी को आँखें झुकानी पड़ती थीं।

"आ गये बाबूजी! हमने तो समझा कि आज हमीं अपने को पढ़ायेंगे। न बहन जी आयीं, न आप।"

जगमोहन अपने विचारों में मग्न कोने की मेज़ पर रखी पत्र-पत्रिकाओं को उलट रहा था कि बाहर बारजे से कलुआ की आवाज़ आयी।

"रास्ते में कांग्रेस की सभा हो रही थी, उसी में देर हो गयी कलुआ।" जग-मोहन ने कहा, "हरीश जी और दुरो वहीं हैं। उसके प्रबन्ध में लगे हैं, खत्म होते ही आयेंगे।"

साँझ के स्कूल में आने वालों में कम्पनी के चौकीदार कलुआ से जगमोहन को विशेष स्नेह हो गया था। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। आठ-दस दिन जगमोहन को उसे पढ़ाते हुए हो गये थे, पर अभी तक वह 'अ-आ, इ-ई, भी याद न कर सका था, लिखने की तो बात दूर रही! जब पूरे एक सप्ताह की माथा-पच्ची के बाद उसने 'अ' की जगह 'इ' और 'इ' की जगह 'उ' पढ़ा तो जगमोहन झुँझला उठा। तब कलुआ बोला, "बाबू, घबराओं नहीं, धीरे-धीरे आता है पढ़ना। बुड्ढे तोते जल्दी नहीं सीख सकते।"

जगमोहन की सारी झुँझलाहट शर्म के एहसास में बदल गयी। एक अजीब भोलापन उसे कलुआ की आँखों में दिखायी दिया। और उसने मन-ही-मन सन्तोष और सब्र से काम लेने की सौगन्ध खायी।

जहाँ तक लिखे हुए अक्षरों को स्वयं पढ़ने का सम्बन्ध है, कलुआ चाहे कन्नी

काटता हो, पर जहाँ तक उन्हीं लिखे हुए अक्षरों को किसी दूसरे से सुनने का सम्बन्ध है, उसकी भूख अमिट थी। दूसरे देशों में जनता ने किस तरह राजसत्ता को अपने हाथ में ले लिया है; किस तरह किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे का शोषण उन देशों में असम्भव हो गया है, ऐसी बीसियों बातें, जो दुरो और वह और समय मिलने पर बसन्त उसे सुनाते, कलुआ खूब याद रखता था। उसने वर्णमाला चाहे याद न की हो, पर इन बातों को भली प्रकार हृदयंगम कर लिया है, इसका पता जगमोहन को 'येलो-बस-यूनियन' के उस छोटे-से आन्दोलन में चल गया था। अपने सभी साथियों में वही था, जिसने हरीशजी का साथ न छोड़ा था। उस समय, जब 'येलो बस-यूनियन' के सभी वर्कर्ज़ नूरे की यूनियन में चले गये थे, कलुआ अपने चन्द साथियों के साथ बराबर आता था।

"तुम अकेले ही आज कैसे हो," जगमोहन ने कहा, "बाकी क्या जलसा देखने चले गये ?"

"नहीं बाबू जी, इस जलसे के बदले तो वे सनीमा जाना अच्छा समझते। 'देवदास' लगा हुआ है निशात में, सब उसी के पीछे पागल हैं। लेकिन अब वे यहाँ न आयेंगे।"

"नूरे की यूनियन में चले गये ?"

"बड़ा लालच दिया है बाबू रामसहाई ने।" कलुआ बोला, "जो माँगें हमने भेजी थीं, वे सब मनीजर ने मंजूर कर ली हैं, नूरे को तरक्की दे दी है, पर आप देख लीजिएगा, कुछ दिन बाद एक-एक को निकाल बाहर करेंगे और किसी की सुनवाई न होगी। सब जबानी जमा-खर्च है, वहीं कोई लिखा-पढ़ी नहीं हुई। कुछ होने-जाने का नहीं वहाँ, यह आप पक्का समझिए !"

"तुम क्यों नहीं गये ?" हँसते हुए जगमोहन ने कहा।

"हम तो बाबूजी, अब न जायेंगे। यों भी मर्द की जबान मर्द की जबान ही होती है। बाबू रामसहाई कहते थे कि वापस आ जाओगे तो तरक्की अलग मिलेगी और साहब अलग खुस होंगे। हमने कह दिया कि साहब चाहे खुस हों या नाखुस, हम वहाँ जाना नहीं छोड़ेंगे। ये सब लोग जो अब खुस हैं, साल-छह महीने बाद घुटनों में सिर दे-देकर रोयेंगे। नूरे की यूनियन कोई रजिस्टर तो हुई नहीं, नूरा उसका सेकट्री है और बाबू रामसहाई प्रेजीडेंट। वह यूनियन तो जैसे चोपड़ा साहब की मुट्ठी में है, जब चाहें मसल दें।"

"अगर तुम्हें नौकरी से जवाब दे दें तो ?" जगमोहन ने उसके दिल की थाह पाने को पूछा।

"अभी तो जल्दी हमें जवाब न देंगे। पर देंगे जरूर। हमने भी तय कर लिया है कि हम नौकरी छोड़ देंगे, पर हरीश बाबू को दगा न देंगे ! यह नौकरी न रही तो कहीं और कर लेंगे। हमें कौन-सी लाट साहबी करनी है। चौकीदार यहाँ हैं, चौकीदार वहाँ रहेंगे। हमें तो हरीश बाबू दो रोटी का आसरा दे दें तो हम कहीं और काम ही न करें।"

"मैं हरीश जी से कहूँगा," जगमोहन ने कहा, "तुम्हारे-जैसा वर्कर तो किसी भी पार्टी के लिए एसेट है।"

"एसेट क्या बाबू जी ?"

"एसेट···अब तुम्हें कैसे समझाऊँ ?" जगमोहन उपयुक्त शब्द न ढूंढ़ पाने से बोला, "आओ पहले कुछ पढ़-पढ़ा लें, फिर बातें करेंगे।"

और कलुआ ने बड़े शौक से किताब निकाल ली।

"हलो कॉमरेड्ज़ !" हरीश ने हॉल में प्रवेश करते हुए कहा।

कलुआ अपना पाठ रट रहा था और जगमोहन दुरो से खरीदी एक पुस्तक पढ़ने में तल्लीन था। चौंककर दोनों उठे। हरीश जी के पीछे दुरो भी थी।

"मीटिंग खत्म हो गयी ?" जगमोहन ने अपनी जगह हरीश जी के लिए छोड़ते हुए कहा।

"मीटिंग तो अभी दो-एक घण्टे और चलेगी। दो दिन से भाग-दौड़ कर रहा हूँ। पहले ही यूनियन के सम्बन्ध में थकावट कम न थी, सो मैं इतना थक गया कि कॉमरेड श्याम पर सब-कुछ छोड़कर चला आया।"

"कैसी रही सभा ? मैंने तो सिर्फ़ डॉक्टर साहब का लेक्चर सुना।" जगमोहन ने पूछा।

"उनका बस चलता तो सिकन्दर का साथ देते, पर "रैंक एण्ड फ़ाइल' ने उन्हें विवश कर दिया। सिकन्दर की सरकार को इसमें निश्चय ही शिकस्त होगी और पंजाब के सोये आन्दोलन को बल मिलेगा।"

"क्या खयाल है आपका इस आन्दोलन के बारे में ?"

जैसा बाबेला मच रहा है, शायद वैसी हानि तो बूचड़खाने से न होती, क्योंकि बूचड़खाने के साथ एक बड़ा डेयरीफ़ार्म भी होता और फिर दूसरे देशों में, जो मांसाहारी हैं, क्या बूचड़खाने नहीं हैं ? तब फिर वहाँ क्या दूध की कमी है ? हमारे देश से तो अच्छा ही दूध मिलता है वहाँ। लेकिन इस सवाल पर जनता को बड़ी जल्दी साथ लेकर सरकार के विरुद्ध उभारा जा सकता है।" हरीश हँसे, "धर्म के नाम पर इस पुण्य-भूमि में चाहे, जो कुछ कर लो। देश की गौशालाओं में न जाने कितने पशु बेकार पड़े अन्न का अपव्यय करते हैं, उस अन्न को स्वस्थ पशुओं को खिलाने के बंदले हमारे देशवासी उन्हीं सिसकती हुई ठठरियों को पाले जायेंगे, अकाल में चाहे देश के हज़ारों लोगों का सफ़ाया हो जाय, पर लाखों बेकार साधु यहाँ दिन-रात पाले जाते हैं। कठिन और निर्मम सामाजिक परिस्थितियों के कारण विधवाएँ यदि वेश्यालयों और कोठीखानों में चली जायँ तो किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती, किन्तु यदि उनमें से कोई अन्त-र्जातीय विवाह कर ले तो एक तूफ़ान मच जाता है। जिस देश में स्वस्थ पशु पाले जायें, वहाँ बेकार पशुओं को खत्म करने के लिए बूचड़खाना ठीक ही नहीं बल्कि जरूरी होगा; पर जहाँ अस्वस्थ, बेकार ठठरियों को पालना धर्म का अंग

समझा जाता हो और दूध तो दूर, कोई दूसरी चीज़ भी जिस पुण्य-भूमि में मिलावट के बिना न मिलती हो, वहाँ भाई, गौ या सुअर-हत्या के नाम पर, प्रस्तावित सरकारी बूचड़खाने को, और कुछ नहीं तो विदेशी सरकार के विरुद्ध तो प्रयोग किया ही जा सकता है।" हरीश फिर हँसे और बोले, "यहाँ का क्या हाल-चाल है ? मालूम होता है, कलुआ के सिवाय और कोई नहीं आया।"

कलुआ ने वही बात दोहरा दी, जो उसने जगमोहन से कही थी।

"हमने ग़लती की," हरीश बोले, "नूरे-जैसे आदमी को लेकर किसी यूनियन का संगठन करना ही हिमाकत थी। यह तो ठीक है, इससे शुरू-शुरू में सफलता मिली, लेकिन परिणाम हमारे सामने है। हमें पहले वर्कर्ज़ को इन मामलों के बारे में पूरी तरह शिक्षित करना चाहिए था, फिर यूनियन संगठित करनी चाहिए थी। वैसी यूनियन को मालिकों की कोई भी चालबाज़ी न तोड़ सकती। ख़ैर !" उन्होंने लम्बी साँस भरते हुए कहा, "बड़ा कीमती तजुर्बा हासिल हो गया।"

कुछ क्षण कमरे में निस्तब्धता रही, फिर हरीश ने कहा, "मैं सोचता हूँ, हमें यह दफ्तर बन्द कर देना चाहिए। स्टडी-सरकल की बात है, सो वह अभी ग्वालमंडी में चल सकता है। बड़ी सभाएँ करने के लिए इस हॉल का प्रबन्ध किया था, अब तो वैसी कोई ज़रूरत नहीं रही। पार्टी के पास तो पैसे की कमी है। यहाँ तो किराये में हिस्सा बटाना ही पड़ेगा।"

"ठीक है। वहाँ लाइब्रेरी भी है और फिर साँझ के स्कूल में तो कलुआ भाई के सिवाय और कोई पढ़ने वाला भी अभी नहीं।" दुरो ने कहा।

"धीरे-धीरे सब आयेंगे दीदी," कलुआ बोला, "और अबके आयेंगे तो जायेंगे नहीं।"

"ठीक कहते हो !" हरीश बोले, "जो सम्बन्ध हमने बनाये हैं, उनको तोड़ना न चाहिए। हमारी बात उन्होंने नहीं मानी, तो कोई हर्ज नहीं। हमें सुख-दुख में उनकी खबर लेते रहना और सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। और कुछ नहीं तो साँझ के स्कूल में अथवा स्टडी-सरकल में उन्हें लाते रहना चाहिए।"

और हरीश उठे।

तब कलुआ ने अपनी बात कही कि यदि उसकी रोटी-रहाइश का प्रबन्ध हो जाय तो वह चोपड़ा साहब की गुलामी छोड़कर पार्टी की सेवा करे।

"इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है," हरीश जी बोले, "लेकिन तुम्हारा वहाँ रहना बड़ा ज़रूरी है। तुम्हारे द्वारा ही तो हम दूसरे मजदूरों से सम्बन्ध बनाये रख सकेंगे। बल्कि मैं तो तुम से यह कहूँगा कि तुम उनकी यूनियन में भी शामिल हो जाओ और जब तुम्हारे मित्रों को निराशा हो—तो फिर उन्हें इसी रास्ते पर लाने की कोशिश करो।···मैं बहुत थक गया हूँ," कुछ रुक कर उन्होंने कहा, "चाहता हूँ, जाकर आराम से लेट जाऊँ।"

जगमोहन ने देखा—दुरो बड़े ही स्नेह और सहानुभूति से हरीश के थके,

पीले मुख को देख रही है ।

कलुआ ने हॉल को ताला लगाया और चारों नीचे उतर आये । तब दुरो ने कहा, "आप बहुत काम करते हैं, कुछ आराम कीजिए । चलिए, मैं आपके सिर में ज़रा-सा तेल लगा दूंगी ।"

जगमोहन को लगा कि दुरो की आवाज़ में कुछ हकलाहट है । जैसे सीढ़ियाँ उतरती हुई वह यही एक वाक्य कहने के लिए साहस बटोरती आयी थी ।

"अरे भाई, यह अय्याशी हमारी किस्मत में कहाँ !" हरीश हँसे, "मुझे तो अभी जाकर रिपोर्ट तैयार करनी है, बम्बई से बुलावा आया है, वहाँ लेबर-वर्कर्ज़ की कॉन्फ़रेन्स हो रही है, जाने से पहले मुझे रिपोर्ट तैयार कर लेनी है ।"

"तो भी, थके हैं, आज आराम कीजिए । कल से फिर जुट जाइएगा ।"

हरीश चुप रहे । जाने उनका मन बम्बई की गोदियों में लथपथ मज़दूरों में लगा था अथवा वे जुहू के विशाल रेतीले किनारे पर खड़े, दृष्टि की सीमा तक फैले सागर के नीले विस्तार को देख रहे थे ।

"आप कब बम्बई जा रहे हैं ?" दुरो ने पूछा । उसके स्वर में बराबर चिन्ता और हकलाहट थी ।

"परसों चला जाऊँगा ।" हरीश ने फिर कहा ।

"यहाँ का काम···" दुरो ने कहना चाहा ।

"श्याम है, तुम हो, दूसरे कॉमरेड हैं, कोई ऐसी बात न आ पड़ी तो हफ्ते-दस दिन में आ जाऊँगा ।"

और वे जगमोहन की ओर मुड़े, "तुम भी भाई, पढ़ाई से समय निकालकर आते रहना ।"

"मैं तो सारा वक्त काम करने को तैयार हूँ । पढ़ाई का खयाल मैंने छोड़ दिया है ।" जगमोहन ने कहा और चलते-चलते उसने अपनी कठिनाइयाँ बतायीं ।

"तुम ही अकेले नहीं हो," जगमोहन की बात सुनकर हरीश बोले, "इस देश में हज़ारों-लाखों ऐसे युवक हैं, जिन्हें अपना रास्ता एकदम अन्धकारमय दिखायी देता है । राजनीतिक ज्ञान उनका नहीं के एराबर है । इन सब कठिनाइयों के स्रोत को ढूंढ़ पाना उनके बस की बात नहीं । वे समझते हैं कि उनकी किस्मत खराब है ।—किस्मत—किस्मत—किस्मत ! हमारे यहाँ किस्मत का अखण्ड राज्य है । कोई आदमी उच्च वर्ग में पैदा हुआ तो किस्मत वाला है; अच्छे दिमाग़ का मालिक है तो किस्मत वाला है; नौकरी मिल गयी तो किस्मत वाला है ! और किस्मत उल्टी भी हो सकती है—आम हिन्दुस्तानी युवक को ज़िन्दगी बड़ा भारी जुआ दिखायी देती है ।" हरीश किंचित हँसे, "इस जुए में जीत-हार किस्मत के हाथ है । लेकिन तुम आते रहोगे तो जानोगे कि जिस तरह आदमी बड़ी-बड़ी नदियों को बाँधकर उनको सीधे, उपादेय मार्गों पर ले आया है, इसी तरह किस्मत के इस मुँहज़ोर दरिया को भी उसने बाँधकर सीधे रास्ते लगा दिया है । कौमों ने अपनी किस्मतें आप बनायी हैं । हम भी अपनी इच्छा के अनुसार

अपनी किस्मत को बनायेंगे। हम यह व्यवस्था बदल देंगे, जिसमें कुछ के पास सब तरह के साधन हैं और शेष नितान्त साधन-हीन हैं। सबको एक-सरीखे साधन मिलेंगे कि वे अपनी किस्मत को अपनी इच्छा, शक्ति और रुचि के अनुसार बना सकें।"

बातें करते हुए हरीश मार्केट तक आ गये थे। सहसा वे रुके। "अच्छा भाई, मैं तो चला।" उन्होंने जगमोहन से कहा, "तुम ज़रा दुरो को गोपालनगर तक पहुँचा देना।" फिर हाथों को माथे पर ले जाते हुए मुड़कर कलुआ से बोले, "तुम तो कलुआ भाई हमारी ओर ही रहते हो, चलो, चलें मेक्लोड रोड तक साथ-साथ।"

"जी, जी।" कलुआ ने कहा और उनके साथ चलने को मुड़ा।

हरीश जी भी तेज़ी से मुड़े। दुरो कुछ क्षण खड़ी उन्हें देखती रही, फिर पलटी और जगमोहन के साथ चुपचाप चलने लगी।

आकाश पर हल्के, सफ़ेद, झीने बादल छाये हुए थे, जिनके पीछे चाँद यद्यपि पूरी तरह दिखायी न दे रहा था, पर उसकी ज्योत्स्ना लोअर माल, अजायबघर और गोल बाग़ के पेड़-पौधों और रविशों पर छायी हुई थी। उदास-उदास, हल्की सफ़ेद रोशनी में लोग-बाग भटकी हुई रूहों-से दिखायी दे रहे थे। कुछ क्षण दोनों मौन चलते गये। फिर सहसा दुरो ने पूछा, "एम० ए० करने की अपेक्षा आपने ट्रेनिंग क्यों नहीं ले ली?"

"ट्रेनिंग लेने का उद्देश्य केवल एक है—नौकरी! अव्वल तो यह कि मेरे पास आगे पढ़ने के साधन नहीं, फिर यही कहाँ तय है कि बी० टी० करते ही नौकरी मिल जायगी। आपकी बात दूसरी है। महिलाओं के लिए इस क्षेत्र में काफ़ी जगह है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, यदि कहीं एक जगह ख़ाली होती है तो पाँच सौ लोग वहाँ दौड़ पड़ते हैं। नौकरी उसे मिलती है, जो अव्वल दर्जे में पास हुआ हो अथवा जिसकी पहुँच हो। अव्वल दर्जे में पास होने से ज़्यादा पहुँच की ज़रूरत है। शेष के सामने किसी छोटे-मोटे प्राइवेट स्कूल में मैनेजिंग-कमेटी के अत्याचार सहने और ग़ुलामों से बदतर ज़िन्दगी बसर करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं।"

वह चुप हो गया। दोनों मौन-रूप से चलते रहे, फिर सहसा जगमोहन बोला, "कई बार मैंने कम्पीटीशन में बैठने को भी सोची है, लेकिन कम्पीटीशन में बैठने के लिए दाखिले के रुपये जुटाना मेरे लिए मुश्किल हो गया। फिर उस परीक्षा में सफलता के लिए जिस मेहनत और उस मेहनत के लिए जिस शान्ति और सुविधा की आवश्यकता है, वह मेरे पास कहाँ है? आज कम्पीटीशन इतने सख़्त हैं और उनमें सफल होने के लिए इतनी मेहनत करनी पड़ती है कि परीक्षा देने के बाद आदमी एकदम निढाल हो जाता है। मैंने ऐसे साथी देखे हैं जो दो-दो, तीन-तीन बार कम्पीटीशन में बैठे और इसी श्रम में उन्होंने बाल सफ़ेद कर लिये, पर सफल न

हो सके। ऐसे भी भाग्यवान मेरे मित्र हैं जो सफल हो गये, पर जो इस श्रम से इतने थक गये कि फिर उन्होंने किताब की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। कुछ उदीयमान कवि, कहानी-लेखक अथवा नाटककार थे। कॉलेज में उन लोगों से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, पर एक बार कम्पीटीशन में आने के बाद कविता, कहानी लिखना तो दूर रहा, पढ़ने की बात भी उन्होंने नहीं सोची। मैं जब यह सोचता हूँ तो मुझे इस सबसे बड़ी वितृष्णा होती है। स्वाभिमानी और दयानतदार के लिए इस व्यवस्था में कोई जगह नहीं।"

क्षण-भर रुककर उसने धीरे-धीरे दुरो को प्रो० बैजनाथ कपूर के घर का किस्सा सुनाया : "मैं वह सब अपमान सह जाता तो शायद एम० ए० कर लेता," उसने कहा, "शायद डिवीज़न भी ले लेता। पर उस सबसे गुज़रकर, मैं जानता हूँ, मेरी स्थिति नंगे पाँव चलने वाले उस व्यक्ति-ऐसी हो जाती, जिसके पैरों से किसी राहगीर द्वारा फेंका गया बलग़म का लौंदा चिमट जाता है। वह लाख सड़क से पाँव घसीट-घसीटकर उसे उतारता है, पर वह उसे पूरी तरह उतार नहीं पाता। नल के नीचे वह उसे धो डालता है, पर कल्पना-ही-कल्पना में वह लिजलिजी-सी चिपचिपाहट उसे वहाँ निरन्तर लगी दिखायी देती है। दूसरे के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता। लोग अपमान सहते हुए, गिड़गिड़ाते हुए, ख़ुशामद से भिनमिनाते हुए आगे बढ़ते और ऊँचे उठ जाते हैं। तब वे अपना अपमान भूल जाते हैं। दूसरों का अपमान करते हुए, उनसे ख़ुशामद और रिश्वत पाते हुए अपनी प्रगति पर वे सन्तुष्ट रहते हैं। अपने उन कठिनाई के दिनों का उल्लेख वे बड़े गर्व से करते हैं। मैं सच कहता हूँ, मैं ऐसे बढ़ूँगा तो अपने आपको कभी क्षमा न कर पाऊँगा। वह अपमान उसी लिजलिजी चिपचिपाहट-सा मेरी आत्मा से चिमटा रहेगा।"

दुरो कुछ क्षण चुप रही। फिर बोली, "आपने ठीक किया। आज के युग में प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपनी सब आशाएँ छोड़, सबसे पहले विदेशी ग़ुलामी से देश को आज़ाद करने के इस यज्ञ में आहुति दे। मैं भी शायद ट्रेनिंग न लेती, पर हिन्दुस्तान में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से भिन्न है। आप दिन-भर बेकार, बाज़ारों की ख़ाक छानें, सिनेमा-तमाशा देखें, और रात को देर से घर जायें तो आपको कोई कुछ न कहेगा। मैं दिन-भर काम करती रहूँ और इसलिए देर से घर पहुँचूँ तो बीस आदमी बीस नाम धरेंगे।" और दुरो ने अपने माता-पिता की मृत्यु से लेकर मौसी के पास आने और सुबह-शाम अनथक काम करके किसी तरह पढ़ने की सुविधा पाने की कहानी कह डाली।

"मेरे मौसा उम्र में इतने हैं जितने मेरे पिता आज होते," दुरो ने कहा, "वैसा ही स्नेह भी वे मुझसे करते हैं। मौसी उनके इस स्नेह को भी सन्देह की दृष्टि से देखती हैं। घर में रहना मेरे लिए बवाल है। कहीं यदि मौसी हम दोनों को इकट्ठे देख लेती हैं तो चार-चार दिन तक मुँह फुलाए रखती हैं। बी० ए०

करके ट्रेनिंग करना इसीलिए मैंने ज़रूरी समझा कि मैं इस अपमान और ग़ुलामी से निष्कृति पाकर अपना पेट भर सकूँ और अपना जीवन जी सकूँ।"

एक आत्मीय सखा की तरह दुरो जगमोहन से अपनी ज़िन्दगी की कहानी कहती गयी और जगमोहन को लगा जैसे उन दोनों का जीवन-एक जैसा है। 'पर दोनों मिलकर इस जीवन को सफल और सुखद नहीं बना सकते'—उसने मन-ही-मन सोचा—और उसके हृदय से एक लम्बी साँस निकल गयी।

"सत्या बहन कांग्रेस में काम करती रही हैं," दुरो फिर बोली, "देर-सवेर घर आती रही हैं, पर उन्हें कभी किसी ने कुछ नहीं कहा। अब उन्होंने अपनी शादी का फ़ैसला किया तो किसीने आपत्ति नहीं की। उन्हें देखते हुए दूल्हा बड़ी उम्र का और ख़ासा कुरूप लगता है। पर वे चाहती हैं। अपनी मालिक आप हैं। कोई नहीं बोला। वे न अपने पिता पर बोझ हैं, न अपने चाचा पर। मेरी बात दूसरी है। मैं जब से कांग्रेस में काम करने लगी हूँ हरीश जी को लेकर बीस बातें मौसी सुना चुकी हैं। मैं चुप रहती हूँ। यदि कहीं कह दूं—मैं हरीश को चाहती हूँ—तो जाने क्या तूफ़ान खड़ा हो जाय! यह "फ़ैज़' ही ने लिखा है न—'इक ज़रा सब्र कि फ़रयाद के दिन थोड़े हैं!" मैं जब घबराती हूँ तो यही पंक्ति दोहरा लेती हूँ।" और वह हँसी। लेकिन जगमोहन के हृदय से एक और लम्बी गहरी साँस निकल गयी।

वे तेग़बहादुर रोड के नाके पर पहुँच गये थे। सहसा जगमोहन रुका। उसे ख़याल आया, कहीं अपनी ससुराल से आती-जाती सत्या जी आगे न मिल जायँ। उस दिन की घटना के बाद वह फिर उनसे साक्षात्कार न करना चाहता था। "मैं यहीं से चलता हूँ," उसने कहा, "मेरी भी स्थिति लगभग आप-जैसी है। मुझे भी समय से घर पहुँचना है।" और उसने नमस्कार को हाथ उठाये।

दुरो ने नमस्कार का उत्तर दिया, फिर सहसा बोली, "आप सत्या बहन की शादी में नहीं आये?"

"भाभी की तबीयत ठीक न थी, इसलिए आ नहीं सका।" और वह मुड़ा, लेकिन मुड़ते हुए उसने पूछा, "कैसे हुई शादी?"

दुरो ने कदम बढ़ा लिया था। रुककर बोली, "सत्या बहन तो शोर मचाने के पक्ष में नहीं, बड़े सीधे-सादे तौर पर आर्य-समाजी ढंग से हो गयी। उन लोगों ने गहना-कपड़ा ख़ूब दिया। सत्या बहन ने खादी के कपड़े तजकर रेशमी साड़ियाँ पहन लीं।...क्यों उन्होंने वहाँ शादी करना स्वीकार कर लिया, यह मेरी समझ में नहीं आता।" फिर निमिष भर रुककर दुरो ने कहा, "वे तो परसों चली जायँगी।"

"कहाँ?"

"अफ़रीका!"

जगमोहन पूछना चाहता था—'इतनी जल्दी?" पर उसने कुछ नहीं कहा।

एक बार फिर नमस्कार किया और तेज़-तेज़ मुड़ आया ।

घर पहुँचा तो भाई और भाभी कदाचित बच्चों को लेकर सिनेमा देखने चले गये थे। उसकी मेज़ पर खाने की ढकी थाली के ऊपर एक बन्द लिफ़ाफ़ा पड़ा था । जगमोहन ने लिफ़ाफ़ा खोला । सत्या जी की ओर से पाँच-सात पंक्तियाँ थीं । कितनी देर तक वहीं खड़ा जगमोहन उन पंक्तियों को बार-बार पढ़ता रहा ।

मोहन जी,

आप शादी पर नहीं आये । मैं क्या गिला करूँ ! आपने मुझे वह अधिकार ही नहीं दिया । मैंने आपकी बात मान ली, मैं लाहौर ही से नहीं, हिन्दुस्तान से भी चली जाऊँगी । आपको अब और परेशान न करूँगी । केवल एक प्रार्थना है । परसों शाम सवा-छह की गाड़ी से हम जा रहे हैं। आप स्टेशन पर केवल एक बार दर्शन दीजिए, फिर मैं जीवन-भर आपको कभी किसी बात के लिए तंग न करूँगी ।

—स०

'निमिषा' से

इण्टर के ज़नाने डिब्बे की सीट पर दीवार से पीठ लगाये, आँखें बन्द किये बैठी निमिषा के होंटों पर हल्की-सी मुस्कान खेल गयी।

वह दो दिन लाहौर रही। दो बार गोविन्द से मिली। फिर दशहरे में दो दिन देवनगर गयी और पिछले ही महीने, जब गोविन्द आँखों की तकलीफ़ के कारण पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर लाहौर आ गया था, वह स्वयं जाकर उसके बेटे के साथ उसे रेनाला ले आयी थी और वे पाँच दिन उकेस पास रेनाला रहे थे।—इस दौरान गोविन्द उसे जान पाया या नहीं, लेकिन वह उसे काफ़ी जान गयी थी।

जिस बात पर मन-ही-मन उसे हँसी आयी थी, वह पहले पत्र को लिखने में उसकी झिझक थी, क्योंकि गोविन्द से उसका पत्राचार और परिचय तूफ़ान की गति से बढ़ा था। उन चन्द मुलाकातों के अलावा ढेर सारे पत्रों का आदान-प्रदान उनमें हुआ था और इस सब में काव्य और कला की बात ऐसे ग़ायब हो गयी थी, जैसे उसका कहीं कोई अस्तित्व ही न था, एक दूसरे को कैसे अपना सकें, यही बात उनमें प्रमुख हो गयी थी।—खुले तौर पर नहीं, सिर्फ़ इशारों-इशारों में···

रेलों में उस ज़माने में चार दर्जे होते थे, फ़र्स्ट, सेकेण्ड, इण्टर और थर्ड ! फ़र्स्ट में तो प्रायः अंग्रेज़ यात्रा करते थे या फिर राजे-नवाब और गवर्नर कौंसिल के भारतीय सदस्य आदि, सेकेण्ड में भारतीय उच्चवर्ग, इण्टर में मध्य वर्गीय और थर्ड में जनता। इण्टर का यह डिब्बा, जिसमें निमिषा सवार थी, किसी कूपे की तरह छोटा, तंग, गर्म और ख़ाली था। दो महीने पहले वह उसमें बैठी होती तो गर्मी के मारे उसका बुरा हाल हो जाता, क्योंकि उन दिनों पंखों की सुविधा केवल फ़र्स्ट या सेकेण्ड क्लास के यात्रियों को ही प्राप्त थी। इण्टर में सफ़र करने वाले केवल गद्देदार सीटों पर यात्रा करने का सुख ले सकते थे और केवल इसी सुख के लिए किराया ज़्यादा देते थे। थोड़ी सुविधा यह भी रहती कि भीड़ कम होती और उनके मध्यवर्गीय अहम् को किंचित संतोष मिल जाता। लेकिन नवम्बर

आधा बीत गया था। सुबह हवा में खासी ठण्डक थी और निमिषा जब डिब्बे में सवार हुई थी तो उस छोटे से तंग डिब्बे में बैठना उसको अच्छा लगा था। खिड़कियों के शीशे उसने चढ़ा दिये थे; सीट की दीवार से पीठ लगाये सामने की सीट पर पैर फैलाये, वह पसर गयी थी; आँखें उसने बन्द कर ली थीं। और गोविन्द से पहली मुलाकात के बाद की घटनाएँ उसके मानस-पट पर बनने-मिटने लगी थीं।

प्राय: उसे अपने आप पर झुँझलाहट होती थी कि वह क्यों गोविन्द की ओर इतना खिंची जा रही है। कलाकार या कवि वह चाहे जितना अच्छा हो, पर खान-पान, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार में उससे एकदम उलटे सिरे पर खड़ा था। निमिषा की रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी और गोविन्द मुँहफट, फक्कड़ और निमिषा की दृष्टि में कद्रे फूहड़ था—इस सब के बावजूद वह उसकी तरफ़ खिंचती चली गयी थी। उसे सबसे ज़्यादा खीझ गोविन्द के यहाँ असमंजस, दुविधा और इच्छा-शक्ति के अभाव पर आती थी। कभी-कभी वह उसे निहायत मजबूर और कमज़ोर लगता था और दिलचस्प बात यह थी कि उसकी इसी कमज़ोरी पर उसे प्यार हो आता था। चाहती वह सिर्फ़ यह थी कि वह दुविधा छोड़कर पक्का निर्णय ले—उसे अपनाये या न अपनाये, पर खुद तो खुश रहे।

जब वह पहली बार लाहौर में गोविन्द के साथ कुछ समय गुज़ारकर वापस रेनाला आयी थी, तो यद्यपि वह रास्ते की यात्रा से थक गयी थी और रात के ग्यारह बजे बिस्तर पर लेटी थी, तो भी उसे नींद न आयी थी। उसके सामने लगातार गोविन्द की सूरत घूमती रही थी। उसके चश्मे पर चढ़ी वह काली अटैचमेण्ट कुछ इस तरह उसके हृदय में उतर गयी थी कि आँखें बन्द करते ही सामने मूर्तिमान हो उठती थी। यह जानकर उसके अहं को बहुत संतोष मिला था कि घुटने में काफ़ी चोट आ जाने के बावजूद, वह महज़ उससे मिलने के लिए, पहले दस मील इक्के की, फिर बारह मील बस की यात्रा तय करके लाहौर पहुँचा था। इस सब में उसे कितना कष्ट हुआ होगा···इस कल्पना ही से निमिषा को रोमांच हो आता था और वे तमाम बातें, जो प्राय: दूसरों में उसे अखरा करती थीं, गोविन्द के यहाँ नितान्त स्वाभाविक और इसीलिए अतिशय प्रिय लगती थीं।

वह तो लाहौर से आते ही उसे पत्र लिखना चाहती थी, लेकिन पहले वह स्कूल के कामों में बेहद व्यस्त रही। फिर सहसा डिप्टी कमिश्नर से मिलने मिण्टगुमरी जाने का प्रोग्राम बन गया और उसने तय किया कि वहाँ से लौटकर शाम को इत्मीनान से गोविन्द को पत्र लिखेगी। तभी जब वह मिण्टगुमरी जाने के लिए तैयार थी, उसे गोविन्द का पत्र मिला था, जिसके साथ एक चित्र भी था।

वह एकदम अभिभूत हो आयी थी। उसने इतनी बार वह पत्र पढ़ा था कि

उसकी एक-एक पंक्ति उसे कण्ठस्थ हो गयी थी। गोविन्द ने लिखा था :

निमिषा,

लाहौर में तुम से मुलाकात करने के बाद पिछले अड़तालीस घण्टों में मैंने जो सोचा और महसूस किया है, उसे लिखने बैठूं तो यह सारा-का-सारा पैड खत्म हो जाय ! जाने कैसे और क्यों तुम्हारे सामने मेरा हृदय एकदम निरावरण हो गया और जैसे अपने आपको अकेला महसूस करने वाला कोई बच्चा अचानक किसी हमदर्द को पाकर अपने टूटे-फूटे, पुराने-धुराने—सभी खिलौने एक-एक करके उसे दिखा दे, मैंने भी तुम्हारे सामने अपना सब कुछ रख दिया। कुछ भी तो नहीं छिपाया। पल-भर के लिए भी खयाल नहीं किया कि तुम क्या सोचोगी। तुम्हारे इम्प्रेशन की परवाह किये बिना मैं अपनी सुनाता चला गया, जैसे, न जाने कब से मैं इस बात का इन्तज़ार कर रहा था कि तुम आओ तो अपना सब कुछ तुम्हारे सामने रखकर, बरसे हुए बादल-सा हल्का हो जाऊं।

अब सोचता हूं तो समझ नहीं पाता कि यह सब कैसे हुआ ?… जनवरी या फ़रवरी में मेरी शादी होने वाली है और इस शादी के प्रति मेरे मन में ज़रा-सा भी उत्साह नहीं। तो भी लगता है, मुझे इस मुसीबत से गुज़रना ही पड़ेगा। मेरी होने वाली बीवी के सूबेदार मेजर भाई, सुनता हूं, मिस्र से हिन्दुस्तान की तरफ़ चल भी चुके हैं और मेरी जड़ता का अनुमान करो कि मैं अपनी होने वाली बीवी को देखने तक नहीं गया। तुमसे ही मिलने कैसे चला गया, मैं इसी पर हैरान हूं, खास तौर पर उस वक्त, जब मेरा घुटना इतनी चोट खा गया था और मुझे चलने में तकलीफ़ होती थी।

इन हालात में हमारी दोस्ती निभेगी ? मैं शादी कर लूं तो भी…? बीवी से मुझे हर कदम पर समझौता करना पड़ेगा। फिर तुम यदि कहीं शादी कर लो (ज़िन्दगी भर तो तुम्हें कुंआरी रहना नहीं है) तब तुम खुद भी क्या मजबूर न हो जाओगी ? हम लोग इंग्लिस्तान, यूरोप, रूस या अमरीका में तो बसते नहीं, इस पुण्यभूमि में बसते हैं, जहां पतियों-पत्नियों, सासों-ससुरों, देवरानियों-जेठानियों और अन्य दूर-पास के रिश्तेदारों के शक-शुबहों का कोई वार-पार नहीं। मेरी मुसीबत यह है कि मैं दोस्तों से कुछ नहीं छिपाता। और मुझे डर लगता है। वह तुम्हारी सहेली है ना कनक—लगता है, तुम मेरे पत्र उसे दिखा देती हो। उसके यहां आने-जाने वाले एक मित्र ने अपने खत में हलका-सा मज़ाक किया है। देखो निमिषा, मैं हर किसी के सामने यूं आवरणहीन नहीं होना चाहता। तुम्हारे सामने ही कैसे खुल गया, मैं इसी पर हैरान हूं।

शायद तुम मेरी कोई बात काटतीं या अपनी ही कोई कहतीं तो मेरी बातों का प्रवाह रुक जाता, लेकिन तुमने तो ज़रा भी तो होंट नहीं खोले।

घुटने पर कोहनी टिकाये, हथेली पर ठोडी रखे, मुटर-मुटर मेरी ओर देखती, चुपचाप मेरी बकवास सुनती रहीं। बीच में एक बार मैंने कहा भी—'तुम तो बहुत बातें करना चाहती थीं, कुछ तुम भी तो कहो!" बिना ज़रा भी हिले, उसी पोज़ में बैठे, बारीक-सी मुस्कान होंटों पर लाते हुए तुमने कहा, "मैं तो सिर्फ़ सुनने आयी हूँ," और बिना कुछ और कहे, परम मूर्खों की तरह में अपनी ज़िन्दगी की सारी कॉमेडी-ट्रेजिडी, सारे स्केण्डल, फ्रस्ट्रेशन्ज, आशाएँ-आकांक्षाएँ तुम्हें सुनाता चला गया।

चूँकि मैं जिसे दोस्त समझने लगता हूँ, उससे कुछ भी नहीं छिपाता, इसलिए मुझे उसका ज़रा भी अफ़सोस नहीं।...तुम से मिले बिना मैं बेझिझक तुम से पत्र-व्यवहार करने लगा...तुम से पहली बार मिला और अपना सब कुछ मैंने तुम्हारे सामने रख दिया...मैं सोचता हूँ, चेतन या अचेतन में कुछ तो मैंने महसूस किया ही होगा कि मन ने तुम्हें अपना महर-बान और हमदर्द मान लिया।

तुम से मिलकर मैंने जो सोचा है, यदि वह सब लिखने बैठूंगा, तो जैसा कि मैंने शुरू में कहा, पन्ने-के-पन्ने सियाह हो जायँगे। मुझे समय और स्थान का कोई ज्ञान न रहेगा—बिल्कुल उसी तरह, जैसे शनि के दिन हुआ। शाम गहरा न जाती, संधू ने आकर रात का खाना वहीं खाने की बात न कही होती और तुम उठ न खड़ी होतीं, तो मैं उसी तरह बके चला जाता—बिना इस बात का खयाल किये कि संधू या मनजीत को कोई परेशानी न हो रही हो। तभी मेरी उम बेवकूफ़ी के कारण, उस शाम तुम्हें घर पहुँचने में बहुत देर हो गयी।

लेकिन मुझ पर पिछली रात और आज का पूरा दिन जो गुज़रा है, वह मैं तुम्हें बताना भी जरूर चाहता हूँ।...इतवार की दोपहर तुम्हारे साथ कुछ और समय गुज़ार, जब मैं तुम्हें निस्बत रोड पर तुम्हारे घर के करीब छोड़कर लौटा तो वापस आते-आते कुछ शे'र हो गये थे। कुछ और न कह वे ही लिख रहा हूँ। मेरी भावनाओं को ये बेहतर तौर पर व्यक्त कर सकते हैं:—

तुम मिलीं जैसे मिले ज़र्द[1] बियाबां को बहार
या अँधेरे को किरन सुबह की खंदाँ[2] हो कर

दर्द के दर पे चली आये मसर्रत[3] जैसे
ख्वाब-ए-शीरीं[4] की तरह लम्हों की मेहमाँ होकर

---

1. पीले, मुरझाये
2. मुस्कराकर
3. खुशी
4. मीठा सपना

मैं तो सहरा हूँ नदी बन के इधर आओ ज़रा
देख लो, कैसे मैं खिलता हूँ, गुलिस्ताँ होकर

या तो इस हस्ती-ए-वीराँ को फ़ना कर डालो
या बियाबाँ में समा जाओ ख़याबाँ[1] होकर

बा-लो-पर टूट गये आये वो तूफ़ाँ मुझ पर
न उड़ाओगी मुझे मायल-ए-एहसाँ[2] होकर

मैं उतना अच्छा शायर नहीं, जितना अच्छा चित्रकार हूँ, इसलिए एक चित्र भी भेज रहा हूँ। सोचता था, तुम्हारा पत्र आयेगा तो उत्तर दूंगा। काम इतना पड़ा है कि इतने लम्बे चित्रमय पत्र लिखना ऐय्याशी के सिवा कुछ और नहीं लगता। और मेरे जैसे ग़रीब टीचर को यह सब ऐय्याशी नहीं सुहाती। लेकिन ग़ज़ल लिखकर और चित्र बनाकर रह कौन सके, सो इसकी प्रेरणा जिस से हुई, उसी को ये दोनों समर्पित हैं। क्षमा माँगने और पाने का अधिकार मैंने कब का खो दिया है, लेकिन निमिषा गुस्ताखी और मजबूरी भी कोई चीज़ है।

मेरे पास शायद इधर पत्र लिखने का समय न हो, इसलिए इसके उत्तर में लिखना— कब आ रही हो और यह भी कि लाहौर होकर आओगी या सीधे ?

गोविन्द

पुनश्च: मेरे पत्र किसी को दिखाओ तो उन पंक्तियों को जिनमें मेरी खामियाँ झलकती हों, छिपा लिया करो।

गोविन्द

गोविन्द के इस पत्र ने निमिषा के आत्मविश्वास को बहुत बल दिया था। उसे तो इतना मान जिन्दगी में किसी से भी नहीं मिला था। अपने सम्भ्रान्त वातावरण में वह नितान्त अकेली और अचीन्ही रही थी। उसने उसी वक्त गोविन्द को पहुँच का पत्र लिखा था—भावुकता, अव्यक्त पीड़ा और प्रेम से भरपूर! यह भी लिखा था कि मिण्टगुमरी से आकर सविस्तार लिखेगी। और वह एक नशे में मिण्टगुमरी गयी थी। पहले उसे भय था कि उस वक्त, जब गोविन्द के पत्र की पंक्तियाँ, उसकी ग़ज़ल के शे'र उसके दिमाग़ में घूम रहे थे, वह डिप्टी कमिश्नर के साथ ठीक से बात भी कर सकेगी या नहीं; लेकिन उस पत्र ने जो नया उत्साह उसमें भर दिया था, उसके बल पर वह चली गयी थी। मिस्टर बुच्च ने उसे इज-

---

1. बाग
2. कृपालु

लास में ही बुला लिया था और उसके आवेदन-पत्र पर ऑर्डर कर दिये थे। गाड़ी के बदले वह बस में वापस आयी थी। रात उसने गोविन्द को एक बहुत लम्बा पत्र लिखा था, जिसमें उस ग़ज़ल और उस चित्र पर अपना आश्चर्य और प्रसन्नता प्रकट थी, अपने सुख-भरे बचपन और लड़कपन का, छोटी उमर में अनाथ हो जाने तथा अपने संघर्ष और एकाकीपन का ज़िक्र किया था। उस ग़ज़ल और चित्र के लिए आभार व्यक्त किया था और अन्त में लिखा था :

...आपका पत्र पढ़ा—एक बार नहीं, जैसा कि मैं लिख चुकी हूँ, न जाने कितनी बार !—घर में, मिण्टगुमरी जाते वक्त गाड़ी में, वहाँ से आते वक्त लारी में और वापस आकर यह पत्र लिखने से पहले।

आपसे मिलने के बाद जो-जो कुछ मैंने सोचा है, लिखने बैठूँ तो न जाने कितने पैड दरकार हों। आप कवि-कलाकार हैं, अपने मन की बात एक पैड में लिख सकते हैं। मैं साधारण नारी, पागलपन की मारी, मैं अपनी बात संक्षेप में लिखूँ तो कैसे ?

विद्यापति फ़िल्म देखी है न आपने ? बस मैं भी कई दिनों से वही फ़िल्म देख रही हूँ। सोते भी, जागते भी। मैं आप को बहुत-सी बातें बताना चाहती हूँ, लेकिन मुझे डर-सा लगता है, शर्म-सी आती है।

...आप से मिली तो मुझे लगा (यद्यपि ये शब्द बहुत पुराने हो गये हैं, एकदम घिसे-पिटे, पर मेरे मन की बात कहते हैं) कि मैं आपको न जाने कब से जानती हूँ, इसलिए न अकेले दुकान पर आपसे मिलने में संकोच हुआ, न घर पर, और जब आपने पूछा—"आपके पास कोई फ़ोटो होगा," तो हालाँकि किसी को अपनी तस्वीर देना मुझे गवारा नहीं, मैंने बेझिझक पर्स से निकाल कर फ़ोटो आपको दे दिया। भाभी से मिलकर आयी थी तो आपने कहा था, "फ़ोटो तो तुम्हारा बहुत सुन्दर है, तुम्हारा फ़ेस फ़ोटो-जेनिक है, लेकिन तुम बहुत कमज़ोर लगती हो।" हाय ! कलाकार, कहीं आप जानते कि पिछले कुछ वर्षों में इस ग़रीब निमिषा पर क्या बीत गया है ! मैं ज़िन्दा हूँ, यही बहुत है।

आपने लिखा है कि मैं विवाह कर लूंगी तो हमारी दोस्ती निभेगी ? अरे भाई, यह कोई ऐसी बात नहीं, जो पलक झपकते हो जाय। विवाह के सिलसिले में मेरे विचार दूसरे हैं। अग्नि के सामने चार मन्त्र पढ़ लिये जायँ, चार बच्चे हो जायँ तो उसे विवाह नहीं कहते। जब तक दिल ही एक-सूत्र में न बँधें तो विवाह कैसा ? और दिलों का बंधना कुछ वैसा आसान नहीं। पंजाबी कहावत तो आपने सुनी होगी, "जोड़ियाँ जग थोड़ियाँ ते नरड़ बथेरे" मुझे अपनी जोड़ी को नरड़ कहाना पसन्द नहीं। लोगों की आँखों में एक होकर भी यदि पति-पत्नी वास्तव में एक न हुए तो विवाह कैसा ?

रही ग़ज़ल की अन्तिम पंक्ति की बात तो उसे इलस्ट्रेट करते हुए आपने

जो चित्र भेजा है, उसने मेरा मन कचोट दिया है—घाटी की तंग गहराई में एक पंख-नुचा पक्षी असहाय पड़ा है। उसके निकट एक खगी फड़फड़ा रही है। वह बेबस पक्षी जिन कातर निगाहों से उस उत्सुक खगी को देख रहा है, वे हृदय को वेध देने वाली हैं और नीचे आपने ग़ज़ल की आखिरी पंक्ति लिखी है—

न उड़ाओगी मुझे मायल-ए-एहसाँ होकर ?

तो इस सिलसिले में इतना ही कहना चाहती हूँ कि चिड़िया खग को उड़ा तो सकती है, मगर खग चाहे तभी ना! चिड़िया एक तो यूँ ही नारी जात, फिर कहीं खग को उड़ाने की कोशिश में, जो थोड़ी बहुत शक्ति स्वयं उड़ने की शेष बची है, उसे भी खो बैठी तो क्या होगा ? यह प्रश्न तो चिड़िया, (जो दीखे चाहे जैसी, पर है उतनी ही विवश, अकेली और उदास) स्वयं खग से करना चाहती है।···

वह दशहरे की छुट्टियों में गोविन्द के छोटे भाई के साथ देवनगर गयी थी। तब उसे पूरी आशा थी कि गोविन्द उसके आशा का कोई सीधा उत्तर देगा, लेकिन उस सन्दर्भ में उसने गोविन्द को एकदम निरुत्साह पाया था। बात-बात में निमिषा ने उसे संकेत किया था कि गोविन्द चाहे तो वह उसका साथ निबाहने को तैयार है।

तब फीकी-सी हँसी हँसकर गोविन्द ने कहा था, "शायरी भावना की चीज़ है और भावना ज़रूरी नहीं कि हकीकत की शक्ल भी ले ले। मन में उबाल उठा, शे'रों में उतर गया। चाहता तो मैं ज़रूर हूँ, लेकिन चाहत को अमली जामा पहनाना मुझे आसान नहीं लगता।'···

निमिषा को आपनी बायीं ओर पिण्डली पर हल्की-सी गर्मी का एहसास हुआ। उसने आँखें खोल दीं। खिड़कियों से धूप की तिरछी किरणें उसके अंगों को गर्मा रही थीं। उसने खिड़की का शीशा गिरा दिया। ठण्डी हवा के झोंके आने लगे। वह खिड़की में कोहनी टिकाकर अनमने भाव से बाहर देखने लगी।···दूर दृष्टि की सीमा तक फैली हुई धरती, जो कुछ ही महीने पहले गर्मी की तपिश से झुलस कर तड़क गयी थी, बरसात के बाद निखरी-धुली हरियाली से ढकी थी। निकट के पेड़ तेज़ी से पीछे को भागे जा रहे थे और बहुत दूर के, जैसे एक अस्पष्ट दायरे में, गाड़ी की दिशा में घूमते दिखायी दे रहे थे। वह देर तक दूर, पेड़ों के एक घने झुण्ड में निगाहें टिकाये रही। कितनी ही देर तक वह झुण्ड डिब्बे के साथ-साथ चलता रहा, फिर बेमालूम ढंग से पीछे छूटता हुआ आँखों से ओझल हो गया। वहाँ से हटकर उसकी निगाहें रेल की पटरी के सामानान्तर लगे तार के खम्भों और उनके तारों पर आ टिकीं। खम्भे तेज़ी से पीछे की ओर भागे जा रहे थे। उन पर लगे तार, बीच में कुछ-कुछ ढीले होने के कारण, ऊपर-

नीचे होते दिखायी देते थे। खम्भा निकट आने वाला होता तो कुछ पहले ही से तार ऊपर को उठने लगते। खम्भा गुज़र जाता तो वे फिर धीरे-धीरे नीचे होने लगते। तभी उसकी दृष्टि तारों पर बैठी चिड़ियों पर चली गयी। जगह-जगह चिड़ियाँ तारों पर पंक्ति-बद्ध बैठी थीं। अचानक वे फुर से उड़तीं, कुछ देर डिब्बे के साथ-साथ तरारे भरतीं, फिर एक साथ ही किसी अगले तार पर उतर आतीं और दूसरे क्षण नज़रों से ओझल हो जातीं···

उन तारों को, उन चिड़ियों को, उन तेज़-तेज़ दौड़ते और दूर दृष्टि की सीमा पर मन्थर गति में घूमते पेड़ों को देखते-देखते कब निमिषा देवनगर पहुँच गयी, उसे पता नहीं चला।···

वह दो दिन वहाँ रही थी। स्कूल यद्यपि पूरा नहीं बना था, उसका एक विंग निर्माणाधीन था, पर उसमें क्लासें शुरू हो गयी थीं। उसने स्कूल का निरीक्षण किया था। गोविन्द की क्लास देखी थी। उसके छात्र-छात्राओं से मिली थी। उसने देवनगर की सबसे पहले बनी दस कोठियाँ, मोज़ेक के फ़र्श वाली चमचम करती डेवढ़ी और कम्युनिटी किचन देखा था। स्कूल के अध्यापकों के लिए दायीं ओर एक ही विंग में दो-दो कमरों के क्वार्टर देखे थे। (उन्हीं में से एक में गोविन्द रहने लगा था) कम्युनिटी किचन से परे, निर्माणाधीन छोटी कोठियों की एक कतार देखी थी (गोविन्द ने उसे बताया था कि शादी के बाद उनमें से एक में उठ जायगा और उसे वेतन का दस प्रतिशत—याने सिर्फ़ आठ रुपये महीना —किराया देना पड़ेगा।) उसने गोविन्द के साथ भट्टे की ओर से जाकर नहर के पुल की तरफ से वीराने का पूरा चक्कर भी लगाया था। वापस रेनाला आने से पहले वह देवा जी से भी मिली थी। देवनगर के स्वच्छ और सुन्दर वातावरण और एक्टिविटी स्कूल की उसने प्रशंसा की थी और हँसते हँसते कहा था, 'मन होता है, अपनी हेडमिस्ट्रेसी छोड़कर यहाँ आ जाऊँ!' तब देवाजी ने कहा था, "आ जाइए, हमें खुशी होगी।' उसने स्कूल के प्रास्पेक्टस भी ले लिये थे, लेकिन जहाँ तक गोविन्द और उसके सम्बन्धों का ताल्लुक है, वे जहाँ थे, वहीं थे और ज़रा भी आगे नहीं बढ़े।

वापस रेनाला आकर उसने कितने ही भावुक पत्र उसे लिखे थे। गोविन्द तत्काल जवाब देता था, लेकिन उसके उत्तर लम्बे हों या छोटे—थोड़े सतर्क होते। वह उसे न छोड़ना चाहता था, न अपनाना। उसे भय था कि निमिषा के रहन-सहन का स्तर उसके स्तर से कहीं ऊँचा है, वह ज्यादा पढ़ी-लिखी है, बड़े घर की है, उसकी रुचियाँ, इच्छाएँ, आशा-आकांक्षाएँ ऊँची हैं आदि···आदि··· और निमिषा घुमा-फिरा कर लिखती थी कि यह कोई बाधा नहीं, वह चाहेगा तो वह अपने आपको उसके अनुरूप ढाल लेगी।

देवनगर में उसने गोविन्द से वचन ले लिया था कि वह रेनाला आयेगा। वह बराबर पत्र लिखती रही, लेकिन वह कोई-न-कोई बहाना कर देता—सुस्ती का,

जड़ता का, व्यस्तता का, अन्यमनस्कता का! आख़िर जब पन्द्रह दिन पहले उसे पता चला कि गोविन्द की आँखें कुछ खराब हो गयी हैं और वह छुट्टी लेकर लाहौर आया हुआ है, उसका लड़का भी वहीं है तो वह दो दिन की छुट्टी लेकर लाहौर पहुँच गयी थी।

पहली मुलाकात के समय निमिषा ने जब लाहौर में गोविन्द को चश्मे पर नीली अटैचमेण्ट चढ़ाये देखा था तो उसने यही समझा था कि गोविन्द ने शौक़ीनी में वैसा किया है, लेकिन देवनगर में उसे पता चला था कि वहाँ दिन को ऐसी चटक धूप पड़ती थी कि सीधी आँखों सामने देखना मुश्किल था। बिजली वहाँ थी नहीं और रात को लैम्प की रोशनी में काम करना पड़ता था। गोविन्द की आँखों में तकलीफ़ रहने लगी थी और धूप से बचने के लिए उसने चश्मे पर नीली अटैचमेण्ट चढ़ा ली थी।

जब निमिषा धोबियों की गली पार कर गोविन्द के घर पहुँची थी तो गोविन्द का छोटा भाई सोम अंगीठी पर पतीली रखे अपने बड़े भाई की आँखों पर सेंक कर रहा था। गोविन्द ने बताया था कि उसकी आँखें तो देवनगर में ठीक हो गयी थीं, महज़ हल्की-सी लाली शेष थी। वह लाहौर आया था। यूँ ही उसने अपने मित्र डॉ० गिरधारीलाल से कहा कि कोई लोशन दे दें। उन्होंने ऐक्रिफ्लेविन लोशन बना दिया। शायद दवा की मात्रा ज्यादा पड़ गयी थी या या क्या हुआ, घर आकर एक-एक ही बूंद डाली थी कि बेपनाह दर्द के लहरिए-से बनने लगे। घबराहट में उसने एक-एक बूंद और डाल ली। बस क़यामत टूट गयी। कुछ ही मिनटों में आँखें अण्डों जितनी सूज आयीं। भाई साहब उसे आँखों के एक विशेषज्ञ के पास ले गये। उन्होंने कहा कि एक्यूट कंजंक्टिवाइटिस हो गया है, लेकिन घबराइए नहीं, एक चम्मच बोरिक एसिड लेकर पतीली भर पानी में डाल, उसे आग पर रखिए। जब उबलने लगे तो एक रूमाल तहा कर उसमें डालिए, चमचे से उठा कर तौलिए में रखकर निचोड़िए और फटक कर उसमें आँखों पर सेंक कीजिए। घण्टा-घण्टा भर दिन में तीन बार सेंक करेंगे तो तीन दिन में ठीक हो जायँगी···सो तीन दिन से सेंक हो रहा है। सूजन खत्म हो गयी है। थोड़ी लाली रह गयी है, सो ठीक हो जायेगी।

तब दिन भर में दो बार निमिषा ने स्वयं गोविन्द की आँखों पर सेंक दिया था। शाम को अँधेरा होने पर वह उसके साथ कॉफ़ी-हाउस भी गयी थी। और दूसरे दिन उसका ट्रंक और बिस्तर तैयार करके उसे और उसके लड़के को अपने साथ रेनाला ले आयी थी।···

गाड़ी की आवाज़ निमिषा के अजाने ही बहुत बढ़ गयी थी। खिड़की के पार सहसा एक-में-से एक पटरी निकलती चली गयी और दूसरे क्षण सामने दूर तक रेल की पटरियों का जाल बिछ गया। एक पटरी से दूसरी पटरी पर आती, हिच-कोले खाती, खड़खड़ाती गाड़ी चली जा रही थी। निमिषा का ध्यान बँट गया।

'रायविण्ड आ रहा है,' उसने मन-ही-मन कहा और कुछ चैतन्य होकर खिड़की में बैठने की कोशिश की। लेकिन उसका ध्यान रेनाला में गोविन्द के साथ गुज़ारे दिनों की स्मृतियों में उलझा रहा।

स्टेशन आ गया। प्लेट फॉर्म का शोर शराबा···चाय के स्टाल पर विज्ञापन—'गर्मियों में गर्म चाय निहायत ठण्डक पहुँचाती जाती है'···'पान-बीड़ी-सिगरेट' की गुहार निमिषा सब देखती-सुनती रही। लेकिन उसके मन की आँखें वहीं रेनाला में भटकती रहीं—गोविन्द के साथ बीते क्षण उसके सामने आते रहे। कभी-कभी जैसे फ़िल्म देखते हुए साउंड फ़ेल हो जाता है। सामने पर्दे पर पात्रों के होंट हिलते हैं, लेकिन आवाज़ नहीं आती—स्टेशन के आ जाने से कुछ ऐसा ही आभास निमिषा को हुआ। वह अपने आपको गोविन्द के साथ घूमते-बतियाते देखती रही, सिर्फ़ उसकी आवाज़ आनी बन्द हो गयी थी। जब गाड़ी चली तो शीशा चढ़ाकर वह फिर पीछे को लेट गयी। उसने आँखें बन्द कर लीं। फ़िल्म जैसे फिर चलने लगी। ··

···गोविन्द को लेकर रेनाला पहुँचने के बाद निमिषा ने सबसे पहले अपने स्कूल के सेक्रेट्री श्री चौधरी से गोविन्द का परिचय कराया था और इच्छा प्रकट की थी कि वह उन्हें सर गंगाराम के फ़ॉर्म दिखाना चाहती है। चौधरी साहब ने कमेटी के एक सदस्य की कार दिन भर के लिए ले ली थी और गोविन्द और उसके लड़के को लेकर निमिषा, नहर, बाँध, बिजली घर, सर गंगाराम की सिंचाई-योजना, फिर रेनाला से ओकाड़ा तक लाइन के किनारे-किनारे फैला हुआ ब्लड-रैड माल्टों का बाग़—सब दिखा लायी थी। विज्ञान की मदद से सर गंगाराम किस तरह नीचे का पानी नहर-दर-नहर ऊपर चढ़ाते चले गये थे और उन्होंने ऊसर धरती उर्वर बना डाली थी, यह देखकर गोविन्द चकित रह गया था। माल्टों के बाग़ में उसने नींबू के रस में पगी अजवाइन का जायका चखा था और थक-हार कर निमिषा के साथ घर लौटा था।

निमिषा की कार्यकुशलता और व्यावहारिक क्षमता से भी गोविन्द बहुत प्रभावित हुआ था। उसे सिर्फ़ तीन बातों की शिकायत थी—वह खर्च बहुत करती थी। वह चाय बहुत पीती थी और अपने स्वास्थ्य की तरफ़ से नितान्त बेपरवाह थी। चूंकि निमिषा ने उसे एक पत्र में लिखा था कि वह मिलने पर उसे अपने बारे में बतायेगी और गोविन्द ने उस बात की याद दिलायी थी, इसलिए उसे अपने अतीत के बारे में भी उसने बहुत कुछ बताया था···कैसे अनाथ होते ही भरे-पूरे सम्पन्न परिवार में उसने अपने आपको अकेली पाया था···कैसे नाना-नानी के चले जाने पर उसने मामियों की अवहेलना सही थी···कैसे चुनौती-भरे क्रोध में वह कई बार खाने-पीने की चिन्ता छोड़, चने खाकर गुज़ारा कर लेती थी···कैसे वह कभी-कभी संन्यासिनी होने या आत्महत्या करने की सोचती थी···कैसे उसने चाचा के पास आकर वर्षों छोड़ी हुई पढ़ाई फिर शुरू की थी···

आदि···आदि···गोविन्द पाँच दिन रेनाला रहा था। जब वह अन्ततः उसे स्टेशन पर छोड़ने गयी थी तो उसने कहा था कि वह अपने भविष्य के बारे में बहुत जल्द कोई निर्णय लेगा और जाते ही उसे पत्र लिखेगा।

लेकिन निर्णय लेने की बात तो दूर रही, देवनगर जाकर गोविन्द ने एक लम्बी चिट्ठी लिखी थी, जिसका सार तत्व यह था कि रेनाला में उसने निमिषा का रहन-सहन देखा है, उसके सपने, इच्छाएं, कांक्षाएँ जानी हैं—वे बहुत ऊँची हैं, उन्हें पूरा करना किसी ग़रीब कलाकार के बस की बात नहीं। और जैसे रेखांकित करते हुए उसने लिखा था कि वह तो एक ग़रीब कलाकार है, जिसकी नौकरी का कोई भरोसा नहीं आदि···आदि···

निमिषा बहुत परेशान हो गयी थी। उसने एक नहीं, तीन-तीन पत्र लिखे थे। बात असल में यही थी कि उसके स्कूल के सेक्रेटरी चौधरी साहब एक लेक्चरर का जिक्र बड़े अत्युक्ति पूर्ण लहजे में करते थे। वह लाहौर विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाता था और रेनाला का रहने वाला था। उसके पिता ने वहाँ मकान बना रखा था। एक दिन बातों-बातों में चौधरी साहब ने निमिषा से कहा था कि उसके फ़्लैट में न बिजली है, न पंखा, वह चाहे तो उसे प्रो० ध्यान के मकान में दो कमरे मिल सकते हैं। जब उसने किराया पूछा तो चौधरी साहब ने कहा था—"कौन जाने वह मकान आपका ही हो जाय।" और उन्होंने प्रो० ध्यान का गुणगान शुरू कर दिया था।···

निमिषा वहाँ नहीं गयी थी। गर्मियों के बावजूद अपने उसी फ़्लैट में बनी रही थी। जब से गोविन्द रेनाला होकर गया था। चौधरी साहब को कुछ सन्देह हो गया था कि उन दोनों में कुछ है। एक-दो बार उन्होंने इशारों-इशारों में पूछा भी। वह साफ़ मुकर गयी थी। तब वे फिर प्रो० ध्यान पर आ गये थे और निमिषा को लगता था कि अगर गोविन्द ने निर्णय न लिया तो प्रो० ध्यान के लिए चौधरी साहब का ज़ोर बढ़ता जायगा। इस बीच बहाने से प्रो० ध्यान की बहन भी आकर निमिषा को देख और पसन्द कर गयी थी (वह भी उसे पसन्द थी) उसीसे निमिषा को मालूम हुआ था कि सत्ताइस वर्ष का हो जाने के बावजूद ध्यान ने अभी शादी नहीं की। निमिषा एक बार मिलकर देख ले, वे एक-दूसरे को पसन्द कर लें तब···निमिषा वे सब बातें ऐसे सुनती रही थी, जैसे उसे न सुनायी जा रही हों और व्यस्तता का बहाना कर उसने उससे मुक्ति पायी थी। लेकिन उसे भय था कि उन लोगों का ज़ोर बढ़ता जायगा। कौन जाने प्रो० ध्यान ने उसे देख लिया हो और पसन्द भी कर लिया हो···और वह चाहती थी, गोविन्द निर्णय ले ले तो उन लोगों से उसका पिण्ड छूटे।

तभी गोविन्द ने उसे लिखा था कि वह भावुकता-भरे पत्र न लिखे। ठोस सहारा दे तो वह कूद जाय। और निमिषा ने मान-सम्मान तजकर साफ़ शब्दों में अपनी सहमति प्रकट की थी और लिखा कि वह चाहेगा तो दुख में, सुख में वह हमेशा उसका साथ देगी।

उत्तर में उसे पिछली ही शाम गोविन्द को अर्जेण्ट पत्र मिला था कि उसने निर्णय ले लिया है। वह प्लंज करेगा और उसने निमिषा को लाहौर बुलाया था।···

उस पत्र की याद आते ही कुछ अजीब-सी खुशी निमिषा की नस-नस में फैल गयी। कुछ ऐसी शिथिलता जो तनाव के दूर होने पर शरीर में छा जाती है। पहली बार उसे महसूस हुआ कि एक ही पहलू डिब्बे की दीवार से टेक लगाये बैठे रहने के कारण उसकी पीठ दुखने लगी है। वह झटके से सीधी हो बैठी। उसने अटैची और टोकरी उठाकर सीट के नीचे रखी। गोल किये हुए नक्शे सामने कोने में टिका दिये और पर्स को सिर के नीचे रखकर लेट गयी।

कुछ क्षण वह अपने में मगन लेटी रही। उसे याद आया कि गोविन्द का वह पत्र उसने फ़ाइल में नहीं लगाया और साथ ही पर्स में ले आयी है। उसने सिर के नीचे से पर्स निकाला। उसमें से रूमाल में लपेटकर रखा हुआ गोविन्द का पत्र निकाला और फिर उसी तरह लेटकर वह उसे पढ़ने लगी :

प्रिय निमिषा,

तुम्हारा लम्बा-प्यारा पत्र मिला। तुम भाई, बहुत भावुक हो, लेकिन अजीब बात है कि उतनी ही शक्ति-सम्पन्न भी हो। मैं उतना भावुक नहीं, लेकिन कमज़ोर और ढुलमुल हूँ। बहरहाल, मैंने प्लंज[1] करने का फ़ैसला कर लिया है। मैं 28 को लाहौर जा रहा हूँ। छोटे भाई की शादी के सिलसिले में कुछ ज़रूरी बातचीत करने। भाई साहब 30 को लुधियाना जायेंगे, लेकिन मैं लाहौर में रहूंगा। देखो जैसे भी हो आ जाना —30 को ग्यारह बजे।

गोविन्द

निमिषा ने दो-तीन बार यह पत्र पढ़ा, फिर उसे चेहरे पर रखकर आँखें बन्द कर लीं और पूर्ववत् स्मृतियों में खो गयी···

वह इस पत्र को पाकर कितनी प्रसन्न हुई थी! उसे लगा था, जैसे एक भारी बोझ उसके सिर से उतर गया है। उसी वक्त उसने दो दिन की आकस्मिक छुट्टी की दरख़ास्त सेक्रेट्री को भेज दी थी। यह भी लिखा था कि उसे स्कूल के लिए कुछ ज़रूरी सामान भी खरीदना है और नक्शों की मरम्मत भी करानी है। अपने काम के साथ-साथ वह यह काम भी कर आयेगी। और स्कूल से चलने से पहले उसने मरम्मत-तलब नक्शे मँगा लिये थे। गोल करके मोटे तागे से बाँध लिये थे और घर आकर चलने की तैयारी शुरू कर दी थी। लाहौर से जो चीज़ें लानी थीं, सबसे पहले उसने उनकी सूची बनायी थी। फिर सुबह साथ जाने वाली चीज़ें सहेजकर एक तरफ़ रखी थीं। तब मुँह-हाथ धोकर उसने रात का खाना खाया

1. छलांग लगाना, गोता लगाना

था और इत्मीनान से गोविन्द के साथ अपने पत्र-व्यवहार की फ़ाइल लेकर बैठ गयी थी।

···यह अजीब बात है कि अपने पहले पत्रों में उसने गोविन्द को भाई कहकर सम्बोधित किया था और जब गोविन्द ने लिखा था कि सगे बहन-भाइयों के अलावा बहन-भाई के रिश्ते में वह विश्वास नहीं रखता तो निमिषा ने सोचा था कि वह न केवल उसे राखी और टिक्का भेजेगी, वरन् इस रिश्ते की पवित्रता भी उस पर उजागर कर देगी। लेकिन जब गोविन्द ने इस सिलसिले में दूसरा पत्र लिखा था कि वह मित्र होना ही पसन्द करेगा तो बिना एक बार भी इनकार किये वह मान गयी थी।

···तब क्या जब उसने गोविन्द को 'भाई' लिखा था, उसके मन में कोई खोट था? ···अपने मन को टटोलने पर उसे उत्तर 'नहीं' में मिला। जब उसने कनक से गोविन्द की पत्नी की मृत्यु और उसकी कला पर उसके प्रभाव की बात जानी थी और कवि सम्मेलन में उसको ग़ज़ल पढ़ते सुना था तो उसके प्रति एक अव्यक्त आकर्षण और ममत्व निमिषा के मन में जाग उठा था। माँ की बीमारी में निमिषा के पिता इतने टूट गये थे कि उसकी जुदाई का दुख सहने से पहले स्वयं चले गये थे। गोविन्द ने भी पत्नी की बीमारी झेली थी, वह टूट भी गया था। कहीं उस मेधावी कवि और कलाकार का अंजाम उसके पिता ऐसा न हो, इसी चिन्ता और भय से निमिषा आक्रान्त हो उठी थी। दूसरे ही पत्र में गोविन्द ने बता दिया था कि उसकी सगाई हो चुकी है तो कल्पना-ही-कल्पना में उसने अपनी होने वाली भाभी का चित्र गढ़ना शुरू कर दिया था और तय कर लिया था कि गोविन्द की शादी के बाद वह उन दोनों को रेनाला आमन्त्रित करेगी, उनकी खूब आव-भगत करेगी और गोविन्द को बतायेगी कि सम्वेदनशील बहन का स्नेह कैसा होता है। गोविन्द के उस पत्र के बाद भी, जिसमें उसने लिखा था कि वह मित्र के रूप में, उसे चाहता है, निमिषा के मन में मित्र का जो खाका था, वह भाई से कुछ भिन्न नहीं था। यह तो गोविन्द से पहली मुलाकात और उस मुलाकात के बाद उसका पत्र पाने पर हुआ कि उसके मन में उस कलाकार और कवि को साथी के रूप में पाने की एक अस्पष्ट-सी इच्छा सुगबुगा उठी।

हालाँकि रात उसने गोविन्द के पत्र पढ़ने, उसके साथ होने वाली मुलाकातों को पुन: जीने और भविष्य के सपने देखने में गुज़ार दी थी, लेकिन जब तड़के पाँच बजे माई ने चाय की ट्रे उसके सिरहाने रखते हुए उसे जगाया तो निमिषा ऐसे उठी थी जैसे पूरी नींद सोई हो।

जल्दी-जल्दी गर्म चाय तश्तरी में उँडेलकर (यद्यपि ऐसा करना उसकी सुरुचि को गवारा नहीं था) उसने दो प्याले पिये थे और निबट-नहाकर तैयार हो गयी थी। माई को सब कुछ समझा-बुझाकर, उसने सर्व-प्रथम सामान की सूची पर्स में रखी थी। नक्शो को उसने कोने से उठाकर अटैची और टोकरी के

साथ रखा था। गोविन्द के साथ अपने पत्र-व्यवहार की फ़ाइल को आलमारी में बन्द किया था। सिर्फ़ उसका अन्तिम पत्र, जो उसने फ़ाइल में नहीं रखा था, पर्स ही में रहने दिया था। कहीं दूर गाड़ी की बहुत ही मद्धिम गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी थी, जब उसने गर्म शाल उठाकर ओढ़ी थी, नक्शे उठाये थे, माई को अटैची और टोकरी सँभालने के लिए कहा था और धड़धड़ाती सीढ़ियाँ उतर गयी थी।

"माई जल्दी करो, गाड़ी मिस कर जायँगे!" वह बेसब्री से चिल्लायी थी।

लेकिन माई तो किसी गोविन्द से मिलने नहीं जा रही थी। बूढ़ी थी। अटैची और टोकरी उठाये सँभल-सँभलकर उतर रही थी।

"जल्दी करो माई!" निमिषा फिर चिल्लायी और जब माई नीचे आ गयी तो उसने मकान को ताला लगाया, चाबी माई को दी और स्टेशन की तरफ़ को उड़ चली।

चाबी को धोती के छोर से बाँध, अटैची और टोकरी उठा, माई उसके पीछे लपकी, लेकिन लाख कोशिश करने पर भी निमिषा का साथ देना उसके लिए कठिन था। वह उसके पीछे घिसटती हुई भागी जा रही थी।

सहसा गोविन्द से पहली मुलाकात को जाते समय गाड़ी मिस करने की बात निमिषा को याद हो आयी। उसके होंठों पर मुस्कान खेल गयी। इस बार उसे पूरा विश्वास था कि गाड़ी उसे लिये बिना नहीं जायगी। इन चन्द महीनों में ही उसने रेनाला की नोटीफ़ाइड एरिया कमेटी के प्रायमरी स्कूल को मिडिल तक स्वीकृत करा लिया था और कस्बे वालों को पूरा विश्वास था कि जब उनकी लड़कियाँ मिडिल तक पहुँचेंगी तो बड़ी बहन जी स्कूल को मैट्रिक तक मंज़ूर करा लेंगी। एक सावधानी उसने और भी बरती थी। जब वह स्कूल में नौकरी करने आयी थी तो कमेटी के सेक्रेट्री, श्री चौधरी ने उससे कहा था कि वे कमेटी के एक प्रतिष्ठित सदस्य के बँगले में उसे दो कमरे दिलवा देते हैं। तब उसने बड़ी शिष्टता से वह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था और अपना अलग फ़्लैट ले लिया था। फिर जब चौधरी साहब ने कहा था कि अगस्त-सितम्बर की गर्मी वह उनके यहाँ ही काट लिया करे तो निमिषा ने यह कहकर मना कर दिया था कि उसे लड़कपन से ही गर्मी में काम करने की आदत है, उसे ज़रा भी कष्ट नहीं होगा, वे फ़िक्र न करें। इसके अलावा वह कमेटी के अध्यक्ष या सेक्रेट्री या किसी सम्मानित सदस्य अथवा तहसीलदार—कभी किसी की पार्टी में शामिल न हुई थी। वह बहुत सादा लिबास पहनती थी और पाउडर से सुर्खी परहेज़ करती थी। कस्बे में उसकी कार्यकुशलता का ही नहीं, चरित्र की गरिमा का भी दबदबा था और माता-पिता अपनी लड़कियों को उसके स्कूल में दाखिल कराने लगे थे। तभी स्टेशन मास्टर ने भी अपनी दोनों लड़कियाँ उसके स्कूल में भरती करा दी थीं और अन्य लोगों की तरह उसके निकट भी निमिषा की स्थिति किसी

गज़ेटिड अफ़सर से कम न थी।

निमिषा का विश्वास झूठा नहीं था। वे अभी आधे रास्ते में ही थी कि स्टेशन का पानी वाला (उसी को बुलाने के लिए) भागता हुआ आता दिखायी दिया दूर ही से उसने 'बड़ी बहन जी' को एक नमस्ते फेंकी बढ़कर माई से अटैची और टोकरी थामी और तेज़-तेज़ बढ़ चला। निमिषा ने माई को वहीं से विदा कर दिया और बदस्तूर तेज़-तेज़ चलती गयी थी।

गाड़ी प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ी थी और स्टेशन मास्टर बगल में लाल-हरी झण्डियाँ दबाये, उसकी प्रतीक्षा की बेसब्री में छोटे-से मुसाफ़िरखाने के बाहर तक आ गया था।

दूर ही से निमिषा को 'बहन जी नमस्ते' करते हुए स्टेशन मास्टर ने पानी वाले को ज़रा जल्दी कदम बढ़ाने के लिए कहा और 'लाइए ये मुझे दे दीजिए' कहते हुए निमिषा को नक्शों के बोझ से आज़ाद करने के लिए हाथ बढ़ाया।

"नहीं-नहीं चलिए!" होंटों ही में कहते, सिर के हल्के इशारे से मना करते और बाँह दबाकर आगे निकलते हुए निमिषा बढ़ गयी थी। स्टेशन मास्टर और पानी वाला उसके पीछे-पीछे हो लिये थे। इण्टर के इसी ज़नाने डिब्बे में सहारे का आभास-सा देते हुए स्टेशन मास्टर ने निमिषा को सवार करा दिया था। फिर पानी वाले से पहले अटैची और फिर टोकरी लेकर उसे थमा दी थी।

"थैंक यू··· थैंक यू वेरी मच!" कहते हुए निमिषा ने दोनों चीज़ें ले ली थीं।

खीसे निपोरते, 'इट्स ऑल राइट बहन जी···इट्स ऑल राइट!' कहते और हाथ जोड़ते हुए स्टेशन मास्टर ने उसे नमस्ते की थी और बगल से हरी झण्डी निकालकर लहरा दी थी।···

"बीबी कुली चाहिए!"

अपनी स्मृतियों में खोयी निमिषा कब गहरी नींद सो गयी थी, उसे होश नहीं रहा। लाहौर आ गया था और बाहर प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ा एक कुली खिड़की का शीशा खटखटा रहा था।

चौंककर उठने से गोविन्द का पत्र डिब्बे के फ़र्श पर गिर गया। निमिषा ने उसे उठाया, चूमकर आँखों और माथे से लगाया, फिर तहाकर उसी तरह रूमाल में लपेट, पर्स में रख लिया। नक्शे उठाये और खिड़की खोलकर बाहर निकल गयी।

"बस, वह अटैची और टोकरी है, उठा लो!" कुली से उसने इतना ही कहा।

'बड़ी-बड़ी आँखें' से

यह मान लेने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं कि उन चार महीनों में देवनगर से मुझे बेहद प्यार हो गया था। वहाँ वाणी थी और उसकी मुग्ध-चकित आँखों में मेरे लिए अपार स्नेह और सहानुभूति थी, या वहाँ देवा जी थे, जो मेरे सन्तप्त मन को शान्ति प्रदान करते थे; या फिर देवनगर-वासियों में वैसी सहृदयता, स्नेह और प्यार था, जैसा कहीं देखने में नहीं आता—नहीं, इनमें से कोई बात न थी। वाणी के उस स्नेह और सहानुभूति ने मेरी उस स्थायी शान्ति को, जो देवनगर के उन पहले दिनों में मुझे प्राप्त हुई थी, एक अजीब-सी बेचैनी में बदल दिया था। देवा जी के लेखों की बड़ी-बड़ी बातें भी मेरे मन के सागर पर तैरती हुई वृन्तहीन कमलिनियों-सी बहने लगती थीं। और देवनगर के वासी ! जैसे-जैसे मैं उन्हें जानता गया, मुझे लगता गया कि ऊपर से नज़र आने वाली मुस्कानों और प्रकट सुनायी देने वाले प्रेम और परस्पर प्रोत्साहन के दावों के नीचे वही ईर्ष्या-द्वेष का विष छिपा हुआ है। लेकिन देवनगर के आस-पास की सुन्दरता; उन देहाती सुबहों और शामों का वह सोने, गुलाब और केसर से धुला हुआ लावण्य; नदी-तट का वह एकान्त; करील की उन ठिगनी, भरी-पुरी झाड़ियों के फूलों की वह जलते अंगारों की-सी लाली—सब मेरे मन को कुछ इस तरह बाँधे था कि जब दिमाग़ कहता, 'मैंने देवनगर आकर ग़लती की' तो मन वहाँ से जाने के विचार-मात्र से उदास हो जाता।

देवनगर में मेरा रह पाना कठिन है, यह विचार अचानक उस दोपहर को पहले-पहल मेरे मन में कौंधा, जब वाणी रेडियो सुनाने के बहाने मुझे अपने घर ले गयी थी—उसकी माँ ने 'माँजी' कहने पर मुझे डाँट दिया था और वाणी ने सहगल के गाने फिर से लगाने के लिए अपने पिता से अनुरोध किया था तो अपनी लड़की के उस तरह ज़ोर देने पर देवा जी ने यद्यपि रेडियो का स्विच घुमा दिया था, पर मेरी ओर देखते हुए उनके माथे पर चिड़चिड़ाहट-भरे तेवर बन गये थे—और देवनगर के उस खुलेपन के ऊपर पड़ने वाले दबाव और उस प्रकट विशालता के अन्तर में छिपी संकीर्णता की एक झलक मुझे मिल गयी थी।

देवा जी के यहाँ मैं फिर न गया था। यह ठीक है कि वाणी डाइनिंग हॉल

में ज़रूर उसी मेज़ पर बैठती—उसी कुर्सी पर, जहाँ से वह मेरी ओर देख सके और कोशिश करती कि मेरे उठते ही उठे, पर मैंने उस दिन जैसा अवसर फिर न आने दिया था। शाम को कोठियों के सामने की सड़क पर टहलना छोड़कर मैं नदी-तट पर जाने लगा था और सच्ची बात तो यह है कि नदी-तट की वे अकेली सैरें देवनगर की सुखद-तम स्मृतियों में से हैं।

पित्तो की मौत के बाद शहर की भीड़-भाड़ में मेरा दम घुटने लगा था। असल में पित्तो के जिन्दा रहते मुझे नगर के उस शोर-शराबे और भीड़-भब्भड़ का कभी एहसास न हुआ था। उस सारे शोर के ऊपर जैसे पित्तो की प्यारी-प्यारी बातें मेरे कानों में गूँजती रहती थीं और वह सारी भीड़ पित्तो की सूरत के आगे एकदम लुप्त हो जाती थी। दफ़्तर में काम करते, मित्र-शत्रुओं, अफ़सरों या चपरासियों से बातें करते हुए भी आँखें उसको देखती रहती थीं। दो-चार बच्चे हो जाते तो सम्भव है कि नोन, तेल, लकड़ी और कपड़े की यथार्थता विवाह के उन शुरू के वर्षों की व्यामोहावस्था को भंग कर देती, लेकिन तीन वर्षों के उन, तीन पल बन कर बीत जाने वाले, दिनों के साहचर्य के बाद जब वह मीठी आवाज़ और वह मनमोहक सूरत मौत के हाथों क्षीण और विकृत हो कर चली गयी तो लगा जैसे शहर का शोर मेरे कानों के पर्दे फाड़ रहा है और भीड़ मेरा गला घोंटे दे रही है। देवनगर के उन वीरानों का वह मौन मुझे इतना अच्छा लगता कि कभी-कभी जी चाहता उसी में विलीन हो जाऊँ, घुल जाऊँ, शरीर को छोड़कर उसके कण-कण में समा जाऊँ।

कभी नहर भरी होती। पुल के पास पानी कयामत का शोर करता। पर मील भर आगे वह ऐसे बहता कि बहता दिखायी न देता। मैं पैर नीचे पसार कर उसके किनारे बैठ जाता। पेड़ों के साये लहरों के बहाव पर तिरते हुए काँपते और मैं मुग्ध-सा देखता। तभी पश्चिम का सूरज आकाश के बादलों को गुलाबी कर देता और वह रंग लहरों पर प्रतिबिम्बित होकर चमक उठता।

कभी नहर का पानी बन्द होता। रेतीला तल साँझ के अंधेरे में चमकता तो मैं नीचे उतर जाता। ठण्डी रेत पर भागता चला जाता। कभी किनारे पर बैठे-बैठे गाने लगता अथवा भेड़-बकरियों के रेवड़ को इस पार से उस पार जाते हुए देखता। अगली भेड़ें जिधर को जातीं, शेष सब भी उन्हीं के पीछे उधर ही को चल पड़तीं और कभी अगली भेड़ों को ग़लत रास्ते पर चलते देख कर गड़रिये कान पकड़-पकड़ कर उन्हें ठीक मार्ग पर चलाते। डण्डे से पीट देते तो वे 'बा···बा' करती हुई भागतीं।

लेकिन कुछ दिन बाद मुझे नहर की सैर छोड़नी पड़ी और वे रंगीन, अकेली उदास-उदास शामें अपनी ख़ूबसूरती के साथ केवल मेरी स्मृति की संगिनी बन कर रह गयीं।

शाम का वक्त था। नहर पर पहुँचा तो पश्चिम में सूरज डूब रहा था। सर्दी सरे-शाम ही उतर आयी थी और मैं ओवरकोट पहने था। तभी पश्चिम की ओर आँखें उठाते ही दिल की धड़कन जैसे थम गयी। कितना अकथ, कितना सुन्दर दृश्य था। दूर, बहुत दूर, खजूर के एकाकी पेड़ के पीछे, जो उस निर्जन के सूनेपन को चुनौती देता हुआ-सा खड़ा था, सूरज डूब रहा था। बड़ा-बड़ा और पीला-पीला—पेड़ का ऊपर का सिरा ऐसे लग रहा था, जैसे उस पीली कुन्दनी थाली पर अंकित हो। नहर के पानियों पर सूरज का बिम्ब, ऊपर आकाश के हल्के श्वेत बादलों पर उसका रंग, उस रंग से रंजित दूर तक फैली नहर की पटरी और अकेला मैं।···कुछ दूर चल कर मैं बैठ गया और अचानक गाने लगा। वही अपना चिर-परिचित गीत—'दन्द मोतियाँ दे दाने' नहीं, सहगल के मधुमय स्वर में सुना वह कृष्ण के प्रेम में पागल गोपी का गीत, जो ज़रूर ही अल्हड़ रही होगी, छोटी उम्र की होगी। गीत विरह का था। पर जाने क्यों मुझे करुण नहीं लगा। मन की उमंग में जैसे उस प्राकृतिक सौन्दर्य और सुनसान को भरता हुआ मैं गा उठा :

सुनो-सुनो रे कृषण काला।
सुनो-सुनो रे कृषण काला॥

तभी कहीं निकट ठहाके की आवाज़ आयी—सूने में सहसा बज उठने वाली घण्टियों-सरीखी, युवा लड़कियों के ठहाके की आवाज़। मैं चौंक उठा। पटरी पर वाणी, श्यामा और मधु न जाने किस बात पर हँसती-हँसती दोहरी होती जा रही थीं, साथ उनके अठारह-बीस वर्ष का एक युवक था।

उन्हें गुज़रने के लिए राह देने को मैं एक ओर हट गया। पर चारों की टोली मेरे पास आकर रुक गयी।

"दिलजीत, ये हैं संगीत जी, बड़ा ही अच्छा गाते हैं।" अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को फैलाते और शब्दों के साथ झूमते हुए, वाणी ने अपने साथी युवक को मेरा परिचय दिया और फिर मुझसे बोली, "यह है दिलजीत, मेरा वीर (भाई) गवर्नमेंट कॉलेज में पढ़ता है, छुट्टियों में आया है।"

क्षण-भर मैं वाणी की एकदम फैल जाने वाली उन बड़ी-बड़ी आँखों को और 'बड़ा ही अच्छा गाते हैं' कहते हुए दोनों ओर झूल जाने को देखता रहा। कहना चाहता था—दिलजीत तो तुम्हारा नाम होना चाहिए था, 'वाणी'···यह भी कोई नाम है ?—लेकिन, मैंने कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ मुस्कुरा कर हाथ बढ़ा दिया।

"आप तो आगे जा रहे होंगे," हाथ मिलाते, मुस्कुराते और कन्नी काट कर निकलने को पैर बढ़ाते हुए मैंने कहा।

"हम भी मुड़ रहे हैं," स्वयं मुड़ते और मधु और श्यामा को साथ ही मोड़ते हुए वाणी बोली।

कुछ क्षण हम चुपचाप चलते रहे। तभी सामने तीरथराम आता दिखायी

दिया !

"आओ भाई तीरथराम," पास आने पर मैंने उससे कहा ।

"नहीं, आप लोग चलिए । मैं अभी आगे जाऊँगा ।"

हम चले । तभी सहसा दिलजीत ने वाणी से कहा, "संगीत जी से गाना ही सुनवाओ ?"

वाणी क्या उत्तर देती ? उसने मेरी ओर देखा । उसकी आँखें फैल गयीं और चेहरा उदास हो गया । वे आँखें जैसे कह रही थीं—मैं जानती हूँ, आपको दुख होगा, मैं कैसे अनुरोध करूँ, पर मेरा वीर कह रहा है । काश आप गा सकते !

और मैं गाने लगा…

लेकिन दूसरे दिन से मैंने नहर पर जाना छोड़ दिया । सर्दियों की शाम समय से पहले उतर आती । दिन-भर काम करता । शाम को जी कमरे में बैठने को न होता । सड़क पर घूमना पहले छोड़ चुका था, अब नहर पर जाना भी छोड़ दिया तो सवाल सामने आया कि आखिर शाम को कहाँ जायें ? तब मैंने शाम को नन्दलाल के यहाँ जाना शुरू कर दिया । सारे घरों में नन्दलाल के यहाँ जाना मुझे क्यों पसन्द आया ? शायद इसलिए कि वही एक घर था, जिसमें मुझे सचमुच खुला व्यवहार मिला । सावित्री ने जो एक बार मुझे 'आओ भरा जी'[1] कहा तो फिर सदा बहनों—वह भी बड़ी बहनों—का-सा व्यवहार दिया । शाम को जब मैं वहाँ जाता तो वह सदा स्टोव जला कर चाय बना देती । यदि मुझे चाय के समय पहुँचने में देर हो जाती तो वह नन्दलाल को मुझे बुलाने भेज देती । समय काटने और कुछ उस कृतज्ञता के बोझ को हल्का करने के विचार से मैं उसे अंग्रेज़ी पढ़ाने लगा था । भरा-पूरा परिवार । किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं । तपते रेगिस्तान में अचानक हरियाली और पानी देख कर उस ठण्डक में शरीर को ढीला छोड़ देने में जो सुख मिलता है, वही मुझे उस परिवार में मिलता । देवनगर के रेगिस्तान में नन्दलाल का घर मेरा शाद्वल बन गया ।

लेकिन मुझे और सावित्री को, और यों मुझे और नन्दलाल को, निकट लाने वाली एक दूसरी चीज़ थी—देवनगर की माता जी (देवा जी की पत्नी) के प्रति गहरी नफ़रत ! सावित्री, उसका पति और मैं, वाणी की माँ को नज़रों में कोई ऊँचा दर्जा न रखते थे । अपने प्रति उनकी भावना का पता मुझे सिर्फ़ उसी दिन न चला था, बल्कि बाद में मुझे देखते ही उनके माथे पर जो तेवर पड़ जाते थे, उन्होंने भी मेरे उस सन्देह को विश्वास में बदल दिया था । सावित्री की बातों से भी पता चल गया था कि उन्हें भी माता जी कुछ उतना अच्छा नहीं समझतीं ।

---

1. आइए भाई साहब !

माता जी अरोड़ा वंश से सम्बन्ध रखती थीं। एक मध्य-वर्गीय व्यापारी की वे लड़की थीं। देवा जी रुड़की पास कर जब इंजीनियर हुए तो उनके मकान का एक हिस्सा किराये पर लेकर रहने लगे थे। वहीं उनमें प्यार हो गया। यद्यपि देवा जी को बड़े-बड़े घरों के रिश्ते आते थे और वे व्यापारी महोदय अपनी लड़की का विवाह एक सिक्ख युवक से करने को कदापि तैयार न थे तो भी देवा जी ने सब बाधाओं को पार कर, उनसे विवाह कर लिया था। सावित्री का कहना था कि माता जी ही के प्रभाव से देवा जी ने दाढ़ी और बाल कटवा दिये थे और माता जी ही के कारण उन्होंने लड़कियों के नाम वाणी और मधु रखे थे। "देवा जी जब कभी दिलजीत के साथ अकेले होते हैं, तो प्यार से उसे दिलजीत सिंह कहते हैं," सावित्री ने एक दिन बताया, "माता जी उसे सदैव दिलजीत कुमार कह कर पुकारती हैं।" ···हालाँकि यह बात उसे अच्छी लगनी चाहिए थी, पर लगता था सावित्री को इस बात का दुख है कि देवा जी ने बाल क्यों कटवाये या क्यों उन्होंने लड़के-लड़कियों के नाम हिन्दुआना रखे। जैसे देवा जी पर उनकी पत्नी के आधिपत्य से उसे चिढ़ थी।

"देवा जी तो बड़े भले आदमी हैं—बड़े-बड़े आदर्शों के सपने लेने वाले, लेकिन यह माता जी उन्हें सदा उसी कीचड़ में ला घसीटती हैं, जहाँ से वे उठ कर उड़ना चाहते हैं।" एक दिन सावित्री ने मुझसे कहा, "देवा जी ने देवनगर बसाया कि वे दुनिया के सामने एक ऐसा आदर्श नगर प्रस्तुत कर सकें, जहाँ इन्सान-इन्सान में अन्तर न हो। न छूत-छात हो, न घृणा-द्वेष हो, न रू-रियायत, न खुशामद और न चापलूसी हो! लोग खुले और स्वच्छ वातावरण में ऊँचे आदर्शों के लिए काम करें। अगर देवा जी की चलती तो शायद सचमुच ऐसा नगर बस जाता। लेकिन यहाँ चलती तो माता जी की है और उन्हें जो सुबह उठ कर 'नमस्ते' न करे, दिन में दो-एक बार जाकर उनके दरबार में हाज़िरी न दे, वे उसकी दुश्मन बन जाती हैं।"

उसने यह भी बताया कि आठ-सैनिक इसी कारण त्यागपत्र दे कर जा चुके हैं। उनकी जगह देवा जी ने इन्हीं माता जी के कहने पर अपने रिश्तेदार भर लिये हैं। देवनगर, 'देववाणी' के ग्राहकों और 'देवमण्डल' के मेम्बरों के धन से बना है, पर माता जी अपने-आपको इसकी एकछत्र सम्राज्ञी समझती हैं। "इस समय भी हम, मधवार साहब और कुलवीर सिंह उनकी आँख में खटकते हैं," सावित्री बोली, "हम में से किसी को भी न लल्लो-पत्तो आती है, न खुशामद सुहाती है। यहाँ वही रह सकता है, जो इन सब में दक्ष हो। सो वे हमसे नाराज़ हैं और वह जन्म-जन्म का भूखा तीरथराम सारा दिन वहीं चिमटा रहता है। इतना बड़ा स्कैण्डल हो गया लेकिन···"

"स्कैण्डल?" मैंने हैरानी से पूछा।

"हाँ, आपके आने के कुछ ही दिन पहले यहाँ देवनगर का वार्षिक सम्मेलन हुआ था। उसमें देवा जी का लिखा नाटक 'राजकुमारी वीरा' खेला गया।

तीरथराम राजा बना था और वाणी राजकुमारी। उस नाटक के बाद ही वाणी और तीरथराम को लेकर कई तरह की बातें होने लगीं। अच्छा-खासा स्कैण्डल हो गया। सबने बड़ा बुरा माना। उसे सेना से निकालने का प्रस्ताव भी रखा गया। लेकिन वह जाकर माताजी के चरणों पर गिर पड़ा कि वाणी तो मेरी लड़की-जैसी है। मैंने बच्ची समझ उसे गोद में ले लिया था। और माताजी के कहने से देवाजी ने वह प्रस्ताव नहीं पास होने दिया!"

कुछ क्षण हम दोनों चुप बैठे रहे। फिर सावित्री बोली—"और तभी से तीरथराम किसी दूसरे घर में ज़्यादा आता-जाता नहीं। न जाने उसकी आँखों में कैसा नदीदापन है, कोई उसे पसन्द नहीं करता। बस माताजी की ख़ुशामद में लगा रहता है या भूत-प्रेतों की तरह यहाँ की सड़कों पर घूमता रहता है।"

लेकिन तीरथराम वहाँ अपनी निन्दा की धार कुन्द करने के लिए ही न बना रहता था। उसका उद्देश्य माताजी और देवाजी को मेरे विरुद्ध भड़का कर वाणी के हितचिन्तक के रूप में अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा भी पाना था।

मुझे मधवार साहब से इस बात का पता चला। नन्दलाल से मैंने कुलवीर सिंह और मधवार साहब की इतनी प्रशंसा सुनी थी कि देवाजी, माताजी और कुछ दूसरे देव-सैनिकों की उपेक्षा मोल लेते हुए भी मैं मधवार साहब के यहाँ आने-जाने लगा था। नन्दलाल के घर आते-जाते मैं जान गया था कि देव-सैनिकों में, जो ऊपर से सेना के सिपाहियों की तरह एक-जैसे लगते हैं, वास्तव में धीरे-धीरे एक खाई बन रही है। दो पार्टियाँ हो गयी हैं। एक का बहुमत है और दूसरी का अल्पमत। बहुमत में देवाजी और उनके चापलूस शामिल हैं, जो देव-सेना के सिद्धान्तों का नहीं, देवाजी अथवा देवीजी की (नन्दलाल मज़ाक से माताजी को देवीजी कहा करता था) इच्छाओं का ध्यान रखते हैं। अल्पमत में वे सैनिक हैं, जो देवमण्डल के सिद्धान्तों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और मधवार साहब इस अल्पमत के नेता हैं।

एक दिन मैं उनसे मिलने गया तो वे फट पड़े, "बड़े-बड़े इरादे और उम्मीदें लेकर हम देवमण्डल के मेम्बर बने थे, धन-मान का लालच हमें नहीं था। हम तीनों अच्छी नौकरियों पर लगे थे। लेकिन कम-से-कम अपनी निजी ज़रूरतों से एकदम निश्चिन्त होकर ऊँचे आदर्शों के लिए जीवन को लगा देना और ऐसे वायुमण्डल में साँस लेना, जहाँ सहृदय साथियों की संगति हमारे दिलों को कुशादा और व्यक्तित्व को मज़बूत बनाये—इसी आदर्श ने हमें खींचा था। लेकिन यहाँ साल भर गुज़ारने के बाद लगता है कि इस नगर का बाहर चाहे सुन्दर सही, पर इसकी आत्मा वैसी ही तंग, सीली और गन्दी है।"

"आत्मा की बात तो मैं नहीं कहता, मेरा यहाँ के वासियों से कुछ वैसा घनिष्ठ परिचय भी नहीं, पर इसका बाहर तो बड़ा सुन्दर और स्वच्छ है।"

"तभी तो पड़े हैं," वे बोले थे, "नहीं तो कभी के चले जाते। देववाणी में

लेख पढ़ कर हम समझते थे कि देवा जी बड़े पैमाने पर सैनिक चाहते हैं, जो देश ही नहीं, संसार भर में चरित्र-निर्माण का आदर्श रखेंगे; मानव-मानव को समझने में सहायता देंगे; दिमाग़ों का कूड़ा-कचरा हटा कर, उसमें नयी रोशनी का प्रकाश भर देंगे; लेकिन देखता हूँ, ऐसा कुछ नहीं होगा। हो सकता है, इस वीराने में हम एक बड़ा नगर बसाने में सफल हो जायें, जहाँ नयी दिल्ली के ऐश-आराम मयस्सर हों, लेकिन वे आदर्श, जिन्हें सामने रखकर यह नगर बसाना शुरू किया गया था, शायद इसकी नींवों में ही दफ़न हो जायेंगे !"

मधवार साहब लम्बे-ऊँचे आदमी थे। पेंतालीस-पचास वर्ष की उम्र, गोरे चिट्टे, लेकिन सुन्दर उन्हें नहीं कहा जा सकता। उनका माथा बहुत छोटा था। सिर के बाल यद्यपि वे पीछे को सँवारते थे, तो भी तीन-चार अंगुल से अधिक माथा न निकलता था। तीखी नाक, उभरे कल्ले, लम्बा कद और घुँघराले, पीछे को बने हुए, खिचड़ी बाल। तन पर कमीज़ के साथ धोती। उनके चेहरे पर कुछ संन्यासियों की-सी रुखाई थी। उनके पिता के पास काल-टैक्स की एजेन्सी थी। उन्होंने कमाया भी बहुत था। बड़े भाई के साथ वे भी काम देखें, ऐसी उनके पिता की इच्छा थी; पर मधवार साहब 1921 के आन्दोलन में जो एक बार जेल गये तो सत्य की खोज करते हुए कई आश्रमों से होकर देवनगर आ पहुँचे। देवसेना के हिसाब-किताब की देख-रेख उनके ज़िम्मे थी, जिसमें कुलवीर सिंह उनका हाथ बँटाता था। ज़िन्दगी की अनगिनत ठोकरें और एक के बाद दूसरी नौकरी करने के बावजूद अब भी उनके अन्तर की आग वैसी ही जल रही थी। वे अब भी वैसे ही आदर्शवादी, आशावादी और उत्साही थे—कहीं समझौता नहीं, कहीं असत्य नहीं, सुख-दुख से लापरवाह होकर वे जो मार्ग चुनते, उस पर बढ़े जाते। लेकिन कोरे आदर्श, कवि की कल्पना में हों तो हों, दुनियादारी की कल्पना में नहीं होते। फूल तक पहुँचने के लिए काँटों से हाथ नहीं बचाये जा सकते। काँटों से हाथ छलनी हो जायें, इसकी परवाह मधवार साहब को न थी, पर जहाँ फूल की इच्छा ही धुँधली हुई, अथवा आदर्श के रंग में रँगे फूलों की जगह काग़ज़ी फूलों से गुलदान सजाने का आदर्श बना, उन्होंने संस्था छोड़ दी। वे आदर्श पुष्प की खोज में एक के बाद दूसरी संस्था को छोड़ते चले आये थे।

मधवार साहब से मिलने के बाद उनके प्रति ऐसी ही धारणा मेरे मन में बनी। "अच्छे सैनिकों को, कार्यकर्ताओं को ये नहीं चाहते," मधवार साहब ने कहा था, "अपनी ही बात लीजिए। आप आये थे तो स्वयं देवा जी ने आपके काम और स्वभाव की प्रशसा की थी, पर अभी जनरल मीटिंग में आपके विरुद्ध प्रस्ताव आया है।"

"मेरे !"

"हाँ, तीरथराम और हरमोहन ने रखा है।"

"मेरे विरुद्ध क्या शिकायत है ?"

"यही कि आप देवमण्डल की आज़ाद फ़िज़ा के योग्य नहीं, अपने में बन्द

रहते हैं, देवमण्डल की सरगर्मियों में भाग नहीं लेते।"

"फिर क्या तय हुआ ?"

"देवा जी ने उस प्रस्ताव को फिर कभी विचार करने के लिए स्थगित कर दिया। स्थगित तो कर दिया, लेकिन लगता है कि आपसे वे प्रसन्न नहीं। शायद आपने उनके यहाँ कम हाज़िरी दी है या आपसे उनकी पत्नी नाखुश हैं। देखिए, यदि आपको यहाँ रहना है तो आपको माता जी, हरमोहन सिंह, तीरथराम, सुदर्शन सिंह आदि से बनाकर रखनी चाहिए। नन्दलाल या हमसे वे ऐसे खुश नहीं।"

मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा था। तीरथराम क्यों नाराज़ है, यह मैं अब जान गया था, लेकिन उसकी शिकायत को दूर कर देना मेरे वश की बात न थी। रहीं माताजी, जाने क्यों उन्हें नमस्कार करना भी मुझे अरुचिकर लगता था। उस नारी का अहम् मुझे बड़ा छोटा, बड़ा थोथा लगता था। नौकरों के क्वार्टरों में एक दिन मैं प्रेस के फ़ोरमैन-मैनेजर सन्तोख सिंह के पास बैठा था कि माता जी की बात चल पड़ी।

"माता जी को तो थापा ने ठीक उत्तर दिया था," सन्तोख सिंह ने कहा।

"थापा ने, थापा कौन ?"

"रामा थापा।"

"चौकीदार ?"

"हाँ-हाँ ! माता जी यहाँ के सब देव-सैनिकों और मुलाज़िमों को अपना व्यक्तिगत नौकर समझती हैं," सन्तोख सिंह ने कहा, "और आशा करती हैं कि जब भी वे उनके सामने पड़ें, उन्हें 'नमस्कार' करें—एक बार नहीं, जितनी भी बार मिलें। चाहते देवा जी भी यही हैं, पर उनका ढंग दूसरा है। यदि कोई सैनिक या नौकर उन्हें 'नमस्कार' न करे तो वे सदा उसे 'नमस्कार' करते हैं, बार-बार उसे 'नमस्कार' करते हैं, यहाँ तक कि वह उन्हें देखते ही हाथ जोड़ देता है। लेकिन माता जी को यदि कोई 'नमस्कार' न करे तो उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं। सैनिकों अथवा बड़े नौकरों से तो वे कुछ भी नहीं कहतीं, पर छोटों को डाँट देती हैं। रामा थापा को एक दिन उन्होंने डाँट दिया कि तू अपने आपको नवाब समझता है, सलाम नहीं करता। 'हम काम का नौकर है, सलाम का नहीं।' थापा पटाख से बोला और तबसे माता जी चुप रहती हैं, पर जो उन्हें 'नमस्कार' नहीं करता, उसके विरुद्ध हो जाती हैं। उन्होंने रामा थापा को निकालने की बड़ी कोशिश की। कई बार आधी-आधी रात को जासूस छोड़े कि देखें कि सोता तो नहीं, पर वह सैनिक नियन्त्रण में पला आदमी—सदा मुस्तैद रहा। एक बार महीने की छुट्टी पर गया तो उन्होंने एक सिक्ख जवान को रखा। उसी महीने दो चोरियाँ हो गयीं। थापा अब भी कभी माता जी को 'नमस्कार' नहीं करता, लेकिन जब तक उसकी रगों में जान है और हाथ में बन्दूक, वह यहीं

रहेगा।"

रामा थापा की इस बात का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उस दिन से मैंने माता जी को 'नमस्कार' करना छोड़ दिया। वे देवा जी के साथ होतीं तो मैं दोनों को एक साथ 'नमस्कार' कर देता, पर यदि वे अकेली सामने पड़ जातीं तो बिना उधर देखे, आँखें झुकाये अथवा दूसरी ओर लगाये गुज़र जाता। रहा हरमोहन सिंह, सो उधर तीरथराम उसके साथ हर वक्त चिपका रहता था। हरमोहन के सच्चे ठहाके (क्योंकि प्रायः वह तीरथराम से मज़ाक किया करता) और तीरथराम के खोखले अट्टहास (क्योंकि वह हरमोहन को प्रसन्न करने के लिए हँसता) भी यदा-कदा सुनायी दे जाते। और मुझे हरमोहन से मिलने और उस मुलाकात को सन्निकटता से बदलने में बड़ा संकोच होता।

हरमोहन सिंह खासा सुन्दर व्यक्ति था। मँझला कद, गोरा रंग, दहकते हुए गाल और स्वस्थ शरीर! पर वह लगभग अनपढ़ था। सदा भोंडे मज़ाक करता था और चूँकि दूर के रिश्ते में वह देवा जी का भतीजा लगता था और डेयरी उसके अधीन थी, इसलिए उसकी स्थिति इस साम्राज्य के सूबेदार से कम न थी। वैसा ही उसका दिमाग़ था। रही उसकी सरदारनी, सो जितना हरमोहन सुन्दर था उतनी ही वह कुरूपा थी। कद में हरमोहन से एक-डेढ़ बित्ता लम्बी, उतनी ही मोटी, बड़े-बड़े बाहर को निकले दाँत और चुँधी आँखें। दिन के किसी समय भी देखो, लगता जैसे अभी सो कर उठी है। एक-दो बार मैं गया भी, पर समझ ही न आयी कि उन देवी जी से क्या बात की जाय? सो हरमोहन से भी रास्ता बढ़ाना कठिन था। मधवार साहब की बात तो मेरे दिमाग़ में गूँज रही थी, सो मैंने तय किया कि यदि ये लोग नहीं चाहते तो मैं यहाँ क्यों रहूँ? क्यों न मैं वापस शहर चला जाऊँ। अव्वल तो इस वातावरण से शहर का वातावरण बुरा नहीं, फिर यदि वहाँ मन न लगा तो गाँधी आश्रम चला जाऊँगा। रुपये की तो उतनी चिन्ता नहीं, यह काम न रहा तो कोई दूसरा कर लूँगा।

पर जब मैंने तय किया और मैं देवा जी से मिलने चला तो हठात मेरा मन उदास हो गया। देवनगर के उन वीरानों का शान्त सौन्दर्य सहसा मुझे चारों ओर से बाँधने लगा। बरसात के बाद की रंगीन शामें और सुबहें, चाँदनी रातों का जादू और अँधेरी रातों का सन्नाटा और फिर शिशिर के धुँधियाले आकाश पर सूरज की पीली-पीली धूप और ओस से भीगी सुबह-शाम की पगडण्डियाँ—उन्हें छोड़ कर फिर उसी भीड़-भब्भड़ में जाने को जी न होता था। लेकिन मैं जानता था कि यदि मैं अपमान सहता हुआ यहाँ रहूँगा तो यह सब सौन्दर्य मुझे काट खाने को आयेगा और मेरी रातों की नींदें हराम हो जायेंगी···और मैं देवा जी से मिलने के लिए चल पड़ा।

देवा जी उस समय गुम्बद में बैठे थे। गुम्बद के दरवाज़े पर पर्दा पड़ा था। नीचे

फ़र्श पर टाट, उस पर दरी, उस पर ग़लीचा और उस पर काउच ! मैंने पर्दा ज़रा-सा हटा कर देखा । देवा जी अपनी कुर्सी पर सीधे बैठे लिखने में व्यस्त थे । मधवार साहब ने मुझे उनके लेखों के प्यारे-प्यारे मानववाद के स्रोत का भी पता बता दिया था । वे प्राय: 'रीडर्स डाइजेस्ट' से लेख अनुवाद कर 'देववाणी' में देते थे । 'डेल कार्नेगी' भी उन्हें पसन्द था, जिसने मित्रों, पड़ोसियों तथा समाज को जीतने की मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ बतायी हैं ।

पर्दा छोड़कर मैं क्षण-भर वहीं रुका रहा । देवा जी के ड्राइंग-रूम अथवा ऑफ़िस में जाने में मुझे बड़ा संकोच होता था । माता जी को सफ़ाई की सनक थी, घर के काम में हाथ बटाने को नौकर था । वे दिन का अधिक भाग कमरों, दरवाज़ों, कपड़ों, ब्रशों—इस या उस चीज़ की सफ़ाई में लगी रहती थीं । देवा जी के ऑफ़िस की सफ़ाई तो वे दो बार स्वयं अपने हाथों से करती थीं । दरी पर यदि कोई जूता ले जाता था तो उनके माथे पर बल पड़ जाते थे । एक बार देवा जी से पत्थरचट्टी के नम्बरदार मिलने आये थे । उन्होंने जूते बाहर उतार दिये थे, तो भी उनके पाँवों के निशान दरी पर बन गये थे । इस बात को लेकर माता जी महीनों उनका मजाक उड़ाती रहीं । कुछ इन्हीं कारणों से मुझे वहाँ बैठने में बड़ी उलझन होती थी ।

आखिर आगे बढ़कर मैंने पर्दा उठाया और जूते उतारते हुए अन्दर आने की आज्ञा चाही ।

देवा जी ने मेरी ओर देखा । शायद वे अत्यधिक व्यस्त थे । उनके माथे पर हल्की-सी रेखाएँ बन गयीं । पर मैं जूते उतार कर अन्दर बढ़ गया था । मेरे चेहरे पर अवश्य ही अन्तर के क्रोध और निश्चय की झलक होगी । उनके माथे से तेवर मिट गये और एक बड़ी ही प्यारी मुस्कान उनके होंटों पर फैल गयी ।

"आइए, कैसे आये ?"

क्षण भर मैं चुप खड़ा रहा । भाव कुछ ऐसे ज़ोर मार रहे थे कि अपने क्रोध या क्षोभ को व्यक्त कर पाना कठिन हो रहा था ।

"बैठिए, बैठिए ।"

मैं बैठ गया ।

"कहिए, कैसे आये ?"

"मेरे विरुद्ध कोई प्रस्ताव मीटिंग में पास हुआ है," मैंने जैसे बम फेंका ।

देवा जी चुप रहे और मेरी ओर देखते रहे ।

"मुझे अभी पता चला है कि देव-सैनिक मुझे पसन्द नहीं करते," मैं कह चला, "और मेरी उपस्थिति यहाँ अच्छी नहीं समझी जाती ।"

मैं क्षण भर को रुका । देवा जी फिर भी चुप रहे।

"मैंने आपसे पहले ही दिन कारण बता दिया था कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ । निरंजन सिंह जी ने आपकी बड़ी प्रशंसा की थी और मैं शान्ति चाहता था । काम में मैं सुस्ती नहीं करता, आपने जो काम दिया, उसे जल्द-से-जल्द और

अच्छे-से-अच्छे ढंग पर निबटाने की मैंने पूरी कोशिश की है। बाकी यह कि मैं अपने में रहता हूँ, अहम्‌वादी हूँ, या दुष्चरित्र हूँ, ये सब अभियोग ग़लत हैं। तो भी मैं आपको किसी धर्म-संकट में नहीं डालना चाहता। आप यदि मुझसे सन्तुष्ट नहीं तो मैं कल ही चला जाऊँगा।"

एक और भी प्यारी मुस्कान देवा जी के होंटों पर फैल गयी।

"हाँ, एक रेज़ोल्यूशन कमेटी के सामने आया है," वे बोले, "लेकिन रेज़ोल्यूशन आने ही से तो पास नहीं हो जाता।"

"पर सैनिकों के कोप की तलवार तो मेरे सिर पर सदा लटकती रहेगी," मैंने कहा, "ऐसे वातावरण में शान्ति से कैसे काम हो सकता है।"

देवा जी की मुस्कान कुछ और फैली, "भाई आप कहीं भी जायें, शान्ति आपको पड़ी-पड़ी नहीं मिलेगी। आपको उसे स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त करना होगा। आप जंगल में भी चले जायँ, जहाँ आदमी की शक्ल तक नज़र न आये तो भी आपको अकंटक शान्ति प्राप्त न होगी। प्रकृति से समझौता करके अथवा उसपर विजय पाकर आपको अपनी शान्ति पानी या जीतनी पड़ेगी। फ़िर इन्सानों की बस्ती में, जहाँ पर हर एक अपनी शान्ति के लिए संघर्ष करता है और सबकी कोशिशें एक-दूसरे से टकराती रहती हैं, आपको भी प्रयत्न करना पड़ेगा।"

वे उसी प्रकार मुस्कराते हुए निमिष भर को रुके। लेकिन मैं चुप रहा और सुनता रहा।

"मैंने आपको एक दिन पहले भी कहा था कि यहाँ अठारह-बीस घर हैं। आपको सबसे मिल-जुल कर रहना पड़ेगा। नहीं तो आपका रहना कठिन हो जायगा।"

"मैंने तो कोशिश की! नन्दलाल के यहाँ मैं जाता हूँ, एक-दो बार और सब के यहाँ भी गया हूँ, पर यह तो आप मानेंगे कि मैत्री इकतरफ़ा तो नहीं हो सकती। कोई मुझे चाहेगा तो मैं क्यों न चाहूँगा।"

देवा जी हल्के-से हँसे। बहुत ही हल्के-से। ऐसे कि उनकी हँसी कमरे के बाहर सुनायी न दे।

"यहीं तो आप ग़लती पर हैं। कोई आपको चाहे···लेकिन इसे उलट दीजिए तो···आप किसी को चाहें तो क्या वह आपको न चाहेगा!"

निमिष भर के लिए मुझे कोई उत्तर न सूझा। फिर मैंने कहा, "लेकिन मैं तो बाहर से आया हूँ, देवमण्डल और देवनगर के लिए नया हूँ? देवनगर का तो सिद्धान्त ही प्रीति और प्यार के घेरे को बढ़ाना है। यदि देवनगर के वासी उपेक्षा और घृणा से काम लेंगे तो उनका मिशन कैसे सफल होगा? उन्हें तो हर आने वाले को अपने घेरे में लेना चाहिए। मेरी बात छोड़िए। मैं तो बाहर से आया हूँ। यहाँ तो मैं देवमण्डल के सदस्यों में भी वह प्रीति नहीं देखता, जो देवमण्डल का ध्येय है।"

मेरी बात सुनकर देवा जी के चेहरे पर हल्की-सी छाया दौड़ गयी और उनके माथे पर बड़े हल्के-से, चिड़चिड़ाहट-भरे तेवर बन गये। पर दूसरे क्षण फिर वही मुस्कान उनके मुख पर खेलने लगी।

"देखो भाई," उन्होंने कहना शुरू किया, "देवनगर के वासी सचमुच तो किसी देवनगर से आये नहीं। उन्हीं तंग, अँधेरी गलियों और मुहल्लों से आये हैं, जहाँ सारा हिन्दोस्तान बसता है। वही उपेक्षा-घृणा, वही ईर्ष्या-डाह, नफ़रत-कुदूरत, खुशामद और बदगोई, अहम् और अहंकार उनमें भी है। एकदम वह दूर न होगा। धीरे-धीरे उसे दूर करना होगा।"

कुछ क्षण वे चुप रहे। जेब से रूमाल निकालकर उन्होंने अपने चश्मे को पोंछा, फिर वे मेज़ की ओर मुड़े और उन्होंने फ़ाउण्टेनपेन उठा लिया।

लेकिन मैं अभी बैठा था। वे फिर मेरी ओर झुके। "आप जाइए और शान्ति के साथ काम कीजिए!" वे बोले, "कमेटी में क्या होता है, क्या नहीं होता, इसकी चिन्ता न कीजिए। सबसे मिल-जुलकर रहिए, सेना की सरगर्मियों में दिल से भाग लीजिए। आप रेडियो सुनने आने लगे थे, मैं खुश हुआ था। फिर आया कीजिए। तीरथराम आदि के साथ आप खुश नहीं तो यहाँ चले आया कीजिए। दिलजीत आ रहा है—वाणी है, मधु है, उनके साथ खेलिए। अपने खोल से बाहर निकलिए। एक-दूसरे के विरुद्ध लोग क्या कहते हैं, उसे न सुनिए। एक-दूसरे की प्रशंसा में जो कहा जाता है, उसपर ध्यान दीजिए। दोषों के बदले उनके गुण देखिए। दिल से उन्हें स्नेह देना, प्यार करना और उनके काम आना सीखिए! निश्चय ही आपको सुख भी मिलेगा और शान्ति भी।"

और वे अपने आगे रखे मसौदे को देखने लगे। मैं उठा, "मैं आपका बड़ा आभारी हूँ," मैंने कहा, "इस आश्वासन के लिए भी और इस नसीहत के लिए भी। आपकी नसीहत पर मैं चलने की कोशिश करूँगा।"

और 'नमस्कार' करके मैं बाहर निकल आया।

गुम्बद से बाहर निकला तो मेरे अन्दर का क्षोभ लगभग मिट गया था। देवा जी की बातों से पूर्णतः मेरी तसल्ली हो गयी हो ऐसी बात न थी। मेरी दशा शिविर के उस आकाश की-सी थी, जिस पर सुबह गहरे-काले बादल और धुन्ध छायी हो, लेकिन दोपहर होते-होते बादल हट जायं, धुन्ध छँट जाय और झीनी-झीनी धूप सूर्य के अस्तित्व का परिचय दे। सामने नये बने बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल ज़ोरों से चल रहा था और हरमोहन तथा गुरबचन में ज़ोरों की बाज़ी लगी थी। शटल-कॉक जाल के ऊपर-ही-ऊपर इधर-से-उधर उड़ रही थी। साथ के कोर्ट में वाणी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। मन हुआ कि जाऊँ, पर मेरी दृष्टि चुप-चाप खड़े तीरथराम पर गयी और न जाने मन को किस अनजाने संकोच ने बाँध लिया। क्षण-भर ऊपरी मुस्कान की झलक दिखाने वाले शिशिर के सूर्य पर फिर से धुन्ध का गहरा काला बादल छा गया।

तभी एक ताँगा बीच की कोठी में पास आकर रुका और बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल चलते देखकर ख़ुशी की एक किलकारी मारता हुआ दिलजीत उसमें से कूदा। माता जी अपनी कोठी के बरामदे में खड़ी शायद उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उसके उतरते ही वे उस ओर भागीं, लेकिन दिलजीत माँ की ओर नहीं गया, बाँहों से कोट उतारता हुआ, सीधे बैडमिण्टन-कोर्ट की ओर भागा।

तब चकित हो मैंने देखा कि सारे देवनगर को अपनी जायदाद और देवनगर-वासियों को अपना गुलाम समझने वाली वह अभिमानिनी नारी एकदम दासियों की तरह आगे बढ़कर अपने बेटे का उतरता हुआ कोट थामने बढ़ी और उसका कोट लेते-लेते वह कई कदम उसके साथ भागती चली गयी।

कोट अपनी माँ के हाथों सौंप दिलजीत रुका नहीं, वह भागता चला गया। हरमोहन ने आगे बढ़कर उसे अपना रैकेट दे दिया और गुरबचन तथा दिलजीत में खेल शुरू हो गया और शटल-कॉक और भी ज़ोरों से जाल के ऊपर उड़ने लगी।

"नाश्ता कर लो, फिर खेलना, नाश्ता कर लो, फिर खेलना," कहते हुए माता जी ज़रा दूरी पर खड़ी आग्रह करती रहीं और फिर दिलजीत के खेल में रत होने पर कोट को झाड़ते हुए वापस आ गयीं।

जाने क्यों मेरा मन एक साथ ही सुख और दुख के मिले-जुले भावों से भर गया। शिशिर का वही आकाश और धुँधियाली के झीने पर्दे से झाँकते हुए सूर्य की कान्ति···

सारे देवनगर का चक्कर लगाकर प्रेस और ट्यूब-वेल में अटकता-भटकता देवनगर के सामने की मरुभूमि में अकेले खड़े महान बरगद के नीचे सुस्ताता, परे कपास के छितरे खेत की परिक्रमा करता हुआ जब मैं पूरे देवनगर का चक्कर लगाकर लौटा तो खेल में और भी सरगर्मी आ गयी थी। गुरबचन देवनगर का बैडमिण्टन चैम्पियन था। पर दिलजीत भी शहर के गवर्नमेण्ट कॉलेज में पढ़ता था। उसका खेल गुरबचन से घट कर न था। देवा जी भी पहुँच गये थे और कई दूसरे देव-सैनिक बैडमिण्टन-कोर्ट के इर्द-गिर्द खड़े खिलाड़ियों को बढ़ावा दे रहे थे। लेकिन मैंने देखा—दिलजीत के 'शॉट' या 'प्लेसिंग' पर जो शोर बुलन्द होता, गुरबचन के खेल पर उसमें कमी आ जाती। प्रोत्साहन की धुनकी एक के लिए अपनी टंकार से रुई को छत तक उड़ा देती, लेकिन दूसरे की वारी पर 'वाह वा' के फाहे-ज़रा-सी ऊँचाई तक ही उड़कर रह जाते।

मैं चुपचाप एक ओर खड़ा यह सब देख रहा था कि किसी ने हल्के से मेरी बाँह को छुआ।

मैं चौंककर मुड़ा। वाणी थी—हाथ में रैकेट और आँखों में वही फैलाव, गहराई और निमन्त्रण!

"आइए न संगीत जी। हमारी बाज़ी खत्म हो गयी। अब आप लीजिए।"

"लेकिन मुझे तो बैडमिण्टन वैसा आता ही नहीं। रैकेट भी मेरे पास···"

लेकिन वाणी ने मेरी किसी आपत्ति पर ध्यान नहीं दिया। मेरी आस्तीन थामे हल्के-से मुझे खींचती हुई वह ले गयी।

कोर्ट में पहुँच कर अपना रैकेट उसने मेरे हाथ में दिया और एक ओर खड़ी होकर वह मेरे अटपटे खेल पर मुझे बढ़ावा देने लगी।

शायद दूसरी बाज़ी शुरू थी, जब मेरा ध्यान दूर बरगद की ओर चला गया। जाने कब तीरथराम वहाँ से खिसक गया था और दूर कहीं क्षितिज पर तनी हुई घटा-सा घिरा था।

कहानियाँ

प्रेमचन्द और सुदर्शन के ज़माने से कहानियाँ लिखना शुरू करने वाले कहानी-कारों में अश्क जी एकमात्र कथाकार हैं, जो कहानी के विकास के साथ निरन्तर जुड़े रहे हैं। उन्होंने सीधी-सरल कहानियाँ भी लिखी हैं और संश्लिष्ट तथा संकेत-धर्मी कहानियाँ भी। लेकिन सामाजिक विसंगतियों पर उनकी पैनी नज़र हमेशा जमी रही है। इसीलिए, जैसा कि नये कथाकार दूधनाथ सिंह ने एक जगह लिखा है—"अश्क की इन सारी कहानियों को पढ़ जाने के बाद एक वृहद अनुभव-संसार अपनी सारी विविधताओं के साथ सामने आ खड़ा होता है। एक विशाल समाज-खण्ड के छोटे-छोटे दृश्य, समस्याएँ और अनुभव कहानियों में पिरोये गये हैं। उनसे अनुभव का एक संकलित बोध हमारे सामने उजागर होता है।"

अश्क जी ने अब तक दो सौ से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। एकदम शुरू की लगभग पचास कहानियाँ तो उन्होंने संग्रह के रूप में प्रकाशित ही नहीं करायीं। लेकिन संग्रह रूप में प्रकाशित कहानियों में से भी प्रतिनिधि कहानियों को छाँटना और इस प्रकार छाँटना कि अश्क जी की कहानियों के सभी रंग पाठको के सामने पेश किये जा सकें, आसान नहीं क्योंकि चुनाव का जो भी ढंग अपनाया जाय कुछ-न-कुछ ऐसी कहानियाँ रह ही जायेंगी, जो न केवल बहुर्चचित और लोकप्रिय हुई हैं, बल्कि अश्क जी की कहानियों में अपना एक अलग स्थान रखती हैं। मिसाल के तौर पर 'बेबसी' 'मिस्टर घट पाण्डे,' 'टेबल लैण्ड,' 'उबाल,' 'अंकुर,' 'एक उदासीन शाम' या फिर एकदम नयी कहानी—'अजगर'।

इस कठिनाई के बावजूद हमने ग्यारह ऐसी कहानियाँ चुनी हैं, जिनमें अश्क जी की कहानियों की मूल—अनुभव के संकलित बोध वाली—विशेषता उजागर हो सके। और इस चुनाव को और भी समग्र बनाने के लिए हमने अश्क जी की एकदम प्रारम्भिक, हिन्दी में अप्रकाशित कहानियों में से एक—'सीरत की पुतली उर्फ बावफ़ा बीवी'—अश्क जी की फ़ाइलों से निकालकर इनमें शामिल की है, ताकि पाठक देख सकें कि अश्क जी कहाँ से शुरू करके 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' तथा 'आकाशचारी' जैसी कहानियों तक पहुँचे हैं।

डाची

काट[1] 'पी सिकन्दर' के मुसलमान जाट बाक़र को अपने माल की ओर लालच-भरी निगाहों से तकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज़ में ललकार उठा, "रे-रे, अठे के करे है ?"[2] और उसकी छह फ़ुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गयी और बटन टूटे होने के कारण, मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाक़र तनिक समीप आ गया। गर्द भरी हुई छोटी, नुकीली दाढ़ी और शरई मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमिष-मात्र के लिए चमक पैदा हुई और ज़रा मुस्कराकर उसने कहा, "डाची[3] देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है ! देखकर आँखों की भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी नन्दू का तनाव कुछ कम हुआ; प्रसन्न होकर बोला, "किसी साँड ?"[4]

"वह, परली तरफ़ से चौथी।" बाक़र ने संकेत करते हुए कहा।

ओकाँह[5] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बधे थे, उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी, सुन्दर और सुडौल गर्दन बढ़ाये घने पत्तों में मुँह मार रही थी। माल-मण्डी में, दूर जहाँ तक नज़र जाती थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली-मोटी बेडोल भैंसों, सुन्दर नागौरी सींगों वाले बैलों और गायों के सिवा कुछ दिखायी न देता था। गधे भी थे, पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावल नगर के मरुस्थल में होने वाली माल-मण्डी में उनका आधिक्य था भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जानवर है। इस रेतीले

---

1. दस-बीस सिरकियों के खैमों का छोटा-सा गाँव।
2. अरे तू यहाँ क्या कर रहा है ?
3. डाची = साँडनी
4. कौन-सी डाची ?
5. एक वृक्ष-विशेष।

इलाक़े में आमद-रफ़्त, खेती-बाड़ी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गायें दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था। और अब भी, जब इस इलाक़े में नहर आ गयी है, पानी की इतनी किल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पा जाते हैं और बाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाक़र ने कहा, "सच कहता हूँ चौधरी, इस जैसी सुन्दर साँडनी मुझे सारी मण्डी में दिखायी नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला, "आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूंसी नीरिया करूँ।"[1]

धीरे से बाक़र ने पूछा, "बेचोगे इसे?"

नन्दू ने कहा, "इठई बेचने तो लाया हूँ।"

"तो फिर बताओ, कितने को दोगे?"

नन्दू ने नख से शिख तक बाक़र पर एक दृष्टि डाली और हँसते हुए बोला, "तन्ने चाही जै, का तेरे धनी बेई मोल लेसी?"[2]

"मुझे चाहिए।" बाक़र ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मज़दूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर साँडनी मोल ले। बोला, "तूं की लेसी?"

बाक़र की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने के लिए व्यग्र हो उठे। तनिक जोश के साथ उसने कहा, "तुम्हें इससे क्या; कोई ले, तुम्हें तो अपनी क़ीमत से ग़रज़ है, तुम मोल बताओ?"

नन्दू ने उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने के विचार से कहा, "जा जा, तू इशी-विशी ले आयी, इंगो मोल तो आठ बीसी सूं घाट के नहीं।"[3]

एक निमिष के लिए बाक़र थके हुए, व्यथित चेहरे पर आह्लाद की रेखा झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं इतना मोल न बता दे, जो उसकी बिसात से ही बाहर हो; पर जब अपनी ज़बान से ही उसने 160 रुपये बताये तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। 150 रुपये तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। भाव-ताव तो उसे करना आता न था। झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे

---

1. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूंसी (जवारा और मोठ) देता हूँ।
2. तुझे चाहिए या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है।
3. जा, जा, तू कोई ऐसी-वैसी सांड ख़रीद ले, इसका मूल्य तो 160 से कम नहीं।

फेंक दिये । बोला, "गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्ज़ी ।"

नन्दू ने अन्यमनस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिये । पर गिनती ख़त्म करते ही उसकी आँखें चमक उठीं । उसने तो बाक़र को टालने के लिए ही मूल्य 160 रुपये बता दिया था, नहीं मण्डी में अच्छी-से-अच्छी डाची डेढ़ सौ में मिल जाती और इसके तो 140 रुपये पाने की भी कल्पना उसने स्वप्न में न की थी। पर शीघ्र ही मन के भावों को छिपाकर और जैसे बाक़र पर एहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला, "साँड तो मेरी दो सै की है, पण जा सग्गी मोल मियाँ तन्ने दस छाँडिया ।"[1] और यह कहते-कहते उठकर उसने साँडनी की रस्सी बाक़र के हाथ में दे दी ।

क्षण-भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया । यह साँडनी उसके यहाँ ही पैदा हुई और पली थी । आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी दशा हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है । ज़रा काँपती आवाज़ में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए, उसने कहा, "आ साँड सोरी रहेड़ी है, तूँ इन्हें रेहड़ में न गेर दई ।"[2] ऐसे ही, जैसे ससुर दामाद से कह रहा हो—'मेरी लड़की लाडों-पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना ।'

आह्लाद के पंख पर उड़ते हुए बाक़र ने कहा, "तुम ज़रा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूंगा ।"

नन्दू ने नोट अंटी में सँभालते हुए, जैसे सूखे हुए गले को ज़रा तर करने के लिए, घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा । मण्डी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मण्डियों में भी—जहाँ बीसियों अस्थायी नल लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती, फिर रेगिस्तान की मण्डी पर तो धूल ही का साम्राज्य था। गन्ने वाले की गँडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचे वाले के दही-बड़े पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था । घड़े का पानी टाँचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहाँ आते-आते वह कीचड़-जैसा गँदला हो गया था । नन्दू का खयाल था कि निथरने पर पियेगा, पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूंट में प्याले को खत्म करके नन्दू ने बाक़र से भी पानी पीने के लिए कहा । बाक़र आया था तो उसे ग़ज़ब की प्यास लगी हुई थी, पर अब उसे पानी पीने की फ़ुर्सत कहाँ ? वह रात होने से पहले-पहले गाँव पहुँचना चाहता था । डाची की रस्सी पकड़े हुए वह धूल को चीरता हुआ-सा चल पड़ा ।

---

1. साँडनी तो मेरी 200 की है; पर जा, सारी क़ीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये ।
2. यह साँडनी अच्छी तरह रखी गयी है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल देना ।

बाक़र के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची ख़रीदने की लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पूर्वज कुम्हारों का काम करते थे, किन्तु उसके पिता ने अपना पैत्रिक काम छोड़कर मज़दूरी करना शुरू कर दिया था। उसके बाद बाक़र भी इसी से अपना और अपने छोटे-से कुटुम्ब का पेट पालता आ रहा था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी। काम से उसने सदैव जी चुराया था। चुराता भी क्यों न, जब उसकी पत्नी उससे दुगना काम करके उसके भार को बँटाने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा न था—एक वह, एक उसकी पत्नी और एक नन्हीं-सी बच्ची। फिर किसलिए वह जी हलका न करता? पर क्रूर और 'बेपीर' विधाता—उसने उसे उस विस्मृति से, सुख की उस नींद से जगाकर अपना उत्तरदायित्व समझनेपर बाधित कर दिया। उसे बता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, आराम ही नहीं, दुख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम देने वाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गयी थी। मरते समय, अपनी सारी करुणा को अपनी फीकी और श्रीहीन आँखों में बटोरकर उसने बाक़र से कहा था, "मेरी रज़िया अब तुम्हारे हवाले है, इसे कष्ट न होने देना!' इसी एक वाक्य ने बाक़र के समस्त जीवन के रुख को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था।

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्ही-सी गुड़िया को, भाँति-भाँति की चीज़ें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मण्डी को आता तो नन्ही-सी रज़िया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती, अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो?' तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रज़िया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी, 'अब्बा, हम तो डाची लेंगे; अब्बा; हमें डाची ले दो।' भोली-भाली निरीह बालिका! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न, साधन-हीन मज़दूर की बेटी है, जिसके लिए डाची ख़रीदना तो दूर रहा, डाची कल्पना करना भी पाप है। रूखी हँसी हँसकर बाक़र ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला, 'रज्जो, तू तो ख़ुद डाची है।' पर रज़िया न मानी। उस दिन मशीर माल अपनी साँडनी पर चढ़कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बैठाये दो-चार मज़दूर लेने के लिए अपनी इसी काट में आये थे। तभी रज़िया के नन्हे-से मन में डाची पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी

दिन से बाक़र की रही-सही अकर्मण्यता भी दूर हो गयी थी।

उसने रज़िया को टाल तो दिया था, पर मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह अवश्य रज़िया के लिए एक सुन्दर-सी डाची मोल लेगा। उसी इलाक़े में जहाँ उसकी आय की औसत साल भर में तीन आने रोज़ाना भी न होती थी, अब आठ-दस आने हो गयी। दूर-दूर के गाँवों में अब वह मज़दूरी करता। कटाई के दिनों में वह दिन-रात काम करता—फ़सल काटता; दाने निकालता; खलिहानों में अनाज भरता; नीरा डालकर भूसे के कूप बनाता। बिजाई के दिनों में हल चलाता; क्यारियाँ बनाता; बिजाई करता। उन दिनों उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोज़ाना तक मज़दूरी मिल जाती। जब कोई काम न होता तो प्रातः उठकर आठ कोस की मंज़िल मारकर मण्डी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मज़दूरी करके ही घर लौटता। उन दिनों में वह रोज़ छह आने बचाता आ रहा था। इस नियम में उसने किसी तरह की ढील न होने दी थी। उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। बहन कहती—"बाक़र, अब तो तुम बिलकुल ही बदल गये हो, पहले तो तुमने कभी ऐसे जी तोड़कर मेहनत न की थी।"

बाक़र हँसता और कहता—"तुम चाहती हो, मैं आयु-भर निठल्ला रहूँ?"

बहन कहती—"निकम्मा बैठने को तो मैं नहीं कहती, पर सेहत गँवाकर रुपया जमा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाक़र के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रज़िया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुस्कराकर फिर अपने काम में लग जाता। और आज—डेढ़ वर्ष के कड़े परिश्रम के बाद वह अपनी चिर-संचित अभिलाषा पूरी कर सका था। उसके एक हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था।

साँझ की वेला थी। पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठण्डक आ गयी थी, और कहीं दूर खेतों में टटिहरी टीहूँ-टीहूँ करती उड़ रही थी। बाक़र के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी-कभी कोई किसान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के बैलगाड़ी में रखे हुए घास पट्ठे के गट्ठों पर बैठे, बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते या बैलगाड़ी के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले आने वाले ऊँटों की थूथनियों से खेलते चले जाते थे।

बाक़र ने, जैसे स्वप्न से जागते हुए, पश्चिम की ओर अस्त होते हुए अंशुमाली की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नज़र दौड़ायी। उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली साँडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेज़ी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रज़िया सो न जाये, इसी विचार से।

मशीर माल की काट नज़र आने लगी। यहाँ से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाक़र की चाल धीमी हो गयी और इसके साथ ही कल्पना की देवी अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तस्वीरें बनाने लगी।—बाक़र ने देखा, उसके घर पहुँचते ही नन्ही रज़िया आह्लाद से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गयी है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गयी हैं। फिर उसने देखा, वह रज़िया को आगे बैठाये सरकारी खाले (नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही है और कभी-कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-बड़े पंख फैलाये और अपनी मोटी आवाज़ से दो-एक बार काँव-काँव करके ऊपर से उड़ता चला जाता है। रज़िया की ख़ुशी का वारापार नहीं। वह जैसे हवाई जहाज़ में उड़ी जा रही है; फिर उसके सामने आया कि वह रज़िया को लिये बहावल नगर की मण्डी में खड़ा है। नन्ही रज़िया मानो भौंचक्की-सी है। हैरान और आश्चर्यान्वित-सी चारों ओर अनाज के बड़े-बड़े ढेरों, अगनित छकड़ों और हैरान कर देने वाली चीज़ों को देख रही है। बाक़र साह्लाद उसे सबकी कैफ़ियत दे रहा है। एक दुकान पर ग्रामोफ़ोन बजने लगता है। बाक़र रज़िया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल नहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रज़िया की समझ में नहीं आतीं, और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कुतूहल और जिज्ञासा है, वह उसकी आँखों से टपकी पड़ती है।

वह अपनी कल्पना में मस्त काट के पास से गुज़रा जा रहा था कि सहसा कुछ विचार आ जाने से रुका और काट में दाखिल हुआ।

मशीर माल की काट भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाक़े में अभी नहीं। खुद बाक़र की काट में पन्द्रह घर थे; घर क्या, झुग्गियाँ थीं। सिरकियों के खेमे—जिन्हें झोंपड़ियों का नाम भी न दिया जा सकता था। मशीर माल की काट भी ऐसे ही बीस-पच्चीस झुग्गियों की बस्ती थी, केवल मशीर माल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था; पर छत उस पर की छप्पर की ही थी। बाक़र नानक बढ़ई की झुग्गी के सामने रुका। मण्डी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा (पलान) बनने के लिए दे गया था। उसे खयाल आया कि यदि रज़िया ने साँडनी पर चढ़ने की ज़िद की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा, इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो-एक आवाज़ें दीं। अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, "घर में नहीं हैं, मण्डी गये हैं।"

बाक़र का दिल बैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका। नानक यदि मण्डी गया है तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा! फिर उसने सोचा शायद

1. ऊँट पर बैठने की गद्दा।

बनाकर रख गया हो। इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा, "मैं साँडनी का पलान बनाने के लिए दे गया था, वह बना या नहीं ?"

जवाब मिला, "हमें मालूम नहीं।"

बाक़र का आधा उल्लास जाता रहा। बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाय। नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे माँगकर ले जाता। यह विचार आते ही उसने सोचा—'चलो मशीर माल से माँग लें। उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुराना पलान होगा ही। अभी उसी से काम चला लेंगे। तब तक नानक नया गदरा तैयार कर देगा।' यह सोचकर वह मशीर माल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाज़मत के दिनों में मशीर माल साहब ने पर्याप्त धनोपार्जन किया था। जब इधर नहर निकली तो उन्होंने अपने पद और प्रभाव के बल पर रियासत में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे ज़मीन ले ली थी। अब नौकरी से अवकाश ग्रहण कर यहाँ आ रहे थे। 'राहक'[1] रखे हुए थे, आय ख़ूब थी और मज़े से जीवन व्यतीत हो रहा था। अपनी चौपाल में एक तख़्त पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर श्वेत साफ़ा गले में श्वेत कमीज़, उस पर श्वेत जाकेट और कमर में दूध जैसे रंग का तहमद। गर्द से अटे हुए बाक़र को साँडनी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा, "कहो बाक़र, किधर से आ रहे हो ?"

बाक़र ने झुककर सलाम करते हुए कहा, "मण्डी से आ रहा हूँ, मालिक।"

"यह डाची किसकी है ?"

"मेरी ही है मालिक, अभी मण्डी से ला रहा हूँ।"

"कितने को लाये हो ?"

बाक़र ने चाहा, कह दे आठ-बीसी को लाया हूँ। उसके ख़याल में ऐसी सुन्दर डाची 200 में भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला, "हज़ूर माँगता तो 160 था, पर सात बीसी ही में ले आया हूँ।"

मशीर माल ने एक नज़र डाची पर डाली। वे स्वयं अर्से से एक सुन्दर-सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे। उनके डाची तो थी, पर पिछले वर्ष उसे सीमक[2] हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में जँच गयी।—क्या सुन्दर और सुडौल अंग हैं; क्या सफ़ेदी-मायल भूरा-भूरा रंग है; क्या लचलचाती लम्बी ग़र्दन है! बोले, "चलो, हमसे आठ बीसी ले लो, हमें एक डाची की ज़रूरत है, बीस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाक़र ने फीकी हँसी के साथ कहा, "हुज़ूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ!"

---

1. मुज़ारा।
2. ऊँटों की एक बीमारी।

मशीर माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे थे—वाह ! क्या असील जानवर है। प्रकट बोले, "चलो पाँच और ले लेना।"

और उन्होंने आवाज़ दी, "नूरे, अरे ओ नूरे !"

नौकर भैंसों के लिए पट्ठे कतर रहा था, गड़ासा हाथ ही में लिये भाग आया। मशीर माल ने कहा, "यह डाची ले जाकर बाँध दो ! 165 में, कहो कैसी है ?"

नूरे ने हतबुद्धि-से खड़े बाक़र के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नज़र डाची पर डालकर बोला, "खूब जानवर है," और यह कहकर नौहरे[1] की ओर चल पड़ा।

तब मशीर-माल ने अंटी से 60 रुपये के नोट निकालकर बाक़र के हाथ में देते हुए मुस्कराकर कहा, "अभी एक राहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे। अभी यह रखो, बाकी भी एक-दो महीने तक पहुँचा दूँगा। हो सकता है, तुम्हारी किस्मत से पहले ही आ जायँ।" और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा कतरने लगा था। दूर से ही आवाज़ देकर उन्होंने कहा, "भैंस का चारा रहने दे, पहले डाची के लिए गवारे का नीरा कर डाल, भूखी मालूम होती है।"

और पास जाकर साँडनी की गर्दन सहलाने लगे।

कृष्ण पक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कुहासा छा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओकाँह के वृक्ष बड़े-बड़े काले-सियाह धब्बे बन रहे थे। फोग की एक झाड़ी की ओट में अपनी काट के बाहर बाक़र बैठा उस क्षीण प्रकाश को देख रहा था। जानता था रज़िया जागती होगी, उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इस इन्तज़ार में था कि दिया बुझ जाय, रज़िया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाखिल हो।

---

1. भूसा आदि रखने का स्थान।

कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल

जिस शाम कहानी-लेखिका के मन में जेहलम के सात पुलों को लेकर एक सुन्दर कहानी लिखने का विचार उठा, उस दिन पहली बार उसे श्रीनगर अच्छा लगा था। रात उसने केस्टोफ़िन की एक गोली ले ली थी—हफ्ते से पेट में हवाएँ हुड़दंग मचाये थी, भूख प्रायः ग़ायब थी और कहानी-लेखिका के माथे में हल्का दर्द, नसें तनीं और मिज़ाज का पारा चढ़ा रहता था और वह अपने व्यापारी पति से निरन्तर अनुरोध करती थी कि उन्हें 'निशात' और 'शालामार', 'नसीम' और 'चश्मा शाही', 'डल' और 'नगीन' के आकर्षण छोड़कर सीधे पहलगाँव चलना चाहिए! 'यह गन्दा ग़लीज़ श्रीनगर भी क्या किसी शरीफ़ आदमी के रहने की जगह है,' वह कहा करती थी। लेकिन केस्टोफ़िन की एक गोली ने अपना चमत्कार दिखाया। आठ दिन में पहली बार उसें भूख लगी, खाना रुचा, दोपहर को गहरी नींद आयी और जब शाम की चाय के बाद वह अपने पति और दस वर्षीय चंचल बच्चे के साथ बाहर जाने को तैयार हुई तो उसका मन अत्यन्त उत्फुल्ल था। हल्की-सी बूंदनियाँ बरस गयी थीं, जो हवा को ठण्डक और वातावरण को ताज़गी प्रदान करती गयी थीं। अपने चंचल बच्चे का हाथ थामे, अपने पति के दायें चलती हुई, कहानी-लेखिका 'गन्दे, गुंजान बाज़ारों में धक्के खाने' के बदले बाँध की ओर चली। अमीराकदल (याने पहले पुल) से शुरू होकर यह बाँध श्रीनगर क्लब से आगे तक जेहलम के साथ-साथ चला गया है। शिमला, मसूरी और नैनीताल में माल को जो स्थान प्राप्त है, वही श्रीनगर में इस बाँध को प्राप्त है, जिसे अंग्रेजों की नकल में कश्मीरी प्रायः 'बण्ड' के नाम से पुकारते हैं। एक ओर बड़ी-बड़ी दुकानें हैं और दूसरी ओर जेहलम और बीच में साफ़ और शफ़्फ़ाफ़ सड़क।

वे अभी पेपर मैशी और वड-कार्विग वाले 'सुभाना दि वर्स्ट' के निकट पहुँचे थे और कहानी-लेखिका सोच रही थी कि कम्बख्त ने कैसा आकर्षक नाम रखा है कि बाँध की मुंडेर पर बैठे एक हाँजी ने उछलकर उठते और आगे बढ़कर बड़े अदब से सलाम करते हुए कहा, "मेम साब, शिकारा? चलिए, नेहरू पार्क, सेवन ब्रिजेज़ की सैर करायेगा!"

कहानी-लेखिका जब भी बाँध पर आयी थी, इस आदमी ने उसे सलाम किया था। उसे सलाम से नफ़रत थी। सलामों के बाहुल्य से खीझकर वह सोचा करती थी कि ये लोग क्यों सलाम के इतने आदी हैं। चलती मोटरों और बसों को देख, छोटे-छोटे बच्चे खेल छोड़कर हाथ माथे पर ले जाते हैं। मोटर और बस गुज़र जाती है, पर वे हाथ माथे पर रखे उसकी ओर देखते रहते हैं। कहानी-लेखिका एक दिन बाँध पर कॉफ़ी-हाउस की ओर से अमीराकदल की ओर आ रही थी कि डाकखाने के बराबर एक छोटी-सी गली में एक नन्हीं-सी लड़की शलवार का इज़ारबन्द थामे, उसे बाँधने की कोशिश कर रही थी। कहानी-लेखिका को आते देखकर, उसने झट बायें हाथ से इज़ारबन्द थाम, दायाँ माथे पर रख दिया, 'मेम साब सलाम!' और दया के बदले क्रोध की लहर कहानी-लेखिका के मन में दौड़ गयी थी। अंग्रेज़ ज़रूर इन लोगों को सलाम करने पर बख़शीश देते होंगे, पर ये लोग क्यों नहीं समझते, क्यों अपने बच्चों को नहीं समझाते कि हम अँग्रेज़ नहीं, उनके हाकिम नहीं, उन्हीं-जैसे हैं!—पर उस शाम मीठी-मीठी हवा रमक रही थी, दायीं ओर, जेहलम के पार, दूर पीर पंचाल के पहाड़ों को नीली-नीली चोटियों पर बर्फ़ की लकीरें बड़ी भली लग रही थीं, कहानी-लेखिका खुश थी। उसे हाँज़ी का सलाम करना बुरा नहीं लगा। उसने अपने पति से कहा, "चलिए सेवन ब्रिजेज की सैर कर आयें।"

कहानी-लेखिका के पति भी खुश थे। उसी दिन अपने एक मित्र से बातें करते हुए उन्हें मालूम हुआ था कि इस वक्त जिन चीज़ों की क़ीमतें आसमान छूती हैं सर्दियों में जब माँग नहीं रहती, एकदम ज़मीन पर आ रहती हैं। कारीगर लोग लाभ का खयाल छोड़कर, लागत पर ही, अपनी मेहनत के दाम निकालकर, चीज़ें बेच देते हैं। लकड़ी सस्ती, फल सस्ते शाल-दोशाले, पट्टू, 'नमदे, गभ्भे, हर चीज़ सस्ती। और तो और, क़स्तूरी का नाफ़ा तक बीस-पच्चीस में हाथ आ जाता है।

"बीस-पच्चीस में?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा था, "जबकि नीचे शहरों में पचहत्तर-अस्सी तक हाथ नहीं आता।"

"सर्दी में, जब कोई काम नहीं होता," उनके मित्र ने बताया था, "पहलगाँव और गुलमर्ग के आस-पास रहने वाले गूजर चार-चार, पाँच-पाँच की टोलियों में निकल आते हैं, बर्फ़ नीचे तक पड़ जाती हैं कस्तूरी मृग भी नीचे आ जाते हैं और ये लोग उन्हें मार लाते हैं और उनके नाफ़े निकालकर बीस-पच्चोस में दे जाते हैं।"

और कहानी-लेखिका के पति सोच रहे थे कि दिल्ली में बीमा एजेण्टी की भाग-दौड़ के बाद चार-पाँच सौ पैदा करने की अपेक्षा क्यों न वे सर्दियों में कश्मीर आयें और सस्ते दामों पर चीज़ें खरीदकर सीज़न में महँगे दामों बेचें···और कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने कश्मीर में काम शुरू कर दिया था और लखपति बने जा रहे थे···और वे उस शाम बड़े प्रसन्न थे और उनका जी चाह रहा था कि वे नेहरू पार्क जायें और रेस्तोराँ के कोने में कुर्सी पर बैठकर नीचे डल में

खिलने वाले कमलों की बहार देखते हुए कल्पना के जाल बुनें। इसलिए उन्होंने कहा, "शाम हो गयी है, सात पुल देखने के लिए समय चाहिए, चलो नेहरू पार्क चलते हैं।"

"नेहरू पार्क दो बार देख लिया," कहानी-लेखिका बोली, "सातों पुल देख लें, फिर पहलगाँव चलें।"

"लेकिन शाम हो गयी है।"

"नहीं साब, अभी टाइम है। सातों पुल दिखा लायेगा।" हाँजी मेम साब की बात के समर्थन में बोला। और कहानी-लेखिका के पति मान गये थे।

हाँजी ने उन्हें शिकारे में बैठाकर, बच्चे के हाथ में एक छोटा-सा चप्पू दे दिया था, जिसे पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और नम (शिकारे के अगले हिस्से की अनछती तिकोन) पर बैठकर चप्पू चलाने लगा। कहानी-लेखिका अपने पति के साथ शिकारे की नर्म, चौड़ी, रंगीन, गद्देदार स्प्रिंग-सीट पर आराम से पीछे को लेट गयी।

जेहलम के दोनों किनारों पर हाउस-बोट गुज़रे जा रहे थे। उनके आस-पास से टेक्सी-शिकारे, अपनी गम्भेदार सीटों और रंगीन पर्दों के साथ, बड़ी तेज़ी से इधर-उधर जा रहे थे, सामान से भरी कोई व्हल्स (सामान ढोने वाली बड़ी किश्ती) या डोंगा भी गुज़र जाता। कहानी-लेखिका लेटे-लेटे, अर्ध-निमीलित नेत्रों से वह सब देख रही थी। मोड़ पर अफ़राबट का पहाड़ ऐन सामने आ गया और शिकारे के दो डण्डों में से उसकी चोटी पर फैली वर्फ़ की धारियाँ उसे बड़ी भली लगीं।

अमीराकदल के पुल के नीचे से गुज़रने वाला पानी का बड़ा पम्प शायद पुराना होकर छिद गया था और पानी धारों में पुल के नीचे टपक रहा था। ऊपर लोग आ-जा रहे थे। एक बस पों-पों करती निकल गयी और फिर एक ट्रक पुल को कँपाता गुज़र गया। कहानी-लेखिका को यह सब बड़ा अच्छा लगा। पर उसका लड़का चप्पू चलाते-चलाते बुरी तरह झुक जाता था और उसे डर था, कहीं वह पानी में न गिर जाय और वह चिल्ला उठी, "अरे तिक्के बेटा, सम्हलकर!" और उसका ध्यान बँट जाता।

लेकिन वे उस शाम पाँचवें पुल से आगे न जा सके थे। तीसरे पुल के बाद दायीं ओर लकड़ी की अजीब-सी ऊँची इमारत खड़ी थी, जिसकी छत पैगोडों-ऐसी थी। पूछने पर मालूम हुआ कि शाह हमदान की समाधि है और लोग बड़ी-बड़ी दूर से उसे देखने आते हैं। उन्होंने उसे देखने की इच्छा प्रकट की और शिकारे वाला उन्हें दिखाने ले चला।

अभी शिकारा तट से लगा भी न था कि बच्चा कूद पड़ा। कहानी-लेखिका का दिल काँप गया। पर उल्टी कमान की तरह पीछे को झुकता हुआ दूसरा क़दम उठाकर वह गिरने से साफ़ बच गया। किनारे पर पहुँचकर हल्का-सा थपेड़ा उसके गाल पर जमाते हुए कहानी-लेखिका ने उसे चूम लिया।

लेकिन शाह हमदान के मक़बरे के अन्दर जाने की उसे इजाज़त न मिली। अन्दर नमाज़ की तैयारी हो रही थी और उस समय औरतें वहाँ न जा सकती थीं। उसके पति गये और चार आने चढ़ा आये। हाँजी ने कहा कि वे किसी दिन बारह से पहले आयें तो वह 'मेम साब' को भी अन्दर ले जायगा। उस वक्त उसने कहानी-लेखिका को बग़ल के ओसारे की झिरी में से अन्दर का बड़ा हाल-कमरा दिखा दिया। हाल की दीवारें लकड़ी की थीं, जिनपर क़ुरान की आयतें खुदी थीं और नक्काशी का काम किया हुआ था। छत पर बड़े क़ीमती झाड़-फ़ानूस टँगे थे।

शाह हमदान का मक़बरा देखते-दिखाते देर हो गयी। पाँचवें पुल तक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा छा गया। कहानी-लेखिका के पति ने कहा कि वापस चलना चाहिए। हाँजी ने भी हामी भरी। वे वापस फिरे।

सिवा इसके कि अपने लड़के की चंचलता के कारण उसके गिर जाने का डर उसे बना रहा, कहानी-लेखिका को शिकारे की यह सैर बड़ी अच्छी लगी।

रात को खाना खाकर और 'चौरसिया' के बढ़िया पान से मुँह का स्वाद बदल, जब वे लेटे तो अचानक कहानी-लेखिका ने अपने पति की बग़ल से अपने सिर को चिमटाते हुए कहा, "मुझे एक बड़ी अच्छी कहानी सूझी है।"

पति लाखों के सपने ले रहे थे। सहसा चौंककर बोले, "कहानी ?"

"आज अगर हमने सातों पुल देखे होते और मैं अपनी नोट-बुक ले गयी होती तो मैं बड़ी ही प्यारी कहानी लिखती।"

और उसने अपने पति को कहानी का प्लाट सुनाया—एक युवती अपने पति और बच्चे के साथ सातों पुल देखने जाती है। बच्चा बड़ा चंचल है। आराम से शिकारे पर नहीं बैठता। कभी चप्पू चलाता है, कभी तैरती बतखों को पकड़ता है, कभी किनारे खेलते लड़कों से मज़ाक करता है। माँ पुलों के आस-पास के बदलते दृश्यों का आनन्द पूरी तरह नहीं उठा पाती। दिल उसका धड़कता रहता है। बच्चे की सुरक्षा की चिन्ता उसे ठीक से कुछ देखने नहीं देती। लेकिन अन्त में जब वह शिकारे के नम पर जा खड़ा होता है और वह इसी स्नेह-भरी चिन्ता के कारण भयभीत होकर चिल्लाती है—सम्हल बेटे! —तो वह जेहलम में जा गिरता है।

कहानी का आधारभूत-विचार सुनाकर लेखिका ने अपने पति से पूछा, "कैसी है ?"

पति बीच में एक 'ढौंका' ले चुके थे। अचानक चौंके, "क्या ?"

"कहानी ?"

"अच्छी है, अच्छी है!" और उन्होंने अपनी लेखिका-पत्नी को ज़रा-सा पहलू से भींच लिया।

"मैंने नोट लिये होते तो अभी लिख देती।" कहानी-लेखिका गर्व से बोली।

"कल फिर सेवन ब्रिजेज़ देखने चलेंगे, ठीक से नोट ले लेना।" पति ने उदारता से कहा। अब जब वह लखपति होने जा रहा था, तो इन तीन-साढ़े तीन रुपयों का मुँह क्या देखता !

कृतज्ञता के बोझ से कुनमुनाकर कहानी-लेखिका पति से चिमट गयी। लेकिन दूसरे क्षण वह हल्के-हल्के खर्राटे लेने लगा था।

दूसरे दिन उसके पति को समय नहीं मिला। वह अपने प्रस्तावित व्यापार के लिए पूछ-ताछ करता फिरा और तीसरे दिन जब फिर कहानी-लेखिका ने सेवन ब्रिजेज़ चलने की बात कही तो उनका मन जाने को ज़रा भी न था। अपने उस व्यापारी मित्र को जब उसने अपनी स्कीम बतायी और उसने खर्च का हिसाब बताया तो उसे सुनकर कहानी-लेखिका के पति का सारा उत्साह जाता रहा। "इस स्कीम को अमली जामा पहनाने के लिए," उसके मित्र ने सुझाया, "हज़ारों रुपये दरकार होंगे। लकड़ी और पेपर मैशी की चीजें, अखरोट, बादाम, शाल-दोशाले, नमदे, गब्भे और ग़ालीचे, क़ीमती पत्थर और कस्तूरी, इन सब को सस्ते दामों खरीदने और बेचने का प्रबन्ध करने के लिए हज़ारों, हज़ारों नहीं, लाखों रुपये दरकार हैं। बाँध अथवा जेहलम के दोनों किनारों पर ऐसे व्यापारी हैं, जो एक साथ बहुत-सी चीज़ों का व्यापार करते हैं, पर वे लखपति हैं और वे ही पाँच रुपये की चीज को पचास रुपये में बेच सकते हैं। हमारा तुम्हारा बस नहीं। तुम यहाँ काम करना चाहो तो एक व्यापार चुन लो, जिसमें तुम काम शुरू करोगे। लेकिन इस तरह शुरू करने में, मुक़ाबिला जितना सख्त है, उसे देखते हुए, तुम उतना भी न कमा पाओगे, जितना तुम दिल्ली में कमाते हो। यहाँ कश्मीर में, छह महीने कमाना और छह महीने बैठकर खाना पड़ता है, वहाँ थोड़ा भी कमाओ, पर साल भर तो कमा सकते हो।"

और कहानी-लेखिका के पति चाहते थे कि खाना खाकर चुपचाप जाकर सो जायँ, लेकिन बच्चा सुबह से नेहरू पार्क जाकर तालाब में नहाने और कहानी-लेखिका सात पुलों की सैर करके नोट लेने की बात कर रही थी। रात गर्मी ज़्यादा थी और खटमलों और मच्छरों ने सोने न दिया था और कहानी-लेखिका के पति की आँखें भिची जा रही थीं। लेकिन जब माईसुमा बाज़ार के एक सस्ते से ढाबे पर खाना खाने के बाद कहानी-लेखिका ने फिर सात पुल देखने की बात की तो सहसा झुंझलाकर उन्होंने कहा, "देखना है तो अभी चलो। दोपहर को लेटेंगे तो नींद आ जायगी और शाम की चाय आदि के बाद चलेंगे तो फिर वही पाँचवें पुल तक जा पायेंगे।"

बच्चे ने कहा, "हम नेहरू पार्क जायेंगे।"

कहानी-लेखिका के मेदे में फिर कुछ गड़बड़ थी। सिर में भी हल्का-हल्का दर्द था। रात की अनिद्रा के कारण आँखें भी बन्द हुई जाती थीं और वास्तव में वह शाम ही को सात पुलों की सैर करना चाहती थी, लेकिन फिर जाने उसके पति का मूड हो, न हो, इसलिए उसने सोचा कि नोट तो ले ही लिये जायँ।

कहानी तो फिर भी कभी लिखी जा सकती है।

"मैं ज़रा होटल से पैड और पेंसिल ले लूँ।" उसने कहा, "फिर चलते हैं।"

और वे होटल को वापस फिरे, जहाँ उन्होंने अढ़ाई रुपये रोज़ पर एक कमरा किराये पर ले रखा था और जहाँ वे केवल सोने या आराम करने आते थे।

होटल पहुँचे तो कहानी-लेखिका ने चलने से पहले ज़रा-सा 'मेक-अप' करना ज़रूरी समझा। पति इतने में जूतों-समेत (जूते पलंग की पट्टी के एक ओर करके) लेट गये। मेक-अप करके कहानी-लेखिका ने शीशे में देखा तो दोपहर की गर्मी, रतजगे, सिर दर्द और मूड की ख़राबी के कारण उसने अपनी सूरत को कुछ उतरा पाया। तब हल्के से पाउडर और रूज की मदद से उसे कुछ ताज़ा कर और किंचित सन्तुष्ट होकर उसने पैड उठाया, पर पेंसिल उसे नहीं मिली। झुँझलाकर उसने लड़के से पूछा, "तिक्के, पेंसिल कहाँ है ?"

"मुझे नहीं मालूम, ममी।" और वह जाकर बरामदे में उछलने लगा।

कहानी-लेखिका ने सब जगह देखी, पेंसिल उसे नहीं मिली। उसके पति इस बीच नाक बजाने लगे थे। क्रोध की मारी वह धड़धड़ाती हुई बाहर गयी और बच्चे का कान पकड़कर उसे लगभग घसीटते हुए अन्दर ले आयी।

"पेंसिल कहाँ रखी तूने ?" वह चिल्लायी।

उसके पति ने करवट बदली, उनके जूते पलंगपोश पर आ गये और वे फिर नाक बजाने लगे।

कहानी-लेखिका ने एक आग्नेय दृष्टि अपने पति पर डाली। वह अपनी झुँझलाहट बच्चे पर निकालने ही वाली थी कि पेंसिल उसे मेज़ के नीचे, दीवार के साथ लगी दिखायी दी।

मन में वह खिन्न हुई। पर अपनी खिन्नता उसने बच्चे पर नहीं प्रकट होने दी। "यह देख, कहाँ गिरा दी तूने पेंसिल !" उसके कान को ढीला छोड़ते हुए वह चिल्लायी।

"मैंने नहीं गिरायी ममी !" और वह मुँह बिसूरकर रोने लगा।

पेंसिल मेज़ के नीचे से उठाकर, बच्चे को गले से लगा और चप्पू-समेत एक छोटा-सा शिकारा उसे लेकर देने का वचन देकर, कहानी-लेखिका ने बड़ी मुश्किल से उसे चुप कराया और फिर पति के निकट जाकर उन्हें हिलाते हुए वह बोली, "चलेंगे नहीं ?"

पति हड़बड़ाकर उठे और बाहर को चल दिये। अपनी गर्दन का पसीना भी उन्होंने बरामदे में जाकर पोंछा।

बाहर गर्मी ऐसी थी जैसी मैदानों में। धूप में आँखें न टिकती थीं। पलेडियम के सामने से, हरीसिंह हाई स्ट्रीट से होते हुए वे पुल पर पहुँचे। अभी वे कुछ दूर ही थे कि पुल के जँगले पर बैठे हुए दो हाँजी छलाँग मारकर उतरे।

"साब, शिकारा !"

"सेवन ब्रिजेज़ देखने चलेंगे, बोलो, क्या लोगे ?" बिना रुके और बाँध की ओर को बढ़ते हुए कहानी-लेखिका के पति ने पूछा।

"चलिए साब, साढ़े तीन रुपया ! खूब अच्छी तरह सैर करायेगा।"

उसके आगे से होकर, जँगले को पारकर, बाँध पर आते हुए पति बोले, "मियाँ, वह ज़माना लद गया, जब खलील खाँ फ़ाख्ता उड़ाया करते थे।"

"खलील खाँ ?…फ़ाख्ता ?…" हाँजी चकराया।

"सीज़न खत्म हो गया। साढ़े तीन का ज़माना लद गया।" पति महोदय ने समझाया।

"साब, गवर्नमेण्ट का रेट है !"

"गवर्नमेण्ट का रेट है तो मज़े करो।" कहानी-लेखिका के पति ने निरन्तर चलते हुए कहा, "अभी कुछ ही दिन पहले हम सात पुल देखने गये थे और हमने अढ़ाई रुपये दिये थे।" उन्होंने ब्लफ़ किया।

हाँजी पीछे रह गया। जब वे ज़रा दूर निकल आये तो हाँजी ने पीछे से आवाज़ दी, "आ जाइए साब !"

कहानी-लेखिका के पति बढ़ते गये। उन्हें अफ़सोस हुआ कि अढ़ाई के बदले उन्होंने दो क्यों नहीं कहा। क़दम बढ़ाकर उनके साथ चलते हुए कहानी-लेखिका बोली, "हम परसों वाले हाँजी के शिकारे पर जायँगे, वह बड़ा भला आदमी है।"

तभी एक छोटा-सा लड़का पिछले शिकारे वालों की टोली से निकला और भागता हुआ उनके पास से होकर अगले शिकारे वालों की टोली में जा मिला। वहाँ नीचे जेहलम में पाँच-सात शिकारे सवारियों की प्रतीक्षा में खड़े थे और उनके हाँजी ऊपर बाँध पर बैठे आते-जाते मुसाफ़िरों से पूछ-ताछ कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर उसने कश्मीरी में कुछ मिस्कोट की और अभी कहानी-लेखिका और उसके पति उनसे दूर ही थे कि एक हाँजी ने बढ़कर उनका रास्ता रोक लिया और कहा, "साब, चलिए, सेवन ब्रिजेज़ ले चलेगा।"

"हम उसी शिकारे पर चलेंगे !" कहानी-लेखिका मिनमिनायी।

उसके पति की आँखें गनोदगी के मारे भिंची जा रही थीं, पर उन्होंने संयम से काम लेकर कहा, "दो रुपये मिलेंगे।"

"अढ़ाई रुपया लेगा।"

"नहीं, दो मिलेंगे।" उन्होंने बिना रुके कहा।

"अच्छा, आइए।"

"हम उसी शिकारे पर चलेंगे !" कहानी-लेखिका ने खिझलाहट से कहा।

लेकिन उसके पति बाँध से नीचे उतर चुके थे। उसका बच्चा उसकी अँगुली छोड़कर अपने पिता के पास भाग गया था। विवश हो कहानी-लेखिका भी उनके पीछे-पीछे उतरी, लेकिन शिकारे के पास पहुँचकर उसने कहा, "हम सब बाज़ार देखेंगे !"

"जी, दिखायेगा।"

"छोटा डाँड है?" त्रिलोक बोला।

"जी है।"

और वे तीनों शिकारे में जा बैठे।

"बाबू, हाथ अन्दर करो!" शिकारे को दूसरे शिकारों की भीड़ में से निकालते हुए शिकारे वाले ने बच्चे से कहा, जो अपनी ओर से भी शिकारा निकालने में मदद करने की कोशिश कर रहा था।

"तिक्के, आराम से बैठो। बाँह शिकारों में पिस जायगी।" कहानी-लेखिका चीखी।

शिकारे को बाहर निकालकर, उसका मुँह पुल की ओर करके, शिकारे वाला बाँध पर चला गया।

धूप बहुत तेज़ थी और बायीं तरफ़, जिधर कहानी-लेखिका बैठी थी, सीधी शिकारे के गद्दे पर पड़ती थी। कहानी-लेखिका के पति गद्दे पर लेटते ही ऊँघने लगे थे; तिक्का किश्ती के नम पर बैठा छोटे चप्पू के लिए चिल्ला रहा था और कहानी-लेखिका के सिर में ज़ोर की पीड़ा होने लगी थी।

"ऐ तिक्के! चुप भी कर, आ जाता है चप्पू," और बच्चे को यों डाँटकर, अतीव विवशता और खिझलाहट से वह तिनककर उठी, बायीं ओर का पर्दा शिकारे के ऊपर को पड़ा था, कहानी-लेखिका का क़द छोटा था। एक बार कोशिश करने पर पर्दा नीचे नहीं गिरा! वहीं लेटे-लेटे एक आग्नेय दृष्टि उसने अपने सोये हुए पति पर डाली और फिर कोशिश करके पर्दा खींच डाला। तभी हाँजी नीचे आता दिखायी दिया।

"कहाँ चला गया था हमें बैठाकर?" वहीं से वह चिल्लायी।

"दूसरे आदमी को लाने गया था।"

"पर्दा ठीक करो, बड़ी धूप है।"

और ज़रा-सी बाँह हिलाकर उसे खोलने के बदले, शिकारे वाले को आदेश देकर वह धप्प से स्प्रिंगदार गद्दे पर बैठ गयी।

हाँजी ने आकर पर्दा खींच दिया। बच्चा डाँड के लिए चिल्ला रहा था। हाँजी ने उसे डाँड लाकर दिया और शिकारे को बढ़ा ले चला।

"क्या अकेला ही चलायेगा?"

"दूसरा आदमी आता है, मेम साब!"

कहानी-लेखिका पीछे को लेट गयी। वह आँखें बन्द करने लगी थी कि उसने देखा, बच्चा डाँड को किनारे के एक हाउस-बोट से टिकाकर उस पर ज़ोर डाल रहा है।

"ऐ तिक्के! मरे, आराम से बैठ! पानी की धार पर जाते हुए ऐसा नहीं करते। गिर जायगा।" वह उठकर चिल्लायी।

बच्चा चौंककर सीधा बैठ, डाँड चलाने लगा। कहानी-लेखिका फिर पीछे को लेट गयी, उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके सिर का दर्द बढ़ गया था; आँखें भिची-भिची जाती थीं; सीने में भारीपन था; खाना जैसे गले में अटका था। वह खीझ-भरी विवशता से फिर उठी। बटुए से उसने सोडामिंट की एक छोटी-सी शीशी निकाली और तीन गोलियाँ एक साथ मुँह में डालकर लेट गयी।

लेकिन पहले पुल के इधर ही शिकारा रुक गया।

"अब क्या बात है, चलता क्यों नहीं ? यहीं एक घण्टा लगा दिया।"

"बस मेम साब, अभी चलता है। वह दूसरा आदमी आ रहा है।"

तभी कहानी-लेखिका ने देखा, पुल के साथ ही, जहाँ शिकारे खड़े थे और जहाँ उन्हें पहले आदमी ने शिकारे के लिए पूछा था, एक युवा हाँजी एक हाथ में हुक्का और दूसरे में तमाखू की पुड़िया लिये हुए भागा आ रहा है। दूसरे मिनट वह पीछे आ बैठा और शिकारा चलने लगा।

अमीराकदल के नीचे पानी पूर्ववत् धारों में चू रहा था। शिकारा एक मोटी-सी धार के पास को चला कि कहानी-लेखिका भड़ककर उठी।

"क्या करते हो, गन्दे पानी के नीचे लिये जा रहे हो ?"

वह इतने ज़ोर से चिल्लायी कि उसका पति हठात् उठकर बैठ गया।

"क्या बात है ?" उसने पूछा।

"गन्दे पानी की धार से नीचे शिकारा लिये जा रहे हैं।"

"मेम साब, पानी गन्दा नहीं !" पीछे से शायद युवा हाँजी ने कहा।

"गन्दा नहीं तो क्या उसके नीचे ले जाओगे ?"

"उसके नीचे नहीं जाता, मेम साब !"

"बको नहीं !" कहानी-लेखिका चीखी। फिर उसने अपने पति से अँग्रेज़ी में कहा, "ये नम्बरी बदमाश हैं, आप से कहा था कि उस परिचित शिकारे पर चलिए, पर आप माने नहीं।"

उसके पति ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। शिकारा तेज़ी से बढ़ने लगा। हाउस-बोट पुल के इस पार ही रह गये थे। उस पार दोनों किनारों पर हाँजियों के डोंगे थे। इन्हीं में वे अपने परिवार-सहित रहते, सोते, खाना पकाते और खाते थे। इन्हीं में वे जन्म लेते और मर जाते थे। कुछ जो खाते-पीते थे, उनके डोंगों पर शिंगल या तख़्तों की छतें थीं, कुछ के डोंगे बरगुओं से ढके थे, लेकिन अधिकांश घास-फूस से छाये थे। छतों के अनुसार ही उनके रसोई-घर और सोने-बैठने के कमरे और उनका सामान था।

कभी किसी डोंगे के रसोई-घर की खिड़की से कोई सुन्दर मुख क्षण-भर को झाँकता; कोई गिरस्तन ज़रा-सा बाहर को झुककर कोई बर्तन जेहलम के पानी में धोती और फिर पीछे को हो जाती; कोई गोरा हाथ बिजली-सरीखा लोटे से पानी भरता और फिर छिप जाता; कोई गोरा मुख नीली-नीली आँखों का कौंधा फेंकता और फिर डोंगे के अँधेरे में लोप हो जाता—पर कहानी-लेखिका

इस सबसे बेखबर आँखें बन्द किये पड़ी थी और उसके पैड और पेंसिल स्प्रिंगदार-सीट में उसी की तरह आराम कर रहे थे।

दोनों किनारों पर, जहाँ-जहाँ गलियाँ थीं, वहाँ सीढ़ियाँ और घाट बने थे। एक जगह बच्चे नहा रहे थे, निर्लिप्त और नंग-धड़ंग ! त्रिलोक को डाँड चलाते देखकर दो-तीन शरारती उसे डराने के लिए गड़ाप से पानी में कूदे, गोरे-चिट्टे, सुन्दर-स्वस्थ, गुलाबी गालों और तीखे नक्शों वाले, लेकिन इससे पहले कि वे शिकारे तक पहुँचते, शिकारा आगे निकल गया—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी रही।

बायीं ओर दो डोंगों के बीच बारह-तेरह बरस की एक सुन्दर गौर बाला तैर रही थी। कोई बेदिंग सूट या कपड़ा उसके तन पर न था। मछली-सरीखी वह पानी में डूब-उतरा रही थी—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी थी।

ज़रा आगे लकड़ी के लट्ठों से लदी एक ब्हत्स बड़ी ही मन्थर गति से चली जा रही थी। एक अधेड़ हाँजी, उसकी बीवी, उसका लड़का, लड़की या बहू बड़े-बड़े नुकीले डाँडों की मदद से उसे खे रहे थे। बुढ़िया नम पर बैठे एक छोटे चप्पू की सहायता से उसे ठीक सेध में रखे थी, बाकी तीनों डाँड नदी में गाड़कर उन पर ज़ोर देते हुए ऊपर को चलते थे और उनके पैरों के ज़ोर से ब्हत्स आगे बढ़ रही थी। डाँड चलाने वालों के फ़िरन पसीने से ग़च थे, युवती का गोरा मुख मैल और पसीने से काला था और फ़िरन के अन्दर मैली-फटी कुर्ती झाँक रही थी, बटन लगाने की उसे सुध न थी और जब ज़ोर लगाते हुए बूढ़ा चिल्लाता, 'यौ पीर !' तो वह अपनी सास या माँ के साथ चिल्ला उठती, 'दस्तगीर !' और जैसे यही उनका एक मात्र सहारा हो, पीर का आह्वान करते, मशीन की-सी गति से डाँड चलाते हुए वे चींटी की-सी चाल से कई सौ मन लकड़ी से भरी वह बड़ी कश्ती खेये जा रहे थे—लेकिन कहानी-लेखिका आँखें बन्द किये पड़ी थी।

दूसरे पुल के पार कहानी-लेखिका सहसा उठी। चिल्लाकर उसने शिकारे वाले से कहा, "तुमने दूसरे पुल का बाज़ार नहीं दिखाया ?"

"अभी दिखाता है, मेम साब।"

"कहाँ दिखाता है, पुल तो गुज़र गया ?"

"अभी दिखाता है।"

और उसने शिकारे को बायें किनारे की ओर मोड़ा और एक छोटी, तंग गली की सीढ़ियों से लगा दिया। शिकारे के सीढ़ी को छूने के पहले ही एक व्यक्ति, जो घाट पर मछली की ताक में बगुले-ऐसा बैठा था, उचककर उठा।

"कुछ लकड़ी और पेपर मैशी का सामान देखेगा, साब ?"

"इन पेपर मैशी वालों ने परेशान कर दिया !" कहानी-लेखिका के पति, जो अपनी पत्नी की चिल्लाहट सुनकर जग गये थे, हँसकर बोले, "जहाँ जाओ, लकड़ी और पेपर मैशी वाले पीछे पड़ जाते हैं।" और फिर उस व्यक्ति की ओर मुड़े, "हमें लकड़ी का सामान चाहिए न पेपर मैशी का। हम तो भाई, तमाशाई

हैं, तमाशाई।"

लेकिन जब वे शिकारे वाले के साथ उसी गली के एक मकान में दाखिल हुए तो वही व्यक्ति उनके आगे-आगे था।

"यह कौन-सा बाज़ार दिखा रहे हो?" पति ने शिकारे वाले से पूछा।

"यह बाज़ार है?" कहानी-लेखिका चिल्लायी। वह अमीराकदल के दोनों ओर रौनक़-भरी हरीसिंह हाई स्ट्रीट की तरह के बाज़ार की कल्पना करती थी।

"चलिए तो साब!" शिकारे वाला जैसे अपनी आवाज़ ही से उन्हें आगे धकेलता हुआ बोला और उनके पास से होकर आगे-आगे चला।

और वे उसके पीछे-पीछे पहले ड्योढ़ी और फिर आँगन से होते हुए दो सीढ़ियाँ चढ़कर एक कमरे के आगे रुक गये। अन्दर वही व्यक्ति किसी बड़े मोटे मुसलमान सेठ से, जिसने डोगरा राज की याद में पण्डितों जैसी पगड़ी बाँध रखी थी, कुछ बातचीत कर रहा था। शिकारे वाला दरवाज़े ही में रुक गया था, उसके पीछे कहानी-लेखिका के पति, वह स्वयं और उसका बच्चा रुक गये।

कहानी-लेखिका के पति को लगा, वह सेठ को बता रहा है कि ये लोग कोरे तमाशाई हैं, खरीदने-उरीदने कुछ नहीं आये। और उनका अनुमान ठीक ही था, क्योंकि दूसरे क्षण उस सेठ ने अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों में खेद प्रकट करते हुए, लड़खड़ाती अँग्रेज़ी में कहा कि शो-रूम की चाबी मैनेजर के पास है, जो बाहर गया हुआ है और वे लोग कभी फिर फ़ुर्सत में आयें।

कहानी-लेखिका के पति ने भी अँग्रेज़ी में कहा कि कोई बात नहीं और मुड़कर नीचे उतर गये।

तब शिकारे वाला बोला, "चलिए, आपको फ़ैक्टरी में काम होता दिखायें।" 'साब' और 'मेम साब' को खुश करने में वह कोई कसर न उठा रखना चाहता था। और वह आँगन के दूसरी ओर एक कमरे को जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ा। लेकिन जल्द ही पलटा। मालूम हुआ, फ़ैक्टरी बन्द है। वास्तव में उसी व्यक्ति ने कश्मीरी भाषा में चौकीदार को फ़ैक्टरी दिखाने से रोक दिया था।

खीझ और झुँझलाहट से तिनतिनाती, पैर पटकती कहानी-लेखिका अपने बच्चे और पति से भी आगे जाकर शिकारे पर धम्म से गिर गयी, इतने ज़ोर से कि शिकारा सीढ़ी से हट गया और उसके पति आकर सीढ़ियों पर रुक गये। तब उनके चंचल बच्चे ने शिकारे की रस्सी पकड़कर उसे खींचना चाहा। कहानी-लेखिका ने उसे डाँटा कि वह शिकारे को हाथ न लगाये, नदी में गिर जायगा। फिर जब शिकारे वाला आया और उसने शिकारा खींचकर बाप-बेटे को बैठाया तो वह उस पर बरस पड़ी कि उसकी मूर्खता से पुल इतना पीछे छूट गया। वे लोग ये गन्दी गलियाँ और पेपर मैशी की दुकानें देखकर क्या करेंगे, वैसी दुकानें तो बण्ड पर और अमीराकदल में काफ़ी हैं।

शिकारे वाला लम्बा आदमी था। शलवार, क़मीज़ और सिर पर किश्ती-

नुमा टोपी उसने पहन रखी थी, चेहरे पर चेचक के दाग़ और आँखों में विवश हीनता थी। उसने बेबसी से ज़रा-सा सिर हिलाकर कहा, "चलिए, मेम साब, आपको आगे दिखाता है।"

"पर पुल तो पीछे रह गया।"

"अगले पुल पर देखिएगा।"

और शिकारे के किनारे-किनारे पाँव रखता हुआ, छत के बाँसों को थामता, वह पीछे चला गया। कहानी-लेखिका और उसका पति झुँझलाये, उकताये, शिकारे की चौड़ी रंगीन गभ्भेदार स्प्रिंग-सीट पर लेट गये। बच्चा पूर्ववत् नम पर बैठ, डाँड चलाने लगा। शिकारा सीढ़ियों से हटा और धार में बह चला।

"इस कम्बख़्त को मालूम नहीं कि मुझे नोट लेने हैं, कहानी लिखनी है। दूसरा बाज़ार भी गुज़र गया।" कहानी-लेखिका भुनभुनायी और उसने आँखें बन्द कर लीं।

जब शिकारे वाले की आवाज़ पर उसने आँखें खोलीं तो तीसरा पुल गुज़र चुका था और शिकारा वैसी ही एक गली से लगा हुआ था।

"यह बाज़ार है ? तुम फिर गली में ले आये ?" कहानी-लेखिका उठने का प्रयास किये बिना चीखी।

"चलिए, ऊपर बड़ी भारी दुकान है।"

"दुकानें हमने बण्ड पर बड़ी देख लीं, हमें बाज़ार देखने हैं। हमने तुमसे पहले ही कह दिया था।"

"यहाँ बाज़ार यही है। दुकानें दोनों किनारों पर हैं। यह ख़िज़र मुहम्मद की दुकान है। वह देखिए, सामने 'गेनेमीड' का बोर्ड लगा है। आगे और दुकानें हैं। ऐसी एक भी दुकान 'बण्ड' पर नहीं।"

"हमें ये दुकानें नहीं देखनी, पुलों के दोनों ओर की दुकानें देखनी हैं। तुम हमें धोखे से ले आये हो और परेशान कर रहे हो। हमें यह सब नहीं देखना। हमें वापस ले चलो।"

लम्बा शिकारे वाला गली की सीढ़ियों पर आ गया था। कहानी-लेखिका उसी को सम्बोधित करके उबल रही थी। अचानक पीछे से आवाज़ आयी, "चलिए वापस, लेकिन हमारी मज़दूरी हो गयी।"

"हाँ, हो गयी तुम्हारी मज़दूरी !" कहानी-लेखिका चीखी, "एक बाज़ार नहीं दिखाया और मज़दूरी हो गयी ! तुमने हमें समझा क्या है ?"

अब पति महोदय ने भी अपनी पत्नी की मदद को आना उचित समझा।

"तुम हमें अनजान मुसाफ़िर समझकर धोखे से ले आये," वे बोले, "तुम नहीं जानते, हम कौन हैं !"

"आप मनिस्टर भी हों, हमें तो अपनी मज़दूरी लेनी है।" नौजवान हाँजी वहीं शिकारे के वलम से लगा बोला।

"हाँ-हाँ, लेना मज़दूरी !" कहानी-लेखिका चिल्लायी, "चलो, ले चलो,

वापस !"

लम्बे चेचकरू हाँजी ने मामले को सम्हालते हुए कहा, "बाज़ार तो यही है यहाँ ! देखिए दोनों किनारों पर दुकानों के बोर्ड लगे हैं।"

"पुलों के आर-पार क्या है ?"

"दुकानें हैं, योंही-सी, आपके देखने वाली नहीं।"

"हम वही देखना चाहते हैं।"

"इस तरह बाज़ार देखने के लिए तो सारा दिन चाहिए।" युवा हाँजी बोला, "आपको ताँगे पर आना चाहिए था।"

"तुम बीच में क्यों बोलते हो ? तुमसे बात नहीं हुई, तुम चुप रहो !" कहानी-लेखिका के पति चिल्लाये।

"हमें सारे बाज़ार नहीं देखने, बस, एक-एक नज़र भर डालनी है। कुछ खरीद-फ़रोख्त नहीं करनी।" कहानी-लेखिका ने समझाया।

"लेकिन बाज़ार तो शाह हमदान तक एक ही चला गया है, बाद में इक्का-दुक्का दुकानें हैं।" युवा हाँजी बोला।

भीड़, गन्दगी और निबिड़ता के डर से कहानी-लेखिका श्रीनगर के भीतरी भाग में कभी न गयी थी। वह यह न जानती थी कि जेहलम के साथ एक ही बाज़ार छठे पुल तक चला गया है और जहाँ जो गली, मुहल्ला या घाट होता है, वहीं बाज़ार का वह नाम हो जाता है। उसका खयाल था कि अमीराकदल की हरीसिंह हाई स्ट्रीट की तरह शेष छह पुलों पर भी समानान्तर बाज़ार हैं। शिकारे वाला झूठ बोल रहा है और टाल रहा है, उसने यही समझा।

"अच्छा, यह दुकान देख लीजिए, फिर अगले पुल पर बाज़ार दिखायेगा।" लम्बे हाँजी ने कहा।

इस बीच में गली के पहले मकान के अन्दर से भी एक आदमी निकल आया, जो उनसे 'तशरीफ़ लाने' का अनुरोध करने लगा। कहानी-लेखिका के पति ने भी कहा कि आये हैं तो देखते चलें। आखिर कहानी-लेखिका उठी।

लेकिन दुकान-उकान नहीं, पूरा एम्पोरियम था। अन्दर आँगन के एक कमरे में जाकर उस आदमी ने किसी से कुछ कहा और हड़बड़ाये हुए गोरे रंग के एक सेठ चाबियों का गुच्छा लिये उन्हें ऊपर ले गये।

आँगन पर झाँकती हुई तंग-सी लम्बी गेलरी से होते हुए (जहाँ दीवार पर एक के बाद एक सर्टिफ़िकेट लगा था) वे एक बड़े हाल में पहुँचे। वहाँ चाँदी का सामान सजा था। कला के इतने सुन्दर और बहुमूल्य नमूने बड़ी सावधानी से मेज़ों और शेल्फ़ों पर रखे थे कि उनकी आँखें खुली-की-खुली रह गयीं। फिर वह सेठ उन्हें दूसरे हाल में ले गया, जहाँ वुड-कट और पेपर मेशी का ऐसा सामान पड़ा था, जो सचमुच सरकारी एम्पोरियम में भी उपलब्ध न था। तीसरा हाल ग़लीचों से भरा था। नीचे फ़र्श पर एक ही ग़ालीचा बिछा था। दीवारें ग़ालीचों से ढकी थीं और कोनों में गोल करके रखे हुए ग़ालीचों के ढेर थे। चौथे कमरे में

ऊन और सिल्क का सामान था, शाल, दोशाले, केप, ड्रेसिंग-गाऊन, सिल्क के पलंगपोश, मेज़पोश, टी-सेट इत्यादि-इत्यादि···

लेकिन इतनी सब सुन्दर और बहुमूल्य कला-कृतियों को देखकर कहानी-लेखिका बाहर आयी तो और भी चिढ़ी, दुखी और खीझी थी ।

हुआ यह कि इतनी सब अच्छी चीज़ों को देखकर उसका मन स्वयं भी कुछ लेने को हो आया। चाँदी की चीज़ों के शो-रूम में उसने एक छोटी-सी सुरमेदानी पसन्द की। उसके पति ने दाम पूछा तो मालूम हुआ, बीस रुपया है। तब उसने कहा, दूसरी चीज़ें देख लो, फिर इसकी बात करेंगे। वुड-कट और पेपर मैशी के कमरे में उसे एक छोटी-सी ट्रे और टायलेट-सेट रुचा। दाम आठ-आठ रुपये। पति ने उसके कान में कहा, बाँध और अमीराकदल की दुकानों पर दोनों चीज़ें साढ़े तीन-तीन रुपयों में मिल जायँगी। ग़ालीचों वाले हाल में उसने एक छोटे-से दरी जितने ग़ालीचे का मोल पूछा। मालूम हुआ, डेढ़ सौ रुपया। शाल-दोशाले वाले कमरे में उसे एक काली शाल पसन्द आयी, पर उसके पति ने कहा कि आज वह नोट ले ले, अभी चार पुल बाकी हैं और वह बाज़ार भी देखना चाहती है। और वे सेठ से फिर आने की बात कहकर बाहर निकल आये।

शिकारे में बैठे तो चौथे पुल को जाने के बदले वह सामने किनारे की ओर बढ़ा।

"उधर क्यों जा रहे हो ?" वह चीखी।

"गेनेमीड भी देख लीजिए।"

"वह क्या है ?"

"वुड-कट की दुकान और कारखाना है। वहाँ लकड़ी का सामान बनता है।"

"हमें नहीं देखना !" वह शिकारे वाले से बोली, फिर उसने अपने पति से कहा, "इन कम्बख़्तों को कमीशन मिलता है। बाज़ार दिखाने के बदले दुकानों में ले आये हैं।"

"चलो, देख लें, कैसे कारीगर ऐसा बढ़िया, बारीक सामान बनाते हैं।" उसके पति बोले।

और शिकारा दूसरे किनारे जा लगा।

'गेनेमीड' में लकड़ी का सामान तो खिज़र मुहम्मद वालों से बढ़िया न था, पर वहाँ कारखाना उन्हें देखने को मिल गया। सीढ़ियों के दूसरी ओर एक बड़े-से खुले कमरे में कारीगर बैठे काम कर रहे थे। एक बूढ़ा कारीगर, जिसके सिर पर कई जगह बाल उड़ जाने से चकत्ते पड़ गये थे और खोपड़ी दिखायी देने लगी थी, आँखों पर चश्मा लगाये, एक बड़ी गोल मेज़ पर पतली-सी सत्थी की सहायता से एक चीनी अजगर बना रहा था।

"कितना वक़्त लगेगा, तुम्हें इसे ख़त्म करने में ?" पति बोले।

"सत्तर दिन भी लग सकते हैं, अस्सी भी, नब्बे भी।"

"कितने को बिकेगी ?"

"तीन सौ में भी बिक सकती है, चार सौ में भी, पाँच सौ में भी, जितने को मालिक बेच सकें।"

तीन सौ और पाँच सौ में दो सौ के अन्तर पर कहानी-लेखिका के व्यापारी पति का ध्यान गया और मन-ही-मन उन्हें खेद हुआ कि इतनी आसानी से इतना मुनाफ़ा कमाया जा सकता है, पर उनके बस में वह सब कमाना नहीं। निमिष भर रुककर उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या मिलेगा ?"

"डेढ़ रुपया रोजाना !"

दबी हुई साँस मुखर होकर उनके ओठों पर आ गयी। कितनी लागत और कितना लाभ ! फिर वे दूसरी ओर मुड़े।

उधर तैयार हो चुकने वाली चीज़ों पर पालिश हो रहा था। वास्तव में पालिश तो हो चुका था। दो कारीगर कपड़े से मलकर उन्हें चमका रहे थे। उनकी अपनी कमीज़ें, शलवारें, हाथ और मुँह लाल गेरुए-से हो रहे थे।

तीसरी ओर लम्बी-लम्बी गर्दनें बढ़ाये उड़ते हुए सारस तैयार पड़े थे और एक आदमी उन पर पालिश कर रहा था। चारों ओर मैले-फटे कपड़े पहने, भूखे पंजर शरीर लिये, अपने जन्मजात गोरे रंग को मैल से ढँके, कारीगर सौन्दर्य की सृष्टि कर रहे थे।···

लेकिन कमरे के मध्य तीन लकड़ियाँ एक-दूसरे के सहारे तिकोन-सी बनाती खड़ी थीं, जिनके बीच एक काला-स्याह डिब्बा लटक रहा था। उसके नीचे लकड़ियाँ धुँधुआ रही थीं। डिब्बे में सरेश गर्म हो रहा था और सुलगती लकड़ियों से हल्का-सा कड़ुवा धुआँ उठकर सारे कमरे में फैल रहा था। कहानी-लेखिका की आँखों से पानी बहने लगा। कुछ भी देखने लायक उसे वहाँ दिखायी न दिया। उसने बढ़कर अपने पति का हाथ पकड़ा और बोली, "अब चलिए भी, देर हो रही है।"

"मैंने सोचा, तुम नोट लोगी।" पति महोदय ने कहना चाहा।

"यहाँ क्या है ?" कहानी-लेखिका ने नाक-भौं चढ़ाते हुए कहा, "धुएँ के मारे आँखें लाल हो गयीं।"

और वह खींचती हुई अपने पति को बाहर सीढ़ियों तक ले गयी। उसका बच्चा दूसरे कमरे में चीज़ों को छेड़ रहा था। डाँटकर उसने उसे बुलाया और बाप-बेटा उसके पीछे सीढ़ियाँ उतरे।

वे जाकर शिकारे में बैठे तो कहानी-लेखिका इतनी खीझी, दुखी और चिढ़ी थी कि वह लेटी भी नहीं। घुटनों पर कुहनियाँ टिकाये, हाथों हर ठोड़ी रखे वह बैठी रही। तीसरे के बाद पुल दूर-दूर नहीं थे। चौथे पुल से पहले ही उसने शोर मचाना शुरू कर दिया कि शिकारा रोको, हमें बाजार देखना है और शिकारा पुल के पार एक तंग घाट पर रुक गया। बेहद तंग, गन्दी, सीली सीढ़ियों पर

चढ़कर वे बाज़ार में आये। छोटा-सा, लेकिन भरा-पूरा बाज़ार था। सामने ही समावार बिकते थे। कहानी-लेखिका वापस जाते समय एक समावार भी ले जाना चाहती थी, ताकि पिकनिकों पर या अचानक ज़रूरत पड़ जाने पर चाय बनाने में आसानी रहे। उसने भाव पूछा। बड़े समावार सात रुपये सेर थे और छोटे, जिन पर कुछ काम भी था, आठ रुपये सेर! लेकिन समावार ताँबे के थे और उन पर कलई की गयी थी। उसने अपने पति को आदेश दिया कि वे अमीराकदल इत्यादि में पूछें, यदि पीतल का न मिले तो यहाँ से एक ताँबे ही का ले जायँ।

उसके पति ने 'हाँ,' 'ना' किसी तरह का उत्तर नहीं दिया। ऊँघते हुए-से वे उसके साथ बाज़ार के मोड़ तक गये। समावार वाले के अतिरिक्त, फल वाले, इज़ारबन्द और टोपियों वाले, मोटा कपड़ा बेचने वाले, पत्थर गढ़ने वाले, गिलट के गहने चाँदी के बताकर बेचने वाले और ऐसे ही कुछ लोगों की दुकानें थीं।

वे पत्थर वाले और चाँदी के गहनों वाले की दुकान पर रुके। पत्थर वाला लकड़ी की सान पर छोटे-से पत्थर को जिला दे रहा था। धोकर उसने उन्हें दिखाया। पत्थर में पत्ते के निशान थे। पूछने पर उसने पत्थर का एक टुकड़ा भी भी दिखाया, जिस पर बेल बनी थी। उसी को तार से काट और सान पर घिस-कर वह नगीने बना रहा था। कई तरह के पत्थर उसने उन्हें दिखाये। कहानी-लेखिका ने पहली बार अपनी कापी पर कुछ ज़रूरी नोट लिये। लड़का आड़ुओं के लिए मचल रहा था। उसको उसने डाँट दिया। जब उसने एक नगीना ख़रीदने की इच्छा प्रकट की तो उसके पति ने अंग्रेज़ी में कहा कि ये लोग मोल ज्यादा बताते हैं, भाव-ताव में बड़ी देर हो जायेगी, अभी तीन पुल देखने को रहते हैं। यही बात उन्होंने गहनों वाली दुकान पर दोहरा दी। तब नोट लेना छोड़कर कहानी-लेखिका तिनतिनाती हुई वापस चल दी। पति बच्चे को फल लेकर देने के लिए रुक गये।

जब वे रस भरे आड़ू खाते हुए वापस पहुँचे और उन्होंने उसे भी पेश किये तो उसने एकदम इनकार कर दिया और चिल्लायी कि वे जल्दी देखें कि यह सब 'बकवास' ख़त्म की जाय।

बाज़ार से ही पता चल गया था कि पाँचवें पुल पर कोई दुकान नहीं। इस लिए वह चुप रही।

छठे पर वह उम्मीद कर रही थी कि हाँजी शिकारा रोकेगा, लेकिन जब क़ाफ़ी दूर पार आकर भी वह नहीं रुका तो वह चिल्लायी।

"हुज़ूर, यहाँ भी वैसी ही दुकानें हैं।"

"वैसी ही हैं तो क्या, हम एक नज़र देखते।"

"हुज़ूर, वैसी ही दुकानें हैं।" शिकारे वाले ने फिर वही बात दोहरा दी और निरन्तर शिकारा चलाता रहा। कहानी-लेखिका भुनभुनाती रही और अँग्रेज़ी में गालियाँ देती रही।

सातवें पुल के इधर दूर ही से शिकारे वाले ने कहा, "वह सातवाँ पुल है।"

"इसके पार क्या है ?"

पार वीयर था, जो देखने ही की चीज़ है, पर वह चिढ़ा हुआ बोला, "पार कुछ नहीं, पानी खेतों को निकल जाता है।"

"हम बाज़ार देखेंगे।"

"वहाँ दुकानें नहीं !"

"हमने पूछा था, हैं।"

"चलिए दिखाता हूँ।"

लेकिन आगे जाने के बदले उसने बायीं ओर नदी से निकलने वाले एक नाले में शिकारा मोड़ दिया। जब कहानी-लेखिका फिर चिल्लायी तो फिर उसने वही वाक्य दोहरा दिया—"चलिए, दिखाता हूँ।"

प्रकट ही उसकी वह सनक शिकारे वाले की समझ के बाहर थी। कहानी-लेखिका को उसे बाज़ारे देखने की ज़िद हो गयी थी। पति की कंजूसी, बच्चे की चंचलता, हाँजी की मूढ़ता, जैसे इस सबका गुस्सा वह अपनी वही रट लगाये जाने में निकाल रही थी।

किन्तु जब वे काफ़ी दूर निकल आये और ऊपर से छोटे-छोटे दो पुल भी गुज़र गये, जिन पर कुछ दुकानें भी दिखायी दीं तो कहानी-लेखिका के क्रोध की सीमा न रही। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी। तब शिकारे वाले ने एक घाट पर शिकारा रोक दिया। वे एक तंग और गन्दे मार्ग से ऊपर चढ़े और एक बाज़ार में आ गये। बाज़ार में दो-एक दुकानें थीं। सामने एक टोपियों वाले की दुकान थी, जिस पर बैठे एक युवक ने प्रकट शरारत से पूछा, "कहिए, बाबू जी, लेंगे कराकुली टोपी ?" दो-एक टोपियों की और दुकानें थीं, एक-आध करियाने और बेकरी वाले की और उसके बाद गली एकदम सुनसान थी।

कहानी-लेखिका ने पूछा, "यह सातवें पुल का बाज़ार है ?" और एक दुकानदार से बाज़ार का नाम पूछा।

"नया बाज़ार।"

और वह चिल्लायी, "यह तुम हमें कहाँ ले आये हो ?"

बड़े शान्त स्वर में हांजी ने उत्तर दिया कि बाज़ार में !

"पर हम सातवें पुल का बाज़ार देखना चाहते हैं।"

"वह भी ऐसा ही है। ऐसी ही दो-चार दुकानें हैं।" और उसने सिर हिलाया कि किन सनकियों से पाला पड़ा है जो इतनी-सी बात भी नहीं समझते।

लेकिन कहानी-लेखिका चिल्लायी, "हम यह बाज़ार नहीं देखना चाहते। हम वापस जायेंगे"

"शिकारा आगे गया है, इधर आइए।" विवश हो उसने कहा और वह दायीं ओर को चला।

एक सुनसान-से बाज़ार में, जिसमें कभी-कभी कोई अन्धी-चुंधी दुकान

दिखायी दे जाती थी, वे दूर तक चलते गये, यहाँ तक कि कहानी-लेखिका के सब्र का पैमाना भर गया और वह चीखी, "शिकारा नहीं मिलता तो हम ताँगे पर जायँगे ।"

बायीं ओर के एक मकान से लगा खुला-सा बड़ा अहाता था, जिसके परे लगता था कि नाला है । शिकारे वाला उधर से शिकारा देखने गया ।

"इस हरामज़ादे को जूते मारने चाहिए ।" कहानी-लेखिका ने दाँत पीसते हुए कहा, "यह हमें चालाकी से वापस ले आया है ।"

"ख़ैर, तुम गुस्सा न करो ।" उसके पति उसे सांत्वना देते हुए बोले, "दो रुपये में इसने फिर भी हमें बड़ी सैर करा दी है । परसों साढ़े तीन दिये थे और पाँचवें पुल तक भी न आये थे ।"

लेकिन कहानी-लेखिका भुनभुनाती रही । शिकारे वाले ने आकर बताया कि ज़रा और आगे जाना पड़ेगा । शिकारा आगे निकल गया है । और वह भागा ।

"इस हरामज़ादे के सौ जूते लगाने चाहिए !" कहानी-लेखिका ने फिर दाँत पीसकर अपने पति से कहा ।

कुछ और आगे जाकर वे बायीं ओर को मुड़े । नीचे नाले में लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठे बँधे पड़े थे ! वहीं वह युवा शिकारे वाला डोंगे के नम पर बैठे एक आदमी से बातें कर रहा था और दोनों हुक्का पीने में तल्लीन थे ।

वे जाकर शिकारे में बैठ गये । लेकिन युवा शिकारे वाला पूर्ववत् बातें करता रहा ।

तब कहानी-लेखिका चीखी, "अब चलो भी जल्दी !"

शिकारा चला तो कहानी-लेखिका का पति बड़े इत्मीनान से लेट गया । उसने फिर बड़े सन्तोष से अँग्रेज़ी में कहा, "दो रुपये में इन कम्बख़्तों ने हमें बड़ी सैर करा दी है !"

लेकिल कहानी-लेखिका उसी तरह घुटनों पर कुहनियाँ रखे, असन्तुष्ट, अप्रसन्न, कुपित बैठी रही ।

नाले-नाले चलते हुए वे जल्दी ही वापस सेक्रेटेरिएट के पास आ निकले ।

सामने अमरीकदल दिखायी दे रहा था । कहानी-लेखिका चाहती थी कि शिकारा उड़ चले और वह आराम से जाकर चाय के गर्म-गर्म प्याले के साथ ऐस्प्रो की दो टिकियाँ ले और बिस्तर पर लेट जाय !

लेकिन शिकारे वाले एक डोंगे के पास रुक गये और हुक्का भरने लगे ।

"जल्दी चलो ।" कहानी-लेखिका बोली, "सारा दिन तबाह कर दिया तुमने !"

लेकिन वे बड़े इत्मीनान से डोंगे वाले से आग लेकर हुक्का भरते रहे ।

तभी किनारे पर नहाते हुए कुछ बच्चों ने शिकारे के नम पर बैठे, डाँड चलाते त्रिलोक को डराया । वह उनके मुकाबिले में डाँड लेकर उठ खड़ा हुआ, डाँड को पानी में डालकर उसने पानी की बौछार उन पर छोड़ दी और इस प्रयास

में गिरने-गिरने को हो गया।

"आ तो मुए, मैं तुझे ही ठीक करूँ पहले..."

दाँत पीसती हुई कहानी-लेखिका एक प्रबल क्रोध के वश हो उठी और उसने अपनी सारी खीझ, झुँझलाहट और गुस्सा एक ज़ोरदार लात की सूरत में बच्चे पर निकाल दिया।

लेकिन बच्चे के हाथ में डाँड था। लात खाकर वह सम्हल न सका, छप्प से पानी में जा गिरा।

उसके पति उछलकर उठे। शिकारे वाले ने एक नज़र, जिसमें जाने क्रोध था, हिकारत थी या बदला लेने की अदम्य भावना (क्योंकि अँग्रेज़ों के साथ रहने के कारण अँग्रेज़ी गालियाँ वह समझता था) कहानी-लेखिका पर डाली। फिर सिर को ज़रा-सा झटका देकर वह पानी में कूद गया और दूसरे क्षण उसने डूबते हुए बच्चे को हाथ से पानी के ऊपर उठा लिया।

काकड़ाँ का तेली

"अढ़ाई रुपये !" मौलू ने सिर हिलाकर अपनी पत्नी की ओर देखा—उन आँखों से, जो मानों कह रही थीं कि कम्बख़्त ताँगे वाले की अक्ल शायद घास चरने चली गयी है !

अभी मुश्किल से आठ-साढ़े आठ का वक्त होगा, किन्तु दिन पहाड़-सा निकल आया था। सूरज बिलकुल सिर पर मालूम होता था। गर्मी इतनी थी कि दम घुटा जाता था। गर्द की हल्की-सी धुन्ध चारों ओर छायी हुई थी और इस कारण किरणें यद्यपि सीधी न पड़ती थीं तो भी शरीर के नंगे भागों में नोकें-सी चुभती हुई महसूस होती थीं।

मौलू ने अपनी बड़ी-सी पगड़ी को ठीक किया, जिसे उसकी पत्नी ने रात को रीठों के पानी से धोया था और चावलों की कनी को पकाकर कलफ़ लगाया था और जिसे दोनों सिरों को पकड़कर उसकी दोनों बेटियों ने आँगन में चक्कर लगाकर सुखाया था और जो रात भर तह करके रखी रही थी और इस समय उसके सिर पर चमक रही थी और सिर के झटके से एक ओर को हो गयी थी। फिर उसने अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर (जो ओठों के पास पीली-सी हो गयी थी।) हाथ फेरा, गठरी को बायें कन्धे पर करके दायें हाथ से तहमद को ज़रा-सा झटका दिया और चल पड़ा।

बीबाँ, उसकी पत्नी ने सामने जाते हुए ताँगे के पीछे उड़ती हुई धूल में आँखें गड़ा दीं और बोली, "अढ़ाई रुपये ! इतने से तो पन्द्रह दिन का खर्च चल सकता है, और नहीं तो फ़ज्जे की दो कमीज़ें या मेरे नन्हें चिराग़ की कई कुर्तियाँ बन सकती हैं।" और उसने गोद के उबली-उबली, सूजी-सूजी आँखों वाले काले-स्याह बच्चे को मुहब्बत से चूम लिया।

जूते के साथ गर्द उड़कर मौलू के तहमद पर पड़ रही थी। रात उसकी पत्नी ने पगड़ी और कमीज़ के साथ उसको भी धोया था और नील भी दिया था, जो शायद रात के अँधेरे में अधिक दिया गया था, क्योंकि तहमद की सफ़ेदी में हल्की-सी नीलाहट साफ़ दिखायी दे रही थी और ज्यों-ज्यों गर्द पड़ती थी, वह और भी उभरती थी—मौलू ने फिर एक झटका देकर तहमद को ऊपर खोंस

लिया। "इन साले ताँगे वालों ने सड़क का सत्यानास कर दिया है, मिट्टी मैदा बन गयी है।"—और उसने अपनी पत्नी और उसके पीछे आने वाली दोनों लड़कियों और सात-आठ वर्ष के बच्चे से कहा कि वे सड़क छोड़कर मेड़-मेड़ होकर चलें।

वहाँ तो सिर्फ़ ताँगे ही चलते थे, लेकिन जब मौलू तीन-चार मील चलकर भीलोवाल के पास पहुँचा, जहाँ मोटर लारियाँ भी तशरीफ़ लाती थीं और बकरियों और भेड़ों का एक रेवड़ 'मैं-मैं' 'भें-भें' करता हुआ कस्बे से निकला और रात-भर बाड़े में बन्द रहने के बाद चंचल और शोख़ बकरियाँ (जो माएँ न बनी थीं और जिनके स्तन इतने भारी न थे कि उनके नीचे थैली की ज़रूरत पड़े) और जीवन की कटु-वास्तविकता से अनभिज्ञ मेमने कुचालें भरने लगे तो मौलू को इस मैंदे की यथार्थता का पता लगा—गर्द इस तरह उड़ी कि उसके लिए आँख खोलना और मुड़कर अपने बच्चों को देखना तक असम्भव हो गया।

जब तूफ़ान कुछ थमा और बकरियों और भेड़ों की आवाज़ों को दबाती हुई चरवाहों की कर्कश गालियाँ श्रवण-शक्ति की सीमा से परे चली गयीं तो मौलू सड़क को पार करके दूसरी ओर गेहूँ के कटे हुए खेत में जा खड़ा हुआ। गठरी उसने उतारकर धरती पर रख दी, तहमद और कमीज़ को अच्छी तरह झाड़कर उसने सिर से पगड़ी उतारी और उसे भली-भांति झाड़ा; कमीज़ के दामन को उलटा करके उससे मुँह पोंछा; फिर पगड़ी बाँधी और अपने बीवी-बच्चों को आवाज़ दी कि वे भी सड़क के इस किनारे आ जायें।

धूल जैसे दायीं ओर धरती और आकाश के मध्य जाकर लटक गयी थी। एक लम्बी-सी लकीर वहाँ बनी हुई थी। ज्यों-ज्यों रेवड़ आगे बढ़ता जाता था, यह लकीर भी बढ़ती जाती थी। इस बढ़ती हुई लकीर की ओर देखकर और दिल-ही-दिल में चरवाहों को कई अश्लील गालियाँ देकर आखिर मौलू ने कहा, "बदतमीज़ नहीं जानते कि रास्ते में शरीफ़ लोग जा रहे हैं, ज़रा ख़बरदार ही कर दें कि भई एक तरफ़ हो जाओ। बस उड़े चले जाते हैं, जैसे मुहिम सर करने जा रहे हों—हरामज़ादे!" और उसने अपनी मूँछों को दो बार प्यार देते हुए अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर लिया।

'शरीफ़' से मौलू का क्या अभिप्राय था—यह बात उसे स्वयं मालूम न थी। वह 'काकड़ाँ' का तेली था—गाँव के इस किनारे, जहाँ बरगद का एक महान विटप बढ़कर आधे जौहड़ को अपने अधिकार में ले चुका था, उसने एक छोटा-सा कोल्हू लगा रखा था। जौहड़ के किनारे-किनारे रूड़ियों[1] के ढेर लगे हुए थे। कभी जब वर्षा होती तो जौहड़ का पानी अपने किनारों के ऊपर से बह निकलता, मार्ग अवरुद्ध हा जाते, टांगें घुटनों तक कीचड़ में धँस जातीं और रूड़ी के ढेरों

---

1. रूड़ी = गन्दगी

की दुर्गन्ध वट के साये की नमी जैसे वहीं जमकर रह जाती—लेकिन अपने जीवन के 55 वर्ष मौलू ने इसी स्थान पर व्यतीत किये थे। गाँव से बीस मील परे क्या होता है, इसकी उसे कभी ख़बर न हुई थी। जीवन में शायद तीन-चार ही ऐसे अवसर आये थे, जब उसे ऐसे धुले हुए कपड़े पहनने को मिले थे। ईद पर हर साल वह अवश्य कपड़े बदला करता था। किन्तु उसका कपड़े बदलना यही होता कि नंगे बदन रहने के बदले वह उस दिन कमीज़ भी पहन लेता या बीबाँ अधेले के रीठे लेकर उन्हें मल डालती, नहीं उसकी आयु तो तेल में सने हुए काले, चीकट कपड़ों में गुज़र गयी थी। कपड़ों में क्या—आयु का अधिकांश भाग तो उसने मात्र एक तहमद में गुज़ार दिया था। जिस तरह पास रहते हुए भी जौहड़ के गन्दे पानी और उसके किनारे लगे हुए गन्दगी के ढेरों में उसके लिए कोई दुर्गन्ध न रही थी, इसी तरह तेल और पसीने से तर, गन्दे, मैले, जीर्ण-जर्जर कपड़ों के लिए भी उसकी संज्ञा मर गयी थी। और रही गर्द, तो मात्र तेल के काम से इस गाँव में आजीविका की सूरत न देखकर, उसने वहीं कोल्हू के एक ओर चाक लगा रखा था जहाँ वह घड़े, कुज्जे, लोटे, दौरियाँ, मटके बनाया करता था। वह जाति से कुम्हार था या तेली?—इस बात का स्वयं उसे पता न था। अपने दादा और फिर पिता को उसने यही काम करते देखा था और जब से उसने होश सँभाला था, वह यही काम किये जा रहा था। जब उसके हाथ तेल में न होते तो मिट्टी में होते। रही शिक्षा, तो कुराने-पाक की कुछ आयतों के अतिरिक्त (जो वह ग़लत उच्चारण के साथ बड़ी तन्मयता से पढ़ा करता था) उसने वे सब गालियां सीखी थीं जो उसके दादा, फिर बाप और फिर बड़े भाई दिया करते थे। किन्तु आज इस मिट्टी और इस वातावरण के विरुद्ध, जिसमें कि वह जन्मा, पला और परवान चढ़ा, जो ऐसी घृणा की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गयी और वह अर्ध-नग्न, जीर्ण-शीर्ण तहमदों में आवृत, अपने कपड़ों के अभाव की ओर से बेपरवाह चरवाहों को 'बदतमीज़' और 'असभ्य' समझने लगा तो इसका कारण था। पहले तो यह कि वह अपने उस छोटे भाई के लड़के की शादी में शामिल होने के लिए जा रहा था जो लाहौर रहता था और देहाती की अपेक्षा अधिक शहराती हो गया था, फिर देहातियों के लिए शहर वाले शरीफ़ होते हैं और चूँकि वह स्वयं एक शरीफ़ आदमी के लड़के की शादी में जा रहा था, इसलिए वह भी शरीफ़ ही था, फिर यह कि उसने अत्यन्त साफ़-सुथरे कपड़े पहन रखे थे—और शराफ़त तो एक आपेक्षिक-सी चीज़ है—शरीफ़ वह है जो शरीफ़ नज़र आये और 'काकड़ाँ' में रहते हुए वह जो कुछ भी हो, इस रास्ते पर जाता हुआ वह काफ़ी शरीफ़ और प्रतिष्ठित मालूम होता था।

वैरोके के समीप एक खाल[1] पानी से भरी, किसी बड़े अजगर की भाँति मज़े से

1, खाल = रजबहा

रींग रही थी। मौलू ने उसे पार किया, फिर गठरी रखकर हाथ बढ़ा, बच्चे को थामा और अपनी पत्नी को खाल पार करने में सहायता दी। रहमाँ पहले स्वयं छलांग मारकर इधर आयी, फिर उसने फ़ज्जे को पार उतारने में मदद दी, किन्तु लहराँ के जूते की एक मेख़ उभर आयी थी और उसकी दायीं एड़ी में घाव हो गया था। नीचे धरती गर्म लोहे की भाँति तप रही थी, इसलिए वह नंगे पाँव चलने का साहस न कर सकी थी और ऐड़ी उठाये, अपने दुपट्टे से गर्दन पर निचुड़ते हुए पसीने को पोंछती हुई, चली आ रही थी और बहुत पीछे रह गयी थी।

"अरी तू अब तक पीछे ही लटकती हुई चली आ रही है; पाँव तेरे टूट गये हैं क्या ?" और पल-भर के लिए अपनी शराफ़त को भूलकर मौलू ने एक अश्लील गाली अपनी लड़की को दे डाली।

"मुझसे चला नहीं जाता," लहराँ ने जैसे रोते हुए कहा।

मौलू ने गठरी उठाकर जामुन के एक पेड़ के नीचे रख दी। "ला इधर, मैं इस मेख़ को ठीक कर दूं ! अभी ग्यारह-बारह मील हमें जाना है।"

बीबाँ अपने आँचल से अपने-आपको हवा करती हुई वहीं वृक्ष के नीचे घास पर बैठ गयी और नन्हें को दूध पिलाने लगी।

रहमाँ ने खाल के पानी से मुँह धोया और गीले हाथ फ़ज्जे के मुँह पर फेरे। और खाल पर पहुँचकर लहराँ ने जूते अपने बाप की ओर फेंक दिये और फिर फलाँगकर इस ओर आ गयी, किन्तु पाँव उसका अब भी लँगड़ा रहा था।

मौलू ने मेख को देखा—उसकी पतली-सी नोक, जिसका मुर्चा घाव की नमी के कारण साफ़ हो गया था, किसी नव-वय के विद्रोही की तरह सिर उठाये चमक रही थी। कहीं से ईंट का एक टुकड़ा ढूँढ़कर मौलू ने उस नोक को तोड़ दिया। फिर निरन्तर चोटों से उसे बहुत ज़्यादा अन्दर धकेल दिया और मुँह पर पानी के छींटे मारकर उसे तहमद के दामन की उलटी तरफ़ से पोंछता हुआ कुछ क्षण सुस्ताने के लिए अपनी पत्नी के पास आ बैठा।

"वैराके तो बस पास ही है, इस आमों के बाग़ के पीछे; यहाँ से सुनते हैं अटारी दस मील है। तो मज़े से तीसरे पहर वहाँ जा पहुँचेंगे।" और फिर ताँगे वाले की बात का ख़याल आ जाने से उसे हँसी आ गयी, "साला अढ़ाई रुपये माँगता था। छह मील तो हम आ गये।"

"अढ़ाई रुपये," उसकी पत्नी ने कहा, "जैसे हमारे यहाँ रुपयों के ख़ज़ाने हों। वहाँ जायेंगे तो क्या हसन खाँ के बच्चों के लिए कुछ न लेकर जायेंगे ?"

यह हसन खाँ, जो अपने जीवन के 35 वर्ष तक गाँव में सिर्फ़ 'हस्सू' के नाम से पुकारा जाता रहा, लाहौर में ईश्वरसिंह सरकारी ठेकेदार का मेट था। जब लोपोके की नहर बननी शुरू हुई तो न जाने किस तरह, मौलू आज तक इस बात को नहीं समझ सका। हस्सू जाकर उसके मज़दूरों में शामिल हो गया। छह आने दैनिक मज़दूरी पर। फिर ठेकेदार ईश्वरसिंह ने खुश होकर उसे पाँच रुपये महीने

पर मेट बना लिया, फिर आठ कर दिये और जब उस काम को खत्म करके ठेकेदार ईश्वरसिंह लाहौर चला गया तो अपने इस विश्वसनीय मेट को भी साथ ले गया। उसी दिन से 'हस्सू' हँसन खाँ बन गया था। गाँव में जब वह एक बार आया तो चौड़े पायँचों की शलवार, बोस्की की कमीज़ और सिर पर कुल्लेदार साफ़ा उसने पहन रखा था, जिसका तुर्रा एक फूल की भाँति खिला हुआ था—मौलू चकित रह गया था और समझ न पाया था कि किस तरह उसके इस छोटे भाई ने इतना ओहदा और इतना इल्म प्राप्त कर लिया है।

इस जामुन की छाया में बैठे-बैठे, अपनी तहमद की गाँठ खोलकर मौलू ने सब पैसे निकाले। अधिकांश पर मिट्टी और तेल की काली तह जम गयी थी और यद्यपि धरती से निकालकर तहमद में बाँधने से पहले उसने उन्हें अच्छी तरह धो लिया था, तो भी तहमद का वह हिस्सा, जिसमें पैसे बाँधे गये थे, काला हो गया था।

यद्यपि घर से वह उन्हें गिनकर लाया था और यद्यपि चन्द पैसों के सिवा उनमें से कुछ अधिक खर्च न हुआ था, तो भी घास पर तहमद का एक पल्ला बिछाकर उसने उन्हें दोबारा गिना—चार रुपये और कुछ आने थे। और यह रकम उसने बड़ी कठिनाई से पैसा-पैसा करके साल-भर में जमा की थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि दो साल में जमा की थी। ज्योंही हस्सू का लड़का आठ वर्ष का हुआ और उसकी सगाई हुई, उन्हें इस बात की चिन्ता हो गयी थी कि उसका निकाह बस अब समीप ही है, इसलिए उन्हें कुछ-न-कुछ बचाना चाहिए और चूँकि हस्सू लाहौर चला गया था और उसने यह भी जता दिया था कि वह लड़के की शादी लाहौर ही करेगा, इसलिए दो साल से वे इस विवाह में जाने के लिए कुछ-न-कुछ बचाने का प्रयास करते आ रहे थे और दो साल से ही बच्चे इस विवाह में शामिल होने के खयाल से इस बात का ज़िक्र करके कि उन्हें वहाँ क्या-क्या खाने को और क्या-क्या उपहार-स्वरूप मिलेगा, खुश हो रहे थे। किन्तु गत वर्ष मौलू केवल दो रुपये बचा पाया था और इस वर्ष सिर्फ़ दो रुपये और कुछ आने।

और इन दो वर्षों में उसने परिश्रम भी कम न किया था। जितनी सरसों वह प्राप्त कर सकता था, उसने प्राप्त की थी और जितना तेल इर्द-गिर्द के गाँवों में बेचा जा सकता था, उसने बेचा था। अपनी सप्लाई को बढ़ाने के लिए उसने सरसों में तोरिया मिलाने से भी संकोच न किया था और जब उसके ग्राहकों ने शिकायत की थी कि तेल बालों में ज़्यादा लगता है तो उसने बड़े गर्व से कहा था कि खालिस कच्ची घानी का जो हुआ, नहीं नाखालिस तेल यदि लगाओ तो यह भी पता नहीं चलता कि बालों में कोई तेल लगा है या नहीं ! फिर फ़सल के दिनों में उसने कटाई का काम भी किया था और पीर दौले शाह और क्रीम शाह की खानकाहों पर लगने वाले मेलों में घड़ों और मटकों की दुकानें भी लगायी थीं, लेकिन इस पर भी वह गत दो वर्ष में यही कुछ बचा पाया था। और बिना

सालन की रूखी रोटी के सिवा उन्हें कभी कुछ प्राप्त न हुआ था। यह ठीक है कि इस विवाह के ख़याल से उसने अपनी बीवी और बेटियों को गबरून की एक-एक कमीज़ और दरेस की एक-एक सुथनी सिलवा दी थी, स्वयं भी एक तहमद और साफ़ा ख़रीदा था और फ़ज्जे को भी एक तहमद ले दी थी, लेकिन इन सब के लिए तो वह भीलो शाह का कर्ज़दार था, जिससे उसने वादा किया था कि अगले वर्ष वह जितना तेल निकालेगा, उसकी दुकान में डाल देगा।

वहीं बैठे-बैठे मौलू ने हिसाब लगाना शुरू किया, "यदि हम अटारी से जाकर चढ़ें तो चार-चार आने तो मोटर का किराया लगेगा, इस तरह साढ़े चार टिकटों के···"

"लेकिन साढ़े चार किस तरह?" उसकी पत्नी ने बात काटकर कहा, "फ़ज्जे का टिकट किस तरह लग सकता है, अभी कल का तो बच्चा है, तुम उसे ज़रा गोदी में उठा लेना!"

"ये मोटर वाले एक ही शैतान होते हैं," मौलू ने कहना शुरू किया, "अगर माँगेंगे तो? सुना है, तीन साल से बड़े का टिकट लगता है।"

"हाँ लगता है!" बीवाँ बोली, "वे न माँगें तो भी तुम दे देना!"

"तो ख़ैर एक रुपया टिकटों का सही और फिर शहर का मामला है। हसन खाँ की वहाँ शान होगी। पैदल घिसटते हुए उसके यहाँ कैसे जाया जायगा? पड़ोसी न कहेंगे – कैसे भिखमंगे रिश्तेदार हैं इसके। ताँगे तक पर नहीं आ सके। —तीन-चार आने ताँगे पर भी खर्च करने पड़ेंगे।"

बीवाँ को इस बात का विश्वास था और अपने बच्चों को भी उसने कई महीने पहले कह रखा था कि चचा के घर से उन्हें बहुत कुछ मिलेगा, इसलिए उसने कहा, "एक रुपये की मिठाई हस्सू के बच्चों के लिए ले जाना, जब वे हमारे बच्चों को इतना कुछ देंगे तो हम किस तरह ख़ाली हाथ जायेंगे?"

"ख़ैर," मौलू हिसाब लगाकर बोला, "सवा रुपया वापसी पर खर्च आयेगा तो बाक़ी बड़ी मुश्किल से बारह आने-एक रुपया बचेगा।"

लहराँ ने अचानक कहा, "मेरे पाँव में छेद हो गया है, जूता मेरा बिलकुल घिस गया है, मुझे जूता ले देना।"

रहमाँ बोली, "मेरी चुनरी फट गयी है, मुझे एक नयी चुनरी ले दो, चचा की लड़की के सामने क्या मैं यह फटी चुनरी पहनूँगी?"

मौलू की कमीज़ का दामन पकड़ते हुए फ़ज्जे ने कहा, "अब्बा हमें बूट ले देना!"

"चलो बैठो!" बीवाँ ने एक झिड़की दी। "सात-आठ दिन वहाँ रहना है! तो क्या अपने पास एक कौड़ी भी न रखेंगे! फिर लम्बा रास्ता, शरबत-पानी की भी ज़रूरत पड़ जाती है।"

लोपोके के मोड़ पर उन्हें एक ताँगा जाता हुआ मिला। लहराँ के जूते की मेख फिर बाहर निकल आयी थी, लेकिन उस घायल दिल की भाँति जिसमें

कुन्द-सा मज़ाक भी छेद कर देता है, वह कुण्ठित, मुड़ी हुई मेख़ लहराँ की घायल ऐड़ी को और भी घायल कर रही थी और वह लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रही थी और काफ़ी पीछे रह गयी थी और फ़ज्जा भी चिल्लाने लगा था कि उसे उठा लिया जाय और धूप की शिद्दत से बीबाँ की गोद का बच्चा भी बेहाल होने लगा था।

मौलू ने बेपरवाही से ताँगे की ओर देखते और जैसे ईंट फेंकते हुए पूछा, "क्यों भई ?"

"कहाँ जाना है ?" ताँगा बिना रोके ताँगे वाले ने पूछा।

"अटारी !"

"पाँच-पाँच आने !"

"पाँच-पाँच आने ?"

"तुम्हें क्या देना है ?"

लेकिन मौलू ने कुछ उत्तर न दिया। तहमद को फिर ऊपर खोंस, पगड़ी के शमले से गर्दन और मुँह का पसीना पोंछ, गठरी के बोझ से धीरे-धीरे दबने वाली गर्दन को उठाकर वह चल पड़ा।

लहराँ और फ़ज्जे ने एक बार कहा, "अब्बा ताँगा···"

कड़ककर मौलू ने उन्हें चुप करा दिया। बीबाँ ने भी बच्चे को कन्धे से लगाकर झुलाते हुए ओठों का गोला बनाकर उसमें ज़बान हिलाते हुए ओ··· लो···लो···करना आरम्भ कर दिया और जब इस पर भी बच्चा न माना तो कमीज़ का बटन खोलकर उसने अपनी छाती निकाल उसके मुँह में दे दी।

सड़क बिलकुल कच्ची थी। सड़क तो उसे कहा भी न जा सकता था। किसी ज़माने में वहाँ ज़रूर सड़क रही होगी, किन्तु अब तो उसकी विशालता को देख-कर उस पर किसी ऐसे दरिया का धोखा होता था, जिसके दोनों किनारे फैलते-फैलते आस-पास की ऊसर धरती में जा मिले हों—हाँ, दोनों ओर पराँह के निरर्थक टेढ़े-मेढ़े पेड़—जिनके तने वर्षों से वर्षातप के कारण खोखले हो चुके थे और जो सड़क की सुन्दरता में वृद्धि करने की अपेक्षा उसकी कुरूपता ही बढ़ाते थे; जिनकी लकड़ी जलाने तक के काम न आती थी; जिनके पत्तों को बकरियाँ तक न खाती थीं और जिनकी शाखाओं पर बये तक का घोंसला न था—इस सड़क के अस्तित्व की गवाही देते थे। और कहीं कोई बबूल का काँटेदार वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओं को सड़क पर झुकाये हुए खड़ा था कि यदि गर्मी के ताप से जलता हुआ कोई व्यक्ति छाया में आने का प्रयास करे तो उसकी पगड़ी उतर जाय अथवा उसका चेहरा ज़ख्मी हो जाय।

ईंट तो दूर, किसी कंकर तक का निशान वहाँ न मिलता था, इसलिए किसी विटप के तने पर रखकर किसी ढेले से गाड़ने के बावजूद जब मेख़ बार-बार बाहर निकल आती थी और ऐड़ी का घाव बढ़ता जाता था, और चलना उसके लिए प्रतिक्षण दूभर हुआ जा रहा था तो आखिर तंग आकर लहराँ ने जूते हाथ में उठा

लिये। धूल धधकती हुई राख की भाँति जल रही थी और प्रायः जब गर्द में टखनों तक पाँव धँस जाते तो समस्त शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी। किन्तु मेख की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद जलन की इस लहर से अधिक कष्टदायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु इस पर भी वह सब से पीछे थी।

इतनी उमर बीत गयी थी, पर मौलू कभी इस सड़क पर न आया था। यदि उसे मालूम होता कि यह सड़क इतनी ऊबड़-खाबड़, वीरान और छाया-रहित है तो वह कभी इस ओर मुँह न करता—विशेषकर उस समय जब उसके साथ बच्चे थे—उसके कोल्हू पर तो वट की घनी छाया थी और निकटवर्ती देहात में कभी-कभी तेल लेकर जाने अथवा के खड़े-मटके लेकर भीलोवाल या वैंरोके तक आने के अतिरिक्त उसने कभी इस ओर का सफ़र न किया था। उसकी दुनिया बरगद के एक घने पेड़ की छाया में बसती थी,, जहाँ तपती-जलती हवाएँ शीतल हो जाती थीं और गर्म धूप भी ठण्डक पहुँचाती थी और कभी जब वह ख़ुदा के सामने नत-मस्तक होता और कुरान की आयतों को अपने ग़लत उच्चारण से पढ़ता तो ख़ुदा का जो अस्तित्व उसके सामने आता, वह कुछ उस बड़े घने वट-वृक्ष का-सा होता—बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला, सायेदार, अगनित घोंसलों को अपनी शाखाओं में छिपाये हुए—लेकिन यह तपती वीरान दुनिया, हरियाली का एक तिनका भी नहीं और इस मरु में किसी जलते हुए तीर की भाँति जलती-जलाती, तपती-तपाती यह सड़क! यदि उसे मालूम होता तो कभी बच्चों को यों साथ न लाता—कभी न लाता!

किन्तु इस ख़याल को उसने तत्काल अपने दिल से निकाल दिया और वह फिर अकड़कर चलने लगा। तहमद को झटका देने अथवा कमीज़ को झाड़ने का ख़याल उसे कब का भूल चुका था—कोई साइकिल सवार या भूला-भटका राही भी गुज़रता तो उन पर मिट्टी की तह छा जाती और लू, जो कभी इधर-से-उधर और कभी उधर-से-इधर चलने लगती, शरीर में प्रवेश करके नसों तक को झुलसा रही थी और कभी-कभार कोई बगूला मिट्टी बरसाता हुआ निकल जाता था। तहमद का नीलाहट लिये सफ़ेद रंग अब मटियाला हो गया था। पगड़ी की वह दमक न रही थी और कपड़ों की उल्टी तरफ़ से चेहरे या गर्दन का पसीना पोंछने के बदले अब वह सीधी तरफ़ को ही काम में लाये जा रहा था।

उससे कुछ अन्तर पर उसकी पत्नी चली जा रही थी। उसके समस्त यत्न बच्चे को पुचकारने में लगे हुए थे, फिर रहमाँ थी—जिसे शायद उसके पड़ोसी ग्वाले नूरे का ख़याल इस चिलचिलाती धूप की तपन को महसूस न होने देता था और शायद इस बरसती हुई आग में भी वह स्वप्न देखती चली जा रही थी—उसकी अँगुली थामे फ़ज्जा चल रहा था, जिसे कभी वह उठा लेती थी और कभी कमर, कन्धा या बाँह थक जाने पर फिर उतार देती थी—फूल-सा चेहरा उसका

कुम्हला गया था, ओठ सूख गये थे; गन्दे-मैले हाथों से बार-बार मुँह का पसीना पोंछने के कारण उसके चेहरे पर कई दाग़ लग गये थे और चाल उसकी उत्तरोत्तर धीमी होती जा रही थी।

और इन सब के पीछे पूर्ववत् कभी जूता पहनती और कभी उतारती हुई लहराँ लँगड़ाती-लँगड़ाती चली जा रही थी।

नहर से उतरकर मौलू ने देखा—दायीं ओर एक बरगद का घना पेड़ है—मादा बरगद का, जिसका तना बहुत ऊँचा नहीं उठता, मोटी-मोटी, लम्बी-लम्बी, सिर को छूती हुई डालियाँ छतरी की तरह फ़ैलती चली जाती हैं—उसकी एक शाखा पर दो मोर बैठे हैं, निश्चिन्त और मस्त! उनके लम्बे-लम्बे, चमकीले पंख धरती को छू रहे हैं और दूर किसी कुएँ की गाधी पर बैठा हुआ कोई जाट 'हीर वारिस शाह'[1] अलाप रहा है। उसकी सुरीली, बारीक, लेकिन ऊँची आवाज़ इस सूनी, वीरान, निस्तब्ध दुपहरी में गूँजती, लहराती हुई उस तक आ रही है:

'घर आ ननान ने गल्ल कीती, भाबी इक जोगी नवाँ आया नीं।
कन्नीं ओसदे दरशनी मुन्द्राँ ने, गले हैकला अजब सुहाया नीं!'[2]

अतीत के किसी दूरस्थ प्रदेश से आने वाली स्मृति की तरह तरुण यौवन के वे दिन मौलू की आँखों के सामने घूम गये, जब वह अपने वट की शाखा पर बैठकर अथवा किसी आम या जामुन के तने से पीठ लगाये हीर वारिस शाह गाया करता था और उसके जी में आयी कि वह पूरे गले से तान लगाये:

'फिर ढूंढदा विच्च हवेलियाँ दे, कोई ओस ने लाल गँवाया नीं!
हीरे किसे रजवंस दा ओह पुत्तर, रूप तुद्ध थीं दून सवाया नीं!'[3]

किन्तु यह तान उसके हृदय में ही रह गयी। अपनी लम्बी दाढ़ी, अपने शरीफ़ लिबास और अपने पीछे चले आने वाले बीवी-बच्चों का उसे खयाल हो आया और उसके हृदय से बरबस एक दीर्घ-निश्वास निकल गया।

तभी फ़ज्जे ने रोते हुए सूखे गले से कहा, "अब्बा मुझे प्यास लगी है, अब्बा मुझे उठा लो!"

और मौलू ने मुड़कर देखा—लहराँ बेचारी थककर पराँह की एक टेढ़ी-सी जड़ पर बैठ गयी थी।

"मर गयी वहीं तू!" कड़ककर मौलू ने कहा।

लहराँ उठी और लँगड़ाती-लँगड़ाती चलने लगी। मौलू ने तब मुड़कर अपने बेटे को डाँटा कि ज़रा दम ले, सामने 'चोगावाँ, नज़र आ रहा है। वहीं चलकर

---

1. पंजाबी का अमर काव्य।
2. घर आकर ननद ने कहा कि ए भाभी, एक नया जोगी आया है। उसके कानों में दर्शनीय बालियाँ हैं और गले में हैकल शोभा दे रही है।
3. हवेलियों में वह ढूंढ़ता फिर रहा है जैसे कि उसने कोई लाल खो दिया हो। ऐ हीर, वह तो किसी राजे का बेटा दीखता है, उसका रूप तुझसे भी सवाया है।

लस्सी-पानी पियेंगे।

और चोगावाँ तक वे दोनों किसी-न-किसी तरह चलते आये थे। लस्सी-पानी से अधिक उनके सन्तोष का कारण उनका यह खयाल था कि अब्बा वहाँ से अवश्य ताँगा लेंगे। किन्तु जब कुछ सुस्ताने और सूखी रोटी को तेल के पकौड़ों के साथ (जो उनके अब्बा ने अड्डे से लिये थे) पानी की सहायता से पेट में पहुँचाने के बाद उन्हें फिर मार्च की आज्ञा मिली तो चल तो वे पड़े, लेकिन मार्च नहीं कर सके। चोगावाँ से 'वनीके' तक इस मार्च में कई हाल्टिंग स्टेशन आये, जबकि वे एक बीमार थके हुए घोड़े की तरह अड़ गये और झिड़कियाँ, गालियाँ या एक-दो चाँटे खाकर फिर चल पड़े, किन्तु वनीके के मोड़ पर जो वे एक बार रुके तो फिर नहीं बढ़े। थप्पड़ खाने पर भी फ़ज्जा टस-से-मस न हुआ और गालियाँ खाकर भी लहराँ बैठी दुपट्टे से आँसू पोंछती रही।

ताँगे वाले से मौलू ने बिलकुल ही न पूछा हो, यह बात नहीं। पूछा था, किन्तु बिना सवार होने के खयाल से। और यह जानकर कि लोपोके से चोगावाँ तक वह गर्द का दरिया पार करने के बावजूद अभी तक किराये में मात्र एक आने की कमी हुई है और यह जानकर कि आगे सड़क पक्की है और कहीं-कहीं शीशम के वृक्ष भी हैं, वह चल पड़ा था।

जब थप्पड़ खाकर फ़ज्जा रोने लगा, लेकिन उठा नहीं तब बीबाँ ने उसे प्यार देकर उठाना चाहा और नन्हें को रहमाँ के हवाले करके उसे गोद में ले लिया। मस्तक पर हाथ फेरते ही वह सहमकर पुकार उठी :

"देखो तुम इसे पीट रहे हो, इसका पिण्डा तो भट्टी बना हुआ है!"

और तब ज्वर के वेग से तपे हुए अपने लड़के के चेहरे को देखकर मौलू पिघल उठा और उसने अनिच्छापूर्वक एक जाते हुए ताँगे को रोका और अटारी का किराया पूछा।

"चार-चार आने," ताँगे वाले ने उत्तर दिया।

"चार-चार आने, लेकिन इतना तो चोगावाँ से माँगते थे!"

"तुम क्या देते हो?"

"एक-एक आना ले लो, तीन-साढ़े तीन मील हम चल भी तो आये हैं!"

ताँगेवाले का ताँगा तो भरा हुआ था, इसलिए उसे सवारियों की उतनी ज़्यादा परवाह न थी, "तो वहीं से जाकर चढ़ जाओ" उसने कहा और हण्टर घुमाया।

"छह-छह पैसे ले लो।"

"ओ तेरी माँ मर जाये!" हण्टर घोड़े की पीठ पर पड़ा और वह चल पड़ा।

"दो आने।"

"अढ़ाई आने!"—उसने अपने कण्ठ की पूरी आवाज़ के साथ कहा।

ताँगा काफ़ी दूर जाकर रुक गया। सवारियाँ तो पूरी थीं, किन्तु 'भागते-भूत

की लँगोटी ही सही' के अनुसार ताँगे वाले ने ये दस-बारह आने छोड़ने उचित न समझे।

रहमाँ से बच्चे को लेते हुए चिन्तातुर स्वर में बीवाँ ने जैसे अपने आप से कहा, "इसका जिसम भी गर्म हो रहा है, अल्लाह ख़ैर करे!" और वह ताँगे की ओर बढ़ी।

यद्यपि जहाँ दो की जगह थी, वहाँ चार बैठे और साँस लेना तक मुश्किल हो गया तो भी सब ने एक तरह से सुख की साँस ली।

जब पलक झपकते ही (कम-से-कम मौलू को ऐसा ही मालूम हुआ) अटारी का मोड़ आ गया और ताँगे वाले ने कहा कि अगर जल्दी चढ़ना चाहते हो तो यहीं उतर जाओ, क्योंकि यहाँ से मोटर जल्दी मिलती है तो मौलू के दिल को धक्का लगा।

"अड्डा आ गया?" उसने पूछा।

"अड्डा तो आगे है, लेकिन यहाँ से जल्दी मोटर मिल जायेगी। अड्डे पर बहुत देर बैठना पड़ेगा, वहाँ और लोग भी होते हैं और आज-कल ट्रैफ़िक पोलीस भी बड़ी सख़्त हो गयी है।"

ट्रैफ़िक पोलीस क्या बला है, यह बात तो मौलू की समझ में बिलकुल नहीं आयी। उसने भ्रू-भंग करके ताँगे वाले की ओर देखते हुए कहा, "यह चालाकियाँ मैं सब समझता हूँ।"

किन्तु जब ताँगे में बैठी हुई दो सवारियाँ वहीं उतर पड़ीं और जब दूसरों ने भी कहा कि अगर लारी जल्दी पकड़नी है तो यहीं उतर पड़ो तो वह भी उतरा, किन्तु सड़क पर पाँव रखते ही वह गरजा, "बस यहीं तक लाने के बारह आने तुम माँगते हो!"

ताँगे वाले ने बेपरवाही से कहा, "तुम्हारी मर्ज़ी है, तुम अड्डे तक चले चलो!"

मौलू का जी चाह रहा था, इस पाजी ताँगे वाले को उतारकर सड़क पर पटक दे। उसने चीख़कर कहा, "तुम लुटेरे हो!"

ताँगे वाले ने हण्टर उठाया, "ज़बान सम्हालकर बात करो मियाँ!"

तभी बीवाँ ताँगे से उतरकर दोनों के मध्य आ खड़ी हुई, "तैश में न आओ भाई, हम पैसे मारकर न ले जायँगे, आदमी-आदमी तो देख लिया करो तुम!"

मौलू कोई बड़ी अश्लील गाली देने लगा था, पर यह सुनकर गाली देने के बदले उसने वही काले स्याह, अड़तालीस पैसे, ताँगे वाले के हाथ पर गिन दिये और शहीदी भाव से बच्चों को उतारने लगा।

"बारह आने तो इसे दे दिये, अब वहाँ किस तरह काम चलेगा," जाते हुए ताँगे की ओर देखते हुए बीवाँ ने जैसे अपने आपसे कहा।

मौलू चीख़कर कुछ कहने ही लगा था कि उसकी दृष्टि अपने नन्हे बच्चे की ओर चली गयी जिसका स्याह चेहरा ज्वर के वेग से और भी स्याह हो रहा था।

उसने उसके माथे पर हाथ रखा, कुर्ती उठाकर पेट को देखा, "जिसम तो इसका जल रहा है।" उसने कहा और फिर एक आती हुई मोटर से बचाने के लिए अपने बीवी-बच्चों को एक तरफ़ करके वह उन्हें किनारे पर लगे हुए शीशम के साये में ले चला।

"अरे मौलू तुम किधर?" आश्चर्य से वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक व्यक्ति ने पूछा।

"अरे भाई, हसन के लड़के की शादी में लाहौर जा रहा था," मौलू ने निराशा-भरी आवाज़ में कहना शुरू किया, "रास्ते में लड़कों को बुख़ार ने आ दबाया।"

"कहाँ जा रहे हो वहाँ लाहौर में?"

"मुज़ंग में हसन रहता है, वहीं जाना होगा। न हुआ भाई ताँगा कर लेंगे, तीन-चार आनों की बात है, सो भाई दे देंगे!"

"तीन-चार आने!" वह हँसा, "तुम लाहौर कभी गये नहीं, एक रुपये से कम में वहाँ ताँगा न जायगा।"

मौलू ने बड़ी निराश दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा, जो शायद कह रही थी कि एक रुपये की मिठाई हसन के बच्चों के लिए भी लेनी है और फिर वापस आने के लिए भी पैसे चाहिए और बीबाँ की निगाहें शायद कह रही थीं कि मुए ताँगे वाले ने यों ही हमारे बारह आने ठग लिये।

"तुम किधर आये थे नवाब?" मौलू ने पूछा।

"भीलो शाह की बोरियाँ स्टेशन पर छोड़कर आ रहा हूँ!"

"तो अब वापस आ रहे हो?"

"चला ही जा रहा हूँ, योंही ज़रा दम लेने के लिए रुक गया था!"

तब फिर मौलू ने बीबाँ की ओर और बीबाँ ने मौलू की ओर देखा और मौलू ने कहा, "क्या कहूँ यार, बच्चों को बुख़ार ने आ दबाया है, हस्सू ने तो बहुतेरा लिखा था कि बीवी-बच्चों के साथ आना, लेकिन यहाँ तक आते-आते बच्चे बीमार हो गये, लहराँ का पाँव ज़ख्मी हो गया और फ़ज्जे और चिराग़ का पिण्डा गर्म तवा बना हुआ हैं, सोचता हूँ, वहाँ कहीं तकलीफ़ बढ़ न जाय। शादी का मामला है, खाने-पीने में परहेज़ रहता नहीं, और फिर वहाँ वह बात थोड़े ही है जो अपने घर में है। डाक्टर···"

"ये डाक्टर साले तो अच्छे भले को बीमार कर देते हैं।" नवाब ने कहा।

"अरे बाबा उन तक हमारी पहुँच कहाँ?" और फिर एक बार पत्नी की ओर देखकर उसने नवाब से कहा, "तुम एक मेहरबानी करो नवाब, इन सबको ले जाओ। मुझे तो जाना ही होगा, कल बरात चढ़ेगी!" और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने बीवी-बच्चों को बैलगाड़ी पर चढ़ने का आदेश दिया।

नवाब गाड़ी पर आ बैठा।

"रास्ते में भीलोवाल के निरंजनदास हकीम से कुछ दारू लेती जाना," उसने गाड़ी के पीछे चलते हुए अपनी पत्नी से कहा ।

तभी दूर सड़क पर अमृतसर की ओर से एक लारी आती हुई दिखायी दी ।

मौलू ने जल्दी-जल्दी अपने बच्चों का प्यार लिया ।

फ़ज्जे के जलते हुए मस्तक को चूमा, "हम तुम्हारे लिए बूट लायँगे ।"

लहराँ के सिर पर हाथ फेरा, "तुम्हारे लिए जूता लायँगे !"

रहमाँ को डाँटा कि बच्चों का खयाल रखना और माँ से लड़ना नहीं ।

फिर वह गठरी उठाये भागता हुआ-सा सड़क पर आ खड़ा हुआ और उसने आती हुई लारी को रोकने के लिए हाथ बढ़ा दिया ।

पलँग

दुल्हन की आँखों पर, झुकती हुई केशी की निगाहें अचानक पलँग के सिरहाने गोल शीशे में लगे, अपनी माँ के छोटे-से चित्र पर चली गयीं—सुन्दर, नुकीला मुख, बड़ी-बड़ी आँखें, ग़िलाफ़ी पलकें, पतली-नाजुक नाक, तरशे हुए हँसते होंठों में मोतियों की पंक्ति···और सहसा दुल्हन की आकृति पर उसकी माँ की रेखाएँ उभर आयीं।···दोनों के क़द-बुत, नाक-नक़्शे में कैसा साम्य था!· केशी का मस्तिष्क धुँधला गया। एक तेज़ कँपकँपी उसकी शिराओं में दौड़ती चली गयी। सिर को ज़रा-सा झटका देकर उसने उस चित्र को आँखों से हटाने का प्रयास किया, लेकिन बचपन से लेकर अभी कुछ ही वर्ष पहले तक वह न जाने कितनी बार इसी तरह माँ के वक्ष पर लेटा था···और वह स्मृति उस क्षण उसके मस्तिष्क के पर्दे पर से होकर निकल गयी और अपनी दुल्हन की फैली-फैली मुग्ध आँखें और गीले-रसीले होंठ चूमने के बदले, वह सहसा बायीं ओर को फिसल पड़ा। चित लेट गया। पल-भर को उसकी निगाहें मच्छरदानी के ख़ाली फ्रेम पर छाये मोतिया के लम्बे हारों पर चली गयीं, उसका हाथ सेज पर बिछी बेले की कलियों पर जा पड़ा और सहसा उसके जी में आयी, वह उछलकर उठे और उस सुगंधित, सुवासित सुहाग-कक्ष से बाहर निकल जाय।

लेकिन वह न उछला, न उठा, चुपचाप लेटा रहा। दुल्हन न जाने क्या समझे, यही ख़याल अचेतन में उसे पलँग के साथ बाँधे रहा। सिर को झटका देकर उसने क्षण-भर पहले के चित्र को आँखों से हटाने का प्रयास किया, लेकिन एक के बदले अनेक चित्र एक-दूसरे के ऊपर, बरसाती बादलों-से उमड़े चले आये।

···इसी कमरे में, इसी पलँग पर उसके पापा और ममी साथ-साथ लेटे हैं, बरामदे में पलँगड़ी पर वह पड़ा है और टुकुर-टुकुर उन्हें देख रहा है। पापा के साथ लेटी माँ कितनी छोटी, कितनी सुन्दर लगती है।

···माँ शीशे के आगे बैठी शृंगार कर रही है और वह दरवाज़े के पीछे खड़ा चुपचाप उसे देख रहा है। आया जिस परी की कहानी सुनाती थी, वैसी ही सुन्दर

तो उसकी माँ है। वह उसे देख लेती है और प्यार से बुलाती है। धरती पर घुटने टेक, पुलकित वह, उसकी गोद में सिर छुपा लेता है। माँ एक हाथ से उसके बाल सहलाती है, दूसरे से अपने बालों में कंघी किये जाती है।

···जाने पापा को क्या हो गया है ? एक आदमी रोज़ आता है, उसके गले में दो साँप-से लटक रहे हैं, उनका एक-एक सिरा दोनों कानों में लगाकर उनका मुँह पापा की छाती पर जहाँ-तहाँ रखता है। फिर उनकी बाँह में सुइयाँ चुभोता है। पापा नहीं रोते, पर वह रोने लगता है, ममी उसे छाती से लगा लेती है और दूसरे कमरे में ले जाती है।

··पापा धरती पर लेटे हैं, हिलते-डुलते नहीं, घर में सब रो रहे हैं। वह भी रोता है। माँ रोये जाती है, उसे चूमे जाती है, रोये जाती है। औरतें उसकी चूड़ियाँ तोड़ देती हैं, उसके माथे का सिंदूर पोंछ देती हैं, केशी को उसकी गोद से छीन लेती हैं, वह रोता है, रोये जाता है, रोये जाता है, पर उसे कोई चुप नहीं कराता।

···वही पलँग है। वह अपने पापा की जगह लेटा है। माँ उसके साथ लेटी है। एक सादी-सी सफ़ेद धोती पहने है। सुबह का उजेला कमरे में झाँक रहा है, पर माँ बेसुध सोयी है। वह एक-टक उसे देखता रहता है—पतला नाज़ुक, परियों का-सा मुख, बन्द आँखें, खुले-बिखरे बाल—वह उसे उस शहज़ादी-सी लगती है, जो शापग्रस्त सोयी थी और शहज़ादे ने आकर जगाया था··· वह धीरे-धीरे बढ़ता है और उसे 'किस्सी' कर लेता है। उसकी माँ जग जाती है। बाँह फैला कर उसे अपने सीने से बाँध लेती है और उसका माथा, उसकी आँखें, उसके होंठ चूम लेती है।

···वह अपनी माँ के सीने पर लेटा है। वह उसे राजकुमार की कहानी सुना रही है, जो सात समुन्दर पार से शहज़ादी ब्याह लाया था। कहानी सुनाकर वह उससे पूछती है, 'क्या तू भी ऐसी शहज़ादी से ब्याह करेगा ?"

"मैं तुमसे ब्याह करूँगा।"

"दत्त पगले, कभी बेटे भी माओं से ब्याह करते हैं ?"

और वह उसे आश्वासन देती है कि वह उसके लिए अपने ही जैसी दुल्हन ब्याह कर लायेगी।

"मैं फिर यही पलँग लूंगा।" वह पलँग के सिरहाने में लगे अपनी माँ के सुन्दर चित्र को देखकर कहता है।

"हाँ-हाँ, यह पलँग मैं तुम्हें और तुम्हारी दुल्हन को दूंगी।"

और वह उसे सीने से लगाकर भींच लेती है।

"क्या बात है, तबीयत कुछ ठीक नहीं है ?" सहसा दुल्हन करवट के बल होकर उसके माथे और बालों पर प्यार से हाथ फेरती है।

"नहीं, कुछ नहीं," सिर के एक हल्के-से झटके से स्मृतियों की श्रृंखला तोड़

केशी हँसता है—ऐसी हँसी, जो लम्बी साँस-जैसी लगती है।

उसकी माँ ने तो सच ही कहा था। वैसा ही लम्बा क़द, सुन्दर मुख, बड़ी-बड़ी आँखें, तीखे नक़्श, नाज़ुक होंठ, मोतियों-से दाँत—माँ उसकी बहू अपने ही अनुरूप लायी थी। 'हालाँकि दहेज़ में बड़ा सुन्दर पलँग आया था, पर माँ ने, वर्षों पहले किये अपने वादे के अनुसार, वही अपने वाला, बड़ा, क़ीमती पलँग सुहाग-कक्ष में बिछा दिया था। पलँग क्या, अपना कमरा ही दुल्हन को दे दिया था।

दुल्हन उस पर झुकी, उसकी आँखों में कहीं दूर झाँकने का प्रयास कर रही थी, जानना चाहती थी कि कुछ क्षण पहले का उसका उत्साह एकदम शिथिल क्यों पड़ गया ? पर यह जानने का उसके पास कोई साधन न था और बड़े संकोच-भरे स्नेह से वह उस पर किंचित् झुकी, उसके बाल सहलाये जा रही थी।

केशी कुछ क्षण चुपचाप लेटा रहा, फिर उसने सहसा दुल्हन की गर्दन में हाथ डालकर उसे अपने सीने से लगा लिया। कितनी ही देर तक वह उसके सिर को अपने सीने पर रखे उसके बालों, गालों और होंठों को सहलाता रहा, यहाँ तक कि उसके दिमाग़ से सब जाले दूर हो गये और सीने पर लेटी दुल्हन और उसके गोरे-गदराये शरीर की गर्मी उसकी नस-नस में समा गयी। उसने धीरे-धीरे उसे चूमकर अपने पहलू में लिटा लिया और उसके गर्म-गुदाज़ सीने पर सिर रखकर लेट गया। बार-बार उसका मन होने लगा कि वह सिर उठाये, अपनी बीवी को प्यार करे, पर जैसे उस चित्र का सामना करने में उसे संकोच हो रहा था। वहीं लेटे-लेटे बायें हाथ से उसने अपना तकिया उठाकर अन्दाज़ से चित्र के आगे रख दिया। तब उसने सिर उठाया। लेकिन वह चित्र जैसे उस तकिये के पीछे छुपकर और भी नुमायाँ हो गया था और दुल्हन के चेहरे पर किसी दूसरे चेहरे की रेखाएँ बनने लगी थीं···'नहीं···नहीं···नहीं !' वह झुँझलाकर मन-ही-मन चिल्लाया और फिर फिसलकर वैसे ही चित लेट गया। फिर न जाने कैसा बगूला-सा उसके मन में उठा। वह उछला और सुहाग-कक्ष के बाहर हो गया।

बरामदे की झिलमिली से चैत की पूनो बड़ी शरमाई निगाहों से अन्दर झाँक रही थी। क्षण-भर को वह बरामदे की मेहराब में रुका। चुपचाप बाहर फैली चाँदनी में तकता रहा। ठंडी हवा के स्पर्श से उसकी तनी हुई नसों को कुछ अजीब-सी राहत मिली। लेकिन वह पलटा नहीं, बल्कि बाहर निकल आया। दायीं ओर फूलों की रविशों में फ़्लाग्ज़ और बबीना खिला था; सामने डेलिया के पौदे, फूलों के भार से झुके, हल्की बयार के स्पर्श से झूल रहे थे। घास के लॉन के साथ कटी-छँटी मेंहदी के पीछे क्यारी में सोसन खिला था और गुलाब की बेल के गिर्द गोल थाले में नेस्ट्रेशियम के ढेरों फूल जैसे उस चाँदनी में नहा रहे थे। अनजाने ही उन रविशों में अटकता-भटकता, फूलों के रंगों को झुककर देखता, बेखयाली में उन्हें छूता, केशी बढ़ता चला गया। दिन के वक्त जो फूल अपनी रंगीनी से आँखों को चौंधिया देते थे, वे इस शीतल चाँदनी में बड़े ही सुखद, शान्त

और तनी हुई नसों को आराम पहुँचाने वाले लग रहे थे। पीला और गुलाबी रंग सफ़ेद-सफ़ेद लग रहा था और गहरा लाल, नीला या जामुनी काला दिखाई देता था। वह कॉटेज की चारदीवारी के पास पहुँचकर वहाँ रुका, जहाँ दीवार के साथ-साथ शुरू-बहार का बेला फूला था। चारदीवारी की छाया के नीम-अँधेरे में, बेले के फूल मोतियों-से चमक रहे थे। पहले कभी जब चाँदनी रातों में वह बेला खिला देखता था तो सदैव कहीं पढ़े अथवा सुने गीत की एक पंक्ति उसके होंठों पर आ जाती थी और वह सहसा गुनगुना उठता था :

बहुत दिनों के बाद खिला बेला, मेरा आँगन महका
आँगन महका

लेकिन आज जब सचमुच उसका आँगन महका था, तो वह गीत न जाने विस्मृति के किस गर्त में जा डूबा था। अपने तने हुए मस्तिष्क के साथ वह कॉटेज से गेट तक और गेट से कॉटेज तक चुपचाप घूमता रहा। तभी जब वह दूसरी बार कॉटेज की ओर वापस आ रहा था, उसकी दृष्टि कॉटेज के दूसरे किनारे वाले कमरे के शीशे पर गयी। अन्दर रोशनी थी। उसकी माँ निश्चय ही जाग रही थी। उसकी आंटी और दूसरी औरतें भी जाग रही थीं और शायद उन्हीं के बारे में सोच रही थीं···उसकी माँ ने कितने श्रम और साध से उसका सुहागकक्ष सजाया था। सारा दिन किनारे वाले खाने के कमरे में (जिसकी मेज़-कुर्सियाँ बाहर बरामदे में रख दी गयी थीं और जिसमें बहू को उतारा गया था) माँ, आंटी और दूसरी स्त्रियाँ गान्ना, गुथली, माँग-भराई और मुँह-दिखाई की रस्में पूरी करती थीं; साथ के ड्राइंग-रूम में वह अपने मित्रों में घिरा बैठा रहा था; बराबर के उसके अपने कमरे में दुनिया-जहान के सामान में जहेज़ का सारा सामान और फ़र्नीचर रखा जाता रहा था और इधर के, माँ वाले कमरे को सुहागरात के लिए सजाया जाता रहा था। दसियों रस्मों, मेहमानों की आव-भगत और दूसरे बीसियों कामों में उलझी और कई रातों की जगी, अपनी माँ को उसने निरन्तर इस कमरे में आते-जाते देखा था। आंटी और दूर के रिश्ते की उसकी एक युवा मौसी इस काम में उसका हाथ बटा रही थीं। उसकी माँ के उल्लास का वार-पार न था—जैसे इतने रतजगों, इतनी दौड़-धूप, इतने श्रम, इतने हंगामे की चरम-परिणति बस इसी कमरे की सजावट में थी। वह कई बार बहाने से आया था कि आखिर देखे, उसकी माँ और आंटी वहाँ क्या सजावट कर रही हैं, पर हर बार उसे खदेड़ दिया गया था। रात से पहले उसे उधर झाँकने की भी मनाही थी।

मित्रों से बातें करते, रस्मों में योग देते और औरतों के मज़ाक सुनते हुए केशी की निगाहें बार-बार अपनी माँ के चेहरे पर जा टिकती थीं। यद्यपि उसकी उम्र अब चालीस की होने को आयी थी और गत बाईस वर्षों के वैधव्य ने कुछ अजीब-सा काठिन्य उसकी आकृति पर उभार दिया था और उसकी आँखों के नीचे हल्के स्याह गढ़े बन गये थे, लेकिन सफ़ेद सिल्क की साड़ी में, अपने इकलौते बेटे के विवाह

के उल्लास में तमतमाया उसका मुख, केशी को उपस्थित स्त्रियों में सबसे सुन्दर लगता था। उसकी आँखों के गढ़े न जाने किस जादू के प्रभाव से लोप हो गये थे। रस्में पूरी करती और मेहमानों की देखभाल करती हुई वह बीच-बीच में जाकर सुहाग-कक्ष को सजाने में लग जाती। थकन उसकी अकृति पर कहीं निशान तक न था।

वह जानता था, इतनी थकन और रतजगों के कारण माँ बीमार पड़ जायगी। उन दिनों प्रायः हर रात होने से पहले माँ के पास जाकर उसने कहा था, 'माँ, अब सो जाओ!' पर स्वयं सोने के बदले, उसे उसकी चारपाई पर ले जाकर हल्का-सा तेल उसकी कनपटियों पर मल, उसकी भवों को सहला, माँ उसे सुला जाती थी और स्वयं काम में जा लगती थी···केशी को बहुत पहले सिर में तेल डलवाने की आदत पड़ गयी थी। परीक्षा के दिनों में जब वह रात-रात भर पढ़ता था और दिन को एकाध घंटा सोना चाहता था और उसे नींद न आती थी और माँ उसके सिर में तेल लगाती थी तो केशी अपने सिर पर झुके उसके मुख को एकटक देखता रहता और सोता न था, तब माँ प्यार से उसकी आँखें बन्द कर देती थी, उन्हें हल्के-से चूमकर भवों पर अपनी ढीली उँगलियाँ जल्दी-जल्दी चलाती थी और इतना स्नेह उन कोमल उँगलियों में भर देती थी कि उसकी पलकें भारी हो जाती थीं और वह गहरी नींद सो जाता था। केशी ने स्वयं उससे यह कला सीख ली थी। कभी जब थकन अथवा चिन्ता से माँ को नींद न आती थी तो वह खुद उसके सिरहाने बैठकर बड़े ही प्यार से उसकी कनपटियाँ सहलाकर उसे सुला देता था। जब वह छोटा था—तेरह-चौदह बरस का—तो ऐसे में माँ कभी-कभी उसका सिर झुकाकर उसे चूम लेती थी। जब वह बड़ा हो गया—बी० ए० एम० ए० कर, विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान का अध्यापक हो गया—तो ऐसे में माँ उसका मस्तक चूम लेती थी और केशी बड़े स्नेह से उसे थपथपा कर सुला देता था। वह चाहता था—शादी में आयी हुई स्त्रियों से घिरी अप्नी माँ को उठाये और उसे उसके कमरे में ले जाकर गहरी नींद सुला दे। लेकिन वहाँ तो वह सुहाग-सेज सजाने में लगी थी। फूलों की कमी के कारण न जाने उसने कितने आदमियों को कहाँ-कहाँ भेजा था और कितना पैसा पानी की तरह बहाया था। वह उससे कहना चाहता था—'माँ, तुम क्यों जान हलकान कर रही हो, तुम्हारा स्नेह इन सारी रस्मों-खुशियों, साज-सिंगार से बड़ा है, मेरे लिए उसका मोल इन सब से कहीं ज़्यादा है, तुम बीमार पड़ जाओगी!' पर वह यह भी जानता था कि वह उसकी एक न सुनेगी। 'मेरी शादी तो बेटे, कुछ यों ही हुई थी।' उसने केशी से एक बार कहा था, 'तुम्हारे पिता मामूली क्लर्क थे और कम्पटीशन में अभी बैठे न थे। मैं नहीं चाहती कि तुम्हारी बहू के मन में कोई साध रह जाय। फूलों का एक गजरा तक न आया था मेरे लिए। तुम ज़रा देखना, तुम्हारी बहू की सुहाग-सेज मैं कैसे सजाती हूँ!'

और जब सुहाग-कक्ष का पर्दा उठाकर उसे अन्दर धकेलती और—"देखो

फ़िलासफ़ी ही न बघारते रहना'—कहती और हँसती हुई आंटी चली गयी थी तो केशी क्षण-भर चकित-सा खड़ा रह गया था।—कमरा उसका चिर-परिचित था, पलँग और दूसरा साज़-सामान भी उसका चिर-परिचित था। माँ ने अपना ड्रेसिंग टेबिल, अपना शृंगारदान, अपना पेपरमैशी का कश्मीरी चूड़ी-बक्स, बम्बई से मँगाया हुआ अपना कीमती टेबल-लैम्प—सब कमरे में कुछ इस ढंग से सजा रखा था कि हर चीज़ नुमायाँ दिखायी दे रही थी। लेकिन सबसे ज़्यादा जो चीज़ कमरे को गुलज़ार बनाये हुए थी, वह थी शुरू-बहार के मोतिये के फूल ! पलँग पर मच्छरदानी न थी, उसके फ़्रेम पर छाये हुए मोतिये के लम्बे हार दोनों ओर नीचे तक ऐसे लटके थे कि फूलों की मसहरी-सी बन गयी थी। पलँग पर बेले के फूलों की मोटी चादर बिछी थी और दुल्हन फूलों की देवी बनी, हल्का-सा घूंघट काढ़े, श्वेत, सुवासित चादर पर बैठी थी···

पल-भर के लिए केशी के सामने उसकी माँ के ब्याह का चित्र घूम गया। नहर-विभाग के एक मामूली क्लर्क की दुल्हन, छोटी-सी कोठरी, मामूली चारपाई, लालटेन की मद्धिम रोशनी और सपनों-सी साधें···! उसके पिता बाद में इग्ज़िक्टिव इंजीनियर हो गये थे, घर में किसी चीज़ की कमी न रही थी, पर माँ उस पहली निराशा को कभी न भूली। अपने बेटे का सुहाग-कक्ष अपनी इच्छानुसार सजा, उसने अपनी साधें पूरी कर ली थीं, पर वही सजावट केशी के लिए मुसीबत हो गयी थी—जिधर भी उसकी निगाह जाती, पुराने चित्र आँखों में उभर आते थे।

'देखना फ़िलासफ़ी ही न बघारते रहना'—सहसा केशी के दिमाग़ में आंटी का वाक्य और उसकी हँसी गूंज गयी।···तो क्या वह अपने ही जाल में फँसा है ?···उसकी दुल्हन न जाने क्या सोचती होगी ? उसके सामने कई घटनाएँ घूम गयीं, जिनमें पहली रात में पुरुष की कमज़ोरी वैवाहिक जीवन को ले डूबी ···लेकिन पहली रात ही पुरुष के लिए अपने को पुरुष सिद्ध करना क्या जरूरी है ? ये औरतें क्यों इसके लिए इतना तरद्दुद करती हैं ? क्या ये सब-की-सब उस माध्यम से अपनी सुहागरात को फिर नहीं जीतीं ? तो क्ता उसकी माँ भी ···उसके सुहाग-कक्ष को सजाने में इतना श्रम करना···अपना पलँग वहाँ रख देना···उसे फूलों से वैसे सजा देना, जैसी कि उसके मन में अपनी सुहाग-सेज को देखने की साध थी और उसके पिता की ग़रीबी और अन्यमनस्कता के कारण जो पूरी न हुई थी···केशी ने सिर को झटका दिया···उसे क्या हो गया है ? उसने क्यों कहा था, मैं यही पलँग लूंगा ? पर वह तो बच्चा था, क्या उसकी माँ भी बच्चा थी ?···

वह वापस बरामदे में आ गया था ! सहसा उसने देखा, दुल्हन मेहराब के नीचे खड़ी है।

"तबीयत कुछ खराब है जी ?"

"नहीं !"

"क्या मुझसे कुछ कसूर हो गया ?"

केशी का जी चाहा, ज़ोर से ठहाका मारे। एक ही बात उसकी दुल्हन के दिमाग़ में भी चक्कर लगा रही है। उसकी कमर में हाथ डाल, वह उसे अन्दर ले गया। उसने तय कर लिया कि वह अपने कम्प्लेक्स को छोड़, वही करेगा जिसकी अपेक्षा कि सब को है। उसने दुल्हन को किंचित् सख्ती से चारपाई पर लिटा दिया। झटके से उसके ब्लाउज़ के बटन खोल दिये। वह उस पर झुका, पर दुल्हन ने तकिये को पुनः उसके स्थान पर रख दिया था, केशी की नज़र फिर अपनी माँ के चित्र पर गयी, उसका दिमाग़ फिर धुँधला गया। वह उठा। बाहर जाने लगा था कि दुल्हन ने उसका हाथ थाम लिया।

"क्या बात है जी ?"

केशी की दृष्टि बीच के दरवाज़े की ओर गयी। क्या ही अच्छा होता यदि माँ ने इस अपने कमरे में उसकी सुहाग-रात का प्रबन्ध करने के बदले; उसके अपने कमरे में वह सब प्रबन्ध किया होता ! पर अब तो उसका कमरा जहेज़ में आये हुए फ़र्नीचर और उसके साज़-सामान का गोदाम बना हुआ था और उसकी चाबी भी उसके पास न थी।

बेबसी कीं एक निगाह उसने बाहर बरामदे पर डाली। चाँदनी निरन्तर बरामदे की झिलमिली से झर रही थी। सहसा उसने कहा :

"देखो न, कैसी चाँदनी झर रही है, आओ ज़रा बाहर घूमें।"

दुल्हन उठी; अपने अस्त-व्यस्त कपड़े उसने ठीक किये; शीशे के पास जाकर एक निगाह उसमें डाली; बालों की दो-एक लटों को ठीक किया और ज़रा-सा घूंघट काढ़कर, केशी के पीछे हो ली।

दो बार बरामदे से गेट तक और गेट से बरामदे तक चुपचाप केशी आया —दुल्हन ने एक-दो बार चाँदनी की प्रशंसा में एकाध वाक्य कहा, पर केशी की चुप्पी देखकर वह भी चुपचाप उसके साथ चलती रही।

चैत की चाँदनी सचमुच अदृश्य सुरा-सी नसों में समा रही थी, पर दोनों ही उसकी ओर से बेपरवाह थे। दुल्हन को अपने पति के इस विचित्र व्यवहार से उलझन हो रही थी, अपनी सहेलियों से (जिनमें से कुछ दो-दो बच्चों की माएँ थीं) इस पहली रात और उसके सम्बन्ध में जो कुछ उसने सुन रखा था, वह जैसे उसकी पकड़ में आकर दूर चला जाता था। अपने पति की सुन्दरता; उसकी विद्वत्ता, उसकी कार्यकुशलता की बड़ी प्रशंसा उसने सुनी थी। विश्व-विद्यालय में वह अध्यापक था और उसके पिता ने केवल उसके साथी अध्यापकों, बल्कि उसके छात्रों तक से उसके सम्बन्ध में कई तरीकों से हर तरह की पूछताछ की थी और पूरी तरह सन्तुष्ट होकर यह रिश्ता पक्का किया था। उसका भावी मँगेतर सनकी है अथवा उसके मस्तिष्क का कोई पुर्ज़ा ढीला है, ऐसा तो किसी ने भी नहीं कहा था। अपने पति के उस विचित्र व्यवहार के सम्बन्ध में सोचती और अपने भविष्य की किंचित् अत्युक्तिपूर्ण दुश्चिन्ताओं में ग्रसी दुल्हन कभी-

कभी अपने पति पर दृष्टि डाल लेती और चुपचाप उसके साथ टहले जाती—चाँदनी की ओर उसका ध्यान ज़रा भी न था।

और केशी का दिमाग़ एक दलदल बना हुआ था। वह कुछ भी सोच न पा रहा था। दोनों हाथ कमर के पीछे किये, बायें हाथ की कलाई को दायें हाथ से बाँधे, कन्धे तनिक झुकाये, वह चुपचाप घूमे जा रहा था। जब वे दूसरी बार गेट तक पहुँचे तो अचानक केशी ने कहा, "आओ ज़रा बाहर चलें।"

"रात काफ़ी हो गयी है!" दुल्हन ने हल्का-सा विरोध किया।

केशी को सहसा अपने एक मित्र की बात याद आयी, जिसने कभी अपने नये प्रेम का किस्सा सुनाते हुए उससे कहा था कि पानी की टंकी से ग्राण्ट ट्रंक रोड के फाटक तक सड़क इतनी एकान्त, छायादार और रहस्यमयी लगती है कि प्रेमियों के लिए उससे बेहतर कोई सड़क नहीं।···और वह बोला, "बस ज़रा पानी की टंकी तक जायेंगे।"

केशी बँगले का फाटक खोलकर बाहर निकला। पानी की टंकी कहाँ है, दुल्हन को मालूम न था। वह मौन-रूप से उसके पीछे हो ली। केशी उसे वहाँ की टॉपोग्राफ़ी बताने लगा कि किस प्रकार वहाँ पहले अधिकतर रेलवे अंग्रेज़ अधिकारी रहते थे, फिर कैसे आज़ादी के बाद वे लोग चले गये और वे बँगले हिन्दुस्तानियों के पास आये। आटे की मिल के पास से गुज़रते हुए उसने बताया कि वहाँ कैसे आटा और मैदा तैयार होता है, कैसे मालिकों ने वहाँ कोल्ड-स्टोरेज बना रखा है, जहाँ वे चालीस हज़ार मन आलू प्रति वर्ष स्टोर करके बेचते हैं। प्रेस के पास पहुँचकर, उसकी खिड़कियों के शीशों में से वह बड़े जोश से रोटेरी मशीन की कार्यप्रणाली उसे समझाने लगा—किस प्रकार एक ओर से कागज़ खुलता चला जाता है और दूसरी ओर से पूरा समाचार-पत्र छपकर और मुड़कर निकलता जाता है। वह स्टेशन की ओर चला जा रहा था कि सहसा उसे फिर पानी की टंकी से ग्राण्ट ट्रंक रोड तक के एकान्त की याद हो आयी और वह मुड़-कर रेलवे फाटक की ओर हो लिया। फाटक बन्द था, लाल बत्ती देखकर केशी ने कहा, "यह फाटक भी एक मुसीबत है। चौबीसों घड़ी कोई-न-कोई गाड़ी गुज़रती रहती है। इतना बड़ा स्टेशन बन गया, लेकिन इस फाटक के भाग नहीं खुले। यहाँ पुल बने तो मुसीबत दूर हो।"

गाड़ी आने में अभी देर थी, बगल के रास्ते से निकलकर वे पानी की टंकी तक आ गये। दायीं ओर सड़क खुली और रौशन थी, बायीं ओर अँधेरी और छायादार। जब केशी उधर मुड़ने लगा तो एक बार फिर दुल्हन ने कहा, "चलिए, अब घर चलें। रात काफ़ी हो गयी है," पर केशी ने उसे अपनी दायीं बाँह में ले लिया, "चलो, कुछ दूर तक चलते हैं। कैसी छिदरी चाँदनी सड़क पर फैली है।"

"उस ओर क्यों न गये। बड़ी खुली सड़क है।"

"क्यों, डर लगता है?" और ज़रा हँसते हुए झुककर उसने दुल्हन का माथा

चूम लिया।

दुल्हन तड़पकर उसकी बाँह के घेरे से निकल गयी, "क्या करते हैं···सड़क पर···"

केशी ने हँसकर उसे फिर बाँह में ले लिया।

"कौन है यहाँ इस वक्त !" हँसकर उसने उसे चूमना चाहा, लेकिन तभी सामने से तेज़ रोशनी उसकी आँखों में पड़ी और क्षण-भर बाद एक बिना बॉडी का ट्रक घड़घड़ाता हुआ उनके पास से निकल गया। अभी उनकी आँखों की चुँधियाहट दूर भी न हुई थी कि दूसरे की बत्ती आँखों में कौंधी और फिर तो एक के बाद एक—जैसे कितने ही ट्रक गुज़र गये—जाने कहाँ से आ रहे थे और कहाँ जा रहे थे ! 'अच्छी सुनसान अकेली सड़क है !' केशी ने मन-ही-मन कहा। उसका सारा रोमांस हवा हो गया।

"चलिए अब चलें।" दुल्हन ने, जो पहले ट्रक की बत्ती को देखकर ही उसकी बाँह के घेरे से निकल गयी थी, लगभग रोनक्खे स्वर में कहा, "मैं थक गयी हूँ !"

"यह मेन सड़क है, दिन-रात यहाँ ट्रक और मोटरें घड़घड़ाती हैं।" केशी ने उसे समझाया, "चलो इधर एम-टी लाइन्ज़ की ओर चलते हैं। गिरजे तक बिलकुल सूनी सड़क है।"

"चलिए, मैं थक गयी हूँ।" दुल्हन मिनमिनायी।

लेकिन उसे फिर अपनी बाँह में भरता हुआ केशी मिलिट्री लाइन्ज़ की खुली सड़क पर बढ़ चला।

चाँदनी सड़क की दोनों ओर बँगलों पर चुपचाप झर रही थी। ठहरी निथरी, जैसे चकित ! खुली सड़क, किनारों पर पेड़ों के नीचे प्रकाश-छाया के जाल··· तभी कहीं से सुवास का झोंका आया। केशी ने कल्पना की—जाने कहाँ रात की रानी चाँदनी की स्पर्धा में खिली मुस्करा रही है और उसकी हर साँस से सुवास वायुमण्डल को सुगन्धित बना रही है।···केशी ने दुल्हन को फिर बाँह में भर लिया और सड़क के किनारे पेड़ों की छाया में हो लिया।

"क्या बहुत थक गयी हो ?"

दुल्हन ने उत्तर नहीं दिया। अपने शरीर का बोझ उसने अपने पति पर डाल दिया और पेड़ की छिदरी छाया में उसे अपने सीने से लगा, केशी ने उसे चूम लिया।

तभी परे सड़क से टॉर्च की रोशनी चमकी। दोनों अलग हो गये। केशी का रंग फ़क् हो गया और दिल धड़क उठा। सहसा उसे याद आया कि एम-टी लाइन्ज़ में बारह के बाद घूमने की इजाज़त नहीं।

चौदहवीं का चांद हो, या कि आफ़ताब हो।
जो भी हो तुम ख़ुदा की कसम, लाजवाब हो॥

गहरी-हरी वर्दियाँ पहने तीन-चार सैनिक किसी नये फ़िल्म का प्रचलित

गाना गाते, चाँदनी के बावजूद, टार्च उन पर फेंकते हुए, सड़क से गुज़र गये।

गाने की पहली पंक्ति सुनते ही केशी ने चाहा था, अपनी दुल्हन को बाँहों में भर ले और उसकी आँखों में देखता हुआ गाये :

चौदहवीं का चाँद हो या कि आफ़ताब हो !

लेकिन सैनिकों की बदतमीज़ी ने उसकी सारी उमंग ख़त्म कर दी। उसे एक मित्र की याद हो आयी, जो एम-टी लाइन्ज़ के एक बँगले में अपनी बहन के साथ खाने पर आया था। बातें करते बारह बज गये थे। जब साढ़े बारह के लगभग रिक्शा न मिलने से वह पैदल आ रहा था तो उसे सिपाहियों ने टोका और मित्र को वापस बँगले पर पहुँचकर साबित करना पड़ा कि वह अपनी बहन के साथ वहाँ खाने पर आया था।···इससे पहले कि दुल्हन घर चलने का अनुरोध करती, केशी वापस फिरा। जब सैनिक ने गाना गाते-गाते टार्च का एक लिश्कारा उसकी दुल्हन पर डाला था तो क्रोध के मारे केशी का मन हुआ था कि उसे कालर से पकड़, दो झापड़ उसके जमा दे। पर यदि कोई उससे पूछता-विश्वविद्यालय का वह अध्यापक, अपनी दुल्हन के साथ आधी रात को उस सूने में क्यों घूम रहा है? तो वह क्या जवाब देता।···और उसका सारा क्रोध अपनी माँ पर, उस पलँग पर और अपनी मानसिक दुर्बलता पर उमड़ पड़ा।

वह तेज़-तेज़ चलता वापस आया। दुल्हन उससे तनिक पीछे घिसटती चली आयी। बँगले में पहुँचकर सहसा केशी की चाल धीमी हो गयी, पर दुल्हन नहीं रुकी। तिनतिनाती वह बढ़ गयी और जाकर पलँग में धँस गयी—केशी जब कमरे में दाखिल हुआ तो वह टाँगें नीचे किये सीधी लेटी थी, साड़ी का पल्लू एक ओर लटका था, ब्लाउज़ के खुले गले से उसका गोरा सीना शीशे-सा झलक रहा था। केशी का जी चाहा, वह घुटनों के बल नीचे बैठ जाय और अपना सिर उसकी गोद में रख दे, पर अपनी पत्नी पर से बिछलती उसकी दृष्टि अनचाहे भी अपनी माँ के उस चित्र पर चली गयी और वह अनिश्चित-सा कमरे के बीच खड़ा रहा।

दुल्हन चुपचाप छत की ओर ताक रही थी और उसकी आँखों में पानी झिलमिला रहा था।

केशी की दृष्टि सहसा बीच के दरवाज़े पर गयी और उसने कहा :

"यह कमरा तो बाहर से बन्द है न?"

"जी!" दुल्हन ने वहीं छत की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

केशी ने कमरे के दो चक्कर लगाये।

"इसकी चाबी कहाँ है?"

"आंटी के पास होगी। सब सामान उन्हीं ने रखवाया था।"

केशी बाहर निकल, कॉटेज के दूसरे कोने तक गया। माँ के कमरे की बत्ती बुझ

चुकी थी। थकी हुई औरतें सो गयी थीं। उसके मन में आया—माँ को जगाये। लेकिन आंटी जग गयी और उसने मज़ाक कर दिया तो···वह वापस फिरा। कमरे में आकर कुछ क्षण घूमता रहा। उसकी निगाह दुल्हन पर गयी—वह उसी तरह लेटी छत की ओर ताक रही थी। सहसा बढ़कर उसने बीच के कमरे का दरवाज़ा पीछे को धकेला। दरवाज़ा अन्दर से बन्द था और नीचे की चिटखनी लगी थी। उसने सोचा था कि यदि केवल ऊपर की चिटखनी लगी होगी तो ऊपर का शीशा तोड़कर खोल लेगा। लेकिन उसकी माँ सदा किवाड़ों की निचली चिटखनियाँ लगाती थी।

पीछे हटकर उसने दरवाज़े पर एक नज़र डाली—दोनों किवाड़ों में तीन-तीन शीशे लगे थे और फिर लकड़ी का पल्ला था। यदि वह तीसरा शीशा तोड़ दे तो बाँह डालने पर निचली चिटखनी खुल सकती थी। और उसके जी में आया कि ज़ोर का एक मुक्का मारकर शीशे को तोड़ दे। लेकिन थकी-हारी माँ के जग पड़ने का खयाल उसके जोश पर ठंडे पानी का छींटा बन गया। दोनों मुट्ठियाँ के पीछे बाँधे वह कमरे में घूमने लगा। दो-तीन चक्कर लगाकर, वह फिर दरवाज़े के आगे आ खड़ा हुआ। तभी उसकी दृष्टि दरवाज़े के निचले हिस्से पर गयी। दायें किवाड़ का कोना चोट खाया था। निकट जाकर उसने देखा, रोग़न में एक हल्की-सी लकीर साफ़ दिखाई दे रही थी। वह फ़र्श पर बैठ गया। पीठ उसने पलँग की पट्टी से लगा ली और ऐड़ी का निचला हिस्सा किवाड़ के उस चोट-खाये भाग पर अड़ाकर पूरा ज़ोर लगाया। दरवाज़ा हिला भी नहीं, बल्कि पलँग पीछे को खिसक गया।

छत की ओर देखती हुई दुल्हन उसी तरह लेटी रही। पलँग के हिलने का जैसे उसने कोई नोटिस नहीं लिया। सहसा केशी ने उस पर एक चोर-निगाह डाली। तभी दुल्हन ने उसकी ओर देखा—जाने उन निगाहों में क्या था? एक अत्यन्त सूक्ष्म-सी व्यंग्य की रेखा—जो किसी सनकी के करतब देखने वाले की आँखों में होती है—केशी के सिर पर जुनून सवार हो गया। सोच-समझ की शक्तियाँ उसकी एकदम जवाब दे गयीं। उछलकर वह उठा और बढ़कर उसने ज़ोर का एक मुक्का बीच के शीशे पर दे मारा।

शीशा झनझनाकर टूट गया।

दुल्हन लेटी न रह सकी। किंचित् घबराकर वह उठी और अपने पति के पास आ खड़ी हुई।

"आप क्या कर रहे हैं!" उसने चिढ़कर कहा।

केशी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी ओर देखा तक नहीं। टूटे हुए शीशे में से बाँह डालकर उसने चिटखनी खोली। उसके शरीर के भार से सहसा दरवाज़ा पीछे को हट गया।

बायें हाथ से किवाड़ थाम, केशी ने धीरे-से, सँभालकर, बाँह बाहर निकाली। तो भी कुहनी के ऊपर खराश आ गयी।

"हाय आप क्या कर रहे हैं !" उसकी फटी कमीज़ से ख़ून रिसते देखकर दुल्हन ने घबराए हुए शिकायत-भरे स्वर में कहा और उसकी डरी-डरी निगाहें सारे कमरे में घूम गयीं कि कहीं कुछ मिले, जिससे वह घाव पर पट्टी बाँध दे।

केशी ने उधर ध्यान नहीं दिया। दोनों हाथों से किवाड़ खोल, वह अन्दर दाखिल हुआ। अभ्यस्त उँगलियों से उसने बिजली का बटन दबाया. कमरे में जहेज़ का सारा सामान गडमड पड़ा था—फ़र्नीचर, ड्रेसिंग-टेबल, अलमारी, कपड़ों की गठरियाँ, मेवे-मिठाइयों के थाल। एक ओर वह पलँग भी पड़ा था, जो जहेज़ में आया था और उस पर बेशुमार कपड़े लदे थे। दोनों बाँहों में भर-भर उसने कपड़े काउच पर पटके। दुल्हन उसके पीछे-पीछे अन्दर आ गयी थी। उसकी आँखों में व्यंग्य के बदले फिर भय लौट आया था। सहसा पलटकर केशी ने उसे दोनों कन्धों से थाम लिया, पल-भर वह उन डरी-सहमी आँखों में झाँकता रहा, फिर सहसा उसने उसे दोनों बाँहों में भरकर चूम लिया।

दुल्हन और भी सहम गयी। पर जब उसने अपने पति की आँखों में कर्कशता के बदले अथाह माधुर्य पाया और पति के गर्म होंठों का स्पर्श अपने कानों के नीचे कंठ-भाग पर महसूस किया तो उसके सहमे-डरे अंग ढीले पड़ गये और वह उसके बाल सहलाने लगी।

तड़के माँ बाहर आयी तो सुहाग-कक्ष का दरवाज़ा चौपाट खुला देखकर चौंकी। दबे-पाँव बढ़कर उसने पर्दा ज़रा हटाया। दिल धक् से रह गया। सजा-सजाया कमरा भायँ-भायँ कर रहा था। तभी उसकी निगाहें बीच के खुले दर-वाज़े के निकट फ़र्श पर बिखरे शीशे के टुकड़ों पर गयीं। चोरी की आशंका से घबराकर वह उधर बढ़ी। चौखट में सन्न खड़ी रह गयी—काउच की गद्दियाँ सिर के नीचे रखे, जहेज़ के खुर्रे पलँग पर, दूल्हा-दुल्हन बेसुध सोये थे !

आकाशचारी

मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे मैं लेटा नहीं हूँ, चल रहा हूँ। चल भी नहीं रहा हूँ, हवा में उड़ा जा रहा हूँ और यह सारी-की-सारी राजधानी, उसकी गगनचुम्बी इमारतें, चौड़ी-कुशादा सड़कें, लहलहाते पार्क—यह इतनी अपार भीड़ मेरे पैरों के नीचे, मेरी विजय का स्वागत करती हुई श्रद्धा से विनत है। परिषद का पुरस्कार मेरी प्रतिभा के सामने कोई माने नहीं रखता था। मैं तो अपने को संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार का अधिकारी मानता हूँ। लेकिन जब एक बार मेरी पुस्तक का नाम आ गया तो फिर उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी। यह ठीक है कि मेरे भय से चुनाव करने वालों ने शेष दो पुस्तकों को भी नकार दिया और कह दिया कि कोई भी पुस्तक पुरस्कार के योग्य न थी। पर क्या यह मेरा अपमान नहीं था? मैं, जो यह मानता हूँ कि मेरा हर शब्द भाषा के सीने पर एक ऐसा अमिट गोदना है, जो दिन-प्रतिदिन एक नयी आभा से चमकता जायगा, इस बात को कैसे स्वीकार कर लेता कि मेरी पुस्तक उस अकिंचन पुरस्कार के योग्य न समझी जाय! मैं, जो अपने आपको काव्य, कहानी और उपन्यास—साहित्य के सभी क्षेत्रों में युग-प्रवर्त्तक समझता हूँ, जिसने अपनी भाषा को इस योग्य बनाया है कि लोग उसमें फिर से 'साहित्य' रच सकें, नयी और गहरी बात कह सकें—उस भोंडी, कच्ची, अनगढ़, फूहड़ भाषा को, जिसने नयी आभा, नयी व्यंजना, नये अर्थ और नया परिष्कार दिया, कैसे वह सहन करता? ...'सकोगे?...'सकूँगा!'...मेरे सामने मेरा ही एक प्रयोग घूम रहा है। कितने अभिव्यंजना पूर्ण शब्द हैं! एक-एक शब्द में साधारणतः अपनी इस भाषा में लिखे जाने वाले पूरे-के-पूरे वाक्य समा गये हैं। आँख के संकेतों जैसे न जाने कितने ऐसे व्यंजक शब्द मैंने इस भाषा को दिये और ईर्ष्यालु कहते हैं कि मुझमें मौलिकता नहीं; कि मैं अंग्रेज़ी से चुराता हूँ; कि मैं मृत भाषा इस्तेमाल करता हूँ; कि जनता के सीधे सम्पर्क से दूर मैं अपने गजदन्ती मीनार में बैठकर एक-एक शब्द, एक-एक मुहावरा गढ़ता हूँ, जो कभी जन-साधारण के होंठों पर न चढ़ पायगा।...उन मूर्खों को कौन समझाये कि साहित्य में भी एक आभि-जात्य होता है, कि मौलिकता का कोई महत्व नहीं है, कि विना नूतन अभिव्यंजना

के, बिना परिष्कार के, मौलिकता महज कच्चा माल है और कच्चा माल साहित्य नहीं होता। उपनिषदकार क्या मौलिक थे? गीतकार क्या मौलिक थे? पुराणों की कहानियाँ क्या सब-की-सब मौलिक हैं? सूर, तुलसी और कबीर क्या मौलिक थे? और क्या टैगोर ही ने सब कुछ मौलिक लिखा?—वेदों से उपनिषदकारों ने लिया, गीताकार और पुराणकारों ने उपनिषदों से, सूर, तुलसी और कबीर ने उन सबके विचार चुराये, टैगोर ने न जाने किन खज़ानों के मोती उड़ाये—महत्व मौलिकता का नहीं, अभिव्यंजना, परिष्कार और समन्वय का है।··· 'सकोगे?'···'सकूँगा!'···मेरे सेंसुअल होंठ (सविता कहा करती थी— प्र० जी आपके होंठ बड़े सेंसुअल हैं।) एक मीठी मुस्कान में फैल जाते हैं···मैं जैसे पैरों के नीचे बिछी राजधानी पर तैरता चला जा रहा हूँ।···'सकोगे!' 'सकूँगा!' और मैं क्या नहीं कर सका? तीन वर्ष के बाद झख मारकर परिषद ने उसी पुस्तक पर मुझे पुरस्कार दिया, जिसे उसने इस योग्य न समझा था···नहीं सका मैं?···अभी कुछ ही वर्ष पहले जो लोग मुझे ख़त्म हुआ, चुक गया समझते थे, अब कैसे मेरे इर्द-गिर्द मँडरा रहे हैं! कैसे फिर अपनी पुस्तकें मेरे नाम समर्पित कर अपने को धन्य समझ रहे हैं···वह मेरे पद-चिह्नों पर चलने वाला अहंकारी, जिसने मुझे तृतीय कोटि का उपन्यासकार घोषित कर दिया था, अब अपना कथा-संग्रह मुझे समर्पित करते हुए लिखता है—"प्र० जी के लिए जिन्होंने कहानी को अपनी इस भाषा में फिर एक बार सम्भव बनाया, परिवर्तियों के आभार सहित!" परवर्तियों के आभार सहित···इसे कहते हैं विजय! जो व्यक्ति स्वयं मुझे मानने को तैयार नहीं था, वह सभी दूसरों को लेकर मेरे आगे नतशिर है!···राजधानी में कोई फ़न्क्शन नहीं होता, जिसमें पहले मुझे अध्यक्ष-पद के लिए न पूछा जाय। मैं इनकार कर देता हूँ, क्योंकि मैंने ऐसी स्थिति बना ली है कि लोग मेरा इनकार सुनना भी अपना सौभाग्य मानें और फिर-फिर मुझे बुलायें! मैंने अपनी स्थिति बना ली है कि मैं चुनाव कर सकूँ। मैंने अपनी स्थिति बना ली है और मैं इनकार कर देता हूँ। तब लोग दूसरे तथाकथित साहित्यकारों और आचार्यों को पूछते हैं। कल तक द्वितीय श्रेणी के जो लोग, संसद-स्थित साहित्यकारों की चापलूसी कर, साहित्यकार और आचार्य बन गये थे, जिन्होंने दल बाँधकर प्रतिभा-सम्पन्नों का बहिष्कार किया, कैसे मैंने उनके सिंहासन हिला दिये हैं··· 'सकोगे?'···'सकूँगा!' और कैसा मज़बूत दल मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया है— मेरे संकेत पर साहित्यिक आन्दोलन छेड़ देने वाला, मेरा झण्डा उठाये भारत भर में मेरा डंका बजाने वाला!···किस प्रान्त में मेरे नाम की कसमें खाने वाले, मेरे लिए सिर फोड़ने-फोड़वाने वाले नहीं हैं! बड़े-बड़े तीसमारखाओं की, अपने आपको महान कहाने वालों की, वर्षों से प्रतिष्ठित कवियों और उपन्यासकारों की पत उतार कर मेरे चाहने वालों ने नहीं रख दी क्या!···मेरे सामने आचार्य क—की सूरत घूम जाती है। द्वितीय श्रेणी में एम० ए० करके वे नये-नये एक सबर्बन कॉलेज में पढ़ाने लगे हैं और कई प्रयासों के बाद मुझसे मिलने में सफल

हुए हैं···अंग्रेज़ का ज़माना है। मैं रेडियो में ऑनरेरी सलाहकार हूँ···मेरे सामने बैठे वे आध घण्टे से मिनमिन कर रहे हैं, उनकी इच्छा है, मैं उन्हें रेडियो में इन्ट्रोड्यूस करूँ; कहानी समालोचना, वार्ता कुछ भी दूँ···लेकिन मुझे वे नितान्त प्रतिभाहीन, कोरे मेहनती लगते हैं, मैं उनकी मिनमिन को चुपचाप सुनता रहता हूँ, और फिर एक 'अच्छा,' कहकर सिर के सूक्ष्म से झटके-से उन्हें उठा देता हूँ, और फिर वे कभी मुझसे मिलने नहीं आते। विश्वविद्यालय के विभागीय अध्यक्ष की जूतियाँ सीधी करके येन-केन प्रकारेण डॉक्ट्रेट की डिग्री ले लेते हैं। उनके सौभाग्य से देश स्वतन्त्र हो जाता है और दुनिया-जहान के प्रतिभा-हीन, मीडियाकर दिल्ली की कुर्सियों पर आसीन हो जाते हैं। तब वे भी तिक-ड़म भिड़ाकर एक विश्वविद्यालय में विभागीय अध्यक्ष बन जाते हैं। उन दिनों जब उनसे मेरा एक प्रशंसक कहता है (कि मैं उस ज़माने में उस नगर ही में अस्थायी रूप से निवास करता हूँ) कि मेरा उपन्यास, जिसने साहित्य में नये युग का सूत्रपात किया है, पाठ्यक्रम में रखा जाय तो वे उपेक्षा से मुँह विदोर कर कहते हैं कि वह तो पश्चिमी लेखकों का उच्छिष्ट-मात्र है और घोषणा करते हैं कि जब तक वे हैं, उनके विश्वविद्यालय में तो क्या, किसी दूसरे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी वे भरसक उसे न लगने देंगे।···और वे पाठ्यक्रम बोर्डों, इन्टरव्यू समितियों और सरकारी कमेटियों पर—सब जगह अधिकार कर लेते हैं। दस तिकड़मों से विभिन्न प्रान्तीय विश्वविद्यालयों में अपने छात्रों को लेक्चरर और अध्यक्ष नियुक्त करा देते हैं। एक बार उन पर कोई व्यंग्य करता है—'आचार्य जी, आपके बैल कहाँ-कहाँ नहीं हैं? आप बछड़े भरती करते हैं और उन्हें मरकहे बैल बनाकर बाहर भेज देते हैं।'···आचार्य जी हँसते हैं, 'वे मरकहे दूसरों के लिए हैं, मेरे लिए तो वे खस्सी हैं!'···आचार्य जी ठीक कहते हैं। जब उनके बैल छात्रों के रूप में विश्वविद्यालय में गये थे तो वे मुँह-ज़ोर बछड़े ही थे, लेकिन ऐसे प्राण-हीन पाठ्यक्रमों से, जिनमें नवीनता की तनिक गंध न थी, उनके दिमाग़ों में भुस भर दिया गया। फिर अपने प्रिय छात्र-छात्राओं को अधिकाधिक नम्बर देकर, आने वालों को बता दिया गया कि जिसे डिवीज़न और कैरियर चाहिए, वह कौन-सा रास्ता अपनाये और यों उन्हें खस्सी करके अध्यापक, प्राध्यापक, लेक्चरर और अध्यक्ष बनाकर भारत भर में फैले विश्वविद्यालयों में भेज दिया गया और उन खस्सी बैलों ने देश में खस्सी अध्यापकों और आलो-चकों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी तैयार कर दी।···लेकिन अब आचार्य जी का सिंहासन डोलने लगा है, क्योंकि मैंने भी खस्सी साँडों की एक खेप तैयार कर दी है, जो उनके बैलों के मुक़ाबिले में अधिक मरकहे हैं···'सकोगे!' 'सकूँगा'··· जब उन्होंने मेरे उपन्यास को पाठ्यक्रम में नहीं रखा था और कहा था कि हम उस लेखक को पढ़ाते हैं, जो अपनी मृत्यु के पच्चीस-पचास वर्ष बाद भी जिन्दा रहता है (हालाँकि अपनी कृतियों को, जो पौराणिक आख्यानों की सरल सार-मात्र हैं, अथवा जिनमें ऐतिहासिक तथ्यों का गला उल्टे छुरे से रेता गया है, वे

इस योग्य समझते हैं कि वे उनके जीवन ही में हर विश्वविद्यालय में पढ़ायी जायँ और उनकी साहित्यिक 'उपलब्धियों' पर शोध-कार्य किया जाय) तब मैंने अपने आप से प्रश्न किया था—'सकोगे ?' और मैंने स्वयं उत्तर दिया था—'सकूँगा !' ···और मैं सका ! मैंने उन्हीं के हथियारों का उन पर प्रयोग किया। उन्होंने खस्सी करने को जो बछड़े चुने थे, वे दिमाग़ से कोरे थे। उनके ख़ाली दिमाग़ों में उन्होंने भुस भरा। फिर उनके अहं को पूरी तरह मार कर, उन्हें नितान्त निर्वीर्य बना कर, अपनी गाड़ी में जोत लिया। मैंने तैयार जवान बछड़े चुने। जो सब-के-सब प्रतिभा-सम्पन्न थे और कुछ तो, यदि ठीक रास्ते पर लगे रहते, मुझसे आगे निकल जाते, मैंने उनका अहं कुचलने के बदले, उसे सहलाया। इसके बाद बस यह किया कि उनकी दृष्टि बदल दी। उनकी अभिव्यक्ति को उल्टे रास्ते मोड़ दिया। उनमें से एक भी मेरे जैसा अभिजात नहीं था। वे सब-के-सब निम्न मध्यवर्ग के थे। साधारणता के बीच से उठे थे। महत्त्वाकांक्षी ! आदर्शवादी ! मैंने बस यह किया कि उनके मन में जो अपने को अभिजात समझने और बनने की छिपी कामना थी—जनता कॉफ़ी हाउस में बैठने के बदले स्टैंडर्ड या वैंजर्ज में चाय कॉफ़ी पीने की !—उसे बढ़ावा दिया। मैंने उन्हें पहले साहित्य के कॉफ़ी हाउस से उठाकर साहित्य के स्टैंडर्ड में ला बैठाया।—वे सीधी-सादी, सरल रचनाओं के बदले जीवन की यथार्थता से दूर, कठिन, पेचीदा, दुर्बोध, अस्पष्ट, व्यक्तिवादी रचनाएँ करने लगे। उनमें मेरा जैसा आभिजात्य तो था नहीं। मेरे जैसी रचना करना उनके बूते से बाहर था। अपना थान वे छोड़ चुके थे, दूसरा उनके बस का नहीं था। उस समय जब वे दुविधा-ग्रस्त थे, मैंने उन्हें अपने थान से ला बाँधा। उनकी उन प्राण-हीन और दुर्बोध रचनाओं के अनुवाद स्वयं अंग्रेज़ी में किये, अपने देशी-विदेशी मित्रों से साँठ-गाँठ कर उन्हें देश-विदेश में छपवाया, उन्हें बड़ी-बड़ी नौकरियाँ दिला कर उनका आज़ादी से कुदकड़े मारना भुलाया। वे अपने-आपको मुझी से नहीं, संसार के सारे साहित्यिकों से बेहतर समझते हैं, लेकिन वे बुरी तरह खस्सी हैं और उन्हें इसका एहसास भी नहीं।···चूँकि वे मेरी छत्र-छाया में बड़ी-बड़ी नौकरियाँ करते हैं, इसलिए वे मुझे मानते हैं और मेरे अर्ध-संकेत पर लोगों की पगड़ियाँ उछालने को तैयार रहते हैं। मुझे तो बल्कि संकेत भी करने की ज़रूरत नहीं रहती। जो भी मेरा विरोधी है, वे उसके पीछे पड़ जाते हैं और लोग कहने लगे हैं कि मैंने क्रान्तिकारी दल से यही सीखा है, कि मैंने गैंगस्टर और मवाली इकट्ठे कर लिये हैं।···प्रतिभा-सम्पन्न कवियों, कथाकारों, उपन्यासकारों, आलोचकों को एक दल में संगठित कर मवाली बना देना ···क्यों आचार्य जी, आपके खस्सी प्राध्यापकों की तुलना में, कैसे हैं ये मेरे खस्सी मवाली···और मैंने अपने से पूछा था—'सकोगे ?'···जाल बिछा दिया है आप ही की तरह मैंने भी ··और आपके खस्सी बैल मेरे खस्सी साँड़ों की दया-माया पर निर्भर रहने लगे हैं···आपके हाथ में यदि विश्वविद्यालय है तो मेरे हाथ में लाखों की पूंजी से चलने वाला पत्र है···सभी शहरों में उसके रिपोर्टर हैं, जिन्हें अपने

शत्रुओं के विरुद्ध झूठी, तुड़ी-मुड़ी, विषभरी, एकांगी रिपोर्टें तैयार करने के लिए मैं ख़ासी रकमें दिलवाता हूँ और आपके ख़स्सी बैल अपना सारा मरकहापन छोड़ कर निरीह बनते जा रहे हैं ! ···और आप मेरी पुस्तक को उस अकिंचन पुरस्कार के योग्य भी नहीं समझते थे । कहते थे कि मेरी सबसे कमज़ोर पुस्तक है ।—है ! यही मेरी विजय है कि उस कमज़ोर पुस्तक पर ही, सारे विरोध के बावजूद, मैंने पुरस्कार पाया है···और आप देखिएगा, मैं कैसे देश-विदेश के बड़े-बड़े पुरस्कार जीतता हूँ । संसार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देश मेरे साथ है। इस देश में उसका लाखों रुपया मेरे संकेत पर वितरित होता है। मैं ही भारत में उसका साहित्यिक सलाहकार हूँ···इनाम की मुझे ज़रूरत नहीं, मैं तो स्वयं इनाम बाँटता हूँ ··वह तो केवल आप जैसे मूर्खों को यह दिखाना था कि मुझे मरने की ज़रूरत नहीं। मैं इसी जन्म में मिथ बन जाऊँगा···मिथ बन जाऊँगा···मैं सकूँगा—सकूँगा—सकूँगा !

राजधानी मेरे पैरों के नीचे बिछी है। वसन्त के बाद दिनों में आ जाने वाली गर्मी रात के आगमान के साथ कैसी ख़ुनक हो गयी है। राजधानी के ऊपर यों निर्बन्ध उड़ना कितना अच्छा लगता है—मेरे सेंसुअल होंठों पर इस वक्त ज़रूर भीनी मुस्कान होगी। वही मुस्कान, जिसके सामने मेरे बड़े-से-बड़े विरोधी परास्त हो जाते हैं, जिसे आईने में देखकर मैं स्वयं अपने ऊपर मुग्ध हो जाता हूँ, जिसकी लौ पर न जाने कितनी तन्वियों को मैंने पतंगों की तरह जलाया है, जिसमें मेरा सारा आभिजात्य अपनी मन-मोहक भव्यता के साथ सिमट आता है ! ···जब यह मुस्कान मेरे होंठों पर खेलती है, तब मैं किसी के लिए कुछ भी कर सकता हूँ। —ये मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठे होने वाले मरकहे साँड़ इसके आगे कैसे निरीह बछेरे बन जाते हैं और मैं इसी के द्वारा जैसे उनके पुट्ठे थपथपा देता हूँ ।···नीचे पार्कों में कचनार फूल आया है। कुछ ही दिनों में गुलमोर के छतनार पेड़ अपने लाल गुंचों और जेकारेंडा के गाछ अपने बेंगनी मेघों से दोपहरिया का ताप हर लेंगे। यह अमलतास न जाने क्यों दिल्ली में इतना नज़र नहीं आता । इलाहाबाद की लू-भरी दोपहरियों में इसकी लम्बी-पीली लटकती झालरें कैसे आँखों की थकान मिटाती हैं ! मैं जब भी गुलमोर की याद करता हूँ, मेरी आँखों में आसाम के जंगलों का 'कृष्णसुरा, घूम जाता है—वह पेड़ जो एकदम गुलमोर जैसा लगता है, केवल यही अन्तर है कि लाल के बदले उसकी डालियाँ गुलाबी गुच्छों से भरी रहती हैं । कैसा प्यारा-सा नाम है—कृष्ण सुरा ! ···शिलांग जाते हुए सुष्षी ने कैसे मुझे विवश कर दिया था कि मैं कार रोककर कृष्ण सुरा की एक गुच्छों-भरी डाल उसे लाकर दूँ···सुष्षी···सुषमा निखलसेन···मैंने यही मुस्कान होंठों पर लाकर कहा था—सुष्षी, तुम तो स्वयं कृष्ण सुरा की डाल हो'···और वह कैसे प्यार से मेरी गोद में लुढ़क आयी थी ।···लेकिन मुझे कचनार इनसे भी प्रिय है। मुझे उसका सफ़ेदो-मायल गुलाबीपन बहुत भाता है।

…कचनार की कच्ची कलियों की तरकारी का स्वाद सहसा मेरी जीभ पर आ जाता है…मैं खुले हवादार किचन में एक पटरे पर बैठा हूँ। लगातार बैठने से पटरा बेतरह मुलायम हो गया है। सामने श्वेत संगमरमर की चौकी पर चाँदी की थाली में माँ कचनार की तरकारी दे रही है। मेरी माँ का बूटा-सा कद, तीखा नाक-नक्शा, गोरा-चिट्टा रंग मेरे सामने है। न जाने कितनी यन्त्रणा मैंने उसके हाथों पायी और कितनी उसे दी है! …लेकिन मैं उस पर नहीं, अपने पिता पर गया हूँ। मेरा यह लम्बा कद, मेरा यह चौड़ा माथा, मेरे ये सेंसुअल होंठ, मेरे शरीर के घने काले बाल, जिनसे अपने गाल रगड़ना, न जाने कितनी तन्वियों की आकांक्षा रही है—ये सब मेरे पिता का है।…माँ का न जाने मेरे यहाँ क्या है? शायद पेटीनेस, टुच्चापन—निम्न मध्यवर्ग का टुच्चापन—जो मेरे अभिजात-अहं के साथ मिलकर एकदम क्षुद्रता-सा लगता है।…कोई ऐसा अतिथि मेरे यहाँ आ जाय, जिसे मैं पसन्द न करता होऊँ तो मैं उससे घण्टों-दिनों बात नहीं करता। डाईनिंग टेबल पर रखी फलों की प्लेट से सेब या संगतरा लेकर छील-छीलकर खाता हूँ और उसे नहीं पूछता और मेरे व्यवहार के कारण मेज़ पर पड़े फलों को उठाने का साहस मेहमान को नहीं होता। मेरे इस व्यवहार से मेहमान का ध्यान फलों की ओर चला जाता है। उसकी आकृति पर अजीब-सा तनाव आ जाता है। यह देखकर न जाने मेरे मन में बैठा कौन यन्त्रणा-प्रिय तृप्त होता है। जितने दिन वह अतिथि रहता है, मैं भरपूर यह तृप्ति पाता हूँ। यह तृप्ति मेरी माँ की है।…डाइनिंग टेबल पर बैठे कोई भी अप्रिय बात मेरे माथे पर बड़ा क्षीण-सा तेवर ले आती है।…हम खाना खा रहे हों और गेलरी में केवल एक अँगोछा बाँधे पसीने से लथपथ माली बाग़ में काम करता-करता किसी आगंतुक की खबर देने आ जाय तो माँ के चेहरे पर ऐसा ही बड़ा हल्का-सा तेवर बन जाता था। लेकिन पिता का चौड़ा मस्तक और भी खिल जाता था। पिता का आभिजात्य स्वाभाविक था। माँ का ऊपरी। सायास बटोरा हुआ। इसीलिए खोखला और टुच्चा! माँ ऐसे में माली को डाँट देती थी। पिता बड़े धीरज से, मुस्कराते हुए उसे आगंतुक को बैठाने का आदेश देते थे।…मैं मुस्करा नहीं सकता। मैं डाँट भी नहीं सकता। बस एक क्षीण-सा तेवर माथे पर ले आता हूँ। डाँटने अथवा चिल्लाने-जैसा फूहड़ व्यवहार मेरे आभिजात्य को रुचिकर नहीं…लेकिन मेरे सारे प्रयत्नों के बावजूद कभी-कभी मेरी माँ मुझ पर हावी हो जाती है और अपने आभिजात्य के सारे पर्दों को चीर कर मैं चिल्ला उठता हूँ।…मैं कार रेस्तराँ के सामने पार्क करना चाहता हूँ। आगे एक फ़ोर-सीटर स्कूटर वाला सिक्ख, स्कूटर रोके, उसमें लेटा हुआ है। मैं बार-बार भौंपू बजाता हूँ। वह स्कूटर में लेटे-लेटे बेपरवाही से कहता है 'ओथर पार्क कर लओ जी।' और मेरा संयम टूट जाता है और मैं दाँत भींचकर चिल्लाता हूँ—'आप आगे से हटें तो!' मेरी आवाज़ में, दाँत भिंचे होने के बावजूद, न जाने कैसी कर्कशता है कि दूसरे क्षण सिक्ख पलटकर देखता है, उठता है और स्कूटर घर्र-घर्र कर सरक जाता

है।···पिता अफ़सरों के सामने कभी दयनीय नहीं हुए। उनके झुकने में भी एक गरिमा रहती थी। वे अफ़सरों का स्वागत करते थे तो लगता था, जैसे एक सम्राट दूसरे सम्राट का स्वागत करता है। वे उनके साथ घूमते थे तो लगता—एक सम्राट दूसरे सम्राट के साथ घूम रहा है। इसीलिए अँग्रेज़ अफ़सर उन्हें पसन्द करते थे। उनकी क़द्र करते थे। लेकिन मेरी माँ अपने सारे कर्रो-फ़र के बावजूद अंग्रेज़ अफ़सरों की बीवियों के सामने बिछ-बिछ जाती थी। उसके होंठ अपने आप ख़ुशामद में फैल जाते थे।···मैंने सदा अपने पिता की तरह बनने की कोशिश की, पर सुष्वी जब आसाम में मुझे छोड़कर आ गयी और उससे किसी ने पूछा कि प्रशान्त पहली ही भेंट में तुम्हें ऐसे लखनऊ से उठाकर अपने साथ आसाम ले गये थे, जैसे तेज़ तूफ़ान छोटी-सी पपोली को, फिर तुम इतनी जल्दी क्यों उन्हें छोड़कर आ गयीं? तो उसने कहा था—'प्र० जी अपने अधीनस्थ लोगों से अत्यन्त बुरा व्यवहार करते थे और अपने अफ़सरों की बेतरह चापलूसी, और मुझे वह सब बहुत बुरा लगता और मैं भाग आयी!'···दया सोनवलकर ने सुष्वी के टुच्चेपन के संदर्भ में यह बात बम्बई में मुझसे कही थी।···यह चापलूसी मेरी माँ की है···मैं अपनी माँ से घृणा करता हूँ। मैं अपने पिता-सा बनना चाहता हूँ, पर मेरी माँ के चेहरे पर आने वाले ख़ुशामदी भाव अजाने मेरे चेहरे पर भी आ जाते हैं। मैं अपनी माँ से घृणा करता हूँ, अपने रक्त की इस संकरता से घृणा करता हूँ···घृणा करता हूँ···घृणा करता हूँ···माँ जो न पा सकती थी, उससे घृणा करने लगती थी। मैं भी ऐसा ही करता हूँ। मैं माँ को कितना चाहता था। पिता की तरह चाहता था। पर जब उसी माँ ने मेरे किशोर गालों पर थप्पड़ दे मारा तो मैं अपने-आप में सिमट गया। सिमट गया। सिमटता चला गया। और माँ से घृणा करने लगा। मैं कभी उससे सीधे मुँह नहीं बोला। उसे चाहते हुए भी मैंने उसका अपमान किया। यन्त्रणा-भरा दुख दिया। दुख पाया और अपने एकांत में उस सब अपमान और यन्त्रणा का बदला चुकाया···मेरे सामने श्वेत रक्त का सागर हिलोरें लेता है···(श्वेत रक्त···यह नाम मैंने कहाँ पढ़ा है···श्वेत रक्त···महात्मा गाँधी ने शायद इस शब्द का प्रयोग किया है।) मैं देखता हूँ, मैं श्वेत रक्त के उस सागर में डूब गया हूँ। और जब किनारे पर लगा हूँ तो मैंने पाया कि वह तो मेरा ही रक्त था, मेरी ही ऊर्जा थी और मैं अपाहज हो गया हूँ। पंगु हो गया हूँ। ज़िन्दगी-भर के लिए बेकार हो गया हूँ। माँ की उस उपेक्षा ने मुझे तबाह कर दिया!···मेरे सामने सजी हुई सुहाग-सेज़ पर एक निर्वसना नारी की आकृति आती है। अतृप्त, अवाक्, अवसन्न! और मैं पर्दे के पीछे बाल नोच रहा हूँ। ओ माँ! तूने मुझे तबाह कर दिया। तबाह कर दिया! मैं तुझसे घृणा करता हूँ···घृणा करता हूँ···नारी मात्र से घृणा करता हूँ। पुरुष में जो सुन्दर है, उसे वह असुन्दर बना देती है। उसे अपाहज और पंगु बना देती है···मैं नारियों को पतंगों की तरह आकर्षित करता हूँ और उन्हें जला-जलाकर अपनी यन्त्रणा-प्रियता को तृप्त करता हूँ। जो मैंने

गँवा दिया, इस तरह उसके अभाव की पूर्ति करता हूँ।···मेरे सामने अपना वह चित्र आता है, जो राजधानी के एक कलाकार फ़ोटोग्राफ़र ने पुरस्कारवितरणोत्सव के कुछ दिन पहले लिया था। मैं चाहता था—मेरे पिता को मुखाकृति पर रहने वाला उदार भाव और मेरी विश्वविजयनी मुस्कान मेरे होंठों पर आ जाय। पर ऐन वक्त पर न जाने क्या हुआ, मुझे लगा यों मुकराते हुए फ़ोटो खिचवाना मेरे गाम्भीर्य को, मेरी महानता को शोभा नहीं देता।···और मेंरे होंठ भिंच गये, माथे पर वह हल्का-सा तेवर और होंठों के कोनों में वही नामालूम-सा विकुंचन आ गया—वही पेटीनेस, वही अन्तर के गुह्य स्तरों में छिपी क्षुद्रता—मैं घृणा करता हूँ; घृणा करता हूँ; घृणा करता हूँ—निम्न मध्यवर्ग के समस्त टुच्चेपन और क्षुद्रता से घृणा करता हूँ। मैं उससे ऊपर उठ जाना चाहता हूँ। बहुत ऊपर उठ जाना चाहता हूँ···आसमानों को छू लेना चाहता हूँ।···लेकिन मेरी माँ मुझे फिर नीचे घसीट लाती है और वह हल्का-सा तेवर मेरे माथे पर आ जाता है और मेरी वह मुस्कान न जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है! ···मेरे सामने मेरे चाहने वाले आते हैं। सब उसी निम्न-मध्यवर्ग के हैं। मैं उन सबसे घृणा करता हूँ।···उन्होंने मेरे उसी फ़ोटो की ढेरों प्रतिलिपियाँ करा के सभी प्रदेशों में अपने साथियों को भेजीं और न जाने मेरे होंठों के उस विकुंचन में कैसे मेरे हृदय में छिपी उदारता की खोज निकाली—'प्र० जी यह फ़ोटोग्राफ़र कमाल का आर्टिस्ट है। आपके हृदय का औदार्य, जिसे आप लाख छिपाने का प्रयास करते हैं, इस कलाकार ने आपकी आकृति पर उभार दिया है।' ··मेरे ही थान पर बँधा, मेरे मुँह-चढ़ा, खस्सी साँड़। मैं अपनी वह विश्वविजयनी मुस्कान होंठों पर ले आया हूँ, पर मेरी आँखों में संदेह है वह मेरा मज़ाक तो नहीं उड़ा रहा·· नहीं, वह तो मेरी ओर देख भी नहीं रहा। एक अजीब-सी चियार में उसके होंठ फैले हैं।···अपनी पचासवीं वर्ष गाँठ पर, अपना परिचय देते हुए, मैंने अन्त में लिखा था कि और चाहे भगवान ने मुझे कुछ न दिया हो, पर दिल दरिया दिया है। मेरे उस आत्म-परिचय का उल्लेख कर वह मेरे उस अन्तिम वाक्य को बार-बार दोहरा रहा है कि आपने यह सच लिखा था।···मेरे इस औदार्य के किस्से साहित्य में धीरे-धीरे सरायत कर रहे हैं—कवि संजीव, जो अपने कस्बे की झोंपड़ी में फ़र्श पर सोते और अपने हाथ से खिचड़ी बनाकर गुज़ारा करते हुए स्वतन्त्र रूप से कविता करते थे, जिन्होंने प्रगतिवादी काव्य को प्रयोग दिया और जहाँ-तहाँ जिनके प्रशंसक दबी ज़बान से यह कहने लगे थे कि वे मुझसे बेहतर लिखते हैं; कि उन्होंने काव्य को सच्चे अर्थों में प्रयोग दिया है—वही कवि संजीव—मेरी दरियादिली और उदारता के गुण गाते नहीं अघाते! मैं जब-जब उनके कस्बे से गुज़रा हूँ, उनकी कुठरिया में ज़रूर गया हूँ। गद्गद होकर वे लोगों से कहते हैं—'प्र० जी अपने कीमती वस्त्रों का ध्यान न कर मेरी कोठरी के खुर्री चौखट पे बैठ जाते थे, वे मेरी दानशीलता और करुणा के किस्से भी सुनाते हैं कि किस प्रकार जब-जब उन पर मुसीबत पड़ी, मैंने उनकी सहायता की।···

कवि संजीव एक बार मेरे यहाँ आये। रात को सोने से पहले मैं 'शुभ रात्रि' कहने उनके कमरे में गया। उनके बिस्तर पर तकिया नहीं था। मैंने झट अपना रेशमी तकिया लाकर उन्हें दे दिया।···यह घटना न जाने उन्होंने कहाँ-कहाँ नहीं सुनायी! ···मैंने उनकी रचनाओं का संकलन किया; उन्हें भारत में ही नहीं, बाहर भी छपवाया; उन्हें कस्बे के एकांत से राजधानी की चकाचौंध में ले आया और उन्हें बड़ी-सी नौकरी दिलवा दी और कवि संजीव, जो आभिजात्य से चिढ़ते थे, अब बड़े-बड़े अभिजातवर्गीयों के कान काटते हैं···(इन सभी छद्म प्रगतिवादियों के अन्दर वही पुराना पूंजीवादी छिपा है। जो शोर मज़दूर का मचता है, पर सुविधाएँ अपने लिए चाहता है। मेरे सामने विदेशी दूतावासों में काम करने वाले कितने ही छद्म प्रगतिवादी घूम जाते हैं, जो मुझे पानी पी-पीकर कोसते थे और अब मज़दूर की बेकारी और किसान की ग़रीबी को भूलकर बढ़िया विलायती शराबों के जाम-पर-जाम चढ़ाते हैं और दिन-प्रतिदिन मुटाते जाते हैं)···मैं ऐसी दानशीलता और करुणा का बराबर परिचय दिया करता हूँ। न जाने कितनों को इसी संवेदना के बल पर मैं उनकी ऊँचाइयों से खींच खड्डों में गिरा आया हूँ। मेरी नाक कटी है तो उनकी क्यों साबत रहे···लेकिन कई बार मैं चाहता हूँ—अपने पिता की तरह गणनाओं से मुक्त होकर किसी का घर भर दूं, शत्रुओं को शरण में पाकर क्षमा कर दूं, लेकिन मेरी माँ पिता के इस औदार्य को पागलपन कहती थी। और मैं पागल नहीं हूँ···लेकिन मैं पागल होना चाहता हूँ। मैं पागल होना चाहता हूँ···निर्बंध, अबाध, गणनाओं से परे।···लेकिन मेरी माँ मुझे सदैव बाँध लेती है। मेरी विशालता संकुचित कर देती है। मुझे बौना बना देती है···मैं घृणा करता हूँ···घृणा करता हूँ···घृणा करता हूँ···

मेरे पैरों के नीचे ठोस सड़क है। कोलतार की ठोस सड़क है। राजधानी के ऊपर तैरता हुआ न जाने मैं कब इस संकुलता में उतर आया हूँ। कितनी भीड़ है! कितनी बेपनाह भीड़ है! हल्की खुनकी के बावजूद पसीने की गंध है। धुआँ है, धुंध है, धूल है! ··· (मेरी कार कहाँ है?)···धूल है—हर तरफ़ धूल है। यह मरुस्थल कैसे हर क्षण राजधानी की ओर बढ़ा आ रहा है! यह मरुस्थल इसकी सारी मेधा, सारी शक्ति, सारी उर्वरता और ऊर्जा को सोख लेगा।··· पूरब से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्खिन से ढेरों मिट्टी आती है। हर वर्ष, हर मास, हर दिवस और राजधानी पर छा जाती है। कभी मैंने चाहा था, मैं प्रयाग के शान्त, स्वच्छ एकांत में रह कर साहित्य-साधना करूँगा। पर मैं स्वयं उस मिट्टी का एक नन्हा-सा कण बना उड़ा चला आया···अंतर केवल यही है कि मैं गद्देदार कुर्सी पर जम गया हूँ···मैं रेत का कण नहीं बनना चाहता··मैं रेत का कण नहीं बनना चाहता। इसीलिए मैं उड़ता हूँ, चिन्तन के अजाने आकाशों में उड़ता हूँ; राजधानी के ऊपर उड़ता हूँ और सागरों और पहाड़ों पर उड़ कर देश-विदेश घूम आता हूँ···चाहता हूँ, राजधानी में हर जगह घने छतनार बारह-

मासी पेड़ लगा दिये जायँ। हरे-भरे पेड़ों की एक चौड़ी मेखला इसे पूरी तरह घेर ले। और इस मरुभूमि का चढ़ता सैलाब रुक जाय।…लेकिन जब चारों ओर धरती सूख रही है, मिट्टी रेत बन रही है तो ये पेड़ क्या करेंगे? यह घातक रेत उन पर जम जायगी। उन पर जम जायगी। उनकी हरियाली सोख लेगी। उनकी जड़ें खोखली कर देगी और यह बढ़ता मरु एक दिन उन्हें लील जायगा। …मेरा दम घुटा जा रहा है,…मेरा दम बेतरह घुटा जा रहा है।—सामने बन्द गली का बड़ा ऊँचा गुम्बदाकार दरवाज़ा है। उस पर बड़ा-सा ताला लगा है। मैं जेबें टटोलता हूँ। जाने मेरी जेबें कितनी लम्बी हैं। मेरा हाथ नीचे—नीचे—नीचे चला जा रहा है। हठात् चाबी मेरे हाथ लग जाती है। मैं जल्दी से ताला खोलता हूँ। लोहे के दरवाज़े न जाने कब से बन्द हैं। ज़ोर से अपनी ओर खींचकर खोलता हूँ! गली की सीढ़ियों पर मेरा युवा माली एक छोटी-सी गोरी लड़की के साथ बैठा गहरे आलाप में तल्लीन है। दरवाज़ा खुलने की आहट से दोनों चौंक जाते हैं। माली तत्काल उठ खड़ा होता है। घबराहट में अपने सिर के लम्बे पटों पर बराबर हाथ फेरे जाता है। उसकी आँखें झुकी हैं। लज्जा की एक क्षीण-सी मुस्कान उसके नथुनों और होंठों के बीच टिकी है। …लेकिन लड़की वैसे ही तनी बैठी है। सहसा उसकी सीधी दृष्टि से मेरी चोर दृष्टि मिलती है। लवणी। लावण्य प्रभा। मेरी आसामी नौकरानी! उसका वक्ष उभर आया है। कोटि की रेखा सुनिश्चित हो गयी है।—जब मैं असम में था और वह छोटी-सी, बारह वर्ष की छोकरी थी और दस ही वर्ष की लगती थी और फ़रॉक पहनती थी और अपनी माँ के साथ घर की सफ़ाई-उफ़ाई करने आती थी; तब कैसे मुग्ध भाव से अपलक मेरी ओर देखा करती थी! आँखें मिलते ही बड़े प्यारे ढंग से मुस्करा देती थी। उसके मोटे मंगोल होंठ ऐसी मीठी मुस्कान में खुल जाते कि मोतिया दन्तावलि एक अजीब-से तिकोन में चमक जाती। जब बहुत दिन तक वह ऐसे ही मुस्कराती रही और मैंने कभी उसे पास नहीं बुलाया तो एक दिन वह मेरी मेज़ के पास आ खड़ी हुई और दायीं ओर बग़ल के ज़रा नीचे यों-ही-सा संकेत करके कहने लगी—'यहाँ दुखता है।'… मेरा ध्यान काम में था। मैंने बिना मेज़ से आँखें हटाये पूछा—'कहाँ?' और उसने फ़राक ऊपर उठा दिया।…मेरे सामने छोटा-सा निरावरण अर्ध वक्षोज आ जाता है। गोरा, मुलायम, कोमल! भूरा-भूरा कुचाग्र और उसमें रेशमी सुनहरे रोम। मैं बे-ध्यानी में उस पर हाथ फेर देता हूँ। लवणी अपनी वही मोतिया तिकोन चमकाती, सकुचाती दोहरी हो जाती है।—'कहाँ दुखता है तुम्हारे?' मैं झेंपता हुआ तत्परता से डाँटता हूँ। 'यहाँ तो कुछ नहीं।'…वह गम्भीर होकर फिर फ़रॉक उठा देती है और ज़रा-सा मुड़ जाती है। बग़ल की हल्की-सी रेशमी धुंध के नीचे एक लाल-सी खरोंच। मैं उस पर हाथ फेरता हूँ। मेरा हाथ अनायास उस सुकोमल वक्षोज तक बढ़ जाता है।…तभी लवणी तनिक सिर झुकाकर कनखियों से मेरी ओर देखती है। जाने उन आँखों में कैसा

समर्पण-सा है कि मुझे कुछ अस्वस्ति बोध होता है। सुन्दर असुन्दर होने लगता है। निमिष-भर को मैं उसे खींच कर अपनी बाँहों में भर कर उस भूरे प्यारे कुचाग्र पर अपने होंठ रख देना चाहता हूँ, पर अपनी यह पराजय मुझे स्वीकार नहीं।...'कुछ नहीं है। कहीं खाज करते नाखून लग गया है, भाग जा।' कहता हुआ, मैं उठ जाता हूँ और स्नानागार में भाग जाता हूँ।...दूसरे ही दिन मैं उसका अपने यहाँ आना मना कर देता हूँ।...लवणी सीढ़ियों पर उसी तरह बैठी है। उद्धत, उद्दण्ड, अपलक मेरी ओर देख रही है।...मेरी चोर निगाहें उस पर टिकी हैं। मुझे लगता है, यह क्षण इसी तरह सदा-सदा के लिए थम जायगा। लेकिन मैं दृष्टि हटा लेता हूँ।...उसकी दृष्टि की उद्धतता को मैं सहन नहीं कर पाता। न यही सहन कर पाता हूँ कि वह मेरी ओर देखने के बदले मेरे माली की ओर मुग्ध भाव से देखे, उससे प्रेमालाप करे...मैं माली को अपने पीछे आने का संकेत देता हूँ और गली की सीढ़ियाँ उतरता हूँ। लवणी वहाँ से उठकर मेरी आँखों के सामने, उसी तरह उद्धत, उद्दण्ड मुद्रा में बैठी, शून्य में अटक जाती है। जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ता हूँ, वह उतने ही अंतर पर पीछे हटती जाती है।...तीव्र क्रोध से भर कर मैं रुकता हूँ। मुड़ता हूँ। बग़ल की कोठरी का दरवाज़ा खोलता हूँ और अन्दर जाकर उसे बन्द कर लेता हूँ।...सामने मेरा सूटकेस पड़ा है। मैं उसे खोलता हूँ। बाफ़्ते की मंजूषा उठाता हूँ। मुझे वह लवणी के वक्षोज-सी सुकोमल लगती है। मैं प्यार से उस पर हाथ फेरता हूँ। उसे खोलता हूँ। ऊपर ही पाँच हज़ार का चेक पड़ा है। क्षण-भर मैं उसे देखता हूँ।...प्रशांत वैशम्पायन।...देशराज शर्मा। माता-पिता द्वारा दिये गये मेरे नाम से यह कितना सुन्दर है? ये माता-पिता नाम रखते समय भविष्य में क्यों नहीं झाँकते? क्यों इतनी अन्यमनस्कता से नाम रख देते हैं?...देसराज शर्मा ...किसी कवि-कथाकार का भला यह नाम हो सकता है? मैंने अच्छा किया जो अपना नाम प्रशांत रख लिया। प्रशांत महासागर-सा गहन, गम्भीर, विशाल और शांत।...मैं चेक के नीचे ताँबे की पट्टिका पर लिखे शब्द 'साहित्य' को देखता हूँ। साहित्य! दिन आयेगा जब साहित्य का नाम मेरे नाम का पार्याय हो जायगा।...चेक को वहीं रखकर मैं मंजूसा बन्द करता हूँ। उसे सूट केस में यथा-स्थान रख कर सूटकेस बन्द करके मुड़ता हूँ। मुझे लगता है कि लवणी दरवाज़े में खड़ी ज़रूर मुग्ध भाव से मेरी ओर देख रही होगी...मैं भूल ही गया था कि मैंने उसी के भय से दरवाज़ा बन्द कर लिया था।...सहसा मैं धक् से रह जाता हूँ...कोठरी का दरवाजा खुला है और चौखट में एक शराबी गुण्डा दोनों बाँहें फैलाये पूरी चौखट को रोके खड़ा है। उसके सिर के खिचड़ी बाल बेतरतीब हैं। खिचड़ी मूँछें कानों तक फैली हैं। शरीर पर छोटे कालरों की लकीरदार कमीज़ और कमर में रंगीन लुंगी है। कमीज़ का गिरेबान खुला है और छाती के रूखे खिचड़ी बाल चोरों-से झाँक रहे हैं। उसकी आँखें लाल है और होंठों के कोनों से पान की पीक वह रही है। हवा के झोंके के साथ शराब की बू का भभका आता

है।···गुण्डा सूटकेस की ओर लोलुप दृष्टि से देख रहा है। मैं चाहता हूँ, अपना संतुलन कायम रखूँ। ऐसा बर्ताव करूँ, जैसे मैं अपने यहाँ मिलने को आने वाले किसी अपरिचित से करता हूँ। या अपनी वही विश्वविजयनी मुस्कान अपने होंठों पर ले आऊँ। लेकिन दोनों में से कुछ भी नहीं हो पाता। मैं स्तम्भित-सा बैठा रहता हूँ। मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगता है। लाख चाहने पर वह हल्का-सा तेवर भी मेरे माथे पर नहीं आता। गुण्डा दायाँ हाथ आगे बढ़ाता है और उँगलियों को ऊपर नीचे हिलाता हुआ संकेत करता है कि लाओ-लाओ चाबी दो! मेरी ब्रोंज़ की पट्टिका···साहित्य···जिसे पाने के लिए मैंने तीन वर्ष तक इतने तिकड़म किये। मैं कुछ अजीब खिसियानेपन से हँसता हूँ। बुदबुदाता हूँ—'इसमें कुछ नहीं है।'···गुण्डा उत्तर नहीं देता। केवल बढ़े हुए हाथ की उँगलियों का अग्रभाग हिलाता है कि लाओ-लाओ!···सहसा मुझे उपाय सूझ जाता है। मैं चाबी उसके बढ़े हाथ पर फेंक देता हूँ और परम निरपेक्षता से कहता हूँ—'खोल कर देख लो, इसमें कुछ नहीं है!'···मेरा ब्लफ़ काम कर जाता है। शराबी बेपरवाही से उँगलियों के अग्रभाग पर पड़ी चाबी को ठप्पा लगाने की तरह बायें हाथ की हथेली पर मारता है और दायें हाथ की उँगलियों से उसे दबा देता है। भिर वह चाबी मेरी तरफ़ उछाल देता है और कोठरी के बाहर निकल जाता है।···मैं दोनों हाथों से चाबी रोक लेता हूँ, फिर सूटकेस खोलता हूँ और बाफ़्ते की वह मंजूषा देखकर आश्वस्त होता हूँ।···तभी माली बढ़कर माथे पर कई तेवर बनाये, दोनों भ्रुओं को मिलाये कहता है—'सा'ब आपने यह क्या कर दिया। उसने चाबी का ठप्पा ले लिया है। वह उसकी दूसरी चाबी बना लेगा। ये लोग ऐसा ही करते हैं।'···और मैं उठ भागता हूँ। अंधा-धुंध गली में भागता चला जाता हूँ। और उसे जा पकड़ता हूँ।···एक लम्बा-सा दालान है। उसके परे आँगन और खुला आसमान है। वहीं छोटे-से बौने-सा उसका सिलहूत दिखायी देता है।···'तुम चाबी का ठप्पा बना लाये हो।—तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ! राष्ट्रपति··· (मैं कहना चाहता हूँ कि राष्ट्रपति मेरे मित्र हैं, प्रशंसक हैं, मेरी रचनाओं के अंग्रेज़ी अनुवाद उन्होंने पढ़े हैं। पर तभी मुझे याद आता है कि पुरस्कार देते हुए उन्होंने मेरी ओर देखा भी नहीं, मुस्कराये तक नहीं···नहीं, मैं राष्ट्रपति का नाम नहीं लूँगा और मैं कहता हूँ···) प्रधान मन्त्री मेरे मित्र और प्रशंसक हैं, मैं ज़रा संकेत कर दूँ तो वे तुम्हें डी० आई० आर० में पकड़कर जेल में बन्द करवा देंगे और किसी अदालत में सुनवाई भी नहीं होगी' ···यह कहते-कहते मेरा आकार एकदम बढ़ जाता है। सीना तिगुना-चौगुना हो जाता है और सिर छत को छूने लगता है।

लेकिन मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाता कि वह पतला, दुबला बौना सिलहूत सहसा बढ़ने लगता है और मेरा वाक्य समाप्त होते-न-होते देवाकार बनकर, ब्रह्माण्ड नापने वाले वामनावतार की तरह नपे-तुले तीन पगों में, बीच का फ़ासिला नाप कर मेरे सिर पर आ पहुँचता है।···मेरा वाक्य मेरे होंठों पर जम

जाता है। मेरा कद एकदम छोटा हो जाता है। मुझे लगता है मेरे सेंसुअल होंठ मेरी माँ के हो गये हैं और उन पर चाटुकारिता भरी चियार फैल रही है।··· मैं नज़र उठाता हूँ। वह देवाकार आकृति मुझे आचार्य जी ऐसी से लगती है।··· मैं चाहता हूँ, मेरे माथे पर वही हल्का-सा तेवर बन जाय···सहसा देव मुझे कलाई से पकड़कर घुमा देता है। अपना फ़ौलादी पंजा मेरी गुद्दी पर जमाकर उसे झुका देता है और पूरे ज़ोर से मेरे चूतड़ों पर एक लात जमा देता है···मैं कलाबाज़ी खाता शून्य को चीरता हुआ उड़ता हूँ। दीवार रास्ता दे देती है। गली नीचे रह जाती है। आँधी की लपेट में आये हुए तृण-सा मैं उड़ा जा रहा हूँ···हठात् मेरा रोम-रोम काँप जाता है। मुझे लगता है, मैं आकाश से गिर रहा हूँ। टूटने वाले तारे-सा, तेज़ी से नीचे राजधानी की ओर गिर रहा हूँ। साँझ के धुँधियाले में राजधानी का ख़ाका उभरता है। बत्तियाँ चमकती हैं। घूमती हैं। नीचे जनपथ की पथरीली काली सड़क चमकती है। मुझे लगता है, अगले क्षण मैं ऐन जन पथ के बीच गिर कर चूर-चूर हो जाऊँगा···मेरी माँ ज़ोर से चीख़ मारती है···मुझे ज़ोर से भींच लेती है !···

मेरी आँखें खुल जाती हैं। मुझे साँस लेने में बेहद कष्ट हो रहा है। मेरा बदन पसीने से तर है। सविता मुझे बाँहों में भरे मुझ पर झुकी है,—मेरे चौड़े माथे और बढ़ते हुए गंजेपन के कारण, हलके हो जाने वाले पसीने से गच बालों पर हाथ फेरे जा रही है। और उसके चिन्तित होंठ बार-बार फुसफुसा रहे हैं—'प्र० जी,'···'प्र० जी० !' ···'क्या मैं चीखा था ?'—मैं पूछना चाहता हूँ—'क्या मैं चीखा था ?'···लेकिन मैं नहीं पूछता···'प्र० जी···'प्र० जी'—सविता फुस-फुसाये जा रही है।···सहसा गोद में पड़े समाचार पत्र की सुर्ख़ी पर मेरी दृष्टि पड़ती है—दिल के दौरे से श्री—'यहाँ सीने में दर्द है,' मैं दिल पर हाथ रखता हूँ। 'साँस लेने में बड़ा कष्ट हो रहा है।'—'मैं अभी डाक्टर को बुलाती हूँ।' सविता कहती है और मेरी गोद से तकिये उठाकर मेरे सिर के नीचे रख, मुझे ठीक से लिटा देती है···टेलीफ़ोन पर सविता की घबरायी आवाज आती है—'आप तत्काल आइए। प्र० जी को शायद दिल का दौरा पड़ गया है। उन्हें साँस लेने में तकलीफ़ है।'···आराम से लेट जाने पर मुझे कुछ आराम मिलता है। शायद मैं समाचार पत्र में आचार्य जी का भाषण पढ़ते-पढ़ते ऊँघ गया था···मैं कुछ आश्वस्त होता हूँ। सविता टेलीफ़ोन का चोंगा रख कर लौटती है—'प्र० जी कैसी तबीयत है ?'···सविता आँखों में अपार स्नेह और श्रद्धा और चिन्ता लिये खड़ी हैं।···मैं उसे नहीं बताऊँगा। मैं उसे कुछ भी नही बताऊँगा। मैं पत्र में अपने माइल्ड हार्ट अटैक की ख़बर छपने दूंगा। मैं सप्ताह भर किसी से नहीं मिलूंगा। प्र०—प्रशान्त—मैंने अपने चेहरे को, अपने 'व्यक्तित्व को प्रशान्त महा-सागर-सा बनाने का प्रयत्न किया है—अगाध, स्थिर, प्रशान्त !···पर मेरे अन्तर में ये कैसे तूफ़ान उठते हैं ! मुझे अपना नाम अतलांतक महासागर के नाम पर रखना चाहिए था। पर अतलांतक के लिए हिन्दी में कोई अच्छा पर्याय नहीं है।···

आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा !

गाड़ी जब लाहौर से चली तो जल्दी में सवार हुए एक हृष्ट-पुष्ट सिख मुसाफ़िर ने यह देखकर सुख की साँस ली कि ऊपर एक बर्थ पर काफ़ी जगह ख़ाली है। कमीज़ की बाहें चढ़ा, बिस्तर उठा उसने उधर फेंका और शेष सामान इधर-उधर जमाकर वह बिस्तर खोलने ही लगा था कि उसके मन में आशंका पैदा हुई—कहीं यह डिब्बा कट न जाता हो, नहीं मेल में इतनी जगह कैसे ख़ाली हो सकती है?—और बिस्तर खोलना छोड़ उसने निचली सीट पर बिस्तर बिछाये, आराम से लेटे दूसरे मुसाफ़िर से पूछा :

"क्यों जी यह डिब्बा भटिंडा कट जाता है या सीधे दिल्ली तक जाता है?"

"जी भटिंडा कट जाता है।" दूसरे ने, जो रंग-रूप से मच्छीहट्टा, लाहौर का कोई कसरती लाला दिखायी देता था, लेटे-लेटे उत्तर दिया।

सामने की बर्थ पर लाहौर ही के एक मुसलमान युवक का बिस्तर बिछा था, पर वह अभी लेटा न था और आराम से बैठा सिगरेट पी रहा था। कश खींचकर बोला :

"नहीं जी, ये ग़लत कहते हैं, डिब्बा सीधे दिल्ली तक जाता है!"

लाला को जैसे बिजली का तार छू गया। उचककर उठा और बोला, "दिल्ली क्या कलकत्ता जाता है? आपको कुछ मालूम भी है! महीना भी नहीं हुआ, मैं स्वयं गया था और यह डिब्बा भटिंडा कट गया था।"

"महीना," युवक व्यंग्य से हँसा, "मैं हफ़्ता पहले की बात करता हूँ। दिल्ली तक सोता गया था।"

"सोते गये थे!" लाला ने एक 'उँह' करते हुए सिर को झटका दिया, "क्यों एक भले आदमी को परेशान करते हो?" और फिर जैसे दूसरे यात्रियों को सुनाते हुए व्यंग्य से बोला :

"फ़ीरोजपुर से आगे कभी बढ़े नहीं और ख़बर दिल्ली की देते हैं।"

युवक का ख़ून खौल उठा। सिगरेट खिड़की से फेंकते हुए बोला, "वाह रे रोज़ कलकत्ता जाने वाले! शक्ल से तो घसियारा दिखायी देता है।"

लाला झुंझलाकर उठा, "क्या कहा, घसियारा तेरा बाप होगा।"

युवक ने उत्तर में घूँसा फेंका।

कुछ क्षण हवा में गालियों और मुक्कों का आधिपत्य रहा। लाला यद्यपि नित्य महावीर व्यायामशाला में कसरत करने वाला था, किन्तु युवक का-सा साहस उसमें न था, इसलिए वह कुछ ज़्यादा पिट रहा था। तभी जब युवक के एक घूँसे से वह डिब्बे की दीवार से जा लगा तो उसने वहीं पास पड़ी किसी मुसाफ़िर की सुराही उठाकर युवक के सिर पर दे मारी। सिर फट गया। खून बहने लगा। किसी ने पुलिस को रिपोर्ट दे दी। फ़ीरोजपुर पहुँचते ही थानेदार गाड़ी में आ धमके और उन्होंने दोनों को वहीं उतरने का आदेश दिया।

पुलिस की शक्ल देखते ही लाला का जोश कुछ ठण्डा हो गया। लोगों ने भी समझाया कि आप लोग पहले ही कम परेशान नहीं हुए। अब आपका प्रोग्राम अलग खराब होगा, झूठा-सच्चा कोई भी सिद्ध हो, ख्वार दोनों होंगे। घायल युवक मात्र सैर को जा रहा था। उसे कोई जल्दी न थी। वह उतरने को तैयार था, पर लाला के काम का हर्ज होता था। ग़लती भी उसी की थी। उसी ने ताना दिया था और उसी ने सुराही मारी थी। उसने युवक से क्षमा माँगी। सिर आगे किया कि यदि सुराही उसके सिर पर मारकर ही उसे सन्तोष होता हो तो उसकी अपनी सुराही उसके सिर पर मारकर सन्तोष कर ले। युवक का ग़ुस्सा दूर हो गया। उसने कपड़े बदले। लाला ने अपनी धोती फाड़कर उसके पट्टी बाँधी। पुलिस चली गयी। गाड़ी भी चल पड़ी।

"क्यों साहब यह डिब्बा भटिंडा कट जायगा या सीधा दिल्ली तक जायगा ?"

फ़ीरोजपुर से चलती गाड़ी में बिस्तर फेंककर खासी अफ़रातफ़री में एक व्यक्ति सवार हुआ। सूरत शक्ल से वह यू० पी० का कोई सुसंस्कृत मुसलमान लगता था। जब उसकी साँस दुरुस्त हुई तो दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उसने सिख मुसाफ़िर से यह प्रश्न किया, जो बिस्तर खोलना भूलकर यह कौतुक देखने लगा था।

पुन: बिस्तर खोलने का प्रयास करते हुए सिख मुसाफ़िर ने क़द्रे हँसकर लाला की ओर संकेत किया, जो पिट-पिटाकर फिर लेट गया था, और बोला, "मुझे ख़ुद मालूम नहीं, इनसे पूछिए।"

लाला पहले ही जला बैठा था। साँप की भाँति फुंकारा, "क्यों अब तेरा सिर फोड़वाने का इरादा है ?"

बिस्तर बिछाना छोड़कर सिख ने कहा, "क्या मुझे भी नामर्द समझ लिया है जो सिर फोड़वाकर लेट जाऊँगा। उठाकर गाड़ी के बाहर न फेंक दूंगा सिर फोड़ने वाले को।"

"नामर्द !" मुसलमान युवक सिर के घाव की परवाह न करके उठा और "ज़रा आ तो देखूं तेरी मर्दुमी" कहता हुआ सिख की ओर लपका।

अबके तीनों उलझ गये। हवा में फिर गालियाँ, घूंसे और थप्पड़ तैरने

लगे।

डिब्बा भटिंडा नहीं कटा, किन्तु वे तीनों पंजाबी कट गये। लाला और युवक अस्पताल पहुँचे और सिख मुसाफ़िर हवालात। गाड़ी चली तो ऊपर की बर्थ पर बिस्तर बिछाये वह यू० पी० का मुसलमान बड़े आराम से सो रहा था और उसके हल्के खुर्राटों की आवाज़ डिब्बे की नीरवता में एक मधुर-सा शोर पैदा कर रही थी।

चारा काटने की मशीन

रेल की लाइनों के पार, इस्लामाबाद की नयी आबादी के मुसलमान जब सामान का मोह छोड, जान का मोह लेकर भागने लगे तो हमारे पड़ोसी लहनासिंह की पत्नी चेतीं।

"तुम हाथ पर हाथ धरे नामर्दों की भाँति बैठे रहोगे," सरदारनी ने कहा, "और लोग एक-से-एक बढ़िया घर पर कब्ज़ा कर लेंगे।"

सरदार लहनासिंह और चाहे जो सुन लें, परन्तु औरत-ज़ात के मुँह से 'नामर्द' सुनना उन्हें कभी गवारा न था। इसलिए उन्होंने अपनी ढीली पगड़ी को उतार-कर फिर से जूड़े पर लपेटा; धरती पर लटकती हुई तहमद का किनारा कमर में खोंसा; कृपाण को म्यान से निकालकर उसकी धार का निरीक्षण करके उसे फिर म्यान में रखा और फिर इस्लामाबाद के किसी बढ़िया 'नये' मकान पर अधिकार जमाने के विचार से चल पड़े।

वे अहाते ही में थे कि सरदारनी ने दौड़कर एक बड़ा-सा ताला उनके हाथ में दे दिया। "मकान मिल गया तो उस पर अपना क़ब्ज़ा कैसे जमाओगे?" उसने कहा, "अपना ताला तो लेते जाओ।"

सरदार लहनासिंह ने एक हाथ में ताला लिया, दूसरा कृपाण पर रखा और लाइनें पार कर इस्लामाबाद की ओर बढ़े।

खालसा कॉलिज रोड अमृतसर पर, पुतली घर के समीप ही हमारी कोठी थी। उसके बराबर एक खुला अहाता था। वहीं सरदार लहनासिंह चारा काटने की मशीनें बेचते थे। अहाते के कोने में दो-तीन अँधेरी सीली कोठरियाँ थीं।

मकान की क़िल्लत के कारण सरदार साहब वहीं रहते थे। यद्यपि काम उन्होंने डेढ़-दो हज़ार रुपये से आरम्भ किया था, पर लड़ाई के दिनों में (किसानों के पास रुपये का बाहुल्य होने से) उनका काम खूब चमका। रुपया आया तो सामान भी आया और सुख-सुविधा की आकांक्षा भी जगी। यद्यपि प्रारम्भ में उस अहाते और उन कोठरियों को पाकर पति-पत्नी बड़े प्रसन्न हुए थे, परन्तु अब उनकी पत्नी, जो 'सरदारनी' कहलाने लगी थी, उन कोठरियों तथा उनकी सील

और अँधेरे को अतीव उपेक्षा से देखने लगी थी। ग्राहकों को मशीनों की फुर्ती दिखाने के लिए दिन भर उनमें चारा कटता रहता था। अहाते भर में मशीनों की कतारें लगी थीं जो भावना-रहित हो अपने तीखे छुरों से चारे के पूले काटती रहती थीं। सरदारनी के कानों में उनकी कर्कश ध्वनि हथौड़ों की अनवरत चोटों-सी लगने लगी। जहाँ-तहाँ पड़े हुए चरी के पूले और चारे के ढेर अब उसकी आँखों को अखरने लगे। सरदार लहनासिंह तो—यद्यपि उनकी पगड़ी और तहमद रेशमी हो गयी थी और उनके गले में लकीरदार गबरून की कमीज़ का स्थान घुटनों तक लम्बी बोस्की की कमीज़ ने ले लिया था—वही पुराने लहनासिंह थे। उन्हें न कोठरियों की तंगी अखरती थी, न तारीकी, न मशीनों की कर्कशता, न चारे के ढेरों की निरीहता, बल्कि वे तो इस सारे वातावरण में बड़े मस्त रहते थे। वे उन सरदारों में से थे जिनके सम्बन्ध में एक सिख लेखक ने लिखा है कि जिधर से पलटकर देख लो, सिख दिखायी देंगे।

कुछ पतले-दुबले हों, यह बात नहीं। अच्छे ख़ासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे और उनकी मर्दुमी के परिणाम-स्वरूप पाँच बच्चे जोंकों की तरह सरदारनी से चिपटे रहते थे। परन्तु यह सरदारनी का ढंग था। उसे यदि सरदार लहनासिंह से कोई ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बुद्धि की आवश्यकता हो तो वह उन्हें 'बुद्धू' कहकर उकसाती और यदि ऐसा काम कराना होता जिसमें कुछ बहादुरी की ज़रूरत हो तो उन्हें 'नामर्द' का ताँना देती। उसका ढंग था तो अशिष्ट, पर रुपया आने और अच्छे कपड़े पहनने ही से तो अशिष्ट आदमी शिष्ट नहीं हो जाता। फिर सरदारनी को नये धन का मान चाहे हो, शिष्टता का मान कभी न था।

सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुँचे तो वहाँ मार-धाड़ मची हुई थी। उनकी चारा काटने की मशीनें जिस प्रकार भावना-रहित होकर चरी के निरीह पूले काटती थीं, कुछ उसी प्रकार उन्हीं दिनों एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों को काट रहे थे। सरदार लहनासिंह ने अपनी चमचमाती हुई कृपाण निकाली कि यदि किसी मुसलमान से मुठभेड़ हो जाय तो तत्काल उसे अपनी मर्दुमी का प्रमाण दे दें। परन्तु इस ओर जीवित मुसलमान का निशान तक न था। हाँ, गलियों में रक्तपात के चिह्न अवश्य थे। और ूर लूट-मार की आवाज़ें भी आ रही थीं।

तभी, जब वे सतर्कता से बढ़े जा रहे थे, उनको अपने मित्र गुरदयालसिंह एक मकान का ताला तोड़ते दिखायी दिये।

सरदार लहनासिंह ने रुककर प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"मैं तो इस मकान पर क़ब्ज़ा कर रहा हूँ।" सरदार गुरदयालसिंह ने एक उचटती हुई दृष्टि अपने मित्र पर डाली और निरन्तर अपने काम में लगे रहे।

तब सरदार लहनासिंह ने ढीली होती हुई पगड़ी का सिरा निकालकर पेच

कसा और अपने मित्र के नये मकान की ओर देखा। उसे देखकर उन्हें अपने लिए मकान देखने की याद आयी और वे तत्काल बढ़े। दो-एक मकान छोड़कर उन्हें सरदार गुरदयालसिंह की अपेक्षा कहीं बड़ा और सुन्दर मकान दिखायी दिया, जिस पर ताला लगा था। आव देखा न ताव, उन्होंने गली से एक बड़ी-सी ईंट उठायी और दो-चार चोटों ही में ताला तोड़ डाला।

वह मकान यद्यपि बहुत बड़ा न था, परन्तु उनकी उन कोठरियों की तुलना में तो स्वर्ग से कम न था, कदाचित् किसी शौकीन क्लर्क का मकान था, क्योंकि एक छोटा-सा रेडियो भी वहाँ था और ग्रामोफ़ोन भी। गहने कपड़े न थे और ट्रंक खुले पड़े थे। मकान वाला शायद मार-धाड़ से पहले शरणार्थी कैम्प या पाकिस्तान भाग गया था। जो सामान वह आसानी से साथ ले जा सका था, ले गया था। फिर भी ज़रूरत का काफ़ी सामान घर में पड़ा था। यह सब देखकर सरदार लहनासिंह ने उल्टी कलाई मुँह पर रखी और ज़ोर से बकरा बुलाया।[1] फिर तहमद की कोर को दोनों ओर से कमर में खोंसा और सामान का निरीक्षण करने लगे।

जितनी काम की चीज़ें थीं, वे सब चुनकर उन्होंने एक ओर रखीं, अनावश्यक उठाकर बाहर फेंकीं, वही बड़ा ताला, जो वे घर से लाये थे, मकान में लगाया, गुरदयालसिंह को बुलाकर समझाया कि उनके मकान का खयाल रखे और स्वयं अपना सामान लाने चले कि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाय।

जब वे अपने घर पहुँचे तो उन्हें ख़याल आया कि सामान ले जायँगे कैसे? इस भगदड़ में ताँगा-इक्का कहाँ? तब अहाते से साइकिल लेकर वे अपने पुराने मित्र रामधन ग्वाले के यहाँ पहुँचे, जिसकी बैलगाड़ी पर (ट्रकों पर लाने ले जाने से पहले) वे अपनी चारा काटने की मशीनें लादा करते थे। मिन्नत-समाजत कर, दोहरी मज़दूरी का लालच देने के बाद वे उसे ले आये।

जब सारा सामान गाड़ी में लद गया और वे चलने को तैयार हुए तो सरदारनी ने साथ चलने का अनुरोध किया। तब उन्होंने उस नेक-बख़्त को समझाया कि वहाँ के दूसरे सरदार अपनी सिंहनियों को बुला लेंगे तो वे भी ले जायँगे। वे लाख सिंहनियाँ सही—सरदार लहनासिंह ने अपनी पत्नी को समझाया—पर हैं तो औरतें ही और दंगे-फ़िसाद में औरतों ही को अधिक सहना पड़ा है। फिर उन्होंने समझाया कि अहाते का भी तो खयाल रखना चाहिए। शरणार्थी धड़ाधड़ आ रहे हैं, कौन जाने यहाँ घर खुला देखकर जम जायें।

सरदारनी मान गयीं, परन्तु जब सरदार लहनासिंह चलने लगे तो उसने सुझाया कि वे सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन ले जाकर अवश्य अपने

1. पंजाबी जाट जब बहुत प्रसन्न होते हैं तो उल्टी कलाई मुँह पर रखकर बकरे की-सी आवाज निकालते हैं।

नये घर में स्थापित कर दें, ताकि उनकी मलकियत में किसी प्रकार का सन्देह न रहे और सभी को पता चल जाय कि यह मकान चारा काटने की मशीनों वाले सरदार लहनासिंह का है।

सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदार जी को बहुत अच्छा लगा।

यद्यपि बैलगाड़ी में और स्थान न था, परन्तु सामान पर सबसे ऊपर चारा काटने की एक मशीन किसी-न-किसी प्रकार रख़ी गयी, गिर न जाय, इसलिए रस्सों से उसे कसकर बाँधा गया और सरदार लहनासिंह अपने नये घर पहुँचे। गली ही में उन्हों देखा कि सरदार गुरदयालसिंह की सिंहनी और बच्चे तो नये मकान में पहुँच भी गये हैं। तब उन्हें लगा कि उनसे भारी ग़लती हो गयी है। उन्हें भी अपनी सिंहनी को तत्काल ले आना चाहिए। यदि पतला-दुबला गुरदयाल अपनी सिंहनी को ला सकता है तो वे क्यों नहीं ला सकते।

यह सोचना था कि सारे सामान को उसी प्रकार ड्योढ़ों में रख, वही बड़ा-सा ताला लगा, उन्होंने गुरदयालसिंह से कहा कि भाई ज़रा ख़याल रखना, मैं भी अपनी सिंहनी को ले आऊँ, संगत हो जायगी।

और उसी बैलगाड़ी पर सरदार लहनासिंह उल्टे पाँव लौटे। घर पहुँचकर उन्होंने अपनी सरदारनी को बच्चों के साथ तत्काल तैयार होने के लिए कहा।

परन्तु एक-डेढ़ घण्टे बाद जब अपने बीवी-बच्चों सहित सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुँचे तो उनके नये मकान का ताला टूटा पड़ा था। ड्योढ़ी से उनका सारा सामान ग़ायब था। केवल चारा काटने की मशीन अपने पहरे पर मुस्तैदी से जमी हुई थी। घबराकर उन्होंने गुरदयालसिंह को आवाज़ दी, परन्तु उनके मकान में कोई और सरदार विराजमान थे। उनसे पता चला कि गुरदयालसिंह दूसरी गली के एक और अच्छे मकान में चले गये हैं। तब सरदार लहनासिंह कृपाण निकालकर अपने मकान की ओर बढ़े कि देखें चोर और क्या-क्या ले गये हैं।

ड्योढ़ी में उनके प्रवेश करते ही दो लम्बे-तड़ंगे सिक्खों ने उनका रास्ता रोक लिया, बैलगाड़ी हर सवार उनके बीवी-बच्चों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि यह मकान शरणार्थियों के लिए नहीं। इसमें थानेदार बलवन्तसिंह रहते हैं।

थानेदार का नाम सुनकर सरदार लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली गयी और पगड़ी कुछ और ढीली हो गयी।

"हुज़ूर, इस मकान पर तो मेरा ताला पड़ा था। मेरा सारा सामान…"

"चलो-चलो बाहर निकलो ? अदालत में जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बताते हो।"

और उन्होंने सरदार लहनासिंह को ड्योढ़ी से धकेल दिया। तभी लहनासिंह की दृष्टि चारा काटने की मशीन पर गयी और उन्होंने कहा :

"देखिए, यह मेरी चारा काटने की मशीन हैं, किसी से पूछ लीजिए, मुझे यहाँ सभी जानते हैं।"

परन्तु शोर सुनकर अपने 'नये' मकानों से जो सरदार या लाला बाहर निकले उनमें एक भी परिचित आकृति लहनासिंह को न दिखायी दी।

"यों क्यों नहीं कहते कि चारा काटने की मशीन चाहिए," उनको धकेलने वाले एक सिख ने कहा, और वह अपने साथी से बोला, "सुट्ट ओ करतारसिंहा, मशीन नूँ बाहर। ग़रीब शरणार्थी हण। असाँ इह मशीन साली की करनी एँ।"

और दोनों ने मशीन बाहर फेंक दी।

दो-ढाई घण्टे के असफल वावेले के बाद जब सरदार लहनासिंह, रात आ गयी जानकर वापस अपने अहाते को चले तो उनके बीवी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।

कैप्टन रशीद

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी, अपनी इस नयी स्कीम में उसे क्यों नहीं ले लेते ?"

कैप्टन रशीद अपनी ट्यूनक के बटन बन्द करते हुए अपने स्वभावानुसार कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उनका मस्तिष्क अपने अख़बार की कायापलट करने में निमग्न था। कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने नये, योग्य और अनुभवी सम्पादक चुन लिये थे। प्रेस को नया टाइप ढालने और हेड आफ़िस को बेहतर काग़ज सप्लाई करने पर विवश कर दिया था। अखबार सुन्दर टाइप में, सुन्दर काग़ज़ पर छपने लगा था। उसमें चित्रों के पृष्ठ बढ़ गये थे। उसके सम्पादन में अब आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था और सैनिकों के लिए वह पहले से कहीं अधिक उपयोगी हो गया था। तन्द्रावस्था में कानों के पर्दों से टकराने वाली अस्पष्ट ध्वनियों की भाँति उनकी पत्नी के ये शब्द उनके कानों में पड़े। उनकी भवें तन गयीं और कुछ मुड़कर आश्चर्य-मिश्रित क्रोध से उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा।

वह बिस्तर पर बैठी चाय बना रही थी। कैप्टन रशीद सुबह नौ बजे के बदले सदैव पौने नौ बजे दफ़्तर पहुँच जाना चाहते थे। अफ़सर थे और उनका खयाल था कि अफ़सरों को क्लर्कों से पन्द्रह मिनट पहले अपनी सीट पर होना चाहिए। वे सवा आठ बजे तैयार हो जाते। उन्हें अलार्म लगाकर सुबह उठाना पड़ता और उनकी बेगम सोने के कमरे ही में चाय लाने का आर्डर दे देती।— प्याले में चीनी डालते हुए बेगम के होंठों पर शिशिर की संकोचशील अरुणाभा की-सी मुस्कान फैली और मुख पर प्रार्थना-जनित लाली दौड़ गयी। कनखियों से अपने पति की ओर देखते हुए, प्याले को चम्मच से हिलाते-हिलाते उसने फिर वही प्रार्थना दोहरानी शुरू की।

"में हनीफ़ के बारे में कह रही थी···"

"तुम बेवकूफ़ हो !" कैप्टन रशीद ने असंतोष से कहा, भवें सिकोड़ीं, मुँह बिगाड़ा, चाय का प्याला उठाया और कमरे के चक्कर लगाने लगे।

उनकी बेगम चुपचाप उन्हें प्याला उठाये दीवार की ओर जाते देखती रही। उसकी दृष्टि अपने इस कप्तान पति के गंजे होते हुए सिर, सिर के पिछले, ज़रूरत से ज़्यादा उभरे हुए भाग, पतली-सी गर्दन और ढालवें कन्धों से पीठ और सिकुड़े हुए कूल्हों पर फिसलती उसके पाँवों पर आ टिकी। उसने देखा—उसके पति की चाल में भारी अन्तर आ गया है। उसी दिन क्यों, जब से कैप्टन रशीद इस नये पद पर नियुक्त हुए थे, बेगम रशीद ने इस अन्तर को देखा था। उनकी पतली-सी गर्दन अब इस प्रकार अकड़ी रहती थी मानो उसका पट्टा चढ़ गया हो। चलते समय वे प्रायः अपनी एड़ियाँ उठा लेते थे और दीवार के पास पहुँचकर जब मुड़ते थे तो एक विचित्र गर्व और महत्त्व की अनुभूति से पंजों पर लट्टू की तरह घूम जाते थे।

कैप्टन रशीद की चाल ही नहीं, उनके स्वभाव तक में अन्तर आ गया था। उनकी दृष्टि, जो पहले एक विचित्र विवशता से पीड़ित, आकुल, उदास और झुकी-झुकी-सी रहती थी, अब कुछ ऐसी तीव्र हो गयी थी मानो अपने समक्ष किसी दूसरे को कुछ भी न समझती हो। बातचीत करते समय प्रायः दूसरे को मूर्ख समझकर वे एक विचित्र व्यंग्य से मुस्करा देते थे या अत्यन्त उपेक्षा से होंठ सिकोड़ लेते थे।

कुछ क्षण बेगम रशीद अपने पति को प्याले से चुस्की लेते और घूमते देखती रही। अपनी खाला के दामाद और अपनी सहेलियों-सी बहन के पति को अपनी नयी स्कीम में लाने की प्रार्थना पर उसके पति ने बे-माँगे जो उपाधि उसे दे दी थी, उस पर उसे क्रोध नहीं आया। कैप्टन रशीद ने पहले-पहल जब वर्दी पहनी थी तो उसके दोनों जेठ उन्हें देखकर हँसा करते। बड़े जेठ एक विचित्र व्यंग्यमयी मुस्कान से कहा करते, "भाई, कैसे-कैसे जवाँ-मर्द फ़ौज में भर्ती हो रहे हैं आजकल!" और छोटे उन्हें देखते ही यह शेर गुनगुनाना शुरू कर देते :

तस्वीर मेरी देखकर कहने लगा वह शोख,
यह कारटून अच्छा है अखबार के लिए।

और जेठानियाँ यह सुनकर हँसी को रोकने के लिए मुँह में दुपट्टे ठूंस लेतीं और वह स्वयं लज्जा के मारे सिर झुका लेती। यही कारण था कि अब अपने पति की सफलता, उसकी तनी हुई गर्दन, उसका भ्रू-भंग और उसकी तुनक-मिज़ाजी देखकर उसे एक प्रकार का सन्तोष ही होता। उसे अच्छी तरह मालूम था कि अब उसका छोटा जेठ अपना शेर भूल गया है और बड़े जेठ को भी अपने इस तिनके-से भाई की सफलता को देखकर शर्म आने लगी है—आखिर उसके पति ने अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया था! उसने जो कहा था, कर दिखाया था। अपने खानबहादुर पिता की सिफ़ारिश के बिना, केवल अपने परिश्रम, योग्यता और दयानतदारी के बल पर कैप्टन बना और इस नये पद के लिए चुना गया, उसके कानों में अपने पति के वे शब्द गूंज जाते जो उसने अपनी नियुक्ति के समय कहे थे, 'मैं ही पहला हिन्दुस्तानी हूँ जिसे इस आसामी के लिए चुना गया है, नहीं

आधी सदी हो गयी इस अखबार को निकलते हुए, कभी कोई हिन्दुस्तानी इसका एडीटर नहीं बना ।'

उनकी बेगम ने गर्व से अपने पति की ओर देखा । कैप्टन रशीद ने प्याला ख़त्म करके तिपाई पर रख दिया था और बिस्कुट दाँतों में लिये घूमने लगे थे । प्याले की बची हुई चाय ख़ाली प्लेट में उँडेलते हुए बेगम रशीद ने फिर घुमा-फिराकर हनीफ़ की बात चलायी :

"आपा शमीम चाहे हमारी ज़रा दूर की रिश्तेदार होती हैं," उसने कहा, "पर आप जानते हैं, मैं उन्हें कितना मानती हूँ । हम दोनों में बहनों से ज़्यादा मुहब्बत रही है ।"

वह क्षण भर के लिए रुकी । कैप्टन रशीद पूर्ववत् घूमते रहे । बेगम ने फिर कहा :

"ख़ाला शमीम के बारे में परेशान हैं । चार बरस उसकी शादी को हो गये । घर में दो-दो बच्चे हैं लेकिन भाई हनीफ़ को अभी तक कोई अच्छी नौकरी ही नहीं मिली ।"

वह फिर निमिष भर के लिए रुकी । उसने दूसरे प्याले में चाय ढाली । कैप्टन रशीद निरन्तर घूमते रहे । उनकी भवें तन गयीं, जिससे उनके मस्तक पर नाक की सीध में एक आड़ी लकीर बन गयी, चलते समय पैरों पर उनके शरीर का बोझ बढ़ने लगा । बेग़म ने अपनी बात जारी रखी :

"इस महँगाई के जमाने में साठ रुपये से तो एक आदमी की रोटी भी नहीं चलती," उसने लम्बी साँस भरी, "फिर आपा शमीम के दो-दो बच्चे, सास और ससुर हैं ।"

वह प्याले में चीनी हिलाने लगी । कैप्टन रशीद ने अब भी उत्तर न दिया । उनके ओठ बिगड़ने लगे और दृष्टि में उपेक्षा की लकीर और भी स्पष्ट हो चली, किन्तु एक तो उनका मुख अपनी बेगम की ओर न था, दूसरे वह चीनी हिलाने में निमग्न थी । इसलिए उसकी बात का जो प्रभाव उसके पति की आकृति पर हो रहा था, उसकी ओर ध्यान दिये बिना प्याले में चम्मच हिलाते-हिलाते बेगम अपनी बात कहती रही :

"जिनको अँग्रेज़ी की ए-बी-सी तक नहीं आती वे तो आजकल दो-दो सौ रुपया पा रहे हैं । हनीफ़ भाई तो बी० ए० आनर्स हैं, लेकिन ये लोग ग़रीब हैं और सिफ़ारिश उनकी…"

अब कैप्टन रशीद के लिए अपने आपको रोकना कठिन हो गया—'ओ बेवकूफ़ औरत !' उन्होंने दिल-ही-दिल में तिलमिलाते हुए कहा, 'क्या मैंने किसी की सिफ़ारिश से यह नौकरी हासिल की है ? मेहनत, लियाक़त, और दयानत-दारी—दुनिया में यही कामयाबी की कुंजी है । मैंने यह स्कीम हनीफ़ जैसे मूर्ख, निकम्मे, कामचोर और नाक़ाबिल आदमियों के लिए नहीं बनायी । मुझे तजरुबे-कार, मेहनती और खुद Initiative लेने वाले जर्नलिस्ट चाहिए ।'—लेकिन अपने

हमज़ुल्फ़[1] की शान में प्रकट उन्होंने कुछ नहीं कहा। उपेक्षा-मिश्रित दया से भरी एक दृष्टि उन्होंने अपनी इस वज्र-मूर्ख पत्नी पर डाली। घड़ी में समय देखा। आठ हो गये थे। "मुझे जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, क्लर्कों की नहीं!" सिर्फ़ इतना कहकर दूसरा प्याला पिये बिना वे बाहर निकल गये।

उनकी पत्नी निराशा से वहीं-की-वहीं बैठी रही। यद्यपि चीनी कब की हल हो गयी थी, पर वह विफल उसमें चम्मच हिलाती रही।

कैप्टन रशीद अपने मिलिट्री काण्ट्रेक्टर (खानबहादुर) बाप के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र थे। अपने दोनों भाइयों की अपेक्षा वे कृष-काय थे, किन्तु उनका मस्तिष्क अपने भाइयों के मुक़ाबिले में बड़ी तेज़ी से काम करता था। खेल-कूद में पिछड़ जाने पर भी वे इन दोनों 'बैलों' को (उपेक्षा से दिल-ही-दिल में वे उन्हें हराम का माल खा-खाकर पले हुए बैल कहा करते थे।) कहीं पीछे छोड़ देने के स्वप्न देखा करते थे। यही कारण था कि जब उनके दोनों भाई उचित या अनुचित ढंग से कमायी हुई अपने पिता की सम्पत्ति को उचित या अनुचित ढंग से ठिकाने लगाने में निमग्न थे, कैप्टन रशीद जी-जान से शिक्षा-प्राप्ति में रत थे। कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके उन्होंने पत्रकार-कला की शिक्षा ली थी और अभी मुश्किल से उन्होंने जर्नलिज़्म का कोर्स पूरा किया था कि उन्हें कमीशन मिल गया। यद्यपि इस पद के लिए उनके निर्वाचन की तह में खानबहादुर का रुसूख ही काम करता था, पर कैप्टन रशीद इसका कारण अपनी योग्यता से ही समझते थे और उन्हें इस बात का सन्तोष था कि वे पूर्णतया इस पद के योग्य हैं।

यह साप्ताहिक पत्र, जिसके सम्पादक बनकर वे आये थे, उन अनगिनत सैनिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह न था जो द्वितीय महायुद्ध में बरसाती कुकरमुत्तों की भाँति उग आये थे। चालीस-पचास वर्ष पहले अफ़ग़ानिस्तान के क़बायली इलाके में लड़ने वाले सैनिकों के हितार्थ इसका सूत्रपात किया गया था और उस समय जब कैप्टन रशीद ने इसकी बागडोर अपने हाथ में सम्हाली, यह छह-सात भाषाओं में निकलता था।

साधारण समाचार-पत्रों तक सैनिकों की पहुँच नहीं होती। घर से सहस्रों योजन दूर, जंगलों, पहाड़ों, बीरानों और रेगिस्तानों में उन्हें लड़ना पड़ता है और यद्यपि उस समय भी उनके बेकार समय को खेल-तमाशों से भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था, फिर भी किसी ऐसे मुख-पत्र की आवश्यकता अनुभव की गयी जो उन, लगभग अपढ़, सिपाहियों की उन घड़ियों को भर सके जो शारीरिक श्रम, खेल-कूद, गप-शप के बाद उन पर भारी बन जाती हैं; जब उन्हें घर की, बाल-बच्चों की (बाल-बच्चों से प्रिय खेत-खलिहानों की) याद सताती है; जब वे अपने ज़िले (और इस प्रकार अपने गाँव) के मौसम तथा फ़सलों की स्थिति, बीवी-बच्चों की खैर-खबर, सगे-सम्बन्धियों, मित्र-स्नेहियों के सगाई-विवाह तथा जन्म-

---

1. साली का पति।

मरण के समाचार जानने के लिए आतुर हो उठते हैं। उनकी इसी आवश्यकता को किसी हद तक पूरा करने के लिए यह पत्र निकाला गया था और पहले-पहल इसकी परिधि केवल दो पृष्ठों तक सीमित थी और इसे निकालने के लिए बहुत छोटा स्टाफ़ था।

यद्यपि प्रत्येक युद्ध के बाद इस स्टाफ़ में कुछ ट्रान्सलेटर-क्लर्कों की वृद्धि होती गयी थी और व्यवस्थापक-अमला भी बहुत बड़ा हो गया था, परन्तु इसके सम्पादन और व्यवस्था का ढंग वही पचास वर्ष पुराना था।

पत्र का अधिकांश मसला सरकार के सूचना-विभाग से सप्लाई होता था। उप-सम्पादक और प्राय: अंग्रेज़ी का टाइपिस्ट ही उसका सम्पादन कर लेता। यह मसाला टाइप हो जाता। एक-एक कापी सभी सेक्शनों में बँट जाती और उसका अनुवाद हो जाता। कोई भी ऐसी चीज़ दूसरे ऐडीशनों में न छप सकती जो अंग्रेज़ी में न छपती हो। गप-शप और लतीफ़े भी पहले अंग्रेज़ी ही में लिखे जाते और फिर अंग्रेज़ी में अनूदित होते। दूसरे संस्करण सैनिकों के लिए होते और अंग्रेज़ी का उनके अफ़सरों के लिए, ताकि वे देख सकें कि पत्र में कोई ऐसी-वैसी विद्रोहात्मक अथवा राजनीतिक चीज़ तो नहीं छपती। लेखों और उनके शीर्षकों तक में कोई परिवर्तन न किया जाता।

कैप्टन रशीद ने चार्ज सँभालते ही इस पत्र को एक पत्रकार की निगाहों से देखा। उनकी भवें तन गयी, होंठ बिगड़ गये—अतीव उपेक्षा से पत्र को मेज़ पर पटकते हुए उन्होंने कहा—'रब्बिश!' (Rubbish) और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उन्होंने समाचार-पत्र की मुर्दा नसों में नये प्राण डालने की स्कीम बना ली।

हेड आफ़िस में उनके अफ़सरों ने शोर मचाया कि फ़ाइनान्स (Finance) वाले इस स्कीम को कैसे स्वीकार करेंगे? आधी शताब्दी से जो पत्र बड़े आराम से चलता आया है, उसमें इतने बड़े परिवर्तन पर वे किस प्रकार चुप रहेंगे? इस स्कीम को मान लेना तो पहले अफ़सरों को मूर्ख मान लेने के बराबर होगा··· आदि, आदि···

लेकिन कैप्टन रशीद इस बहस के लिए पूरे तौर पर तैयार होकर गये थे। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ पहले इस पत्र के महत्त्व का ज़िक्र किया, "यह भारतीय सेना का एकमात्र ऑर्गन है," उन्होंने कहा, "इसके द्वारा न केवल हम सैनिकों को अपनी नीति के अनुसार ढाल सकते हैं, बल्कि उनकी एक बड़ी ज़रूरत को पूरा करते हैं।" फिर उन्होंने कहा कि आज के भारतीय सैनिक पचास वर्ष पहले के सैनिकों से राजनीतिक तौर पर कहीं अधिक जागृत हैं, इसलिए अखबार को और भी दानाई से निकालने की ज़रूरत है।" इसके बाद उन्होंने इस बात की शिकायत की कि इतने महत्त्वपूर्ण अखबार को इतने अर्से से केवल क्लर्क ही निकालते रहे हैं, जिन्हें जर्नलिज़्म का—जर्नलिज़्म दूर रहा—अनुवाद-कला तक तक का कोई अनुभव नहीं। उन्होंने उर्दू-संस्करण से अनुवाद के कुछ नमूने दिखाये कि किस प्रकार अनुवादक मक्खी पर मक्खी मारकर पत्र का सत्यानाश कर रहे

हैं। फिर उन्होंने एक सर्वथा नयी युक्ति पेश की, "मैं अंग्रेज़ी का ऐडीशन देख सकता हूँ," उन्होंने कहा, "उर्दू का भी देख सकता हूँ, लेकिन हिन्दी, गुरुमुखी, तमिल, तेलगू और मराठी का तो नहीं। साठ-साठ रुपया पाने वाले क्लर्कों के हाथ में ये ऐडीशन छोड़ दिये गये हैं। कौन जाने वे इनमें क्या छापते हैं, क्या नहीं छापते। हर ऐडीशन का एडीटर एक ज़िम्मेदार जर्नलिस्ट होना चाहिए, जो न सिर्फ़ अख़बार के हर मज़मून पर नज़र रखे, बल्कि इसकी एडीटिंग में भी जंग की नयी ज़रूरतों के मुताबिक तब्दीली करता रहे।"

उनकी बात मान ली गयी। पत्र के प्रत्येक संस्करण के लिए अढ़ाई-अढ़ाई सौ रुपये के वेतन पर एक-एक उप-सम्पादक और अंग्रेज़ी के लिए एक नया अनुभवी उप-सम्पादक रखने की स्कीम बनी और उसे वित्त-विभाग को भेज दिया गया।

वित्त-विभाग ने पहले-पहल केवल चार सेक्शनों के लिए सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दी ओर कहा कि यदि इससे समाचार-पत्र में कोई विशेष अन्तर दिखायी दिया तो शेष दो सेक्शनों के लिए भी सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दे दी जायगी।

सर्दियों के दिन थे और यद्यपि आठ बज चुके थे, किन्तु धूप जैसे इस शीत में जागते हुए डर रही थी और इर्द-गिर्द की कोठियों के वासियों की भाँति कहीं पूरब की सेज पर लिहाफ़ ओढ़े सो रही थी। आकाश की निद्रालस आँखों में अभी रात की ख़ुमारी थी, किन्तु धरती जाग चुकी थी। दोनों ओर की कोठियों में यूकलिप्टस, जामुन, शिरीष, आम, नीम के वृहत् पेड़ों की अपेक्षाकृत नंगी डालियाँ आकाश की निन्दासी आँखों को चूम रही थीं। ठण्डी हवा चल रही थी और पेड़ों के पत्ते सड़क और फ़ुटपाथों पर उड़ रहे थे।

कैप्टन रशीद की आँखें न उस समय आकाश का ख़ुमार देख रही थीं, न धरती की मस्ती; वे तो अपने सामने अपने पत्र को चोला बदलते हुए देख रहे थे। उनकी कल्पना में तो उनका पत्र साँप की तरह अपनी पुरानी केंचुली उतारकर नयी बदल रहा था। अपने दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले वे अपने मस्तिष्क में उन चार आसामियों के चुनाव-हेतु आने वाले प्रार्थियों से इण्टरव्यू कर रहे थे।

आसामियाँ यद्यपि चार ही थीं, किन्तु उनके लिए (युद्ध काल में बेकारों का अभाव होने के बावजूद) अगनित आवेदन-पत्र आये थे। कैप्टन रशीद ने उनमें से केवल बीस को इण्टरव्यू के लिए बुलाया था। हर सेक्शन के लिए उन्होंने पाँच-पाँच दरख़्वास्तें चुन ली थीं। इन प्रार्थियों में से कुछ प्रतिष्ठित पत्रों में काम करते थे। उनकी योग्यता और अनुभव से वे स्वयं परिचित थे। यही कारण था कि चुनाव में उन्हें कठिनाई-सी हो रही थी। कल्पना-ही-कल्पना में वे कभी इसको और कभी उसको चुनते हुए दफ़्तर पहुचे।

दफ़्तर को झाड़-पोंछकर चपरासी उनकी प्रतीक्षा में एक स्टूल पर बैठा था। उनके पहुँचते ही एकदम खड़े होकर उसने उन्हें फ़ौजी सलाम किया।

कैप्टन रशीद ने उसके सलाम का उत्तर नहीं दिया। अपने विचारों में मग्न वे कुर्सी पर जा बैठे। कुर्सी को छूते ही जैसे वे चौंके और उन्होंने घण्टी पर हाथ मारा—'टन!'

मानो रबड़ के तार से खिंचा हुआ चपरासी आ उपस्थित हुआ।

"पण्डित जी को सलाम दो!" पत्र का ताज़ा एडीशन उठाते हुए कैप्टन रशीद ने आदेश दिया।

अपने अफ़सर को समय से पहले आते देखकर जो क्लर्क उससे भी पहले आने लगे थे, उनमें पण्डित किरपाराम सबसे आगे थे। पचपन वर्ष की बेफ़िक्री और बेकारी के कारण मोटा थलथल-पिलपिल शरीर, गंजा सिर और अगले दाँतों से वंचित मुँह—इस पत्र के दफ़्तर में वे एक नवयुवक क्लर्क के रूप में आये थे और समय-समय पर हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी—तीनों सेक्शनों के ट्रान्सलेटर और फिर इंचार्ज रह चुके थे। अनुवाद-कला में उन्हें योग्यता प्राप्त हो, यह बात न थी। योग्यता प्राप्त होना तो दूर रहा, वे तो इस कला से नितान्त अनभिज्ञ थे, किन्तु उन्हें उस कला में पूरी-पूरी निपुणता प्राप्त थी जो प्राय: सरकारी दफ़्तरों में एक क्लर्क को दूसरों से आगे निकल जाने में सहायता देती है। अनुवाद तो उनके दूसरे मन्द-भाग्य साथी करते थे। उनका काम तो साहब के लिए टैक्सी, राशन, पेट्रोल, मुर्ग़े-मुर्ग़ियों से लेकर साहब की मेम के लिए पाउडर, रूज, क्रीम और ऐसी ही अनगिनत दूसरी चीज़ें जुटाना होता। सुबह आते समय और संध्या को जाते समय नियमित रूप से साहब को सलाम करते। जब साहब हेड आफ़िस जाते तो वे प्राय: उनकी अर्दली में जाते, नहीं तो कम-से-कम कार तक छोड़ने ज़रूर जाते और जब साहब वापस आते तो वे उन्हें कार से लेने अथवा हेड आफ़िस का हाल-चाल जानने अवश्य पहुँचते। साहब की मुस्कान पर खीसें निपोर देना और परेशानी पर भवें चढ़ा लेना उन्हें ख़ूब आता था। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत वे धीरे-धीरे उन्नति पाते हुए सेक्शन के इंचार्ज हो गये थे। इससे पहले कि चपरासी उन्हें साहब का सलाम देने जाता, वे दाँत निकोसते हुए स्वयं साहब को सलाम करने आ पहुँचे।

साहब ने उनके सलाम का उत्तर ज़रा-सा सिर हिलाकर दिया। मुस्कान का उत्तर देना शायद उसने उचित नहीं समझा।

इस नये देसा साहब के मनोविज्ञान को समझने में सर्वथा असफल रहने के कारण पण्डित जी केवल खिन्नता से किंचित हँसकर खड़े रह गये।

"आज कितने लोग इण्टरव्यू के लिए आ रहे हैं?"

"पण्डित जी फ़ाइल लेने भागे।

कैप्टन रशीद ने अखबार का ताज़ा एडीशन उठाया। पहले पृष्ठ पर ही टाइप की इतनी ग़लतियाँ थीं कि उनका ख़ून खौल उठा। यह देख वे प्रेस के मालिक

को फ़ोन करने ही वाले थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

"हैलो!" चोंगा उठाते हुए उन्होंने कुछ असन्तोष के स्वर में कहा।

दूसरी ओर उनके पिता थे।

"छद्दू," उनके स्वर को पहचानकर खान बहादुर बोले, "तुमसे शायद तुम्हारी अम्मा ने कहा होगा, बेटा ज़रा हनीफ़ का खयाल रखना। कल वह मेरे पास आया था। वह अपना रिश्तेदार भी है और फिर······"

"लेकिन अब्बा जान, आप क्या कहते हैं?" कैप्टन रशीद ने अपने पिता की बात काटकर कहा, "हनीफ़ तो इस पोस्ट के बिलकुल नाक़ाबिल है।"

"नाक़ाबिल," दूसरी ओर से खानबहादुर बोले, "बी० ए० आनर्स है।"

"बी० ए० आनर्स होने से कोई जर्नलिस्ट तो नहीं बन जाता अब्बा जान! मुझे तजरुबेकार जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, जो अखबार की क़ाया पलट दें। हनीफ़ को तो जर्नलिज़्म की ए-बी-सी का भी इलम नहीं।"

"अरे भाई सीख लेगा। कौन-सी चीज़ है जो मेहनती आदमी···"

अपने पिता के हठ पर कैप्टन रशीद की भृकुटी तन गयी। पर बड़ी कठिनाई से अपने आप पर संयम रख, पिता की बात काटते हुए उन्होंने कहा, "यह अखबार का दफ़्तर है अब्बाजान, जर्नलिज़्म का स्कूल नहीं। मैं नाक़ाबिल एडीटर ले लूँगा तो अफ़सर क्या कहेंगे! हनीफ़ दूसरों के साथ किस प्रकार अपनी चाल क़ायम रख सकेगा। जिन ट्रान्सलेटरों का उसे अफ़सर बनाया जायगा, वे अपने दिल में क्या खयाल करेंगे, सभी हँसेंगे!"

"सरकार के दफ़्तरों में एक-से-एक बढ़कर बेवकूफ़ भरे पड़े हैं।" अनुभवी खानबहादुर बोले।

"आप मुझसे बद-दयानती करने को कहते हैं!" कैप्टन रशीद गरजे। उनकी आवाज़ इतनी ऊँची उठ गयी कि पहले कमरे में क्लर्क दम साधकर बैठ गये।

"तुम तो बेवकूफ़ हो!" और यह कहकर उनके पिता ने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया।

ठक से चोंगे को फ़ोन पर रखकर कैप्टन रशीद उठे। इण्टरव्यू में आने वाले प्रार्थियों की फ़ाइल उनके सामने खोलकर पण्डित किरपाराम खड़े मुस्करा रहे थे। कैप्टन रशीद ने अंगारा-सी आँखों से उनकी ओर देखा और मुस्कान मानो पण्डित जी के होंठों पर पीली पड़ गयी।

"तो···तो···मैं···"

"आप जा सकते हैं।"

और यह कहकर ट्यूनिक के दोनों कालरों को दोनों हाथों से पकड़े कैप्टन रशीद कमरे में चक्कर लगाने लगे।

घूमते-घूमते उनके सामने प्रेस के मालिक खानबहादुर और अपने खानबहादुर पिता का चित्र खिंच गया और अपने खानबहादुर पिता का सब क्रोध

प्रेस के मालिक खानबहादुर पर निकालने के लिए, जो पत्र की निकृष्टतम् छपाई करता था, उन्होंने फिर चोंगा उठाया, लेकिन तभी बाहर मेजर सलीम की मोटर आकर रुकी और दूसरे क्षण मेजर सलीम अपनी अलसायी हुई मुस्कान होंठों पर लिये एक युवक के साथ अन्दर दाखिल हुए।

कैप्टन रशीद ने चोंगा वहीं रखकर उन्हें फ़ौजी सलाम किया। यद्यपि मेजर सलीम से उनका सम्बन्ध लगभग मित्रों जैसा हो गया था, किन्तु कैप्टन रशीद सैनिक डिसिपलिन के अनुसार उन्हें अब भी सलाम ही किया करते थे।

मेजर सलीम हँसे। "आप भी रशीद साहब बस···" और उन्होंने सलाम का जवाब देने के बदले हाथ बढ़ा दिया। "बैठिए, बैठिए!" उन्होंने अपनी अलसायी-सी मुस्कान से कहा, "इतना तकल्लुफ़ न कीजिए।" और इससे पहले कि कैप्टन रशीद अपनी कुर्सी पर बैठते, उन्होंने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—ये हैं मि० ज्योति स्वरूप भार्गव, बी० ए०! हिन्दी के जाने-माने लेखक और जर्नलिस्ट हैं। उर्दू भी जानते हैं। कई अखबारों में काम कर चुके हैं और कई किताबें लिख चुके हैं। कुछ दिन अखबार के हिन्दी-एडीशन में ये आपकी मदद करेंगे।" और मेजर साहब ने घण्टी बजायी और चपरासी से पण्डित जी को सलाम देने के लिए कहा।

लेकिन पण्डित जी तो मोटर देखकर स्वयं ही मेजर साहब को सलाम देने चले आ रहे थे।

"पण्डित जी, ये हैं मिस्टर ज्योति स्वरूप भार्गव, बी० ए०," मेजर साहब बोले, "ये कुछ दिन हिन्दी के काम में मदद देंगे।"

और उन्होंने श्री भार्गव से पण्डितजी के साथ जाने को कहा।

जब दोनों चले गये तो मेजर सलीम बोले, "ये कर्नल चोपड़ा के आदमी हैं। आप किसी तरह इन्हें एकॉमोडेट (Accomodate) कीजिए। आदमी लायक हैं, आपको किसी तरह की तकलीफ़ न होगी।"

"ये किस अखबार में काम करते हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

"अभी तो वे बर्मा से भागकर आये हैं। यहाँ एक फ़र्म में केनवेसर हैं, लेकिन वहाँ 'बर्मा-समाचार' नाम से एक अखबार निकाला करते थे।"

"लेकिन ट्रान्सलेशन···"

"इन्होंने दो अंग्रेज़ी किताबों का हिन्दी में तरजुमा किया है। कर्नल हरडन ने अंग्रेज़ी में 'पोल्ट्री फ़ार्म' के नाम से जो किताब लिखी है, उसका उल्था इन्होंने हिन्दी में किया है। आजकल हमारी फ़ौजों के सामने अण्डे जुटाने का सवाल बुरी तरह पेश है। यूनिटों को अपने निजी मुर्ग़ीख़ाने खोलने के लिए कहा जा रहा है। आप कर्नल हरडन की किताब को अंग्रेज़ी में किस्तों से छापिए। उर्दू और हिन्दी में भार्गव साहब आपको मसाला तैयार कर देंगे।"

और जैसे एक बड़े बोझ को सिर से उतारकर मेजर सलीम कुर्सी पर पीछे को झुक गये और सिगार सुलगाने लगे। एक लम्बा कश खींचकर उन्होंने इतना

और कहा, "यह किताब हमारे जवानों के बड़े काम की है, उनमें से ज़्यादा-तर किसान हैं और उनको जंग के बाद मुर्ग़ियां पालने का कारोबार करना पड़ेगा।"

कैप्टन रशीद चुप रह गये। उन्होंने एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक के स्टाफ़ से एक अनुभवी पत्रकार को लेने की सोच रखी थी। उनके लिए वहाँ बैठना कठिन हो गया। वे स्वयं सिगरेट पीने के आदी न थे, किन्तु उन्होंने अफ़सरों और दूसरे विज़िटरों की आवभगत के लिए केवेण्डर का एक डिब्बा रख छोड़ा था। कभी-कभार स्वयं भी उनके साथ सुलगा लेते थे। उस समय उन्हें कुछ ऐसी घबराहट हुई कि उन्होंने उठकर डिब्बे में से एक सिगरेट निकाला और उसे सुलगा लिया।

कुछ ही कश खींचने से उनका मुँह कड़वा हो गया। मेजर सलीम की आँख बचाकर उन्होंने सिगरेट खिड़की से बाहर फेंक दिया। उनका जी हो रहा था कि दोनों हाथ पतलून की जेब में डालकर कमरे में तेज़-तेज़ चक्कर लगायें, लेकिन मेजर की उपस्थिति में उन्हें ऐसा करना ठीक न लगा। वे फिर आकर कुर्सी पर बैठ गये और कुछ संकोच के साथ बोले :

"आपका खयाल है, ये साहब अखबार में फिट कर जायेंगे। जर्नलिज़म का मामूली तजरुबा तो हमारे ट्रान्सलेटरों को भी है। हम तो क़ाबिल जर्नलिस्ट चाहते हैं।"

मेजर सलीम ने जैसे उनकी बात नहीं सुनी। सिगार के एक-दो कश खींच-कर उन्होंने कहा :

"कर्नल चोपड़ा आपकी सिफारिश कर रहे थे।"

"मेरी !"

"वे कहते थे कि आपको मेजर की रेंक मिलनी चाहिए, क्योंकि आप से पहले इस अखबार के जितने एडीटर रहे हैं, सभी मेजर थे।"

कैप्टन रशीद श्री भार्गव के सम्बन्ध में कुछ और पूछने जा रहे थे कि चुप हो रहे और यह सुसमाचार सुनाकर मेजर सलीम उठे और फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद आ गयी हो, उन्होंने कहा, "आज तो मीटिंग है।"

"मीटिंग।"

"ब्रिगेडियर कल फ्रण्ट से लौटे हैं, उसी सिलसिले में वे कुछ ज़रूरी बातें डिसकस्स (Discuss) करना चाहते हैं। चलिए मेरे साथ ही चलिए।"

"लेकिन इन्टरव्यू···?"

"क्या वक्त दिया है इन्टरव्यू का आपने ?"

"ग्यारह से चार तक।"

"जब तक तो आप बीस बार लौट आयेंगे।"

विवश होकर कैप्टन रशीद असिस्टेण्ट एडीटर लेफ़्टिनेण्ट अलीगुल खां के कमरे में गये, "मुझे ज़रूरी तौर पर मीटिंग में जाना पड़ रहा है। इण्टरव्यू के लिए

जो साहब आयें, उन्हें बैठाइए। उनसे बातचीत कीजिए। मैं जल्दी आने की कोशिश करूँगा।"

यह कहकर वे कार में मेजर साहब की बग़ल में जा बैठे।

शाम के साढ़े पाँच बजे उनकी कार हेड आफ़िस से वापस आयी तो उनके साथ एक सिख सूबेदार साहब भी उतरे।

फ्रण्ट से आने के बाद ब्रिगेडियर साहब जो ज़रूरी बात उनको बताना चाहते थे, वह यह थी कि पत्र में बहुत से टेकनिकल शब्दों का प्रयोग ग़लत होता है। उनका अनुवाद भी ग़लत होता है। बर्मा के मोर्चे पर जिस शब्द के लिए अनुवादक 'खन्दक' का प्रयोग करते हैं, उसके स्थान पर 'गन की चौकी, होना चाहिए, क्योंकि वहाँ खन्दक नाम की चीज़ नहीं। 'फॉक्स होल' की जगह एक स्थल पर 'लूमड़ी की गुफा' अनुवाद हुआ है, हालाँकि यह सैनिकों ही की गुफा होती है। ऐसी बीसियों मिसालें अखबारों में थीं। ब्रिगेडियर साहब ऐसे ग़लत अनुवाद पर बहुत लाल-पीले हुए और उन्होंने कहा कि अखबार के स्टाफ़ में कोई ऐसा फ़ौजी अफ़सर अवश्य होना चाहिए, जिसे फ्रण्ट का पूरा अनुभव हो। ब्रिगेडियर साहब की इस बात का सब अफ़सरों ने समर्थन किया और कहा कि वे तो स्वयं यही बात कहना चाहते थे और कर्नल चोपड़ा ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि नयी स्कीम के अधीन एक फ़ौजी अफ़सर अखबार में ले लिया जाय।

मीटिंग के बाद जब ब्रिगेडियर साहब ने कैप्टन रशीद को अपने कमरे में बुलाया तो उन्होंने उनका परिचय एक सिख सूबेदार साहब से कराया, "अखबार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर का होना ज़रूरी है।" उन्होंने कहा, "सूबेदार पुराने अफ़सर हैं, जंगी शब्दों से पूरी तरह परिचित हैं, इन्हें गुरुमुखी का चार्ज दीजिए।"

और उन्होंने सूबेदार साहब को कैप्टन रशीद के साथ जाने की आज्ञा दी। एक फ़ौजी सलाम ठोंककर सूबेदार साहब कैप्टन रशीद के साथ हो लिये।

"बाश्शाहो, मैंनूं ताँ जर्नलिज़म-वर्नलिज़म का कोई तजरबा नईं," कार में सूबेदार साहब कैप्टन रशीद की बग़ल में बैठे बता रहे थे, "मैं ब्रिगेडियर साब नाल बहुत पहले कम्म करदा रिहा हाँ, ते ओह मेरे ते बड़े मेहरबान ने। मैं उन्हां नूं किहा सी कि साब मैंनूं कोई होर नौकरी दे दे। मैं कदीं अखबाराँ दी शकल तक नई डिट्ठी, क़म्म करना ताँ दूर रिआ, लेकिन ब्रिगेडियर साब ने किहा, 'वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नेईं। मैं एडीटर नूं आख दियाँगा कि ओह तैनूं सिखा देवे। मैं चाहुनाँ हाँ कि मिलिट्री दा इक आदमी अखबार विच्च ज़रूर होदे, जिस नूं बाक़ायदा लड़ाई दा तजरबा होवे।[1],

1. बादशाहो, मुझे जर्नलिज़म आदि का कोई अनुभव नहीं। मैं बहुत पहले ब्रिगेडियर साहब के साथ काम करता रहा हूँ और वे मुझ पर बड़े कृपालु हैं। मैंने उनसे कहा था कि साहब मुझे कोई दूसरी नौकरी दे दो। मैंने कभी अख़बार की शक्ल तक नहीं देखी, उसमें काम

"आप किस फ्रण्ट पर हो आये हैं ?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

और भोले-भाले सूबेदार साहब ने बताया :

"बादशाहो, कुत्ते दी मौत मरना होंदा ते एथे आवन दी की लोड़ सी ? मैं बदकिस्मती नाल इंजीनियर कोर विच भरती हो गया सी, ते तजरबा मैंनूं कक्ख ना होया सी। साडी कोर कुछ दिनां तक बर्मा फ्रण्ट जान वाली ऐ। मैं साब नूं आखिया, 'भई जे मेहरबानी करनी एं ते हुण कर। पिच्छे मेरे बाल अयाने ने ते उन्हां नूं देखन वाला कोई नईं। जे असां फ्रण्ट नूं टुर गये ते, फ़ेर तेरी मेहरबानी किस दिन काम आऊ, साब मेरे ते खुश ए। मेरी हालत ते ओहनूं तरस आ गिया ते ओस मैंनूं एथे घल्ल दित्ता। मैं कम्म सिखन दी पूरी कोशिश करांगा। जे मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तग़मे दी सिफ़ारिश करेगा।"[1]

दफ़्तर में जाकर मेज़ पर बैठते ही कैप्टन रशीद ने घण्टी पर हाथ मारा।

"पण्डित किरपाराम को सलाम दो!" उन्होंने चपरासी को आज्ञा दी।

लेकिन पण्डित जी स्वयं साहब को सलाम देने और हेड आफ़िस का हाल-चाल पूछने आ रहे थे। मुस्कराते हुए उन्होने साहब का हुक्म पूछा।

पिछले तीन महीने में पहली बार कैप्टन रशीद ने पण्डित जी की मुस्कान का उत्तर दिया। कुछ हकलाते हुए उन्होंने कहा, "सूबेदार साहब ब्रिगेडियर के आदमी हैं। ये गुरुमुखी के सब-एडीटर होंगे। ब्रिगेडियर साहब चाहते हैं कि अखबार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर होना चाहिए।" (यहाँ उन्होंने वे सब युक्तियाँ दोहरायीं जो ब्रिगेडियर ने मीटिंग में दी थीं) "इसलिए गुरुमुखी के ट्रान्सलेटरों से कह दें कि वे इनकी मदद करें और कोई तकलीफ़ न दें।"

"अजी आप चिन्ता न करें, सब ठीक हो जायगा।" पण्डित जी ने आत्म-विश्वास से हँसते हुए कहा, "जब तक मैं हूँ, किसी अफ़सर को कोई कष्ट नहीं हो सकता। जिस तरह आप चाहते हैं, वैसा ही होगा।"

और जब वे सूबेदार साहब को साथ लिये हुए कैप्टन रशीद के कमरे से बाहर

करना तो दूर रहा। लेकिन ब्रिगेडियर साहब ने कहा, वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नहीं। मैं एडीटर से कह दूंगा कि वह तुझे सिखा दे। मैं चाहता हूँ कि फ़ौज का एक आदमी अख़बार में जरूर हो जिसको लड़ाई का बाकायदा तजरुबा हो।

1. बादशाहो, यदि (फ्रण्ट पर) कुत्ते की मौत मरना होता, तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी। मैं दुर्भाग्यवश इंजीनियर-कोर में भरती हो गया था। और अनुभव मुझे तृण-मात्र भी न हुआ था। हमारी कोर कुछ ही दिनों में बर्मा फ्रण्ट पर जाने वाली है। मैंने साहब से कहा कि यदि कृपा करनी हो तो अब कर। मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं और मेरे सिवा उन्हें देखने वाला कोई नहीं। यदि हम फ्रन्ट को ही चले गये तो तुम्हारी कृपा किस दिन काम आयगी। साहब मुझ पर प्रसन्न है। मेरी स्थिति पर उसे तरस हो आया और उसने मुझे आपके साथ भेज दिया। मैं काम सीखने की पूरी कोशिश करूँगा, यदि मैं यहाँ सफल हो गया तो साहब ने मुझे वचन दिया है कि वह मेरे लिए पदक की सिफ़ारिश करेगा।

निकले तो उनके ओठों पर मुस्कराहट और भी फैल गयी।

उनके बाहर जाते ही कैप्टन रशीद ने फिर घण्टी पर हाथ मारा।

"लेफ़्टिनेण्ट अली को सलाम दो।"

लेफ़्टिनेण्ट के आने पर उन्होंने पूछा, "मेरा पैग़ाम मिल गया था?"

"जी!"

"इण्टरव्यू ले लिया?"

"हिन्दी और गुरुमुखी के उम्मीदवारों का इण्टरव्यू हो गया है। बाकी को आपके टेलीफ़ोन के मुताबिक कल आने के लिए कह दिया है।"

"आप उन्हें भी निबटा लेते। उम्मीदवारों का चुनाव तो लगभग हो गया है।"

"अँग्रेजी के लिए कौन आ रहा है?"

"डायरेक्टर-जनरल का कोई आदमी है। ब्रिगेडियर कह रहे थे, डायरेक्टर अँग्रेज़ी का असिस्टेण्ट बहुत लायक चाहते हैं, क्योंकि उसी से बाक़ी सब एडीशनों का पेट भरता है। शायद कोई आदमी हेड आफ़िस से आये।"

"और उर्दू?"

"उसके लिए भी चुनाव हो गया समझिए।"

यह कहकर उन्होंने फ़ाइल उठायी और काम में लग गये।

लेफ़्टिनेण्ट अलीगुल ख़ाँ अपने कमरे में चले गये।

कैप्टन रशीद ने फ़ाइल अपने सामने रख तो ली, लेकिन हस्ताक्षर वे एक काग़ज़ पर भी न कर सके। फ़ाइल को एक ओर हटाकर और ट्यूनिक के कालरों को दोनों हाथों से पकड़े वे कमरे में घूमने लगे।

सात बज चुके थे। चपरासी ने झिझकते हुए भीतर कमरे में झाँककर देखा—कैप्टन रशीद उसी तरह ट्यूनिक के कालरों को थामे सिर झुकाये कमरे में चक्कर लगा रहे थे।

दूसरी सुबह जब पण्डित किरपाराम साहब को सलाम देने पहुँचे तो उन्होंने कैप्टन रशीद के बराबर की कुर्सी पर एक नवयुवक को बैठे देखा, "यह हैं मिस्टर हनीफ़—बी० ए० आनर्स," उसका परिचय देते हुए उन्होंने पण्डित जी से कहा, "ये उर्दू सेक्शन का काम सम्हालेंगे।"

पण्डित जी ने खीसें निपोरते हुए मिस्टर हनीफ़ को सलाम किया और उन्हें साथ ले चले।

चलते समय कैप्टन रशीद के ये शब्द उनके कान में पड़े:

"ज़रा ट्रान्सलेटरों से कह दीजिएगा, इन्हें काम सीखने में मदद दें।"

काले खाँ

डी० एम० की कोठी से बाहर निकलकर श्रीवास्तव ने रिस्ट-वाच की ओर देखा। आठ बजे थे। उसके पास पूरा एक घण्टा था। चपरासी ने डी० एम० के नौ बजे वापस आने की बात कही थी। तो क्यों न वह गजानन को इलाहाबाद में अपने शुभागमन का सुसमाचार दे आये। 'एक पंथ दो काज' में उसका सदा विश्वास रहा था, बल्कि यदि किसी पंथ में दो के बदले चार काज हों तो वह उन सबको एक साथ निबटाने से कभी न चूकता था। यही कारण था कि छह-सात वर्ष पहले के पचास-साठ रुपये मासिक पाने वाले पत्रकार से उन्नति कर वह इस थोड़े-से अर्से में डिप्टी कलेक्टर हो गया था। न केवल यह, बल्कि डिप्टी कलेक्टर होने के बाद इसी चुस्ती और चालाकी के बल पर वह सूने और बीहड़ ज़िलों को फलाँगता हुआ इलाहाबाद आ नियुक्त हुआ था, आज ही प्रात: इलाहाबाद में उसका पदार्पण हुआ था और आज ही वह अपने अफ़सर के यहाँ हाज़िरी देने जा पहुँचा था। पर डी० एम० लखनऊ से दौरे पर आने वाले एक मन्त्री के यहाँ हाज़िरी देने गये हुए थे, इसलिए एक घण्टा श्रीवास्तव के पास खाली था। गजानन उसका बचपन का मित्र था। एलनगंज में रहता था। यूनीवर्सिटी में लेक्चरर था। अभी वह घर ही पर होगा, यह सोचकर श्रीवास्तव ने इस खाली समय में उसी के यहाँ हो आने का फ़ैसला किया। कचहरी के पास से गुज़र, वह सड़क पर आ खड़ा हुआ—एक दिन वह इसी कचहरी का बड़ा हाकिम बनेगा, यह ध्यान आते ही गर्व से उसकी एड़ियाँ तनिक उठ गयीं, उसके हाथ बुश्शर्ट के अकड़े कालरों पर होते हुए दामन पर आकर रुक गये और पंजों पर एक-दो बार ज़ोर देते हुए उसने आगे-पीछे से बुश्शर्ट को ठीक किया। तभी उसने देखा कि सामने बारहदरी के पास दो रिक्शा वाले जैसे उसी को लेकर कुछ बहस करते हुए चले आ रहे हैं।

"रिक्श्या !"

उसने साहबी स्वर से गले में शब्द को तनिक उमेठते हुए आवाज़ दी।

"जी हुज़ूर !"

और दोनों रिक्शा उसके सामने आ खड़े गये।

"क्यों भाई, घण्टे के हिसाब से चलोगे ?"

"कहाँ जायेंगे ?" पहले रिक्शा वाले ने पूछा ।

"कहीं भी जायें !"

"क्या घण्टा मिलेगा ?"

"जो भी रेट होगा !"

"रुपया घण्टा लेंगे !"

"दस आना मिलेगा !"

"अजी आइए हुज़ूर, आप इधर आइए !" दूसरे रिक्शा वाले ने बड़े लटकते हुए लखनवी ढंग से हाँक लगायी।"

"हाँ-हाँ तुम ले आओ।"

और दूसरे रिक्शा के बराबर आते ही श्रीवास्तव उचककर उसमें बैठ गया। बुश्शर्ट को दोनों ओर दामन से ज़रा खींचकर उसने ठीक किया और पतलून को तनिक ऊपर उठा लिया कि उसकी क्रीज खराब न हो जाय। वह पीछे की ओर पीठ लगाकर आराम से नहीं बैठा। बुश्शर्ट के मसले जाने का उसे भय था, और डी० एम० से मिलने तक वह इसी प्रकार लक-दक बने रहना चाहता था। रिक्शा पर वह इस प्रकार अकड़ा बैठा था जैसे डी० एम० से हाथ मिलाकर अभी-अभी कुर्सी पर बैठा हो। सीधा, अकड़ा और चाक-चौबन्द !

रिक्शा वाला खाकी सूट पहने था। सूट बहुत मैला भी न था। शक्ल से भी वह साधारण रिक्शा वाला मालूम न होता था। इलाहाबाद के रिक्शा वालों में देहातियों का बाहुल्य रहता है। फ़सल का मौसम न हो और काम से छुट्टी हो तो निकटवर्ती गाँवों के देहाती अपने लम्बे-तगड़े शरीर पर खादी की बण्डी और कमर में अँगोछा बाँधे, मुर्री में एक जून का राशन लिये इलाहाबाद की ओर चल पड़ते हैं। संध्या को पहुँचते हैं, रात के लिए रिक्शा लेते हैं और सवारी से किराया लेकर ही दूसरे जून के सत्तू खरीदते हैं। इन्हीं रिक्शा वाले देहातियों की सुविधा के लिए बहुत से पनवाड़ियों ने पान, बीड़ी, सिगरेट के साथ सत्तू के थाल भी सजा रखे हैं, जिनके पिरामिडों में हरी मिर्च खुसी अजब बहार देती हैं। ये देहाती रिक्शा वाले, रिक्शा चलाते-चलाते जब ज़रा समय पाते हैं तो सेर-आध सेर सत्तू ले, उन्हीं की थाली में गूँध लौंदा-सा बनाकर हाथ पर रख लेते हैं और मिर्चों की सहायता से निगलकर पास के किसी नल से दो घूँट पानी पी लेते हैं।

कहते हैं कि गीदड़ की मौत आती है तो वह नगर की ओर भागता है। उस गीदड़ और इन देहातियों में कोई विशेष अंतर नहीं। दिन-दिन भर और कई बार दिन और रात भर रिक्शा चलाकर जहाँ वे साल-साल भर का लगान कमाकर ले जाते हैं, वहाँ फेफड़ों को भी खोखला कर जाते हैं।

दूसरे रिक्शा वाले, इलाहाबाद ही के ऐसे नागरिक मज़दूर हैं जो द्वितीय महायुद्ध के बाद बेकार हो गये हैं। रिक्शा चलाते-चलाते उनकी पसलियाँ निकल आयी हैं। यक्ष्मा उनकी आँखों में झाँकता है तो भी वे महँगाई के इस ज़माने में बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए रिक्शा खींचने को विवश हैं।

श्रीवास्तव प्रयाग का ही निवासी था। वह इन दोनों तरह के रिक्शा वालों से भली-भाँति परिचित था। किन्तु उसका यह रिक्शा वाला उसे इन दोनों में से न दिखायी दिया। इधर रिक्शा वालों की एक तीसरी श्रेणी भी दिखायी देने लगी है। रोनाल्ड कोलमैन की तरह बारीक-सी तलवार काट मूँछ बनाये, फ़ौजी पैण्ट या बुश्शर्ट या केवल टोपी पहने, युद्ध से छुट्टी पाये बेकार फ़ौजी रिक्शा चलाने लगे हैं। रिक्शा चलाते समय उनके सिर का तिरछापन, साइकिल की गद्दी पर बैठे हुए उनकी कमर की अकड़ और पैंडल घुमाते हुए बाहर की ओर घुटनों का फैलाव, पहली ही दृष्टि में उनके फ़ौजी होने का पता दे देता है। ओठों के दायें अथवा बायें कोने में बीड़ी दबाये, तीसरे महायुद्ध के स्वप्न देखते, मिस्र, ईरान, इटली, जर्मनी, वहाँ की आज़ाद फ़िज़ा और गोरी-गोरी तन्वंगियों के ख्वाब लेते, दनदनाते हुए रिक्शा चलाये जाते हैं। आज़ादी ने उन्हें गिड़गिड़ाना भुलाकर स्वाभिमान से सिर उठाना सिखा दिया है। अधिकांश क्योंकि अर्द्ध-शिक्षित हैं, इसलिए स्वाभिमान की सीमाएँ कहाँ अक्खड़पन से मिल जाती हैं, यह नहीं जानते। मोल-भाव अधिक नहीं करते और सवारी को ऐसी दृष्टि से देखते हैं मानो वह लूट-मार में पकड़े हुए शत्रु-नागरिकों में से कोई हो।

परन्तु यह रिक्शा वाला यद्यपि सैनिक वर्दी पहने था, पर उसमें वह सैनिकों की-सी अकड़ न थी। मुख पर भी उसके अन्य फ़ौजियों की भाँति सूखे हुए आटे का-सा तनाव न था, बल्कि गुँधी हुई लोई की-सी नर्मी और लचक थी।

"क्यों भाई क्या तुम सेना में काम करते थे?" श्रीवास्तव ने अकड़े बैठे-बैठे उकताकर, शरीर को तनिक-सा ढीला छोड़ते हुए पूछा।

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते तनिक पीछे की ओर देखा :

"नहीं साब, सेना में हम क्या काम करते!" और यह कहते हुए उसके ओठों पर व्यंग्य और उपेक्षा-भरी मुस्कान दौड़ गयी, जिसमें हल्के-से दर्द की रेखा भी श्रीवास्तव की आँखों से छिपी न रही। वह मुस्कान मानो कह रही थी कि सेना की नौकरी जैसा निकृष्ट काम हम क्या करते।

"तो क्या रिक्शाएँ चलाते हो?" श्रीवास्तव का मतलब था कि चार-छह रिक्शा रखकर क्या उनकी आमदनी खाते हो?

रिक्शा वाला हँसा। "अजी साब कहाँ? यहाँ तो यह रिक्शा भी अपना नहीं। किराये पर लेकर चलाते हैं।"

श्रीवास्तव को उसके स्वर में सभ्यता की यथेष्ट मात्रा लगी। उससे उसे सहानुभूति हो आयी। "तो ऐसा जान-मारू काम तुम काहे को करते हो?" उसने कहा, "रिक्शा चलाने से तो फेफड़ों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। दिन-रात हल और फावड़ा चलाने वाले देहाती तो खींच सकते हैं इन्हें, तुम्हारे ऐसे शहरियों के बस का यह काम नहीं।

"जी हम क्या अपनी इच्छा से चलाते हैं। बीवी है, तीन-चार बच्चे हैं, माँ है, दो विधवा बहनें हैं। इतने बड़े कुटुम्ब का खर्च अकेले हमीं पर है।"

"तुम कोई और काम क्यों नहीं कर लेते ?"

"हमको दूसरा कोई काम आता नहीं साब !"

"तो क्या तुम सदा से रिक्शा चलाते हो ?"

"जी नहीं साब, जब से देस को आज़ादी मिली है।" रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते दायें हाथ से माथा ठोंका और बोला, "अँग्रेज यहाँ से गये, काले साब उनकी जगह आये कि हमारी किस्मत फूटी। देसी साहबों को न हमारे काम की समझ, न परख। न हम उनके काम के, न वो हमारे। हमने तो अर्ज़ी दी थी कि हमको कोई दूसरा काम नहीं आता, हमको उन्हीं के साथ विलायत भेज दीजिए, पर किसी ने हमारी सुनी नहीं।"

"तो क्या करते थे तुम ?"

"हम कमिश्नर 'डक' के यहाँ काम करते थे। पचास रुपया महीना पाते थे, रहने के लिए दो कमरे थे, कपड़े साब देते थे। माफ़ कीजिएगा···" और रिक्शा वाला बात करते-करते संकोच से तनिक रुका।

"नहीं नहीं, कहो।" श्रीवास्तव ने फिर अकड़कर बैठते हुए कहा।

"यह जो बुश्शर्ट आपने पहन रखी है," रिक्शा वाले ने पीछे को मुड़कर बड़े अदब से कहा, "ऐसी तो साब के यहाँ हम पहना करते थे।"

श्रीवास्तव फिर ढीला होकर बैठ गया। पीठ भी उसकी पीछे लग गयी। और सूट के मसले जाने का भी उसे ध्यान न रहा।

"अँग्रेज़ों के राज में जो मौज ली, वह अब कहाँ !" रिक्शा वाला कहता गया। "दिन-त्योहार पर इनाम मिलते थे। हमारे ही नहीं, बीवी-बच्चों तक के कपड़े बन जाते थे। अब बताइए इतना हम कहाँ पायें ? कैसे बीवी-बच्चों का ख़र्च चलायें ? विवश रिक्शा चलाते हैं, ख़ून सुखाते हैं। किसी दिन इसी तरह टरक जायेंगे।"

"पर आखिर बात क्या है, तुम किसी देसी साहब के यहाँ काम क्यों नहीं करते ? कमिश्नर की जगह कमिश्नर है और कलक्टर की जगह कलक्टर।"

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते फिर पीछे की ओर तनिक देखा, "देसी साब हमें क्या खाकर रखेंगे !" वह बोला और उसके ओठों पर वही विद्रूप-भरी मुस्कान फैल गयी।

"क्या करते थे तुम कमिश्नर डक के यहाँ ?" श्रीवास्तव ने उत्सुकता मिली झल्लाहट से पूछा, "कुक थे ?"

"जी नहीं, ख़ानसामागीरी हमसे नहीं होती।"

"तो क्या करते थे, बैरा थे ?"

"जी हाँ, बैरा थे !"

श्रीवास्तव फिर अकड़कर बैठ गया, "तो इसमें क्या बात है। तुम दूसरी जगह नौकरी कर सकते हो। हमारे यहाँ एक बैरा है।"

"जी नहीं, वैसे बैरा हम नहीं थे। हम खाना-वाना लाने का काम नहीं करते

थे। हम साब के कपड़े देखते थे।''

"हाँ, हाँ, कपड़े-अपड़े देखते होगे, बूट-ऊट साफ़ करते होगे।''

"जी नहीं, बूट तो भंगी साफ़ करता था। हम सिर्फ़ कपड़े देखते थे।"

"क्या देखते थे कपड़ों का सारा दिन ?''

"अब साब, आपसे क्या बतायें, आप समझेंगे नहीं।" रिक्शा वाले ने ज़रा-सा मुड़कर मुस्कराते हुए कहा, "अँग्रेज़ लोगों की बड़ी बातें थीं। एक वक्त एक सूट पहनते थे। रात का अलग, दफ़्तर का अलग, दिन के आराम का अलग, सैर-सपाटे का अलग, फिर डिनर सूट, गोल्फ़ सूट, पोलो सूट, डांस सूट, शिकार सूट। उनको ठीक जगह पर रखना, धोबी को देना, लेना, साब को पहनाना, यही काम हमारा था। देसी साब क्या समझें और परखें हमारा काम ? दिन-रात, महीनों-बरसों एक ही सूट घिसाये जाते हैं। यही साब, जिनकी लाल कोठी के पास से होकर अभी हम निकले हैं, बड़े भारी अफ़सर हैं, पर कभी-कभी ऐसा सूट पहनते हैं, जो लगता है, कॉलेज के दिनों का सम्हाले हुए हैं। जहाँ दफ़्तर लगाते हैं, वहाँ बाथ-रूम था। शनि की रात को क्या-क्या रौनकें होती थीं। और बगीचा देखा आपने, उसकी क्या दुर्गति हुई है ? कभी अंग्रेज साब के ज़माने में उसकी बहार देखते ? वही बगीचा क्या, यह सारी सिविल लाइन्ज़ पड़ी अंग्रेज़ साहबों के नाम को रो रही है। इतने बड़े-बड़े बंगले, इतने बड़े-बड़े बगीचे, राँड़ के सिर की तरह मुंडे दिखायी देते हैं।''

श्रीवास्तव को उस रिक्शा वाले की उपेक्षा और भारतीय रहन-सहन के प्रति उसका दुर्भाव बहुत बुरा लगा। यद्यपि वह स्वयं साहबी ठाठ-बाट से रहना पसन्द करता था, परन्तु उस समय उसे अँग्रेज़ी संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु के प्रति क्रोध हो आया। उस 'अज्ञ' को तनिक-सा 'विज्ञ' बनाने के विचार से उसने कहा, "उनके और अपने खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन में बड़ा अन्तर है। वे लोग माँस-मछली खाना, शराब पीना बुरा नहीं समझते। गाय और सुअर का माँस खाते हैं। हमारे यहाँ उनको छूना भी पाप है, उनकी औरतें नाचती हैं, हमारे यहाँ···''

"कुछ नहीं साब,'' रिक्शा वाले ने उसकी बात काटकर और रिक्शा के पैडल पर अपने जोश में और भी ज़ोर देते हुए कहा, "हम लोगों का देस गुलामों का देस है ! घोंघे की तरह हम अपने आप में बन्द होकर रह गये हैं। गरीब होने से हमने गरीबी को स्वर्ग बना दिया है। धनी होने पर भी हम आदत से गरीब बने रहते हैं। रुपया बैंकों में जमा रखते हैं और दाल-रोटी पर सबर करते हैं। हमको हमारा साब बताता था कि भारत जब आज़ाद था, जब आर्या (आर्य) लोग इस देस में आये थे तो वे भी खूब खाते-पीते, नाचते-गाते और मौज मनाते थे। न यह पर्दा था, न खान-पान के बन्धन थे। हमको हमारा साब बताता था कि धन का लाभ उसे खर्च करने में है, बैंक में जमा करने में नहीं। रुपया खर्च होता है तो देस के कारीगर, मज़दूर, दुकानदार सब काम पाते हैं, नहीं तो बेकारी बढ़ती है।

साब साल-के-साल फ़र्नीचर और दरवाज़ों-खिड़कियों पर रोग़न कराते थे। छह महीने में वाइट-वाश कराते थे । दो माली, दो बैरे, ख़ानसामा, धोबी, भंगी उनके यहाँ नौकर थे । फिर उनके दम से डबल रोटी वाले, अण्डे वाले, कुर्सी-मेज़ वाले और न जाने कौन-कौन रोज़ी पाते थे…"

श्रीवास्तव के हृदय में ज्वाला-सी लपकी । उसका जी चाहा कि वहीं उठकर उस 'साहब के कुत्ते' की गुद्दी पर ज़ोर का एक घूँसा दे, लेकिन रिक्शा काफ़ी तेज चला जा रहा था । तब उसने अपना क्रोध अपने परवर्ती गोरे अफ़सरों पर निकाला ।

"उन सालों का क्या है ? जनता को लूटते और मौज उड़ाते थे ।"

"जनता को ये क्या कम लूटते हैं ?" रिक्शा वाले ने पलटकर बड़ी मिसकीन व्यंग्यमयी हँसी के साथ कहा, "छोटे से लेकर बड़े अफ़सर तक सब खाते हैं। वहाँ तो बड़े अफ़सर कुछ संकोच भी करते थे । यहाँ तो आपाधापी मची है । बस लेना जानते हैं, देना नहीं जानते । अँग्रेज़ लेता था तो दस आदमियों का पेट पालता था । ये खाते हैं तो जमा करते हैं। खायें-उड़ायें भी क्या, आदत भी हो । वही धोती-कुर्ता पहने बाहर-भीतर सब जगह बने रहते हैं । पन्द्रहवें-बीसवें, महीने-दो महीने पर हजामत बनवाते हैं । नाई, धोबी, बैरा, खानसामा क्या पायेंगे इनसे ?"

श्रीवास्तव मन-ही-मन उमठ-सा गया । पर चुप बना रहा कि क्या उस कमीने के मुँह लगे ।

"दूर क्यों जाइए," रिक्शा वाला अपनी रौ में कहता गया, "रिक्शे-ताँगे वालों को ही ले लीजिए । बड़ा-से-बड़ा सेठ रिक्शा करेगा तो मोल-भाव करना न भूलेगा । यहीं एलनगंज में एक आनरेरी मजिस्ट्रेट रहते हैं, बड़े आदमी हैं । चौक में उनका एक प्रेस भी चलता है । सदा यहाँ अड्डे पर आ खड़े होते हैं और चाहते हैं कि एक ही सवारी के पैसे देने पड़ें । दूसरी सवारी न हो तो आध-आध घण्टे खड़े रहते हैं । अँग्रेज मामूली फ़ौजी भी हो तो कभी मोल-भाव न करता था । फिर जेब में रुपया हुआ तो रुपया दे दिया और दो हुए तो दो दे दिये । एक बार हमारे साब की मोटर बिगड़ गयी थी । यहीं एलनगंज से कचहरी जाने में पाँच रुपये का नोट उन्होंने रिक्शा वाले को दे दिया था ।"

गजानन का घर आ गया था। श्रीवास्तव उचककर उठा । परन्तु वहाँ जाकर मालूम हुआ कि वह है नहीं । अपना कार्ड छोड़ श्रीवास्तव मुड़ा और रिक्शा वाले से उसने कहा कि जल्दी से चले । कचहरी के सामने उतरते वक्त श्रीवास्तव ने घड़ी देखी । एक घण्टा दस मिनट हुए थे ।

दूसरा वक्त होता तो वह दस आने आधे घण्टे के हिसाब से बारह आने से अधिक न देता, पर इस रिक्शा वाले को बारह आने देने में उसे हिचकिचाहट हुई । साहबों की क़ब्र पर लात मारते हुए उसने कहा :

"एक घण्टे से कुछ ही मिनट ऊपर हुए हैं। दो घण्टे भी लगायें तो एक रुपया चार आने होते हैं, पर यह लो दो रुपये। चौदह आने हमारी ओर से बख़शीश समझ लो।"

रिक्शा वाले ने लगभग फ़ौजी ढंग से सलाम किया और श्रीवास्तव गर्व से एड़ियों को तनिक और उठाता हुआ डी० एम० की कोठी की ओर चला।

"क्यों क्या मिला ?"

पहले रिक्शा वाले ने, जो अभी तक अड्डे पर खड़ा था, ज़ोर से पूछा।

"दो रुपये !"

"दो रुपये-ये !"

"हाँ दो रुपये ! किसी देसी अफ़सर से मैंने कभी कम लिया जो इससे लेता। साले इन काले साहबों से निबटना मैं ही जानता हूँ।"

अन्तिम वाक्य की भनक श्रीवास्तव के कानों में पड़ गयी। उसकी उठी हुई एड़ियाँ बैठ गयीं। शरीर का तनाव और चाल की अकड़ कम हो गयी और वह साधारण आदमियों की तरह चलता डी० एम० के बँगले में दाखिल हुआ।

तीन सौ चौबीस

मोटरें अड्डे पर आकर रुकीं। कुलियों की दुनिया में हलचल मच गयी। बैठे हुए खड़े हो गये, खड़े दौड़ पड़े, मानो धन की वर्षा हो गयी हो, कोई स्वर्गीय विभूति उनके मध्य आ गिरी हो। मिनटों में मैले, फटे, जर्जर कपड़े पहने बीसियों कुली मोटरों को घेरकर खड़े हो गये। बहुतों ने अपने पीतल के नम्बर भी मोटर में फेंक दिये।

पहली मोटर में बैठे हुए मिस्टर वाल्टन और उनका छोटा-सा परिवार पीतल के टुकड़ों की उस वर्षा से घबरा उठा। दूसरे क्षण कुमारी वाल्टन तिनककर मोटर में खड़ी हो गयी। उसकी युवा आँखों में क्रोध के डोरे दौड़ गये। रोष से मुँह सुर्ख़ हो गया। उसने सब नम्बरों को उठाया और कुलियों के मुँह पर दे मारा। एक पीतल का नम्बर वाल्टन साहब की गोद में पड़ा था। उसे उठाते हुए ज्योंही मिस वाल्टन ने फेंकने के लिए हाथ उठाया कि एक कुली—सुन्दर, युवा, बलिष्ठ दूसरों को हटाते हुए उसके सामने आ खड़ा हुआ—कुछ बेपरवाह-सा, कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा, कुछ व्यथित-सा। युवती की सरोष आँखें, उसकी करुणाभरी आँखों से चार हुईं। उसने नम्बर नहीं फेंका और चुप अपने स्थान पर बैठ गयी। कुली कुछ और समीप आकर मोटर के पास खड़ा हो गया। साहब अपनी पत्नी को लेकर दूसरे दरवाज़े से उतर गये।

कुमारी वाल्टन ने सिर से पाँव तक उस कुली को देखा और दूर तक दृष्टि दौड़ायी। इन चीथड़ों में लिपटे हुए, आधी नंगी टाँगों और बाँहों वाले कुलियों में, जिनके पैरों में सेर-डेढ़ सेर के बेडौल चप्पल पड़े हुए थे और घुटनों तक मैल चढ़ी हुई थी; जिनके चेहरों की आकृति शुष्क और सख़्त थी और जिनकी आँखों के पपोटे धूल से स्याह हो रहे थे—इन सब कुलियों में कौन उस जैसा साहसी, सुन्दर और बलिष्ठ था? उसने देखा, कुली की गोरी-गोरी बाँहों पर अधिक बोझ उठाने के कारण मछलियाँ पड़ गयी हैं और नीली-नीली नसें फूल उठी हैं। उसके सिर पर टोपी नहीं थी। गले में एक साफ़ लेकिन आस्तीन और गरेबाँ की क़ैद से स्वतन्त्र कुर्ता पड़ा हुआ था।

"टुमारा नाम?"

"324"

"नम्बर नहीं, नाम।"

"हैदर।"

"हैडर! कितना बोझ उठाने सकेगा?"

"बहुत काफ़ी मिस साहब।"

ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला। कुमारी वाल्टन खट-खट नीचे उतरी।

"वह प्यानो उठाने सकेगा?" उसने मुस्कराते हुए कहा।

हैदर ने अपनी दृष्टि उस ओर उठायी और मुख पर बिखरे हुए बालों की लटों को परे हटाया। कार के पीछे एक दूसरे ट्रक में वह बड़ा प्यानो रखा था और चार-पाँच कुली उसे नीचे उतारने का प्रयास कर रहे थे।

उसने उत्तर दिया, "हाँ, उठा लूँगा।"

यह कहते समय उसे प्यानो के वज़न का ध्यान आया, किन्तु इसके साथ ही उसकी आँखों के सम्मुख अपने घर की बेबसी की तस्वीर खिंच गयी, साथ ही उसे अपनी बात का भी ध्यान आया। अब इनकार करके उस सुन्दर लड़की की नज़रों में दुर्बल बनना उसे स्वीकार न था। वह आगे बढ़ा।

सुरीली तानें अलापने वाला प्यानो, जिसके लिए कुमारी वाल्टन एक कमरा अलग कर दिया करती थी, उतारकर धरती पर रख दिया गया और दो-तीन 'हातो'[1] उठाने के लिए तैयार हुए।

"इसे यह कुली उठायेगा," कुमारी वाल्टन ने आगे बढ़कर कहा। साहब ने हैदर पर नख से शिख तक दृष्टि डाली और बोले, "यह अकेला?"

"हाँ।" और हैदर की ओर देखकर मुस्कराती हुई कुमारी वाल्टन बोली, "क्यों उठायेगा अकेला? हम ईनाम बी डेगा।"

हैदर का सीना फूल उठा—"हाँ, मिस साहब।" हाँ कहकर न कहना जवानी ने नहीं सीखा।

"टीन माईल ले जायगा?"

"ले जाऊँगा।"

"हम टुमें बहुट ईनाम डेगा।" और उत्सुक दृष्टि से कुमारी वाल्टन उस बलवान कुली की ओर देखने लगी। देखते-देखते हैदर ने प्यानो के इर्द-गिर्द रस्सा लपेट दिया। जो 'हातो' उसे उठाने के लिए आगे बढ़े थे, पीछे हट गये। दो आदमियों की सहायता से हैदर ने प्यानो पीठ पर लाद लिया। उसकी कमर दोहरी हो गयी, माथे पर पसीना आ गया। अपनी छोटी-सी लठिया के सहारे वह चल पड़ा।

"मर जायगा ससुरा!" एक हातो ने कहा।

---

1. शिमले में कश्मीर और नाहन के कुली 'हातो' कहलाते हैं।

पों-पों करती हुई दूसरी मोटर-गाड़ी आ खड़ी हुई और सब उसकी ओर दौड़ पड़े।

कुमारी वाल्टन वहाँ खड़ी-की-खड़ी रह गयी। वह सोच रही थी—'इतना बड़ा प्यानो, जिसे चार आदमी कठिनाई से उठा पाते हैं, इस अकेले हैदर ने उठा लिया। यह योरप में होता तो बोझ उठाने का रिकार्ड मात करके सहस्रों रुपया कमा लेता। उसके युवा हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। परन्तु यह सहानुभूति उसके फटे कपड़ों, उसके व्यथित मुख, उसकी बेबसी को देखकर नहीं पैदा हुई थी। वह उस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती थी, जहाँ ये बातें सहानुभूति ख़रीदने के बदले उपेक्षा मोल लेती हैं। पर बहादुर से, सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में—वह हृदय चाहे अँग्रेज़ रमणी का हो अथवा भारतीय का।

रिक्शा उसके समीप आकर खड़ी हो गयी। वाल्टन साहब ने तीन रिक्शाओं के लिए आर्डर दिया था। कुमारी वाल्टन सबसे अगली रिक्शा में बैठ गयी, उससे पिछली में उसकी माँ। सबसे अन्तिम रिक्शा में साहब स्वयं बैठे। पाँच-सात कुली दूसरा सामान उठाकर साथ-साथ चलने लगे।

वाल्टन साहब रिटायर्ड इंजीनियर थे। पेन्शन मिलती थी। परिवार भी बड़ा नहीं था। मज़े से बसर होती थी। शिमले में उन्होंने दो-तीन कोठियाँ बनवा ली थीं। किराया भी आ जाता था। उनकी निजी कोठी का नाम 'कैनमोर कॉटेज' था। वह छोटे शिमले से ज़रा दूर एक सुरम्य जगह में बनी हुई थी। आगे छोटी-सी बाटिका थी। अपना फ़ुर्सत का समय वाल्टन साहब भाँति-भाँति के पौधे लगाने में बिताते थे। उन्हें इसमें बड़ा आनन्द मिलता था। कभी-कभी उनकी पुत्री भी इस काम में उनका हाथ बँटाती। उसे अपने ही अनुरूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। एक माली भी रखा हुआ था, परन्तु वह सर्दियों में बग़ीचे की देख-भाल करता। गर्मियों में साहब स्वयं दिल्ली से आ जाते, तब उनका काफी समय अपने बग़ीचे में ही बीतता।

कुमारी वाल्टन को प्यानो बजाने में कमाल हासिल था। जहाँ एक-दो महीने के लिए जाना होता, वहीं उसे वह ले जाती। वह प्यानो उसने ख़ास तौर पर विलायत से मँगाया था। साधारण प्यानो से वह तिगुना बड़ा था। सुरीला इतना था कि जब कुमारी वाल्टन का मीठा स्वर उससे मिल जाता, तब सोने पर सुहागा हो जाता! सर्दियों में यह छोटा कुनबा दिल्ली चला जाता और गर्मियों में शिमले आ जाता।

हैदर साँस लेने के लिए रुका। शिमले में सड़कों के किनारे सीमेंट के चबूतरे बने हुए हैं, ताकि कुली लोग वहाँ बोझ रखकर सुस्ता लिया करें। कुमारी वाल्टन अपने विचारों में मग्न थीं। हैदर को रुकते देखकर रिक्शा से कूद पड़ी। साहब और उनकी पत्नी उससे बहुत आगे निकल चुके थे। उसने हैदर से कहा, "क्यों ठक गया, कहा था मट उठाओ। टुम ठक जायगा, लेकिन माना नहीं।"

हैदर बिना विश्राम किये फिर चल पड़ा। किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना !

"शाबाश !" कुमारी वाल्टन उसके साथ चलती हुई बोली, "टुमने हमको वहुट खुश किया। अगर टुम आराम लिये बीना इसे बँगला टक ले गिया टो हम टुमें बहूट ईनाम डेगा, जो माँगेगा ओ डेगा।"

बायें हाथ में लठिया पकड़कर उसके सहारे रुककर हैदर ने दायें हाथ से मस्तक से पसीना पोंछा और चल पड़ा। उसके पाँव मन-मन भर के हुए जाते थे। उसके समस्त शरीर से पसीना छूट रहा था। अपनी ज़िन्दगी में उसने अभी तक इतना बोझ नहीं उठाया था। किन्तु मिस साहब प्रसन्न हो गयी थीं। यदि वह उस प्यानो को वहाँ तक पहुँचा देगा तो वे अवश्य ही उसे दो-तीन रुपये देंगी ! हो सकता है, उसे अपने यहाँ नौकर ही रख लें। तब तो उसका जीवन बन जाये। वह अमीना को सुख दे सके। अपनी उस प्यारी अमीना को, जिसने उसके लिए अमीरी से ग़रीबी मोल ली थी; अपने धनवान् माता-पिता को छोड़, सुख-भोग को लात मारकर जो उसके साथ हो ली थी और जो उससे कितनी मुहब्बत करती थी ! उसे सब याद था—वह दिन, जब लाहौर में स्टेशन से सामान उठाकर वह एक गली के बड़े-से मकान में ले गया था और बुरके को उठाकर हश्र बरपा कर देने वाली दो आँखों ने उसे देखा था। उसे याद था, किस तरह वे आँखें उस पर मेहरबान हो गयी थीं; किस तरह उसे आँखों-ही-आँखों में मुहब्बत का सन्देश मिला था; किस तरह उसने कुली का काम छोड़, वहाँ उस गली में पान की दुकान की थी; किस तरह अमीना उसके साथ भाग आयी थी और किस तरह उसे क़ैद से बचाने के लिए उसने भरी अदालत में उसके साथ रहने का प्रण किया था। सब—वे दिन, वे रातें, वे घड़ियाँ, वे पल, मुहब्बत के, प्यार के, दुःख के, सन्तोष के— कल की बात की तरह याद थे। वह कमाता था अमीना को सुख देने के लिए ! अपनी उसे कुछ परवाह न थी। वह सोचता, यदि मेरे पास कुछ रुपया होता, कुछ थोड़ा-बहुत ही तो अमीना को लेकर कहीं दूर, किसी छोटे-से क़स्बे में कोई दुकान कर लेता। लेकिन रुपया आता कहाँ से ? अमीना के साथ भागने के बाद उसकी रही-सही पूंजी भी उड़ गयी थी और विवश होकर उसे फिर श्रमजीवी बनना पड़ा था। वह दिन में दो रुपये कमा लेता। उसके शरीर में शक्ति थी, बाँहों में बल था। कश्मीर और नाहन के हातो भी उसे बोझ उठाते देखकर दंग रह जाते। अमीना कहती—"मुझे तुम्हारे साथ सूखी रोटी पसन्द है। तुम बहुत तकलीफ़ न सहा करो।" परन्तु वह उसकी बातों पर कान न देता। उसे एक ही धुन थी, एक ही लगन थी—कुछ रुपया-पैसा पैदा करना और बस—उसके बाद वह इस पेशे को सदा के लिए छोड़ देगा। अमीना उसके कपड़े धो देती। जब वह संध्या को थककर आता, तब उसके पाँव दबाती। सहस्रों व्यय करने पर भी ऐसी पति-परायणा स्त्री न मिलती। वह उसे पाकर भी सुखी न था। जब वह देखता कि उसकी अमीना उस अँधेरी कोठरी में सारा दिन बन्द रहने

से पीली हुई जा रही है, तब उसका हृदय खून के आँसू रोता। वह उसे शीश-महलों में, संगमरमर के प्रासादों में, रेशमी वस्त्रों से आवृत रखना चाहता था, पर उसकी आकांक्षाएँ उस वेपर-पक्षी की आशाओं की तरह थीं, जो गहरे खड्ड में गिरकर ऊपर पहाड़ की चोटी पर उड़ना चाहता हो। हैदर ने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा। बोझ के कारण उसका सीना दुख उठा। उसे ज्ञात था, इस समय जब वह बोझ उठाये चला जा रहा है, अमीना भी काम करती होगी। उसने ग़लीचा बुनना सीखा था। दोनों कुछ रुपया पैदा करना चाहते थे, जिससे कोई काम कर सकें। उन्हें आशा थी कि इस वर्ष के बाद तक उनके पास छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ करने के लिए पर्याप्त धन हो जायगा।

हैदर सोच रहा था—'कौन जाने यह लड़की प्रसन्न होकर मुझे अपने यहाँ किसी काम पर नौकर रख ले! उस सूरत में मेरी अभिलाषा बहुत जल्दी पूरी हो जाये! अभी हमें कोठरी का किराया भी देना पड़ता है और खर्च भी बहुत होता है। फिर रोटी और रहायश का ग़म न रहे। थोड़ा-बहुत सरमाया जमा कर लें और तब किसी छोटे-से नगर में जाकर बसें। मैं होऊँ और अमीना का अटूट प्रेम और बस—इसी भाँति यह जीवन-लीला समाप्त हो जाये!' पर यह प्यानो वहाँ पहुँच भी सकेगा? यदि वह सुस्ता लेता तो शायद पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील चलना सर्वथा असम्भव है। मोटरों के अड्डे से सड़क पर आते-आते ही उसके प्राण सूख गये थे। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। उसने सोचा, 'प्यानो रख दूँ।'

उसी समय कुमारी वाल्टन ने कहा, "शाबाश हैडर, शाबास, तुम प्यानो को बँगला टक पहुँचा गया, टो बहुट ईनाम डेगा। डस रुपया डेगा, बीस रुपया डेगा।"

सुनकर हैदर के मुर्दा शरीर में ज़ान पड़ गयी। आशा ने फिर संजीवनी का काम किया—वह फिर चल पड़ा।

वह रिक्शा छोड़कर उसके साथ चली आ रही थी। सोलह-सत्रह वर्ष की आयु, पतली-सी कमर, शरीर के साथ चिपटा हुआ फ़्राक, लम्बा क़द, ऊँची ऐड़ी के कारण उठे हुए छोटे-छोटे पाँव, गोरी बाँहें, तीखे नक्श और मुख पर उत्सुकता। इस तरह चली आ रही थी, मानो हैदर को नहीं, उसे ही इनाम जीतना हो। वह सोचती, ऐसे बहादुर भी कहाँ! यह पुरुष जहाँ भी जायेगा, नाम पायेगा। सेना में भर्ती हो जाता तो अब तक कप्तान बन जाता। फ़ुटबाल खेलता तो कोई उसका मुक़ाबिला न कर सकता। इतना बोझ! इसे उठाना ही बड़ा काम है, फिर इसे उठाकर तीन मील चलना! उसने हैदर की ओर एक स्नेह-भरी दृष्टि डाली। वह उसे अपना सब कुछ दे दे। इस बहादुर कुली पर निछावर होने के लिए उसका हृदय बेताब हो उठा।

एक साहब थे ब्राउन। कुमारी वाल्टन की मुहब्बत का दम भरते थे। उसे ख़याल आया, यदि उनको यह प्यानो उठाना पड़े तो उनका कचूमर ही निकल

जाये। इस विचार के आते ही उसके लाल अधरों पर मुस्कराहट दौड़ गयी।

"शाबाश हैडर !" उसने हैदर को रुकते हुए देखकर कहा और फिर ध्यान में मग्न हो गयी। कभी-कभी कोई व्यक्ति हैदर को अकेले इतना बड़ा प्यानो उठाये और अंग्रेज़ युवती को उसके साथ इस भाँति जाता देखकर आश्चर्य से एक क्षण के लिए खड़ा हो जाता और फिर अपनी राह चला जाता।

छोटे शिमले का डाकखाना आ गया था। हैदर की टाँगें जवाब देती हुई प्रतीत हुईं, उसे अपने हवास गुम होते हुए दिखायी दिये। बस इससे आगे वह न जा सकेगा। इतनी दूर तक ही वह कैसे आ गया, वह इसी पर विस्मित था। अब आगे उससे न जाया जायगा। उसके पाँवों में शक्ति ही नहीं, उसके शरीर में जान ही नहीं। उसकी आँखें बन्द-सी हुई जाती थीं। उसे अपने स्वप्नों के समस्त गढ़ गिरते हुए प्रतीत हुए।

उस समय कुमारी वाल्टन की मीठी, मधुर, मादक, सहानुभूति से युक्त, जीवन-दायिनी आवाज़ सुनायी दी :

"हैडर ठक गया ? बस, दो फ़र्लांग और ! टुम जीट जायगा," लेकिन हैदर नहीं हिला।

कुमारी वाल्टन को अपनी कल्पनाओं का प्रासाद गिरता दिखायी दिया। यदि हैदर वह बाज़ी न जीत सका तो वह सब श्रद्धा, जो उसके हृदय में उसके लिए उत्पन्न हुई थी, उड़ जायगी। उसने फिर एक बार कहा :

"हैडर, हम टुम्हारे लिए सब कुछ करेगा, टुमें सेना में भर्टी करा डेगा, टुमें नौकर रख लेगा। टुमें पियार करेगा, बस, डो फ़र्लांग, बक अप, बक अप !" और हैदर चल पड़ा, जैसे कुमारी वाल्टन के स्वर में बिजली का प्रभाव हो।

बँगला आ गया। माली और नौकरों ने दौड़कर उसका स्वागत किया। एक ने हैदर को बोझ तले दबे हुए देखकर उसे सहारा देना चाहा। हैदर ने सिर के संकेत से उसे हटा दिया। उसे बँगले के आ पहुँचने का मध्यम-सा ज्ञान था और अब यहाँ तक पहुँचकर अपने किये-कराये पर पानी न फेरना चाहता था। उसकी टाँगों में स्फूर्ति आ गयी। वह तेज़ चलने लगा। मंज़िल के निकट पहुँचकर पथिक की चाल तेज़ हो भी जाती है।

बँगले पर पहुँचकर कुमारी वाल्टन सीधे उस कमरे में गयी, जो प्यानो के लिए रिज़र्व था। नौकरों की सहायता से प्यानो वहाँ रखकर हैदर विजयी की भाँति सीधा खड़ा हो गया। उसका मुख चमक उठा। साहब दूसरे कमरों में सामान रखवा रहे थे। उनकी आवाज़ पर नौकर उधर भागे। उसी क्षण हैदर का सिर चकराया और वह काउच पर बैठ गया।

अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया और गाउन से बटुआ निकालकर बीस रुपये के नोट उसके हाथ पर रख दिये। किन्तु नोट गिर पड़े। कुमारी वाल्टन ने सशंक नेत्रों से उसकी ओर देखा—हैदर की आँखें खुली थीं

और उसका शरीर अकड़ गया था।

कुमारी वाल्टन हैरान-सी, भौंचक्की-सी, निर्निमेष-सी उसकी ओर तकती रह गयी।

उस समय रिक्शा वाले ने एक पीतल का टुकड़ा भीतर फेंका।

"मिस साहब, यह नम्बर रिक्शा ही में रह गया था।

कुमारी वाल्टन ने दौड़कर उठा लिया। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—"324"।

"पुवर हैडर!" दीर्घ-निश्वास के साथ कुमारी वाल्टन के मुख से निकला और उसकी आँखें सजल हो गयीं।

सीरत की पुतली उर्फ़ बावफ़ा बीवी

दुनिया में हमेशा दो विरोधी शक्तियाँ काम करती हैं—एक उत्थान दूसरी पतन। कल जो व्यक्ति उत्थान के सातवें आसमान पर अपना सिर उठाये हुए शान-शौकत और धन-वैभव में अपना सानी न रखता था, आज वही पतन के गहरे सागर में ग़ोते खाता हुआ दिखायी देता है। कल जो फूल किसी सम्राट की सेज की शोभा बढ़ाता हुआ बिजली की रोशनी से चमकता था, आज वही मुरझाकर अमीर-ग़रीब के पैरों तले रौंदा जाता है। कल जो जहाज़ सागर तल पर अठखेलियाँ करता, मज़े से बढ़ा जा रहा था, आज वही किसी चट्टान से टकराकर समुद्र की लहरों से हिचकोले खाता हुआ डूब रहा है। कल जो वृक्ष हवा के झोंकों से लहराता हुआ देखने वालों का मन मोह रहा था, आज वही रात के तूफान से उखड़कर सड़क पर निर्जीव पड़ा आने-जाने वालों का रास्ता रोक रहा है। कल जो व्यक्ति ताक़त में रुस्तम और धन में कुबेर को मात करता था और फिरऔन जैसा दिमाग़ अपनी खोपड़ी के अन्दर रखता हुआ भगवान के अस्तित्व तक से भी मुनकिर था, आज वही मरणासन्न पड़ा ज़िन्दगी की अन्तिम साँसें गिन रहा है। कल जिस जाति का मुक़ाबिला धन, वैभव और वीरता में कोई दूसरी जाति न कर सकती थी, वही आज खाने-दाने के लिए दूसरी जाति के आगे हाथ फैलाने के लिए विवश है। कल जो देवी बिस्तरे के नीचे भी पाँव उतारना पसन्द न करती थी, आज वही पागलों की तरह जंगलों की ख़ाक छानती फिर रही है।

वे दिन भी थे, जब उसके सौन्दर्य की चर्चा हर जगह होती थी। उसकी आवाज़ के आगे बुलबुल अपना गीत अलापना छोड़ देती थी। उसकी आँखों की चंचलता को देखकर नरगिस अपने-आपको भूल जाती थी। उसके गुलाबी होंठों के सामने सोसिन पानी भरता था। उसके गालों की सुर्ख़ी के आगे गुलाब का फूल आह भर कर रह जाता था। उसके सरों-से क़द और टेढ़ी भवों के आगे कठोर-से-कठोर हृदय भी मोम हो जाता था। जब उसके काले सियाह बाल मीठी हवा के अलबेले झोंकों से माथे के ऊपर लहराते, तब सुंबुल भी पेचो-ताब खाकर रह जाती। उसका भोला-भाला मुखड़ा काले-काले केशों में चाँद की तरह दिखायी देता था।

लोग कहा करते—चाँद में दाग़ होता है पर देवी में नहीं है। उसका चौड़ा माथा, बड़ी-बड़ी आँखें, गोल-गोल चेहरा, पतले होंठ, कोमल कलाइयाँ नवयुवकों के लिए क़यामत का असर रखती थीं। उसकी सुन्दर और सुरीली आवाज़ पहाड़ों को भी मस्त कर देने की शक्ति रखती थी। जब कभी हरे-भरे जंगल में छत-नार पेड़ों के नीचे, शीतल पवन से झूलती हुई मस्तानी और चंचल चाल से वह चलती तो हंस अपनी चाल भूल जाता। भोर की अठखेलियाँ उसके आगे मात खा जातीं। जब भी वह यमुना के किनारे बेलों से घिरे हुए कुंज में राग अला-पती तो नदी की लहरें तड़प-तड़पकर उसके पाँव पर गिरतीं। हिरन अपनी कुलाँचें भूल जाते। पक्षी लाज के मारे घोंसलों में छिप जाते। सूरज भी उसके सौन्दर्य के आगे माँद पड़ जाता।

उसकी सगाई हो गयी थी। आह, वह व्यक्ति भी कितना भाग्यशाली होगा जिसको ऐसी अनिंद्य सुन्दरी और धर्म परायण पत्नी मिलेगी—यह विचार हर व्यक्ति के मन में था।

बिहारी लाल उसका दीवाना था। वही उसका भावी पति था। नयी उम्र के युवक कहा करते—काश, हम ही बिहारी लाल होते। उसका सुडौल शरीर, भोला-मुख, भरी हुई चौड़ी छाती, उन्नत ललाट, लम्बा छरहरा शरीर इतना आकर्षक था, जो प्रत्येक नारी के हृदय को अनायास अपनी ओर खींच लेता था। वह देवी को चाहता था और उसके खयालों में मस्त था।

देवी उससे प्रेम करती थी, उसे चाहती थी। वह उसे अपना पति मानती थी। बिहारी को अपने ऊपर गर्व था, देवी को अपने ऊपर।

आखिर वह दिन भी आ गया, जिसकी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों को विवाह के सुदृढ़ बन्धन में बँधना पड़ा। देवी ससुराल में आ गयी। मुहल्ले की औरतें देखने आतीं। और प्रसन्न मन घरों को लौट जातीं। कोई उसकी शर्मीली आँखों पर मोहित थी तो कोई उसके चेहरे पर मस्त। मतलब यह कि चन्द दिन उसकी सुन्दरता की चर्चा होती रही। और यह चर्चा घटने के बदले बढ़ती रही।

परन्तु जहाँ उन्नति है, वहाँ अवनति भी है, जहाँ उत्थान है, वहाँ पतन भी है, जहाँ सौभाग्य है, वहाँ दुर्भाग्य भी हैं, जहाँ कमाल है, वहाँ ज़वाल भी है। इस-लिए यह आनन्द विधाता को एक आँख न भाया। पतन ने कहा—अब मेरी बारी है। दुर्भाग्य ने कहा—मैं किसी से कम नहीं हूँ। दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख—यह कहावत प्रसिद्ध है।

विवाह के छह महीने बाद ही यह खबर आयी कि देवी की माता का स्वर्ग-वास हो गया है। देवी चीख उठी। माँ की ममता उसे भूली न थी। माता का लाड याद आ गया। हाय, अब कौन मुझे बेटी कह कर पुकारेगा? पर भाग्य के आगे क्या चलती। सब्र करके रह गयी। लेकिन विधाता को अभी और भी बुरे

दिन दिखाने थे। साल के अन्दर-ही-अन्दर सास और ससुर परलोक सिधार गये। अब देवी को केवल अपने पति का ही सहारा रह गया था। लोगों ने कहा—यह राक्षसी है।

देवी के पिता ने दूसरा विवाह कर लिया, इसलिए अब मायके में भी उसकी प्रतिष्ठा कम हो गयी।

जब बिहारी लाल के सिर पर माता-पिता की छत्र-छाया न रही तो वह बुरी संगत में बैठने लगा। यहाँ तक कि उसे सब व्यसन लग गये। शराब की भी लत पड़ गयी। चकले में भी आने-जाने लगा। और अब यह हालत है कि देवी—हाँ-हाँ, वही देवी—जो मखमल के गद्दों में भी दोष निकालती थी, अब एक फटे-पुराने टाट पर छोटी-सी कुटिया में जीवन के दिन काट रही है। यही समय की दो-रंगी है। किसी ने सच कहा है—

बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।

गर्मियों के मौसम में शाम की ठंडी हवा मुर्दा और मुरझाये हुए दिन को भी ज़िन्दा बना देती है। लोग टोलियाँ बनाकर सैर को जा रहे हैं। हरेक का मन प्रसन्न और उमंगों से भरपूर है। पर देवी—हाँ-हाँ, वह दुखी और बीमार देवी मूर्तिवत चटाई पर लेटी हुई है। आँखों से आँसू बह रहे हैं और वह अपने भाग्य को कोसती हुई कहती है कि हे ईश्वर! मुझे इस संसार से उठा लो, जिससे कि इन रोज़-रोज़ के दुख और कष्टों से मुक्ति मिल जाय। सहसा बादल घिर आते हैं। छिन-भर में आकाश उनसे ढक जाता है। नन्हीं-नन्हीं बूंदें पड़ने लगती हैं। लगता है कि आसमान भी उसकी बेबसी पर आँसू बहा रहा है।

मूसलाधार वर्षा हो रही थी जब बिहारी लाल नशे में धुत्त बकता-झकता कुटिया में दाखिल हुआ। देवी उसके स्वागत को उठी। बिहारी लाल ने ज़ोर से बीमार, कमज़ोर और रोग से जर्जर अभागिनी देवी को एक लात जमा दी और स्वयं धड़ाम से फर्श पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। देवी उसकी लात को न सह सकी, गिर पड़ी और उसके सिर से खून बहने लगा। देवी ने अपने दर्द की परवाह नहीं की। पति को उठाया, उसके कपड़ों को झाड़ा और उसे आराम से बिस्तर पर लिटा दिया। सारी रात पंखा झलती रही, पर बिहारी लाल को होश न आया। शराब की खुश्की और मौसम की गर्मी ने उसके दिमाग़ पर न जाने क्या असर किया कि सरसाम हो गया। बकने-झकने लगा। बाहर के मेंह से उसके कपड़े भीग गये थे और शरीर दहकते अंगारों की तरह जल रहा था। हालत सख्त खतरनाक थी। देवी ने सारी रात आँखों में काट दी।

भादों की धूप मशहूर है। मिनटों में मेंह बरसता है और मिनटों में वह उमस होती है कि जान पर बन आती है। दोपहर का समय है। ग़ज़ब की गर्मी है। धूप से तंग आकर मुसाफ़िर भी पेड़ों का छाया में आराम कर रहे है। पशु-पक्षी अपने

भटों और घोंसलों में घुसे जाते हैं। बाज़ार और गलियाँ सुनसान हैं। कभी-कभी कौवों की आवाज़ें कानों के पर्दों को फाड़ती हुई दिमाग़ में धँस जाती हैं। धनी लोग अपने ठंडे कमरों में पंखों के नीचे आराम कर रहे हैं। पर क्या आप उस सुन्दरी की ओर भी देखते हैं, जो सामने की गली में हसरत की तस्वीर बनी हुई जा रही है। सिर से दुपट्टा खिसक गया है पर वह बेसुध है। ऊपर से सिर और नीचे से पाँव धरती के ताप से जल रहे हैं, पर उसे अपना होश नहीं। वह तो अपनी ही धुन में मस्त एक ओर जा रही है। माथे पर पसीने की बूंदें टपक रही हैं, मुँह लाल हो गया है, पाँव आगे चलने की अनुमति नहीं देते, लेकिन वह फिर भी बढ़े चली जा रही है। वह एक मकान के दरवाज़े पर रुकती है। दरवाज़े पर दस्तक देती है। कोई जवाब नहीं मिलता। फिर कुंडी खड़खड़ाती है तो अन्दर से कोई खाँसते हुए, महीन किन्तु कठोर स्वर में कहता है—"कौन है, जो ऐसी कड़ी धूप में न आराम लेता है न लेने देता है।"

सुन्दरी अत्यन्त क्षीण स्वर में कहती है—"माताजी, मैं हूँ अभागिनी देवी।"

दरवाज़ा खुल जाता है और वृद्धा खाँसते हुए कहती है—"आओ देवी! इस दोपहरी की कड़ी धूप में कैसे आयी ?"

देवी अपना और पति का सारा हाल सुनाती है और भरे गले से कहती है—"उनकी दशा बहुत खराब है। ज़रा चाचाजी से कहें कि उनको देख आयें।"

वृद्धा एक दीर्घ निश्वास छोड़ती है और दूसरे कमरे में चली जाती है।

थोड़ी देर के बाद एक अधेड़ आयु का व्यक्ति हाथ में दवाइयों का बैग लिये हुए आता है। देवी उसे प्रणाम करती है और उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है।

साँझ की बेला है। अभी-अभी साये ढले हैं। दोपहर की गर्मी में कुछ कमी हो गयी है। सामने की कुटिया में बिहारी लाल सरसाम में बड़बड़ा रहा है। कभी इधर करवट बदलता है कभी उधर, पर किसी कल चैन नहीं पड़ता। कभी चीख उठता है, कभी आह भरकर देवी, देवी पुकार उठता है।

सहसा दरवाज़ा खुलता है और देवी हकीम के साथ प्रवेश करती है।

हकीम बिहारी लाल की नाड़ी वगैरा देखकर कहते हैं कि इसकी हालत तो बहुत नाज़ुक है। यह सुन देवी की आँखों में आँसू आ जाते हैं और उसका मन डूबने लगता है।

हकीम फिर कहते हैं—"मैं दवा देता हूँ। अगर इसकी अच्छी तरह सेवा-सुश्रूषा की गयी तो आराम आ जाने की उम्मीद है।

वे दवा देते हैं और पथ्य आदि बता कर चले जाते हैं।

देवी बिहारी लाल को दवा पिलाती है और स्वयं उसके सिरहाने बैठी जागती रहती है। सारी-सारी रात वह उसे पंखा झलती है। वह स्वयं बहुत दुर्बल हो जाती है और धीरे-धीरे सिर्फ़ हड्डियों का ढाँचा रह जाती है, लेकिन फिर भी बिहारी लाल की सेवा में कोई कमी नहीं आने देती।

इसी तरह इक्कीस दिन बीत जाते हैं।

पत्थर दिल विधाता भी इस तप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। देवी की मनोकामना पूरी होती है और बिहारी लाल का स्वास्थ्य सुधर जाता है। एक महीने बाद वह बिल्कुल स्वस्थ हो जाता है। वह उठता है और देवी को गले से लगा लेता है। दोनों की आँखों से आँसू बह निकलते हैं। बिहारी लाल के मुँह से अनायास निकलता है—"देवी तू तो सीरत की पुतली है।" वह शराब से तौबा कर लेता है, बुरी संगत से दूर रहने का वादा करता है और कुटिया से निकलता है ताकि भविष्य के लिए कुछ सोच-विचार करे।

वह बाहर आता है। बुलबुल अपना गीत अलाप रही है। उसकी आवाज़ में ये शब्द साफ़ सुनायी देते हैं—"देवी, तू सीरत की पुतली है।"

दूर गिरजा घर में नौ का घंटा बजता है। बिहारी लाल को उसमें से ये शब्द साफ़ सुनायी देते हैं।

"दे···वी···तू···सी···रत···की···पुत···ली···है।"

वह ज़रा और आगे बढ़ता है। नदी के किनारे बैठ जाता है और पानी से जी बहलाने लगता है। नदी की लहरों में, सूर्य के प्रकाश में, धरती में, आकाश में हर जगह ये शब्द रंगीन अक्षरों में लिखे हुए दिखायी देते हैं।

"देवी, तू सीरत की पुतली है।"

उसका हृदय प्रसन्न है। वह आनन्द में झूमता हुआ घर की ओर लौटता है।

पाँच वर्ष के बाद हमारा गुज़र फिर उसी तरफ़ होता है। उस झोंपड़ी की जगह एक सुन्दर बाग़ दिखायी देता है। हम निस्संकोच उसमें चले जाते हैं। देखते हैं बाग़ के बीचों बीच एक भव्य इमारत बनी है और उसकी सीढ़ियों पर एक सेविका छोटे-से बच्चे को खिला रही है। पूछने पर पता चलता है कि यह बिहारी लाल की आँख का तारा और देवी की आशाओं का फूल है। हम उसे आशीर्वाद देते हैं और यह कहते हुए चल पड़ते हैं :

"जहाँ वालो! अगर तस्वीरे-उलफ़त हो तो ऐसी हो,
अगर बीवी को शौहर से मुहब्बत हो तो ऐसी हो।
प्रभो! सन्तान के बदले न यूँ जंजाल पैदा कर,
अगर पैदा ही करने हों तो ऐसे लाल पैदा कर।

कविताएँ

अश्क जी की ख्याति भले ही एक कथाकार और नाटककार के रूप में हो, मगर सच्चाई यह है कि अश्क जी ने अपना साहित्यिक जीवन एक कवि के रूप में शुरू किया था और साठ बरस बीत जाने पर भी, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, संस्मरण वग़ैरा में अपनी रचनाशीलता को ढालने पर भी उन्होंने कविता का दामन नहीं छोड़ा है। ग़ज़लों और छन्द-बद्ध कविताओं से शुरू करके अश्क जी कविता की सभी धाराओं के साथ-साथ बढ़ते रहे हैं और नितान्त व्यक्तिगत अनुभूतियों से लेकर उन्होंने ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिन्हें सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति यहाँ तक कि खुल्लम-खुल्ला राजनीतिक भी कहा जा सकता है। अश्क जी की आठ कविता-पुस्तकों में से उनकी चुनी हुई कविताओं का चयन करते समय हमने उनके दो खण्ड-काव्यों—'बरगद की बेटी' और 'चाँदनी रात और अजगर'—को बिल्कुल अलग रखा है। बरगद की बेटी में इतनी अधिक कथात्मकता है कि उसका अलग से कोई अंश छाँटना सम्भव नहीं था। जहाँ तक चाँदनी रात और अजगर का सम्बन्ध है तो उसमें कथात्मकता न होते हुए भी उसका फलक इतना व्यापक है कि महज़ एक अंश से कृति की शक्ति का आभास न मिल पाता।

अश्क जी की लेखन-शैली की यह खासियत रही है कि वे नितान्त व्यक्तिगत अनुभवों का बयान करते हुए भी चारों ओर के समाज को आँख से ओझल नहीं होने देते और दूसरी ओर चुनावों, दंगों, राजनीतिक परिदृश्य के बदलते हुए रूपों, विचारधाराओं के संघर्षों और सामाजिक उथल-पुथल···गरज़ यह कि आसपास फैली दुनिया के चित्र खींचते हुए भी उसे व्यक्तिगत अनुभवों में तब्दील करते चलते हैं। उनकी कविताओं को छाँटते हुए हमने इसी खासियत को ध्यान में रखा है। इसके साथ-साथ चूंकि गजलों से अश्क जी का बहुत पुराना नाता रहा है इसलिए चयन में तीन ग़ज़लें भी शामिल की गयी हैं—एक 1928 की, जो उनकी प्रारम्भिक ग़ज़लों में से है, एक 1960 की और तीसरी एकदम ताज़ा—उनके नवीनतम संग्रह 'अदृश्य नदी' में से।

अदृश्य-नदी

तुम्हारी आँखों में उमड़ आयी
इन दो नदियों ने
मुझे ऐसे डुबो लिया है
जैसे गर्मियों की तपती दोपहरी में
मेरे नगर की नदियाँ
अपने संगम में मुझे डुबो लेती हैं ।

गंगा-जमुना ही नहीं, मेरे नगर में—
लोग कहते हैं—तीसरी नदी भी है—सरस्वती
जो कभी दिखायी नहीं देती

जो कभी दिखायी नहीं देती, वह व्यथा है—
जो दिल-ब-दिल बहती है,
और चेहरों पर जिसका कोई आभास नहीं मिलता ।
तुम्हारी इन डबडवाई आँखों की
उसी तीसरी नदी ने
मुझे डुबो लिया है

क्या कहा !
तुम्हारी वह अदृश्य नदी मैं हूँ !

तो फिर इन आँखों को चुपचाप पोंछ डालो
और मुझे पहले की तरह अदृश्य बहने दो !

नार्सिसस् का उपदेश अपने बेटे को

वत्स मेरे !
मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
गो देखता हूँ—
बाल मेरे पक गये, तन ढल रहा है ।
और अंगों में तुम्हारे
तपे सोने में तपा लोहा बराबर मिल रहा है ।

पर नहीं उन तन्वियों की चाह मुझको
जो लिये मुख-कमल,
गीली पँखुड़ियों-से होंठ,
आँखें शबनमी, मुस्कान
स्वागतमय उषा-सी,
आ मिलेंगी एक दिन पथ में तुम्हारे !
मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
ओ वत्स मेरे !
मैं नहीं पुरु का पिता, मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ ।

साँझ की यह धूप फुनगी पर विटप की
जानता हूँ—
है नहीं अब देर की मेहमान, लेकिन
मानता हूँ—
यदि कृपा हो सूर्य की फिर
धूप फैले,
फैलकर छा जाय;
लोहू तप्त यौवन का नसों में गर्म फिर लहराय;
नभ-परियाँ
उतर आयें क्षितिज से
सुखद मेरी छाँह में आराम करने को,
विचरने को,
विहरने को,
सुनहले पंख निज फैलाय !
मैं अविचल रहूँगा ।
मैं न उन्मुख हो सकूँगा ॥

साँझ की यह धूप पीली,

है रुकी जो पेड़ पर कुछ पल,
अपरिचित (यदपि परिचित) खग-सरीखी,
मैं न रोकूँगा इसे,
मैं चीर खींचूँगा नहीं इस जर्द-पीली धूप का—
मैं हूँ नहीं लोलुप
नहीं पुरु का पिता मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ ।

नार्सिसस् हूँ—
आत्म-विह्वल, आत्म-प्रेमी देवता यूनान का वह,
जो चिबुक रखे हथेली पर निरन्तर झाँकता था
बिम्ब अपने रूप का जल में, न किंचित्
ध्यान जिसका खींच पायीं मुग्ध जल-परियाँ ।

नार्सिसस् हूँ मैं, नहीं जीवन जिया मैंने !
नहीं उन्मुख हुआ,
जब धूप फैली थी—
लहू जब गर्म यौवन का शिराओं में धड़कता था,
विमुग्धा तरुणियाँ जब
लोचनों में डाल लोचन झाँकती थीं—
मैं सदा देखा किया
निज रूप ही के बिम्ब को
उनकी रँगीली पुतलियों के दर्पणों में ।
यदि किसी की आँख ने छवि आँक कर मेरी दिखायी
मैं झुका उसपर—
सदा अपने रूप के प्रतिबिम्ब ही को देखता—
प्यार मैंने कब किया ?
खुद को समर्पित कब किया ?
जो कुछ दिया मैंने दिया निज को ।
लिया जो कुछ लिया निज से ।
नार्सिसस् हूँ मैं—नहीं जीवन जिया मैंने ।

मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
ओ वत्स मेरे !
चाहता हूँ मैं नहीं जीना तुम्हारे योग से,
पर चाहता हूँ—
तुम करो मत अनुकरण मेरा—
बनो मत आत्म-प्रेमी !

ये कभी जो गिर्द मेरे आज भी परियाँ विमुग्धा देखते हो—
बढ़ो, बढ़कर थाम लो तुम हाथ इनके !
झाँककर इनकी पनीली अँखड़ियों में
देख लो—क्या चाहती हैं ?
चाहती है कौन अपने पुरुष में पति, कौन प्रेमी
पिता अथवा पुत्र अथवा सखा तन्वी चाहती है कौन ?
चाहती है कौन कर्मठ, ज़िन्दगी के ताप में
जलता, झुलसता, जूझता संगी—
और अपने रूप का प्रतिबिम्ब केवल
ढूंढ़ती है कौन ?
लोचनों में तरुणियों के मत निहारो बिम्ब को अपने !
करो तुम यत्न ऐसा
देख पायें
रूप अपने प्यार का उन्मुख तुम्हारे लोचनों में !
मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं ओ वत्स मेरे,
शेष जो मेरी जवानी, मैं तुम्हीं को सौंपता हूँ।
मैं नहीं पुरु का पिता, मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ !

अकाल-3

फिर वहाँ मृत्यु निर्लज्ज नाचने लगी है।
वर्षों बाद वस ऐसी बेहया होती है
कि अपने सारे आवरण उतारकर नाच उठती है।
मौत का नंगा नाच—
एक फ़ारसी कवि ने कहा है—
उत्सव होता है।
उत्सव !

और लोग भागे जा रहे हैं।
मोटरों और हेलिकॉप्टरों में नेता
(चेहरों पर प्रकट चिन्ता और दिलों में चोर औत्सुक्य)
और रेलगाड़ियों में पत्रकार

(कन्धों पर कैमरे, मन में अपूर्व उत्साह)
और लेखक और कवि
(हाथों में नोटबुकें, आँखों में चमक, गति में अपराधी त्वरा और अन्तर में भय—मृत्यु अपना नाच बन्द न कर दे!)

वह आजकल मौन बैठा रहता है। पहरों
खड़ा रहता है। बहुत होता है तो हाथ मसोसता हुआ
अन्दर-बाहर घूमने लगता है।

उसके लिए साथियों की आँखों में दया थी—दया
और उपेक्षा—वह जानता है।
पर वह उनके साथ नहीं गया।
वह उन्हें बताना चाहता था—
मौत अब प्राय: निर्लज्ज रहने लगी है।
वहीं नहीं,
यहाँ भी नाच रहीं है।

एक फूल की मौत

(मुक्तिबोध के अस्थि-विसर्जन पर)

(1)

फूल की गंध को सँजोने
हम आये हैं
फूल की गंध को!

हम स्मृतियों के रक्षक हैं
जीवन के भक्षक
चुक गये फूल की गंध को सँजोने
हम आये हैं।

राख तो बहा देंगे हम
संगम की धारा में

गंध के हार (यदि मिलें)
गले में डाल
प्रदर्शन करते घूमेंगे ।

(2)

फूल हमारा था
हमारे संग उगा, बढ़ा, परवान चढ़ा था ।

—मैं उसके अवशेषों का कलश लिये
आगे-आगे जाऊँगा ।
(अपने जोश में नहीं देखूँगा कि
लोग पीछे रह गये हैं ।)

—मैं कलश पर सबसे पहले हार चढ़ाऊँगा ।
(जिसके साथ मेरे नाम की चिट लगी होगी ।)

—मैं इस महोत्सव के फ़ोटो लूँगा
(एलबम की शोभा बढ़ाऊँगा, मित्रों पर रोब
जमाऊँगा ।)

—मैं संस्मरण लिखूँगा
(मेरी पुस्तक का अंग बनेंगे—रायल्टी देंगे ।)

—मैं उसके संग बिताये आत्मीय क्षणों की
स्मृतियों से
लोगों को रुलाऊँगा ।
(अपना स्वत्व, महत्ता अपनी—जतलाऊँगा ।)

—मैं दुंदुभी बजाऊँगा—दिग्-दिगन्तर में
(उसकी महानता के माध्यम से अपनी
महानता के गीत गाऊँगा ।)

—मैं कविता लिखूँगा···
—मैं—मैं—मैं ! ! !

(3)

फूल हमारा था
हमारे संग उगा, बढ़ा, परवान चढ़ा था

पर हमने
अपनी बदसूरत छाया के पीछे उसे
छिपा रक्खा था।
अपनी दुर्गंध उसके चारों ओर फैला
उसकी सुगंध को हमने घेरा
हवा नहीं लगने दी
दुनिया को उसकी
उसको दुनिया की

फूल हमारा था।

अपने घेरे में उसे फँसा रखा था
गंध नहीं लगने दी
ताकि हमारी दुर्गंध को
सुगन्ध मानें लोग
हमको ही जानें लोग।

(4)

मुरझा गया
फूल सहसा मुरझा गया।
वर्षातप झेलता हुआ
आँधियों से खेलता हुआ
संघर्ष में पिलता हुआ
संघर्ष को पेरता हुआ
अकेले में
अकेलेपन को टेरता हुआ—
फूल सहसा मुरझा गया।
पाँखुरियाँ झरने लगीं
घोंसले में चोंच फँसाये मृत बया के
कोमल पंखों-सी
पाँखुरियाँ झरने लगीं
एक-एक कर झर गयीं—
उनकी खाद पर वृन्त जीता रहा
ठूंठ वृन्त जीता रहा
उन्हीं का रक्त पीता रहा

(5)

लेकिन वह गंध
उसकी वह भीनी-भीनी
पर तीखी-सी, दर्द भरी-सी, टीस भरी-सी
गंध
जाने कब
जाने कैसे
घेरा तोड़ कर निकल गयी ।
दिक्-दिक् में फैली
बहकी
महकी
लोग उन पाँखुरियों के खण्ड वटोर ले गये
जिनके बल
आत्म-तोष में
फूल का कवि जिया था ।

वे पाँखुरियाँ अब
समूची होने के क्रम में
सजी हैं ।

लोग देखते हैं
बाँचते हैं
अर्थ खोजते हैं
हाँपते हैं ।

(6)

फूल हमारा था
हमारे संग उगा, बढ़ा, परवान चढ़ा था ।
उसकी सुगंध ने घेरा डाल
हमारी दुर्गंध को—
हमारा ही गला घोंटने वाली बना दिया ।

हम जागे—भागे
सींचने लगे जा फूल के वृन्त को
ठूंठ वृन्त को
(कि वह सरसाये,

अपनी सुगंध को हमें फिर घर लेने दे)
लेकिन वह रूठ गया
वह हमसे रूठ गया
वह जो हमारा था
हमारा इजारा था
हमें बहुत-बहुत-बहुत प्यारा था।

(7)

सुगंध उस फूल की अब
दिक्-दिक् में उड़ती है
हाथ नहीं आती है
जैसे भी हो— जैसे भी हो—उसे सँजोने
हम आये हैं।
हम स्मृतियों के रक्षक हैं
चुक गये फूल की गंध को सँजोने
हम धाये हैं।
वह जो हमारा था
हमें बहुत-बहुत-बहुत प्यारा था।

ऐसे निरावरण को

जनवरी बीत गया
शीत गया।

दयामयी पत्तियों ने
ढांप दिये—निरावरण
रास्ते।

ठिठुरन नहीं रही
अंकुरों की आस लिये
टहनियाँ हँसीं
अजीब-सी मधुर-मदिर हँसी!

ढँक जायगा प्रकृति में
जो भी आवरणहीन
पीपल-पलाश
नीम-अमलतास

आह ! लेकिन
वस्त्रों से लदे-फँदे
ठिठुरन-विहीन, लेकिन काँपते
ऐसे निरावरण को
कौन है जो ढाँप दे !

बरसते पानी में

बरसते पानी में सरे-बाज़ार
एक सफ़ेदपोश फिसल जाता है ।
अर्ध-सर्वांगासन में उसकी टाँगें
हवा में तन जाती हैं—
एक समवेत ठहाका फूटता है
ऊबे, रुके प्रतीक्षारत लोगों में
कट-ग्लास का जग जैसे अचानक टूटता है

आकाश की मलगजी चादर पर घटाएँ
फिसलती चली जाती हैं । टपटपाती हैं बूँदियाँ
छप्पर के टीन पर फिसलती हुईं ।
रपट जाता है अन्ततः धैर्य जिसका छूट जाता है ।

यह फिसलना साफ़ दीखता है—
कीचड़-सने कपड़ों को छिपाने की नाकाम कोशिश ;
साफ़ दीखती हैं चुरायी हुई आँखें,
खिसियानी मुस्कराहट ।
ठहाके फूटते हैं ।
कट-ग्लास के जग चारों तरफ़ टूटते हैं ।

यह गोरा-गुबला केमिस्ट,
जो अपने ग्राहकों के साथ हँस रहा है,
हस्पताल से चुरायी दवाएँ बेचता है। एक-न-एक बार
रोज़ फिसलता है।

वह एडवोकेट, ठहाके में जिसका मुंह
दाँत-ही-दाँत दिखायी देता है,
आज ही एक स्मगलर को जिता कर आया है।

वह अध्यापक रुपये ले कर नम्बर बढ़ा देता है।
यह ठेकेदार सीमेण्ट में राख मिला देता है।

न जाने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे लोग
रोज़ फिसलते हैं।

दिखायी नहीं देती लेकिन
अंतर के बाज़ारों की यह फिसलन,
क्योंकि कपड़े और साफ़ हो जाते हैं,
आँखें और बेबाक !

कट-ग्लास के जग कहीं नहीं फूटते।

दोनों दरवाज़ों के बीच

और मैं कपड़े फाड़ कर बाहर निकल गया
जैसे कोई सरकबान[1]
सीधा उड़ने के बदले टेढ़ा हो जाय
और बाज़ार में सर्राता निकल जाय।
दर्शकों को उल्लसित और भयभीत करता हुआ—
जैसे कोई नंगा आकर्षक गीत !

---

1. सरकबान—सरगबान, सरकण्डे से बंधा लम्बा पटाखा, जो सर्र से आकाश में उड़ जाता है और ऊपर जा कर फटता है।

या जैसे कोई आवारा कौंधा
अँधेरों को आर-पार बेधता चला जाय—
दिखाता हुआ सारी गन्दगी—ग़लाज़त
बेहया सौन्दर्य के नीचे पसरी हुई—!

मैं कपड़े फाड़कर बाहर निकल गया
और बाज़ार के दोनों दरवाज़ों के बीच
बेतहाशा भागने लगा—इधर-से-उधर
उधर-से-इधर !

पुराने बाज़ार के भी पुराने दरवाज़े
(जो कभी ज़रूर शानदार रहे होंगे)
मजबूर खड़े थे।
मजबूर और उदास और मौन
अत्याचार सहते हुए—
सन्धों में उगी पीली घास की मदद से
काई-जमे, बदरंग पत्थरों को,
किसी तरह सहेजे हुए !

—उनकी मेहराबों के कोने टूट चुके थे,
—लोनी-खाई ईंटें सरक चुकी थीं,
—दरक गयी थीं संगमरमरी मीनारें
—और उनकी नींवों को दीमकों और चूहों ने
खोखला कर दिया था

लेकिन उनकी छतों पर चढ़े लोग चिल्ला रहे थे,
एक पर हरा और दूसरे पर जोगिया चिथड़ा फहराते हुए,
अपने-अपने स्रष्टा के जयकारे बुला रहे थे :

वह, जो सबसे बड़ा था
वह, जो सारे आलम का था
वह, जो सर्वव्यापक था, सर्व-शक्तिमान था
वह, जो रहीम था, करीम[1] था
वह, जो पाप हरने वाला था—अपराध
क्षमा करने वाला था

---

1. जो दयालु और कृपालु था।

वह, जो दाता था, दानी था
क़ाहिर[1] था, जाबिर[2] था
वह, जो तीसरा नेत्र खोल कर सृष्टि को भस्म कर देता था

वह जो एक था
लेकिन जिसे टुकड़े-टुकड़े करके,
उन्होंने अपने नेज़ों पर लगा लिया था।
उसकी रहमत और क्षमा जेबों में डाल ली थी
और उसका क्रोध और क़हर अपना लिया था।
उनके तीसरी आँख नहीं थी, पर उन्होंने बरबस
तीसरी आँख उगा ली थी।
और उनके छुरों की धार ने
अनायास बिजली की कौंध चुरा ली थी।

मैं आदम-ज़ाद नंगा भागता चला गया
बाज़ार के दोनों दरवाज़ों के बीच !

बाज़ार वीरान था—वीरान और त्रस्त—
और सहमा हुआ—
और लोग अपने-अपने दरवाज़ों में छिपे,
खुसफुसा रहे थे।
जो भयभीत थे, ज़ोर-ज़ोर से नारे लगा रहे थे।

ज़िन्दगी की ज़रूरतों का मारा कोई सद्‌गृहस्थ—
हिंस्र पशुओं के जंगल में जैसे कोई डरा हुआ ख़रगोश—
नाप-नाप कर कदम बढ़ाता हुआ
अपने ही साये से भयभीत—
कि जाने कब कोई तेज़ छुरा
उसकी आँतों को सड़क पर बिखेर दे
और एक नन्हा सूरज
अपनी लाली से कोलतार-सी काली सड़क को
रँगता हुआ
हमेशा-हमेशा के लिए डूब जाय !

मैं निपट निवारण, निपट निर्लज्ज, निपट निर्भय

---

1. अत्यधिक क्रोधी, रुद्र। 2. ज़ालिम।

बाज़ार में भागता चला गया।
इधर-से-उधर, उधर-से-इधर—
दोनों दरवाज़ों के बीच
किसी नंगे, आकर्षक, अश्लील गीत-सा—
उनके दिलों को बरमाता और खिजाता और चिढ़ाता हुआ।

टुकड़ियाँ एक-एक कर डेवढ़ियों से निकलने लगीं
अँधेरे में घात लगाये कुछ साये बढ़े
ऊपर छतों पर जयकारे उठे
चिथड़े लहराये
मैं हरे दरवाज़े के करीब था, जब एक कौंधा लपका
और एक नन्हे सूरज ने कोलतार-सी काली सड़क पर
अपनी लाली उँडेल दी।

(इस पुराने बाज़ार की स्याह सड़क
सदियों में बहने वाली इस लाली के बाहुल्य ही से
कोलतार-सी काली पड़ गयी है।)
अल्लाह-ो-अकबर
मेरे सफ़ेद पड़ते, विकुंचित, अस्फुट होंठों से अनायास निकला
लेकिन उन्होंने मेरी डूबती हुई मुस्कान का व्यंग्य नहीं देखा
टॉर्च की रोशनी के बावजूद।

'अरे, इसकी मोमबत्ती का गुल तो कटा है!
यह तो मोमिन है!'

(वे नहीं जानते थे कि सर्जन ने फ़ाइमोसिस के ऑपरेशन में
वह गुल काट दिया था।)

हैरान और पशेमान, वे मेरे जनाज़े को कब्रिस्तान में ले गये,
अपने ख़ुदा से यह गुनाह बख्शवाते हुए,
'नारा-ए-तकबीर' बुलाते हुए,
और उन्होंने मुझे कब्र की ठण्डी,
उदासीन गोद के हवाले कर दिया।

कितनी ठण्डक, कितना सन्नाटा,
कितनी तन्हाई, कितनी शान्ति!
मैं ढीला हो कर लेट गया
और मुस्करा दिया—

आसमान बेकार अपनी करुणा के मोती उँडेलता है
जबकि उसकी करुणा का कोई पात्र नहीं
वे उसकी गाज के अधिकारी हैं
अधिकारी हैं और शायद अजाने ही उसकी प्रतीक्षा करते हैं।
और सूरज और चाँद बेकार मशालें लिये,
दिन-रात, भागा करते हैं
बाज़ार के रहने वाले रोशनी नहीं चाहते
अँधेरा चाहते हैं।
क्योंकि अँधेरे में साये नहीं होते
और वे अपने सायों से डरते हैं।

कितनी ठण्डक, कितना सन्नाटा,
कितनी तनहाई, कितनी शान्ति!
मैं ढीला हो कर लेट गया और मुस्करा दिया—

वे लोग कितने पशेमान थे
कि उनसे एक मोमिन की हत्या हो गयी
जबकि उन्होंने एक काफ़िर ही को मारा था
वे बेकार ही ख़ुदा से अपने गुनाह बख़्शवा रहे थे
उसने तो उन्हें तभी बख़्श दिया था,
जब उन्होंने टुकड़े-टुकड़े करके
उसे अपने नेज़ों पर टाँग लिया था।

मैं ढीला हो कर लेट गया और मुस्करा दिया।

इससे पहले कि सरसराहटें मेरे बदन पर रेंगने लगतीं
किसी ने मेरी क़ब्र खोद दी!

रोशनी—
चौंधिया देने वाली रोशनी
परेशान कर देने वाली रोशनी
अंधेरे को और भी गहरा देने वाली रोशनी…

(कब्र की रोशनी कितनी ठण्डी थी!
ठण्डी और उजली और वह सब दिखाती हुई
जो इस चकाचौंध-भरी रोशनी में नज़र नहीं आता।)

और शोर—
कानों के पर्दों को फाड़ता हुआ
मौन को बेदर्दी से उघाड़ता हुआ
और जोगिया झण्डे और बावर्दी पुलिस
और मेरे सगे-सम्बन्धी

उन्होंने मुझे कब्र से निकाल लिया
और अर्थी पर लिटा कर
श्मशान की तरफ़ ले चले

रास्ते में मैंने देखा—दोनों दरवाज़े ढेर हो चुके थे।
उनके ढूहों पर डण्डे गड़े थे
जिन पर वही चिथड़े फहरा रहे थे
और जयकारे बदस्तूर आसमान गुँजा रहे थे।
लेकिन मेरे कानों में केवल
ऊबे और थके स्वरों में
'राम नाम सत्त है' की आवाज़ आ रही थी।

राम नाम—
वह सच था, जब रोशनी था
वह सच था, जब अँधेरा था
वह सच था, जब अँधेरे-उजाले की मिलावट था
लेकिन उनके होंठों पर वह झूठ था,
धोखा था, गाली था।

'राम नाम'...
उन्होंने आखिरी बार ज़ोर से नारा लगाया।
और मुझे चिता पर लिटा दिया।

मुझे आग नहीं चाहिए
मुझे आग नहीं चाहिए
लपटों का ताव नहीं, मिट्टी की सहलाहट चाहिए
मुझे ठण्डक चाहिए।'

'आग रोशनी है
आग अँधेरा दूर करती है
आग जिलाती है; जलाती है

आग पवित्र करती है
क़ब्रें बनाने वाले ज़िन्दगी का मुँह चिढ़ाते हैं
मौत को स्थायी बनाते हैं।
हम ज़िन्दगी के उपासक हैं, रोशनी के उपासक हैं
पवित्रता के उपासक हैं
तुम क़ब्र में लेट कर नापाक हो आये हो
हम तुम्हें पवित्र बनायेंगे
तुम स्थायी मृत्यु की गोद में लेट आये हो
हम तुम्हें स्थायी मुक्ति दिलायेंगे!'

'मुक्ति—
मुक्ति कौन चाहता है?—
मैंने अस्फुट स्वर में कहा,
'मेरा शरीर जल जायेगा,
भस्म हो जायेगा।
मेरी हड्डियों का चूरा गंगा में
बहा दिया जायेगा।
मेरा नाम-निशान तक नहीं रहेगा।
मैं कोई कवि नहीं, शिल्पी नहीं,
निर्माता नहीं, राजनेता नहीं।
मैं कैसे ज़िन्दा रहूँगा?
मैं कैसे ज़िन्दा रहूँगा?
लाखों वर्ष पहले का इन्सान
हड्डियों से पहचान लिया गया।
क्या मुझे कोई पहचान लेगा?
मैं ज़िन्दा रहना चाहता हूँ,
मैं ज़िन्दगी···'

'ज़िन्दगी धोखा है, माया है, मौत है।
हम तुम्हें मुक्ति दिलायेंगे,
तुम्हारी राख को गंगा की पवित्र धारा में बहायेंगे,
तुम्हें जन्म-मरण के बन्धनों से छुड़ायेंगे!

'होश-हवास रहते
ज़िन्दगी से कौन छूटना चाहता है?
कौन मुक्ति चाहता है?'

लेकिन उन्होंने मेरा अस्फुट स्वर नहीं सुना
और मन्त्रोच्चार करते हुए मेरी चिता को आग लगा दी ।

आग—
जो बाहर हो तो रोशनी है
जो अन्दर हो तो रोशनी है
जो अन्दर और बाहर हो तो ब्रह्म है
लेकिन जो स्पर्श में हो तो आग है—
जलाती और झुलसाती और भस्म करती हुई ।

इससे पहले कि मैं जल कर राख हो जाता,
मैं तड़प कर उछला
और झुलसा शरीर लिये
नंगा भागता चला गया ।

वे मेरे पीछे-पीछे
मैं उनके आगे-आगे
और वही सदियों पुराने बाज़ार के दोनों दरवाज़े

'यह तो मोमिन है
इसकी बत्ती का गुल तो कटा है !'

'मोमिन है !'
'काफ़िर है !'
'काफ़िर है !'
'मोमिन है !'

दोनों दरवाज़ों के बीच नंगा गीत लहराता रहा
टेढ़ा सरकबान सर्राता रहा
लपकता कौंधा झूठ के पर्दे हटाता रहा ।
दोनों दरवाज़ों के बीच—
और उस वक्त, जब मेरे नंगे, झुलसे शरीर से
उनके झूठ का चेहरा झुलसने वाला था
दोनों ओर से कौंधे लपके
और भरी टीक दोपहरी में
एक नन्हा सूरज
सदियों से काली उस सड़क पर

फिर एक बार बे-आवाज़ डूब गया
दोनों दरवाज़ों के बीच !

दोनों दरवाज़ों के बीच,
जिनके ढूह तक मिट गये थे—
लेकिन जहाँ डण्डे गड़े थे
और झण्डे खड़े थे
और लोग नारे लगा रहे थे—
बदस्तूर—भयाक्रान्त !

तीन प्याले

नन्ही - मुन्नी
तीन लड़कियाँ
कुएँ पर आ
हुईं इकट्ठी

लेकिन खेलें
खेल कौन - सा
सिर जोड़े यह
लगीं सोचने

कहा एक ने
'आँख - मिचौनी'
दूजी बोली
'खेलें किकली'
बोली तीजी
'आका - बाका'
ज़रा दूर पर
घर बनता था,
मिट्टी का इक
ढेर लगा था

तीनों उछलीं
सरपट भागीं
गीली - गीली
कुछ - कुछ गाढ़ी
कुछ-कुछ चिकनी
ले आयीं
हाथों में मिट्टी

तीनों ने फिर
बैठ जगत पर
अपनी अपनी
मिट्टी में से

तोड़ - तोड़ कर
गूंध - गूंध कर
बेल - बेल कर
थाप - थाप कर

तीन प्याले
पतले - पतले
पेंदे वाले
बड़े प्यार से
रोल बनाये
बड़े जतन से
गोल बनाये

फिर तीनों ने
अपने प्याले
हाथों में ले

सिर से ऊपर
उन्हें उठा कर
गाते गाते :

आका - बाका
चिड़ी - चिड़ाका
नाई के घर

काली कुत्ती
और हमारे
वीव्वा[1] काका'

धरती पर
दे मारे
सहसा
तीनों प्याले
बजा पटाका
मुझे अचानक
याद आ गया
अपनी माँ का
'आका - वाका'
और जवानी
और बुढ़ापा

तीनों प्याले

जन-संकुल वीराने में

मैं इस जन-संकुल वीराने में अकेला खड़ा हूँ
और मैं सोचता था—मेरे पुरजन-परिजन,
मित्र, शत्रु
एक दुनिया मेरे पीछे खड़ी हो जायगी
और एक दुर्वार जयकार
किसी आदम योद्धा के तीर से छूटी अप्रतिहत शक्ति-सा
आने वाली सदियों के अँधेरों को भेदता चला जायगा
और लोबान और चन्दन से भी प्रियकर
कोई खुशबू
दशों दिशाओं में व्याप जायगी।
मैं सोचा करता था—जब मैं बच्चा था।

1. वीव्वा काका—अच्छा बच्चा।

जब मैं बच्चा था
मुझे वह खुशबू बहुत भाती थी ।

अचानक इतिहास के किसी जर्जर पन्ने से आने लगती थी
किसी लोक-कथा में प्राचीन नायक की वाणी से लहक उठती थी
हमारी पाठशाला के बड़े मेहराबदार दरवाज़े से झरा करती थी
(जिस पर मोटे, अनगढ़ अक्षरों में लिखा हुआ था—सत्यमेव जयते)
और उस बड़ी-बड़ी मूँछों वाले रोबीले चेहरे से
(जो मेरे पिता का था) शराब की बू पीछे को धकेलती
सीली कोठरी में व्याप जाती थी

और उस बगिया से,
जहाँ एक छोटे-से बालक ने महज़ जिज्ञासावश
अपने पिता के प्यारे पेड़ काट दिये थे और,
पूछे जाने पर निडर अपनी कुल्हाड़ी दिखा दी थी
और उस कमज़ोर और बीमार औरत के होंठों से
जिसके चेहरे पर सदियाँ चुपचाप सलवटें बन कर पसर गयी थीं
और सम्वत्सर स्याह धब्बे बन कर फैल गये थे ।
(जो मेरी माँ थी और बार-बार मुझे उस बालक की याद दिलाती थी ।)
वह खुशबू । जब मैं बच्चा था । और स्कूल में पढ़ता था ।

मैं सोचता था—
मैं बायें हाथ में मशाल लूंगा
और दायें में बिजली की जीभ-सा खड्ग
और अँधेरों को काटता चला जाऊँगा

काटता चला जाऊँगा उन सारे आवरणों को
जो तुम्हारा मुख छिपाये हुए हैं ।

एक जलती मशाल । एक चमकता खड्ग ।
एक व्यापती गन्ध और तुम्हारा निरावण मुख—
जब मैं जवान था
जब मैं जवान था
उत्साह मेरे पहलुओं में अपनी एड़ियाँ गड़ाये
मुझे सरपट दौड़ाता था

मैं ही गतिवान तुरंग था
मैं ही ज़ीन पर तना बैठा सवार
मैं ही जलती मशाल था
मैं ही काटता खड्ग

और मैं नहीं जानता
कब मेरे बालों में सफ़ेदी उतर आयी
और मैं प्रौढ़ हो गया

मैं प्रौढ़ हो गया
लेकिन मेरे अन्तर की आग वैसे ही प्रज्वलित रही
मैं मशाल को वैसे ही थामे रहा
थामे रहा उस तीक्ष्ण खड्ग को
और महसूस करता रहा अपने पहलुओं में उत्साह की एड़ियाँ

और वो, जो हर क्षण तुम्हारे नाम की कसमें खाते थे
मुझे छोड़ गये
और वो, जो अपने आपको तुम्हारा अनुगत बताते थे
मुझे छोड़ गये
और वो, जो दोनों हाथों सुगन्धि लुटाते थे
मुझे छोड़ गये
और वो, जो (तुम्हारे मुखोश चढ़ाये)
अपने असली चेहरे छिपाते थे
मुझे छोड़ गये
कि उनमें तुम्हारे साक्षात्कार का सामर्थ्य नहीं था
कि उनके पैरों में सरपट भागने की शक्ति नहीं थी
कि उत्साह ने उनके पहलुओं में एड़ लगाना छोड़ दिया था
कि उनके चेहरे पूर्णतः बेनक़ाब हो गये थे।

और आज मैं इस जनाक्रान्त मरु में अकेला खड़ा हूँ

मेरे चेहरे पर बेगिनती झुर्रियाँ हैं
और मेरी आँखों की ज्योति मन्द हो रही है।
लेकिन मेरे सामने तुम्हारा निरावरण मुख है
जिस पर कभी बड़ी-बड़ी मूँछें उग आती हैं
और कभी सदियाँ सलवटें बनकर पसर जाती हैं

और एक गन्ध है, जो सभी ओर से सिमट कर
मुझ में व्याप रही है।

और मैं इस जन-संकुल मरु में अकेला खड़ा हूँ।

मुक्त करता हूँ

मुक्त करता हूँ तुझे इस कैद से
फाल्गुन के ओ रुपहरे चाँद !

बौर के गुच्छे सरीखा
गंध की किरणें उड़ाता
रुक गया तू इस घने राजाम्र पर !

इस रुके ठहरे मिनट की कैद से
बाँध शब्दों में तुझे
मुक्त करता हूँ।

हर मिनट, हर घड़ी, हर दिन, वर्ष
तू विचर उन्मुक्त—
पार कर सीमा-समय-संघर्ष !

मुक्त करता हूँ तुझे
मुक्त करता हूँ रुके इस मेघ को राजाम्र के
बाँध शब्दों में तुझे।

झाँझरें...

(एक पंजाबी लोक-गीत की तर्ज़ पर)

गोरियों की झाँझरें पुकारती चली गयीं
गोरियों की
वीथियों के मौन को दुलारती चली गयीं
गोरियों की

ये गोरियाँ कि छोरियाँ नये हुलार की
या मत्त बह रही हैं—हवाएँ बहार की
चोटियों की नागिनें फुंकारती चली गयीं
गोरियों की

जो याद आ गयीं, तो शबिस्तान लुट गये
गुजर गयीं जिधर से ये जहान लुट गये
ठोकरों से आँधियाँ उभारती चली गयीं
गोरियों की !

गोरियों की झाँझरें पुकारती चली गयीं
गोरियों की

यह कैसा प्रदेश है !

यह कैसा प्रदेश है !
चट्टानें—
वर्षा में रात-दिन नहाती हैं
पर स्रष्टा की
अतुल भूति को
सँजो नहीं पाती हैं।
निर्मल जल की
दो बूंदें भी
प्यासे को उपलब्ध नहीं हैं।

चट्टानें—
लगातार होने वाली वर्षा से
कोने खो बैठी हैं।
गोलाकार
प्रलम्बित
संगलाख
चट्टानें—
कोने खो बैठी हैं।
कहीं ज़रा भी घास नहीं है
दो पल को सुस्ता ले राही
आस नहीं है
अगम प्यास के इस प्रदेश में।

इस प्रदेश में—
वर्षा का जल
बह जाता है।
बहते जल के तल में
पत्थर का सीना
उल्टे अजगर के रजत उदर-सा
चकमक करता
रह जाता है।

दिल प्रदेश का
पत्थर का है,
जिसकी काली नसें राह की चट्टानों में
लगातार दौड़ती गयी हैं।
कोऽले के अम्बार
वर्तुलाकार—
दिल प्रदेश का
पत्थर का है
निर्मम काले पत्थर का है
पत्थर का है।

काला पत्थर—
काला सोना कहलाता है।
काला सोना

पीले सोने के
नगर बसा कर सुख पाता है ।
पर दिल उनका
अपने जैसा काला
कर आता है ।

इस प्रदेश में
मैं कैसे हूँ ?
क्यों हूँ ?
क्यों कर हूँ ?

अधर सूख कर मेरे पपड़ी
कंठ सूखकर मेरा लकड़ी
नसें प्यास से फटी-फटी-सी
आँखों की पुतलियाँ जल रहीं

तेज़ घाम के
मुतवातिर बरखा के
तपते
इस प्रदेश में
मैं कैसे हूँ ?
क्यों हूँ ?
क्यों कर हूँ ?

काली-काली
ये सँपोलियाँ
अपने विष के दाँत
गड़ा देंगी मेरी थकी देह में ।
ज़हर प्रवाहित कर देंगी मेरी नस-नस में ।
स्याह ढूह बन रह जाऊँगा
जिसकी कीमत
पीले सोने में आँकी जायेगी ।

कहीं दूर पर लेकिन, लगता—
सहरा के दिलकश सराब-सी[1]

---

1. मृगतृष्णा-सी

हरी-भरी
आँखों की तृषा बुझाती
टेढ़ी-मेढ़ी
पंक्ति हरे पेड़ों की
सहसा मेरी राह रोक कर
मुझे पुकारेगी—
ओ राही !
मैं तो यहाँ खड़ी हूँ !

देवदार की
तोस-बाँझ की
छायाएँ अत्यन्त घनी—
मेरे आँचल में
मोटी-मोटी लतरों के बेगिनती
झूले;
कल-कल झरना
जिसके तट की शीतलता में
थकन युगों की
भूले !

मैं तो यहाँ खड़ी हूँ
तेरे सम्मुख !

मेरे सम्मुख ?
यह प्रदेश तो
संगलाख
चट्टानों से अड़ा पड़ा है।
आसपास फट पड़ता है कभी
महा जल-प्लावन
नौका मनु की टुकड़े-टुकड़े
और कभी आकाश
बड़ा जलता अंगारा
त्राण न देती
सहमी-दुबकी
कहीं गुफा भी।

इस प्रदेश में मैं कैसे हूँ ?

यह प्रदेश तो
संगलाख़
चट्टानों से अटा पड़ा है ।

हरी-भरी वह पंक्ति कहाँ है ?

लकड़बग्घे

तुम कहते हो :
अमुक और अमुक और अमुक
तुमसे क्यों नाराज़ हैं ?
मैं कहता हूँ :
अमुक और अमुक और अमुक
मुझसे क्यों नाराज़ न हों ?

सड़ा माँस, न जाने कब से
पड़ा
दुर्गन्ध में मदहोश है ।
उसे आक्रोश है
कि शेष कोई क्यों जीवित है ?
धड़कता है ?
गुंधा नर्म आटा
नालाँ है
हर उससे
जो कठिन है
कड़कता है ।
हर क्षण टूट पड़ने को उद्यत कगार
चट्टानों का हठ क्या समझे ?
तट की नर्म लिजलिजी रेत
बगूलों का आवेग
बवंडरों का अमर्ष

क्या जाने ?

हर झकोरे के आगे झुकने वाली लतर
टूट जाने, पर न झुकने की बात क्यों माने ?

अमुक और अमुक और अमुक···
मसलहतों ने उनकी सूरतें बिगाड़ दी हैं,
उन्हें इतने मुखोश दे दिये हैं
कि स्वयं अपना चेहरा
उनको पराया हो गया है !

अमुक और अमुक और अमुक···
उनकी आस्थाओं के फूल मुरझा चुके हैं,
उद्देश्यों की वीथियाँ
अंधी गलियाँ बन गयी हैं,
सपनों के पाँव पंगु हो गये हैं
और उनके अन्तर का लावा
जाने कब का
धुआँ बन कर
सुविधाओं के आसमानों में खो चुका है।
वो मर चुके हैं—
नहीं जानते कि मर चुके हैं !

कौच और ग़ालीचे,
फ़्रिज और कूलर,
खरीद कर महज़ दिखावे को रखी
दूसरों की कलाकृतियाँ,
विदेशी दूतावासों की पार्टियाँ,
वी० आई० पी० मुस्कानें
जिनकी दृष्टि की सीमा हैं
संघर्ष की मंज़िल हैं
वे अजाने बीहड़ मार्गों की मसर्रतें
क्या पहचानें ?

अमुक और अमुक और अमुक
जिस दिन मुझ पर प्रसन्न होंगे
मैं समझ लूंगा—
लकड़बग्घे जंगल में व्यर्थ नहीं चीख रहे
मैं मरणोन्मुख हूँ।

सड़कों पे ढले साये

सड़कों पे ढले साये
दिन बीत गया, राहें
हम देख न उकताये !

सड़कों पे ढले साये
जिनको न कभी आना,
वे याद हमें आये !

सड़कों पे ढले साये
जो दुख से चिर-परिचित
कब दुख से घबराये !

बकरोटे की ढलान पर

बकरोटे[1] की इस ढलान पर
(दुर्दिन में जो किसी अभागे की किसमत-सी
सीधी ढलती चली गयी है।)
फटे हुए पैरों में पहने मोटे चप्पल
औ' पैवन्द लगी शलवार कमर में खोंसे,
क्षण-क्षण घिरती धुंध
बरसती बूंदनियों में
यह लम्बा, यह सड़क नापता, यह भारी शहतीर उठाये,
झुके हुए तन से नव्वे का कोण बनाये,
धीरे-धीरे उतर रहा तू !
नसें उभर आयीं मस्तक पर नीली—
त्वचा घोंटती हो जैसे दम उनका !
फटी-फ़टी आँखें—
सूनी-सी—

1. डलहौजी की एक प्रसिद्ध पहाड़ी।

भाव-रहित, बेबस औ' बेहिस !
टूटे बटनों वाले इस गन्दे, मैले चिथड़े से—
जो कमीज़ कहलाती होगी कभी,
झलकता गोरा सीना,
जिसके भूरे बालों में यों मैल जमी है,
उतरे दरिया के सफ़ेद तट की घासों में,
जैसे कीचड़ लिपट गया हो !

इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक !
मुझे नहीं दुख इसका—
तेरी झुकी पीठ पर
इतना भारी बोझ लदा है,
तीन मील की ऊँचाई तू ढो आया है,
और अभी बालून तलक तू तीन मील नीचे जायेगा ।

मुझे नहीं दुख इसका—
तेरे तन पर पूरे वस्त्र नहीं हैं,
नहीं नहाया तू हफ़्तों से ।
इस आज़ाद देश के ओ आजाद नागरिक !
दुख है लेकिन इस जी-तोड़ परिश्रम से तू
इतना नहीं कमा पायेगा,
जिससे दोनों जून उदर की आग बुझाये,
रूखा-सूखा सही, मगर जो डटकर खाये !
या इस सारे सीज़न की सारी मेहनत से
इतना-भर संचित कर पाये—
पाँगी के उस पार चिनारों और सफ़ेदों की छाया में,
छिपे हुए अनगढ़-से घर में,
बैठे तेरे बीवी-बच्चे, चुप-चुप जिसकी आस लगाये !

सुन्दर पुस्तक पर गिर जाने वाले धब्बे-ऐसे
इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक !
बीते हुए ग़ुलामों के युग को युग बीते
तेरी दशा ग़ुलामों से लेकिन बदतर है
इसका दुख है ।

विशाखापट्टम के सागर-तट पर

कई दिनों से भटका फिरता
आकर दो क्षण बैठ गया हूँ तेरे तट पर
ओ हहराते सागर !

गरज-घुमड़ कर तेरी लहरें
बार-बार आती हैं,
पैरों को मेरे छू जाती हैं
और बिछा जातीं सिकता पर
एक चँदीली झीनी चादर।
दूर डोल्फ़िन[1] की लम्बी-सी नाक—
घुसी जाती ज्यों साँझ-रँगे सिन्दूरी जल में !
किन्तु रंग का जाल क्षितिज, बिन उसके,
चुप-चुप खींच रहा है।
ज्योति-स्तम्भ है आँख डोल्फ़िन की, जो
हठ से रह-रह चमक रही है।

लगता है—
यह तट मेरा तट है,
मेरा अपना तट है।
कभी नहीं सशरीर भले ही
मैं खेला इसकी सिकता पर,
मेरे सपने सदा खेलते रहे यहीं पर !

जन्मस्थान को तज शैशव में कोई बालक
रहे भटकता जीवन-भर,
पर आखिर
सहसा जा पहुँचे वहाँ—
और उसका हर रोम गुहारे—'तेरा घर,
यह तेरा घर है
ओ, चिर-दिन के भटके बालक !'
मैं भी तो आ ही पहुँचा हूँ यहाँ अचानक !

1· विशाखापट्टम के सागर में दूर तक अन्दर चली जाने वाली पहाड़ी, जो डोल्फिन मछली-जैसी है और जिस पर लाइट-हाउस बना है।

क्या मैं तेरी ऊर्मियों में मौज मनाता मीन कभी था ?
क्या मैं तेरे अतल गह्वरों में सुख पाता सीप, स्पंज था ?
था मैं क्या कोई जल-पक्षी
प्यारा था जिसको तट तेरा ?
या मैं था कोई ऐसा साहसी लुटेरा—
युगों-युगों पहले जो अपना अनगढ़ पोत बढ़ाये,
तूफ़ानों से लोहा लेता,
दुर्निवार बढ़ता आया तेरे उत्ताल वक्ष पर,
चीख उठा तट को छूते ही जो हुलास से—
(ताड़ अचानक काँप उठे थे,
सहमे-सहमे नारियलों ने जोड़ लिये सर
सरवी की फुनगियाँ कँप उठीं)
किन्तु भूलकर लूट-पाट जो स्वयं हो गया तेरा बन्दी ?

पूनो का यह चाँद खिल उठा पूरब की साँझिल बगिया में
आग इसी को देख बुझी शायद पच्छिम के उर की
आँख डोल्फ़िन की
(अब भी रह-रह कर चमक रही है—)
इसको तो नहीं बुलाती ?
चाँदी का पथ कैसा झिलमिल,
बिछ आया लहरों पर तेरी,
तट से लेकर दूर क्षितिज तक !

कैसा सूनापन—
सुन्दर, सुख-भरा विशाल सूनापन—
फैला है इस तेरे तट पर !
जल गहरा है,
सिकता-तट संकुल है,
नहीं सैर को जगह है,
पड़ी है औंधी एक नाव या केवल
मैं बैठा हूँ पैर पसारे ।
मैं बैठा हूँ—
उस प्रदेश का वासी, जहाँ
भीड़ में भी निज को पाता है कभी आदमी निपट अकेला ।
लेकिन जहाँ नहीं ऐसा एकांत सुलभ, मन
अपने से दो बात कर सके ।

प्रकृति सदय हो अपने सारे राज़ खोल दे, उसके
सारे घाव भर सके।

मैं हूँ उस प्रदेश का वासी—जहाँ
बड़े लम्बे मैदानों में संकुल नगर बसे हैं।
गगन छू रहे भवन,
चमकती सड़कें,
लेकिन उनमें
तंग अँधेरे स्लम्ज़—
ज़हरबाद-से धीरे-धीरे फैल रहे हैं।
गन्दी गलियाँ, सुइयों-सी, इन्जेक्शन विष के
लगातार
शहरों के तन में देती हैं।

लोग बड़े उजले कपड़े पहने,
सजे-बजे कक्षों में रहते,
बाग़ीचों में फूल सजाते,
नाक चढ़ाया करते हैं—
नगरों के इन नासूरों पर
अन्तर में उनसे भी भीषण स्लम्ज़ छिपाये !

जी होता है—मैं बन जाऊँ मीन
ऊर्मियों में तेरी फिर मौज मनाऊँ।
या जम जाऊँ फिर जाकर मैं किसी अतल-
गह्वर में तेरे सीप-स्पंज-सा।
यहीं किनारे छा लूँ कुटिया।
या यह औंधी नाव ठेलकर
झिलमिल करते इसी रजत-पथ पर बढ़ जाऊँ
औ जा लगूँ—कहीं किसी उस द्वीप किनारे—
जहाँ सभ्यता ने सीखा है नहीं, हृदय का ज़हर छिपाना
मुसकानों में,
दर्द खोखले अट्टहास में;
क्रोध नीति की मीठी-मोहक, पेचीदा बातों में।

आह ! किन्तु मैं मीन नहीं, मनु का बेटा हूँ।
अतुल सृष्टि के क्रम-विकास में
आगे बहुत निकल आया हूँ।

यहाँ सदा रह सकता मैं तो नगर न बसते।
मैं ही सूनेपन से भागा।
अपने सूनेपन को भरने के प्रयास में
मैंने ही ये नगर बसाये—
मैं उनके नासूर भरूँगा।

पशु को मानव होना बड़ा कठिन था लेकिन,
मानव को मानव होना भी सरल नहीं है !

वे ऊँचे प्रासाद और वे सँकरी गलियाँ—
मेरी नियति बँधी है उनसे।
मैं जाऊँगा,
लेकिन तेरे साथ बिताये ये क्षण भुला नहीं पाऊँगा।
जन-संकुल नगरों, रेलगाड़ियों, कारों, ताँगों,
छकड़ों के पुरज़ोर-शोर में,
जन-जन के अनवरत रोर में,
तेरी गरज सदैव सुनायी देगी मुझको;
व्यस्त बही जाती घड़ियों की भाग-दौड़ में,
एक अंश मेरा ऐसे ही पैर पसारे
सदा रहेगा व्यामोहित बैठा इस तट पर !

ओ हहराते सागर !

सँगतरी चाँद

उग आया पश्चिम में
ओ प्रिय
चाँद सँगतरी !

नींबू-सा पीला-पीला था कुछ दिन पहले,
पर शायद अब
अनुरागी रवि

कहीं निकट ही
देख रहा है,
शर्माया है,
नींबू-सा पीला-पीला बन आया
चाँद सँगतरी !

मैं भी तो हूँ चाँद तुम्हारी,
तुम मेरे रवि।
फेर दीठि लो
ओ प्रिय; मैं नींबू-सी पीली
और नेह से देखो तो मैं—
चाँद सँगतरी !

चट्टान

ज़िन्दगी के धुँधलकों में,
क्रुद्ध सागर के थपेड़ों में, लपकती
आँधियों में,
धूप में,
छाजों-बरसते मेंह में,
दिग्भ्रान्त नभ की स्टेनगनों से तड़तड़ाती गोलियों में,
टूट कर दो-टूक करने को तड़पती,
व्योम के भ्रू-भंग-सी,
विद्युत-शिखा के आक्रमण में,
शक्ति के घन-पुँज-सी
अविचल खड़ी
चट्टान है अवलम्ब मेरा !
याद शैशव की नहीं, पर जानता हूँ—
गोद में जिसकी सतत् खेला
अचेतन रूप-से हैं पा गये तन-मन
न जाने रुक्षता जिसकी

न जाने पा गया मन लौह इच्छा-शक्ति
दृढ़ चट्टान-सी जिससे

जननि मेरी
स्वयं चट्टान ही थी।
थे जनक उस पोत-ऐसे—
जो तुड़ा लंगर निकल जाये उदधि में डोलता-सा।
(हों सभी मदहोश नाविक वारुणी के अंक में जिसके,
न जिनको चेत आगत का, न गत का,
जी रहे हों जो निपट क्षण में।)
भटकता, डोलता, खाता तरंगों के थपेड़े
जा लगे जो क्रोड़ से चट्टान की।
कुछ पल थमे,
फिर डोलता-सा चल पड़े
डगमग,
दिशाओं में बुलाती तन्वियों का पा इशारा।
डूबने को हो तरंगाकुल उदधि में,
पर जिसे हर बार
सागर के थपेड़ों से बचाती
क्रोड़ ही चट्टान की
बन जाय जीने का सहारा।
अब नहीं चट्टान
औ' वह पोत कब का गिन चुका अंतिम थकी साँसें,
अकेला मैं,
उदासी
चुक गये दिन की।
लहर लेता
बढ़ा आता उदधि क्षण-क्षण,
श्रवण को चीरती हुंकार,
दिल को भेदती तूफ़ान की ललकार,
जीवन के धुँधलके,
मेघ का गर्जन,
तड़पती, कौंधती आकाश की तलवार—
साँझ की तिमिरावरण सन-सन !

कभी मैं काँप जाता हूँ।
थकन से हाँप जाता हूँ।

मगर सहसा उसी चट्टान की सिलहूत
जैसे निकल कर मन से
उभर आती,
मुझे साहस बँधा जाती !

वय का कार्तिक

आह ! हिम से ढँके शिखर निरीह-से
(मेरे हृदय के अद्रि के)
भोली निगाहों से निरखते—
नील अम्बर के सुखद विस्तार को,
संसार को ।
रंगीनियाँ जिसमें
सबेरे-साँझ का दिनकर,
अँधेरी रात के तारे,
उजेले पाख का शशधर,
उमड़ती प्रेरणा के पंख पर उड़ते हुए साधक चितेरे-सी—
बिखरती कल्पना के सम्पुटित-से पल घनेरे-सी—
नये दिन नित नयी ही
आँक देता है ।

झाँक लेता है
हृदय (मुड़कर गहनतर गह्वरों में)
काँप जाता है ।
शिखर उसके (हैं ढके जो दूधिया हिम से)
अभी थे कल तलक काले—
नुकीले,
तेज़ भाले,
सर निकाले, भेदते आकाश का सीना ।
कहाँ था हिम ? महीना
था भरा सावन,
तड़पती आँधियाँ, ले अंक में अपने उमड़ते घन

गरजती, कड़कती, धूमें मचाती,
बरसती,
खुल खेलती थीं।

झेलती थी देह उनका ताप, उनका शाप,
लेकिन आज अपने-आप
जैसे जम गयी है बर्फ़,
सब कालिख मिटी
तुन्दी गयी
हल्की हवाएँ मेघ रीते अंक में ले
रमकती हैं।

गमकती हैं
मन्द-तर आकांक्षाएँ,
लहर जैसे बुझ रही जीवन-शिखा की
साँप के घायल, पिसे तन में
अचानक रेंग जाये,
और दूजे क्षण धरा पर
रज्जु-सा निष्प्राण फिर वह नज़र आये।

क्या बताये—
काँप जाता है—हृदय।
(यह सत्य है)
इस दूधिया हिम के कहीं नीचे,
किसी भयभीत घोंघे-सी नयन मींचे,
छिपाये सींग,
तकती बाट अवसर की,
कसकती
है वही कालिख,
नुकीली धार कर दी कुन्द जिसकी
कार्तिक ने वयस के!

आह! हिम से ढके शिखर निरीह-से!

अप्रैल की चाँदनी

नदी का ज्वार मिट गया है
धारा क्षीण से क्षीणतर हो गयी है
और कछारों तक फैली रेत पर
अप्रैल की चाँदनी बिखरी है।

चाहता है मन—
जब यह क्षीण-सी धार भी
बढ़ी आती रेत में समा जाय,
चाँदनी ऐसे ही मुस्कराय !

मैं तुम्हारा आभारी हूँ !
मैंने तुम्हारी आँखों में सद्य-खिले मुस्कराते गुलाब-सी
मुहब्बत देखी
और लपलपाती तलवारों-सी
नफ़रत !

किन्तु नफ़रत की वे लपलपाती तलवारें
तुमने सदा अपनी आँखों के म्यानों में समेट लीं
और मेरे लिए होंठों पर गुलाबी मुस्कान बिखेर ली।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ !

तुम्हारा प्यार—
अप्रैल की चाँदनी है
और नफ़रत—
दिसम्बर की अमा !
तुमने सदा मुझे स्निग्ध चाँदनी से नहलाया है
और स्वयं अमा की शीत में अकेली ठिठुरी हो।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ।

मुझे लगता था—
मैं अपना पुरुषत्व, अपना पुंसत्व—सब बिसार चुका हूँ,
सदियों से जमे ग्लेशियरों की काली-काली बर्फ़
मेरे अंगों में समा गयी है।
तन-मन से हार चुका हूँ।
लेकिन तुमने—

ओ मूर्तिमती ममता, ओ साक्षात् संजीवनि,
अपने पतले-पतले होंठों की अजब-सी प्यार-भरी स्निग्धता से
मेरे मस्तक को, नयनों को, होंठों को
मेरे अंग-अंग को ऐसे छुआ—
कि मेरी सारी थकन दूर हो गयी ।
अन्यमनस्कता शिथिल पड़ गयी ।
मेरा वर्षों से भूला-बिसरा सोया पुरुष
अप्रतिहत शक्ति के बवंडर-सा जाग उठा ।
दुनिया-भर पर छा जाने की प्रबल आकांक्षा को
अपनी भुजाओं में बाँध, उठा ।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ ।

जो बच्चे की तरह तुम्हारी गोद में आ गिरा,
तुमने अपनी ममता निर्द्वन्द्व उस पर वार दी ।
जिसने तुम्हें बहन की संज्ञा दी,
तुमने अपने निश्च्छल स्नेह की उस पर बौछार की ।
जिसने तुम्हें मित्र कहकर पुकारा—
अपने विश्वास की अमूल्य निधि उसके आगे हार दी !
लेकिन मुझे—
मुझे तुमने
माँ की ममता, बहन का स्नेह, प्रेयसि का प्यार
और संगिनी की आस्था दी ।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ ।

मेरे विश्वासघात को भूलकर तुमने मुझे विश्वास दिया;
मेरी निठुराई से प्यार किया;
मेरी चिड़चिड़ाहट पर दया की;
मेरा क्रोध और खीझ क्षमा की;
मेरे दुर्गुणों में गुण दिखाकर
मेरे हारे-थके मन को
आत्मविश्वास और क्षमता दी ।
ओ दिन की गर्मी से तपे हुए तन-मन को
सुख-शीतलता देने वाली चाँदनी !
जीवन के संघर्ष
मित्रों की बेवफ़ाई
बड़ों की ईर्ष्या, छोटों के विद्वेष

औ' बराबर वालों की सचेत उपेक्षा से झुलसकर
जब-जब मैं तुम्हारे पास आया,
मैंने तुम्हारे अंक में त्राण पाया।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ !

शाम के झुटपुटे में

शाम के झुटपुटे में
मेरे ऊँचे मकान की छत पर
ये इतने सारे कौवे कहाँ से आ गये हैं ?
पंक्ति-दर-पंक्ति बैठे ये क्या मन्त्रणा कर रहे हैं ?

यहाँ पर तो प्राय: मोर उतरा करते थे
और म्यूरियाँ बेनियाज़ी से उनके गिर्द इठलाया करती थीं
बादलों की हर गरज के साथ
उनकी झंकार
दिशाओं को गुंजा देती थी।
और कभी मस्ती में कोई मोर
अपने पंखों का छत्र बनाये
नाच उठा करता था।

लोग कहते हैं राजहंस मानसरोवर से चले गये हैं
गंगा का पानी बेहद गदला हो गया है
सरस्वती ने अरसे से वीणा को हाथ नहीं लगाया
और फिज़ाओं पर लक्ष्मी वाहन का अधिकार है
मोरों की झंकार नहीं
हंसों की पुकार नहीं
वातावरण में सन्नाटा बढ़ गया है।
शायद ये कौवे उसी सन्नाटे को भरने की
योजनाएँ बना रहे हैं
और ऊँचे मकान की छत पर
शाम के झुटपुटे में

और यह क्षेत्र उपेक्षित रह गया

उन दिनों—जब सारे आकाश पर
घटा का एकाधिकार था,
वह मनमाने ढंग से बरसती थी,
यहाँ कीचड़ ही कीचड़ हो गया था।
लोग दलदल में धँसने लगे थे।
यह क्षेत्र बिलबिला उठा था।
विरोध में घाम को बुला उठा था।

घाम आया,
घटा तिरोहित हुई।
क्षेत्र सूखा संतुष्ट हुआ।
सुष्ठ-सम्पुष्ट हुआ।
लेकिन घटा ने पुनः आकाश को घेर लिया।
वह उमड़ी, मँडराई, इतराई,
पर इधर भूलकर भी नहीं आयी।
सत्तावान का जो विरोध करेगा,
वह अभाव के घाम में क्यों नहीं मरेगा!
और यह क्षेत्र उपेक्षित रह गया।

हाँ यह तो सही है
सत्ता के लिए सभी क्षेत्र एक-से होने चाहिए
घटा को सभी जगह बरसना चाहिए
सारी धरती को एक-सा सरसना चाहिए
पर घटा का अहम् भी तो कोई चीज़ है
वह किसी क्षेत्र से रुष्ट हो तो वहाँ क्यों बरसे?
वह न बरसे तो वह क्षेत्र कैसे सरसे?
सत्तावान का जो विरोध करेगा,
वह अभाव के घाम में क्यों नहीं मरेगा
और यह क्षेत्र उपेक्षित रह गया।

पर ऐसे क्षेत्र भी तो हो सकते हैं,
जो घाम में रहना सीख जायँ,
वे काँटों वाले पेड़ उगा लें,
कुरेत, कोड़ियाले और फनियर बसा लें,
धूल की आँधियाँ उठायें,

वातचक्र बहायें,
घटा की परवाह न करें,
आतप को सहना सीख जायँ !
शायद यह क्षेत्र उन्हीं में से है ।
घटा के आगे बिछा नहीं
और उपेक्षित रह गया !

चिन्ता की चिन्ता

काफ़ी हाउस के बाहर—
चिन्ता की दुकान पर, पान के इन्तज़ार में
छोटे टी० वी० सेट के सामने खड़े
देश की नेता के भाषण की अनवरत फुहार में
हठात वह चिल्ला उठा—

कहाँ हैं जन इस जनतन्त्र में ?
कहाँ है जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए
शासन, इस व्यापक राजनीतिक षड़यन्त्र में ?
यहाँ काले धन और ब्रूट फ़ोर्स—
चापलूसी, समयसाधकता या सोर्स—
अनैतिकता और सिद्धान्तहीनता का ज़ोर है
जनतन्त्र का महज़ शोर है ।

यह लोक सभा, ये विधान सभाएँ,
ये न्याय, शिक्षा और स्वास्थ्य के वितान,
ये बड़े-बड़े बाँध, परियोजनाएँ, ये सहकारी संस्थान—
इन सबके अधिकांश लाभ पर
इस देश का पूँजीपति पलता है
(जन के हाथ तो गुलामी के सिवा कुछ नहीं आता)
उसी के इशारे, राजनीति के पहियों पर
नौकरशाहों के हाथों,
लश्टम-पश्टम,

जनता की स्टीम से—
संसार में सबसे विशाल—
लोकतन्त्र का यह संयन्त्र चलता है।
'क्या कोई भला, विद्वान, दयानतदार, पर विपन्न देशभक्त—
खड़ा हो सकता है (या किया जा सकता है) जन द्वारा किसी चुनाव में!
कौन देगा लाखों रुपया प्रचार के लिए ?
जीपें, कारें, वी० डी० ओ०-टेप, हैण्डबिल, लाउड स्पीकर
इश्तेहार के लिए ?
जन बह जाते हैं बेचारे,
ठग नेताओं के झूठे भाषणों,
रियाकार आश्वासनों,
और बेशर्म लनतरानियों के बहाव में !

'न्याय प्रशासन से आज़ाद सही
स्वतन्त्रता के बाद,
पर न्यायालयों से उसे पाने के लिए,
ग़रीब पैसा कहाँ से लायेगा ?
कैसे कदम-कदम पर वकीलों की जेबें भरेगा ?
समय उसके पास कहाँ है—रोज़ी रोटी का जुगाड़ करने के बाद,
सोर्स वह कैसे भिड़ायेगा ?
फ़ाइलों पर ब्रेक लगें या पहिए—
सरिश्तेदारों की मुट्ठियाँ कहाँ से गर्म करेगा ?
छींकने-खाँसने पर कैसे हल्फ़नामे देगा,
सरकार के खज़ाने भरने को स्टाम्प कहाँ से लगायेगा ?
न्यायाधीश पेशी-पर-पेशी दें,
यह सुविधा उन्हें कैसे जुटायेगा ?
जन-तन्त्र में न्याय बिकाऊ है
कानून में अनन्त छिद्र हैं
ग़रीब जन कैसे कहाँ से न्याय पायेगा ?

'ऊँची शिक्षा—
स्नावर, शेरवुड और दून,
कान्वेण्ट या राजकीय विद्यालय—
ग़रीबों के लिए स्वप्न-समान हैं।
वे तो अपने बच्चों को
निःशुल्क भी नहीं पढ़ा सकते।

विपन्न जन के बच्चे स्कूलों के निकट भी नहीं जा सकते ।
होश सँभालते ही वे घर की भूख भरते हैं ।
देखिए जाकर ज़रा अपने इर्द-गिर्द—
देश के लक्खों ढाबों या रेस्तरानों में
मेसों-मकानों या छोटे कारखानों में
मिस्त्री-मजूरों या कारीगरों के ठिकानों में—
उस वक्त जब उनके खेलने-खाने
या स्कूल जाने के दिन होते हैं—
ग़रीब बच्चे दिन-रात मजूरी करते हैं ।
बीमार होने पर, भ्रष्ट सरकारी हस्पतालों में—
जहाँ डाक्टर उदासीन हैं,
और कम्पाउण्डर चोर,
जहाँ मुफ्त बँटने को आयी दवाएँ
ब्लैक में बिकती हैं—
वे—आई—मौत मरते हैं ।

'इस देश में ग़रीब जन के लिए क्या है—
सिवा भगवान के ।
उसके मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजों-गुरुद्वारों
वहाँ आसन जमाये बैठे उसके अहलकारों
और उनकी अमृत वाणी से झरते श्रद्धा-भक्ति-सरूर के !
या इस देश के सत्ताधारी नेताओं के ऐवरेस्टी ग़रूर के !
(जो उनकी चिन्ता में जीते हैं,
उनकी खातिर दिन-रात विरोध का ज़हर पीते हैं ।)
या उनके अनन्त रंगीन वायदों के,
या जनतन्त्र में सबसे बड़े अधिकार—वोट के
या···'
भीड़ में अचानक कोई धीरे से बोल उठा—
'उसमें छिपे हुए खोट के ।'
और लोग अचानक ठहाका मार कर हँस उठे ।
उसका भाषण प्रवाह रुक गया
अगस्त की उमस में वह पसीने-पसीने हो गया

तभी चिन्ता ने पान की तश्तरी बढ़ायी
और बोला—
'महाराज आप बिलकुल ठीक कहते हैं

हमीं जानते हैं, जो हम सहते हैं,
लेकिन बुरा न मनाइए,
पान खाइए और अपनी दुकान
तनि अलग हटकर लगाइए !
आपका तो कुछ नहीं होगा,
आप तो अपने विरोध का पुरस्कार पा जायँगे।
और यह ग़रीब चिन्ता बेचारा

'लोकतन्त्र को विखण्डित करने के अपराध में,
धर लिया जायगा !'

अश्क बहुत श्रम करता है

'अश्क बहुत श्रम करता है' मटियानी बोले
'कभी गये हैं उससे मिलने
किसी समय भी : उसे मेज़ पर बैठे पाया
सदा सृजन-रत।'

'श्रम ही श्रम उसमें है प्रतिभा ज़रा नहीं है।'

'हमने तो वर्षोंप हले ऐलान किया था।'
बोले परिमल के लाल बुझक्कड़, 'अश्क रहेगा
एकमात्र ऐसा लेखक दुनिया में,
जो केवल निज श्रम के बल पर,
बार-बार लिख कर, अगणित संशोधन परिवर्तन कर,
स्वतः प्रकाशित, स्वतः प्रचारित, दंद-फंद से आखिर
सिक्का अपना दुनिया भर से मनवा लेगा।'

'प्रतिभा और किसे कहते हैं ?'
एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से।

इधर अश्क ने जब से आना
काफ़ी-घर में छोड़ दिया है
(पहले तो वह छठे-छमाहें आ जाता था)
दो पल को महफ़िल गुलज़ार बना जाता था)
अजब बात है—
अनुपस्थित होकर भी रहता सदा उपस्थित

दसियों अफ़वाहे चुटकुले, लतीफ़े
उसको लेकर
आँखों देखी, कानों सुनी हवा में उड़तीं
बीसों बातें :

'सुना अश्क अब पहुँच रहा है राजसभा में'
'अरे सुना, पायी है उसने एक वज़ीफ़ी
(हि ही हि ही)'

'पटा लिया है, जाने उसने कैसे मन्त्री
मिलने वाली है उसको सम्मानित कुर्सी'
'सुना हो गया वह जनसंघी'
'नहीं यार वह इन्दिरा का है भक्त पुराना'
'बहुगुणा को क्यों भूले हो
है मुरीद वह बहुगुणा का
'और जगजीवन बाबू···सेना में पुस्तकों का विक्रय,'
'अरे अश्क—वह नहीं किसी का
पैसे का है अव्वल आखिर
बहुरूपी, बहुधन्धी, बहुविध
करे न क्या-क्या इसकी ख़ातिर'

'इतना बड़ा मकान दुकान प्रकाशन
यूँ ही नहीं—'
जाने इसके पीछे है किस-किस का शोषण
यूँ ही नहीं—

'पत्नी को जो उससे अच्छा लिख सकती थी
झोंक दिया
लड़के को जो बन सकता था आला अफ़सर
झोंक दिया

'जड़ें रही हैं उसकी धुर पाताल ताल में
एक तिकड़मी
काट रहा जो फ़सल हाल में, जाने उसने
कब बोई थी'

एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से
'विना सूजे ही!'

'नहीं, अश्क की बात मत करो!'
बोले भैरव, 'घोर अहंवादी है!
उसके बारे में लिखें, गुण-औगुण उसके गायें
दशों दिशाओं में गूँजें उसकी चर्चाएँ
यही चाहता है वह!'

'लेकिन वह दो शब्द
कहेगा
नहीं किसी के बारे में खुद'
चिहुँके पान-फूल से 'पान-फूल के लेखक'
'वह मन की बात कहेगा
वह ऐसा कहता है।
मन फिर उसका मन (कुछ हँसकर)
उसको किसने जाना
नहीं मिला है, बड़े-बड़ों को
उसका पता-ठिकाना।'

'हमको गुटबाज़ बताता है वह'
बोले परिमल-संत-शिरोमनि
'कहता है, हम लोग गुज़श्ता दो दशकों से
एक संस्था से चिपके हैं। नहीं एक भी नया सदस्य
बनाया हमने। रहे वही बारह के बारह
वैसे के वैसे।'
फिर गांधीवादी मुस्कान ज़रा होंठों पर बिखरा
बोले—
'बारह में तो बाँटा अपना अहं निरन्तर
हमने—
और एक यह अश्क

सराहा जिसने उसको
पछताया है।
माथा अपना ठोंक उदा उस क्षण को
गरियाया है।'

'अरे अश्क—यह एक फ़ितूरी'
बोले शेखर
'वह गरियायेगा, यह उसे भुना लेगा
वह लिख कर गाली देगा
(पूछो मटियानी से)
यह उसके पैसे देगा, उसे छपा लेगा।'

'क्यों आप नहीं फिर ऐसा करते ?'
एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से

ज़र्रा-ए-ख़ाक को चाहूँ मैं तो सहरा कर दूँ
कतरा-ए-अश्क को दूँ आब तो दरिया कर दूँ

मैं वो मजनूँ हूँ अगर जोश-ए-जुनूँ पर आऊँ
जिसको देखूँ, उसे इक आन में लैला कर दूँ

साज़-ए-दिल को जो मैं छेड़ूँ तो अभी महफ़िल में
राज़-ए-सरवस्ता-ए-उलफ़त[1] को हवैदा[2] कर दूँ

आप का दिल है अगर संग तो मैं भी वो हूँ
इश्क की आग इसी संग मैं पैदा कर दूँ

'अश्क' हूँ क़तरा-ए-नाचीज़, मगर याद रहे
मैं जो चाहूँ तो क़यामत अभी बरपा कर दूँ

मेरे पैरों के निशाँ अब भी परेशाँ हैं यहाँ
ख़ाक छानी है इन्हीं राहों की बरसों मैंने

वक्त आया तो गदागर से भी बदतर निकले
तमकनत देखी थी जिन शाहों की बरसों मैंने

बन के ज़ंजीर गला घोंट रही हैं मेरा
राह देखी थी इन्हीं बाँहों की बरसों मैंने

1. प्यार के छिपे हुए भेद को, 2. प्रकट।

इनकी गर्मी से पसीजे न पसीजे वो मगर
आग तापी है इन्हीं आहों की बरसों मैंने

पैहम मुसीबतों से मिले तो क़रार[1] लें
यादों के बुतकदों[2] को ज़रा फिर सँवार लें

दिन थे फ़लक-शिगाफ़[3] थे जब अपने क़हक़हे
फिर मिल सकें तो दिन वो कहीं से उधार लें

हमने बसायीं बस्तियाँ तुमने उजाड़ दीं
कुछ पल तो इन ख़राबगहों[4] में गुज़ार लें

साक़ी से गर नज़र न मिले, हम न जाम लें
और जब मिले तो दौड़ के दीवानावार लें

इक आग है दिल में सुलगती है, हर घड़ी
चाहो तो उसको गीत-ग़ज़ल में उतार लें

ग़म के लिए पड़ी है अभी एक उम्र 'अश्क'
आओ ये चन्द लम्हे तो हँस कर गुज़ार लें

---

1. चैन, 2. मन्दिरों, 3. गगनभेदी, 4. खँडहरों।

समीक्षाएँ

अश्क जी की समीक्षा पद्धति—अगर उसे पद्धति का नाम दिया जा सके तो—हिन्दी की सामान्य आलोचना से इस मायने में अलग है कि रचनाओं को जाँचने-परखने की निर्ममता के बावजूद उसमें आत्मीयता का अभाव नहीं है। अश्क जी चाहे रेणु के उपन्यास का जायजा ले रहे हों या दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन की कहानियों की चर्चा अथवा रघुवीर सहाय की कविताओं की समीक्षा—उनमें निरन्तर रचना के साथ एक गहरा लगाव झलकता रहता है। इसका यही कारण हो सकता है कि अश्क जी आलोचक की नज़र से नहीं, बल्कि समानधर्मा रचनाकार की नज़र से अपने समकालीन लेखकों की कृतियों को परखते हैं। और 'समकालिन रचनाकारों' में वे उन सभी को शामिल कर लेते हैं जो 'लिख रहे हैं', भले ही वे उमर में बड़े हों, समवयस्क हों अथवा एकदम नयी पीढ़ी के हों। इसके अलावा हिन्दी के रचनाकारों में शायद ही किसी ने अपने समकालीन लेखकों के कृतित्त्व पर इतना लिखा होगा, जितना अश्क जी ने लिखा है। उनकी जीवन्तता महज़ अपनी रचनाओं तक सीमित नहीं रही, बल्कि उन्होंने अपने साथी रचनाकारों के कृतित्व को भी गहरे लगाव के साथ पढ़ा और परखा है और उस पर अपनी प्रतिक्रिया भी दी है। इस प्रक्रिया में अश्क जी को कई बार विवाद और बहस में भी उलझना पड़ा है, लेकिन इन विवादों को भी उन्होंने उसी आत्मीयता के साथ स्वीकार किया है।

यहाँ हम अश्क जी की समीक्षात्मक टिप्पणियों में से चार टिप्पणियाँ दे रहे हैं। पहली टिप्पणी रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' की समीक्षा है। शायद यह पहली टिप्पणी थी जो इस उपन्यास के प्रकाशित होने पर 'आलोचना' में छपी और कहना न होगा कि रेणु का यह उपन्यास आगे चलकर अश्क जी की स्थापनाओं पर पूरी तरह सच्चा उतरा। दूसरी टिप्पणी नयी कहानी से सम्बन्धित है और 'लहर' के 1961 के अंक में छपी थी। इसके बाद की दो टिप्पणियों में अश्क जी ने क्रमशः रघुवीर सहाय के कविता-संग्रह—'आत्महत्या के विरुद्ध'—तथा मोहन राकेश, बादल सरकार और अमृतराय के नाटकों का जायज़ा लिया है और पूरी आत्मीयता के साथ अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं।

लोक-जीवन का आईना

खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल

लेकिन यह **मैला आँचल** किसी विपन्न देहाती तरुणी की फटी-छिदी ओढ़नी का मैला आँचल नहीं, बल्कि वह क्षेत्र है, जिसे डॉक्टर प्रशान्त के साथ मोटर में बैठी हुई ममता देख रही है—लेखक ने जिसका चित्र देते हुए लिखा है—'विशाल मैदान—वन्ध्या धरती—यही है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान—धूमिल-अंचल—याने क्षेत्र— !' इस धूमिल क्षेत्र के एक गाँव में धूमिल, मटमैले, दाग़दार जीवन का यथातथ्य, हू-ब-हू, लेकिन करुणा की आर्द्रता, संवेदना की ममता, प्रकट देखने वाली आँख की निराशा और प्रकट से पार देखने वाली आँख की अदम्य आशा से भरा हुआ—असुन्दरता में सुन्दरता, कटुता में करुणा, व्यंग्य में वेदना लिये हुए—अद्वितीय चित्र है यह फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास—**मैला आँचल**।

पहली चीज़, जो उपन्यास में मन को अपनी ओर खींचती है, वह उसकी एकदम नयी कला है। रेणु ने उपन्यास को लिखते समय अपने परिच्छेदों को लघु-कथाओं-सा अपने में पूरा और मनोरंजक बना दिया है और उसमें कुछ परिच्छेद तो ऐसे सुन्दर उतरे हैं कि अनायास दाद देने को जी हो उठता है। कालीचरण के अखाड़े पर बजते ढोल की आवाज़ों को व्यक्त करते हुए लेखक ने जो बोल दिये हैं, वे अनायास कुश्ती को आँखों के सामने मूर्तिमान कर देते हैं। सन्थालों की लड़ाई का चित्र भी उनके बाजों के स्वर की पार्श्वभूमि में लेखक ने अपूर्व कौशल से चित्रित किया है। रेणु गायन और वादन शास्त्र के पण्डित मालूम होते हैं। ढोल हो, मृदंग हो या कोई दूसरा साज़ हो, नृत्य की गति हो या लोकगीत की तान—जहाँ-जहाँ भी उन्होंने उसका वर्णन किया है, शब्दों में प्राण फूंक दिये हैं। और-तो-और मोटर और ट्रक के रुकने तक की आवाज़ों को अक्षरों द्वारा सामने ला रखा है। परिच्छेद एक पात्र या क़िस्से से शुरू होता है और दुनिया जहान की बात करता हुआ कड़ी-से-कड़ी मिलाता वहीं आ खत्म होता है।

साधारण रोमानी उपन्यास पढ़ने वालों को, हो सकता है कि, यह शैली पसन्द

न आये, लेकिन सुन्दर कला का रस पाने वाले निश्चय ही इस नवीन शैली का स्वागत करेंगे। उपन्यास एक ही बैठक में शायद समाप्त न किया जाय, दो-एक परिच्छेद पढ़ कर रख दिया जाय, पर रख देने पर फिर उठाने को मन करता रहेगा और फिर शुरू करने पर और भी अच्छा लगेगा। दूसरों की बात मैं नहीं कह सकता, मेरे साथ ऐसा ही हुआ।

नये शिल्प और नये कला-प्रयोगों के साथ लेखक ने लोकगीतों को अपनी कथा की रग-रग में समो दिया है। हिन्दी में अकेले देवेन्द्र सत्यार्थी हैं, जो लोकगीतों का प्रयोग अपनी कथा-कहानियों या उपन्यासों में करते हैं। रेणु और सत्यार्थी में यह अन्तर है कि जहाँ सत्यार्थी के लोकगीत कथा का अंग नहीं बन पाते, वहाँ रेणु के लोकगीत कथा की नस-नस में जैसे रस-बस जाते हैं। सत्यार्थी ने लोकगीतों का अध्ययन शायद बाहर वाले की हैसियत से किया है, लेकिन **मैला आँचल** का लेखक जैसे दिन-रात उन्हीं में साँस लेता है, और फिर लोकगीत जिस प्रकार बदलते हैं, बनते हैं, दैनिक समस्याओं के बारे में सादालौह देहातियों की भावनाओं को व्यक्त करते हैं, इस सब प्रक्रिया का चित्र रेणु ने अपने उपन्यास में दिया है। लगता है, जैसे भट्टी तप रही है और नित नये लोकगीत वहाँ से ढल कर निकल रहे हैं। अजाने में ही यह हो रहा है, ऐसी बात नहीं। इसके पीछे एक सचेत प्रयास है, लोकगीतों के द्वारा तीव्र व्यंग्य उस व्यवस्था के प्रति लेखक ने किया है, जहाँ ब्राह्मण चमारिन और भंगन को कुएँ पर तो पानी नहीं पीने देता, पर उनके साथ रात काटने को बुरा नहीं समझता।

बालदेव, बावनदास और कालीचरण का चरित्र-चित्रण अपूर्व उतरा है। डॉ० प्रशान्त का उल्लेख मैं इसलिए नहीं करता कि वैसे डॉक्टर की झलक हम कुछ पहले के बंगाली उपन्यासों में देख चुके हैं, यद्यपि लेखक ने उसे नायक का दर्जा प्रदान किया है और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ सहानुभूति भी प्रदर्शित की है। तो भी उसकी अपेक्षा दूसरे पात्र कहीं सजीव होकर उतरे हैं।

बालदेव देश के ऐसे शत-शत कांग्रेसी नेताओं का प्रतिनिधित्व करता हैं, जो अपने जाने महात्मा गान्धी का अनुकरण करते हैं, लेकिन वास्तव में उनका मुँह चिढ़ाते है। बालदेव की गिरावट भी, जिसका दर्शन हम उपन्यास के अन्त में काल्पनिक मिनिस्ट्री के लोभ में महात्मा गान्धी की चिट्ठियों को छिपा लेने के प्रकरण में करते हैं, बिलकुल वैसी है, जैसी कि आज के अधिकांश कांग्रेसी नेताओं की।

बावनदास को लेखक का बड़ा ममत्व मिला है और उसका चरित्र बड़ा ही दर्द-भरा और सजीव उतरा है। बावनदास महात्मा गान्धी का ही प्रतिरूप है— और यह प्रतिरूप है देश के उन कांग्रेसी नेताओं का, जो पद के लोभ में नहीं पड़े और महात्मा गान्धी का अनुकरण करते रहे। बावनदास के चरित्र-चित्रण द्वारा ही हम जानते हैं कि महात्मा गान्धी जिन सिद्धान्तों लिए के जिये और मरे, उनकी हत्या गोडसे जैसे प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिकों द्वारा ही नहीं हुई, बल्कि

उन दूसरे लोगों के द्वारा हुई, जिनका कर्त्तव्य उन सिद्धान्तों की रक्षा करना था। साम्प्रदायिकों, काँग्रेसियों और पुलिसियों—तीनों ने मिलकर महात्मा गान्धी की हत्या की—उन सिद्धान्तों की हत्या की, जिनके लिए वे आजीवन लड़ते रहे।

कालीचरण का चरित्र देश की बढ़ती हुई जागरूक जनता के प्रतिनिधि का चरित्र-चित्रण है, जिससे काँग्रेस और पुलिस का आतंक किसी दोष के बिना यातना देता है, गुण्डा और लुटेरा घोषित करता है और अन्त में अनचाहे ही डाकू बन जाने को बाध्य करता है।

बालदेव, बावनदास और कालीचरण—इनके चरित्र-चित्रण द्वारा लेखक ने अद्वितीय ढंग से पिछले 7-8 वर्षों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन और उसके खोखलेपन का खाका खींचा है। राजनीतिक क्षेत्र में यदि महात्मा गान्धी का बलिदान सदा याद रहेगा तो साहित्य के पन्नों पर बावनदास का बलिदान सदा अमिट रेखाओं में अंकित रहेगा।

उपन्यास में कोई त्रुटि न हो—ऐसी बात नहीं। लेकिन उसकी खूबियों के बाहुल्य में त्रुटियाँ छिप जाती हैं। पहली त्रुटि तो उपन्यास का एक ही बैठक में न पढ़ा जा सकना है, जो साधारण पाठकों के लिए इसके रसास्वादन में कठिनाई पैदा कर देता है। इसका एक कारण तो उपन्यास की नयी कला है और दूसरा स्थानीय शब्दों का बाहुल्य। जहाँ स्थानीय शब्द व्यंग्य को लेकर आये हैं, वहाँ तो वे अनिवार्य हैं, जैसे 'इन्कलाब जिन्दाबाघ' या 'इन्कलास जिन्दाबाघ' और वे सारे शहरी 'शब्द' जो देहात में आकर बिगड़ जाते हैं, लेकिन जहाँ ऐसे देहाती शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो हिन्दी में प्रचलित हैं, वहाँ वे कोई अर्थ सिद्ध नहीं करते और उपन्यास के रसास्वादन में बाधा उपस्थित करते हैं।

कहानी का अभाव भी कुछ पाठकों को खटक सकता है, हालाँकि बड़े उपन्यास में वैसी कहानी का होना कहाँ तक वांछनीय है, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। **मैला आँचल** किसी कहानी को न कहकर उस 'मैले आँचल' की पूरी कहानी कहता है, जिसका उल्लेख शुरू में किया गया है।

ममता को, समझ नहीं आता, लेखक ने किस दृष्टि से रखा है। उपन्यास में तो वह बेजान और बेकार अंग-सी लगती है।

स्थानीय शब्दों के अर्थ हर परिच्छेद के अन्त में दिये गये हैं। यदि हर पृष्ठ के शब्द उसी पृष्ठ के नीचे फुटनोट में दिये गये होते तो बहुत अच्छा होता और उन्हें पढ़ने और उनका अर्थ समझने में आसानी रहती।

कमली के माता-पिता का जो चित्र रेणु ने प्रस्तुत किया है, वह अनायास मन को छूता है। उसकी माँ के हृदय की विशालता तो सचमुच हृदय को बाँध लेती है। उसकी लड़की ने उसके समझाने के बावजूद अपना आँचल मैला कर लिया है तो भी माँ की बाँहें उसके और उस जारज शिशु के लिए खुली हैं। अन्त रेणु ने सुखद कर दिया है, पर यदि प्रशान्त न आते, जेल में ही मर जाते और तब भी

माँ का स्नेह बना रहता और वह पिता के क्रोध के बावजूद अपनी बेटी को किसी दूसरे से स्नेह करने और शादी करने तक में मदद देती तो मैं समझता हूँ कि आधुनिक नारी की एक प्रमुख समस्या का हल रेणु देते । और तब शायद उपन्यास और भी ऊँचा उतरता ।

लेकिन इन कुछ त्रुटियों के बावजूद उपन्यास आधुनिक हिन्दी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, इसकी पूरी आशा है । **मैला आँचल** एक बड़े विस्तृत लेख की अपेक्षा रखता है । दुर्भाग्य से इस छोटे-से लेख में उसके गुणों को अच्छी तरह उजागर नहीं किया जा सकता । उसकी सूक्ष्मताएँ तो इसमें आ ही नहीं सकतीं । लेकिन सूत्र-रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रेमचन्द ने **गोदान** में जो परम्परा स्थापित की थी, जिसे नागार्जुन ने अपने आंचलिक उपन्यासों द्वारा आगे बढ़ाया, **मैला आँचल** निश्चय ही उस परम्परा का अगला कदम है और हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मील के पत्थर का स्थान रखता है ।

नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण

'नयी कहानी' में वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है ? इस प्रश्न को लेकर पिछले दिनों इलाहाबाद रेडियो से एक परिसंवाद ब्राडकास्ट हुआ। जिन 'नये' (?) कथाकारों ने उसमें भाग लिया, उनके नाम हैं—इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतराय, वी० डी० एन० साही और अश्क··· इन नामों का उल्लेख मैंने इसलिए किया है कि जब मुझसे परिचर्चा में भाग लेने के लिए कहा गया था और मुझे नामों का पता चला था तो मैंने आपत्ति की थी कि इनमें नये कथाकारों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नहीं, पुराने कथाकार नयी कहानी का अस्तित्व या उपलब्धि कुछ मानेंगे नहीं और यह सेमिनार 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में पुराने कथाकारों के विरुद्ध फ़तवों पर ख़त्म होगा।

और यदि सेमिनार के एक दिन पहले शाम को स्थानीय नये कथाकारों ने आदरणीय जोशी जी को काफ़ी-हाउस में घेरा न होता तो बात वही होती, जिसका मैंने उल्लेख किया···सेमिनार के आध-एक घण्टा पहले जब मैं पहुँचा तो रेडियो के लॉन में बिछे कौचों पर सेमिनार में भाग लेने वाले आदरणीय कथाकार बैठे थे, यशपाल अभी पहुँचे न थे और शेष इस बात पर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे कि आख़िर यह 'नयी कहानी' है क्या ? उन्हें उसके अस्तित्व तक से इनकार था, पर जब सेमिनार के लिए सब अन्दर स्टूडियो में गये और जोशी जी ने एनाउंसमेंट देखी—'नयी कहानी में वस्तु और प्रकार की···' तो बोले कि इसमें तो 'नयी कहानी है' यह मानकर ही चला गया है। हमें केवल यह देखना है कि उसकी वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है या नहीं ? अपने प्रवर्तन भाषण में उन्होंने यही बात दोहराई और बायीं ओर बैठे सज्जन से कहा कि आप शुरू कीजिए।

उन सज्जन ने कहा कि नयी कहानी प्रेमचन्द के 'कफ़न' ही से शुरू हो गयी थी और तब से लेकर आज तक 'नयी कहानियाँ' सदा लिखी जाती रही हैं। उन्होंने नयी वस्तु और शिल्प का उल्लेख राजेन्द्र यादव की कहानी 'अभिमन्यु की आत्महत्या' के नितान्त प्रयोगात्मक प्रयास तक बात को पहुँचाकर बायीं ओर बैठे दूसरे सज्जन की ओर विषय को ठेल दिया। उन दूसरे सज्जन ने 'अभिमन्यु

की आत्महत्या' या किसी दूसरे प्रयोग पर राय देने के बदले अपने सामने बैठे लखनऊ-वासी तीसरे कथाकार मित्र से अपनी पुरानी बहस का उल्लेख किया कि वे नयी कहानी के अस्तित्व को नहीं मानते, जब कि मैं मानता हूँ। और बिना किसी नयी कहानी या प्रयोग का उल्लेख किये उन्होंने यह भी कहा कि वे नयी कहानी की उपलब्धि से आश्वस्त हैं। तीसरे महानुभाव ने उसी बहस का उल्लेख किया जो वे लखनऊ में उन दूसरे सज्जन से किया करते थे (और चूँकि उन्होंने एक भी नयी कहानी न पढ़ी थी) इसलिए कुछ कहानी के आधारभूत तत्वों और कुछ भूले-बिसरे ज़माने में लिखी अपनी कहानियों का उल्लेख कर इधर-उधर की बातों में दो के बदले आठ मिनट लगा दिये (तय यह था कि पहले दौर में सब लोग दो मिनट फिर दूसरे दौरे में सब को दो-दो मिनट दिये जायेंगे) और बड़े ज़ोर से कहा कि नयी कहानी की कोई सार्थक उपलब्धि वे नहीं मानते। चौथे ने उनका समर्थन किया कि उनकी समझ में नहीं आता, नयी कहानी में नया क्या है? उन्होंने प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ गिनायीं और पूछा कि वे कैसे नयी नहीं हैं और नये कथाकारों की आठ-दस कहानियों के नाम लिये और पूछा कि वे कैसे पुरानी नहीं हैं? पाँचवे साहब ने (जो न जाने किस कारण कहानीकारों की उस मजलिस में बुला लिये गये थे, क्योंकि कविताएँ अथवा काव्य की आलोचनाएँ उन्होंने कुछ लिखी थीं, पर कहानी एक भी नहीं लिखी थी।) उनका उत्तर देने के बदले नयी कहानी के मानवीय पक्ष का उल्लेख कर यह दर्शाया कि उन्होंने कम-से-कम दो 'नयी कहानियाँ'—कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' ध्यान से पढ़ी हैं।···इसी सब में सारा समय समाप्त हो गया। तब आदरणीय जोशी जी ने, जो बहस सुनने के बदले घड़ी और स्टूडियो की लालबत्ती की ओर देखते रहे थे, उनको ख़त्म करने का संकेत किया और परम उल्लास से घोषणा की कि आज के परिसंवाद से वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि नयी कहानी की उपलब्धि ख़ूब घनी और सार्थक है और सभी उपस्थित जन उससे परम सन्तुष्ट हैं।···और जब रेडियो की लालबत्ती चली गयी तो रेडियो से संलग्न श्रोताओं ने ऐसे सफल और मनोरंजक परिसंवाद पर उन्हें ढेरों बधाइयाँ दीं।

मन की बात कहूँ तो हास्यास्पद और निरर्थक परिसंवाद मैंने कभी नहीं सुना। तो भी जिन महानुभाव ने नये कहानीकारों की आठ-दस कहानियों का उल्लेख कर पूछा था कि वे कैसे नयी हैं, और कैसे प्रेमचन्द से आगे हैं? उन्होंने एक आधारभूत प्रश्न उठाया था और मेरे ख़याल में उस पर पूरी तरह विचार करके उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए था।

जहाँ तक हिन्दी की नयी कहानी के आरम्भ और विकास का सम्बन्ध है, 'नयी' के नाम को लेकर वही एक प्रश्न नहीं, प्रश्नों की एक श्रृंखला सामने आ खड़ी होती है।

नयी कहानी का आरम्भ कहाँ से माना जाय ? क्या प्रेमचन्द के यहाँ 'नयी कहानी' नाम की कोई चीज़ है ?

यदि प्रेमचन्द को पुरानी कहानी का प्रतिनिधि माना जाय और उनसे भिन्न—मनोवैज्ञानिक यथार्थ—विशेषकर सेक्स को लेकर जो कहानियाँ उन्हीं के समय में लिखी जाने लगी थीं, उन्हें 'नयी' की संज्ञा दी जाय तो क्या उस दृष्टि से जैनेन्द्र नये कहानीकार नहीं हैं ? क्योंकि प्रेमचन्द की तुलना में उनकी कहानियाँ वस्तु और शिल्प के लिहाज़ से एकदम भिन्न हैं ।

यदि जैनेन्द्र को भी पुराना कहानीकार माना जाय तो फिर क्या 'नयी कहानी' का अविर्भाव यशपाल से स्वीकारा जाय ? क्योंकि यशपाल के यहाँ वस्तु और उसे देखने वाली जो दृष्टि है, वह पहले तीनों के यहाँ नहीं है ।

और फिर अमृतराय···? जिन्होंने 'आह्वान' को छोड़कर शायद ही कोई कहानी पुराने शिल्प में लिखी हो ।

यदि इन सबको ही 'पुराने कथाकार' मान लिया जाय तो नयी कहानी 'किससे' या 'किनसे' शुरू हुई ? नयी कविता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है (सप्रमाण) कि उसे शमशेर और प्रभाकर माचवे ने शुरू किया, मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र जैन ने उसके समारम्भ में योग दिया और अज्ञेय ने उसका समन्वित रूप प्रस्तुत किया। (नामों के आगे-पीछे के बारे में विवाद हो सकता है, पर मूल बात से कोई इनकार नहीं कर सकता) क्या नयी कहानी के सम्बन्ध में भी कोई ऐसी बात कही जा सकती है ?

फिर घूम-फिर कर वही दो प्रमुख प्रश्न सामने आते हैं :

1. क्या प्रेमचन्द के यहाँ भी कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं, जो उनके सतत प्रगतिशील और जागरूक कथाकार ने अपने अंतिम दिनों में लिखीं, जो हर लिहाज़ से उनकी पुरानी आदर्शोन्मुख कहानियों से भिन्न हैं और जिन्हें 'नयी' की संज्ञा, वस्तु और शिल्प दोनों के लिहाज़ से दी जा सकती है। मिशाल के लिए 'नशा,' 'बड़े भाई साहब,' 'मनोवृत्तियाँ,' और 'कफ़न' ।

2. इसके विपरीत क्या आज के नये कथाकारों के यहाँ कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं हैं, जिनमें चाहे कुछ खूब उच्चकोटि की हैं, लेकिन शिल्प और शैली के लिहाज़ से पुरानी कहानी से भिन्न नहीं ? उदाहरण के लिए मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक,' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों,' मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा,' भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत,' अमरकान्त की 'डिप्टी कलेक्टरी,' कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया,' कमलेश्वर की 'देवा की माँ,' कृष्ण बलदेव वैद की 'बदबूदार गली,' आदि··· आदि···।

रेडियो के उपरोक्त सेमिनार में उठाये गये प्रश्न ही का नहीं, इन सभी प्रश्नों का कोई-न-कोई उत्तर दिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते ।

जहाँ तक शिल्प और वस्तुगत प्रयोगों का सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रयोग निश्चित रूप से (बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक माहौल के कारण) प्रेमचन्द के यहाँ आरम्भ हो गये थे और प्रेमचन्द की उपर्युक्त चारों कहानियाँ मेरे इस कथन का प्रमाण हैं। 'कफ़न' और 'बड़े भाई साहब' जैसा पात्रों का चरित्र-चित्रण, कथा की कथानक-हीनता और यथार्थ की पकड़ आज की किसी भी नयी कहानी की उपलब्धि मानी जा सकती है।

लेकिन इस पर भी 'नया' सब कुछ प्रेमचन्द के यहाँ ही समाप्त नहीं हो गया। जैनेन्द्र ने 'बड़े भाई साहब' की मनोवैज्ञानिकता को दूसरे धरातलों पर (और भी गहरे पैठ कर) उठाया। जैनेन्द्र की 'अपना पराया,' 'फाँसी' अथवा 'पाज़ेब' आदि पुरानी तरह की कहानियाँ हैं। लेकिन 'राजीव और उसकी भाभी,' 'बिल्ली बच्चा,' 'एक रात,' 'नीलम देश की राजकन्या' और 'रत्नप्रभा' उस नयेपन को और भी आगे बढ़ाती हैं।

इसी कड़ी में अज्ञेय की 'जीवनी शक्ति,' 'रोज़,' 'लेटर बक्स' और 'हीलीबोन की बतखें' आती हैं और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'हीलीबोन की बतखें' में यह शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

यशपाल ने पुराने वस्तु-सत्य को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और परखा। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने जहाँ तन और उसकी सहज आवश्यकताओं की गहराई में डुबकी लगा कर, खुर्दबीन से देखी जाने वाली मन की स्थितियों को अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से उजागर किया, वहाँ यशपाल ने शरीर और मन के साथ अर्थ को जोड़कर सामाजिक अथवा वैयक्तिक सम्बन्धों को परखा और उस परख के परिणाम हमारे सामने रखे। उनकी कहानी 'पराया सुख' उनकी कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और यशपाल की सूझ-बूझ अकाट्य तर्क और गहरी अन्तर्दृष्टि की परिचायक है।

और यों प्रेमचन्द के ज़माने ही से नयी कहानी पुरानी के साथ-साथ अपने नये शिल्प, शैली और दृष्टि को लिये हुए चलने लगी और यदि मैं कहूँ कि यह विकास अभी जारी है, नयी कहानी दो-चार दिशाओं में ही नहीं दशों दिशाओं में विकास कर रही है तो ग़लत न होगा। बेशुमार लेखक, जिनका नाम चाहे उतना सामने न आये, इस विधा में प्रयोग कर रहे है। लेखक का नाम (बार-बार सामने न आने के कारण) याद नहीं रहता, पर कहानी याद रह जाती है। यह प्रगति इतनी बहुमुखी है कि इसे शब्दों अथवा शब्दगत रूढ़ियों में बाँध पाना कठिन लगता है और किसी नयी दिशा में बढ़ने वाला हर कथाकार समझता है कि उसी की दिशा वास्तव में नयी है—पिछले दिनों 'नयी कहानी' के देहाती और शहरी पक्ष को लेकर जो शोर मचा, वह इसी धारणा का परिणाम था।

वास्तव में दो महायुद्धों ने संसार-भर को जैसे झकझोर कर रख दिया है। आज के

लेखक ने पूरे-के-पूरे राष्ट्रों को दूसरी जातियों अथवा राष्ट्रों से एक अंधी, क्रूर पाशविकता का व्यवहार करते हुए, एक अमानवीय कठोरता से उसे पददलित करते हुए, उनका अस्तित्व तक मिटाते हुए देखा और अजाने ही उसकी पुरानी मान्यताएँ बदल गयीं। ऐसी पाशविकता, ऐसी क्रूरता तो पहले कहानियों में कहीं नहीं थी : साहित्य में तो क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति के मन में भी ममता को खोज दिखाया जाता था। इस सामूहिक पाशविकता का कारण जानने के लिए समूह की इकाई—व्यक्ति—उसकी उत्पत्ति, विकास, उसके मनोभावों और उद्वेगों की ओर लेखक की दृष्टि गयी। डार्विन, मार्क्स और फ़्रॉयड ने इस काम में उनका पथ-निर्देश किया। एक ने मानव की उत्पत्ति, दूसरे ने उसके क्रिया-कलाप और तीसरे ने उसके मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं को बदल दिया और मानव के कृत्यों का कारण पशु से उसके विकास, मानव-समाज की ऐतिहासिक और आर्थिक यथार्थताओं अथवा उसके विकसित या अविकसित मन की गहराइयों में खोजा जाने लगा।

इस तेहरी दृष्टि से देखने पर पुराने माने हुए सत्य झूठे दिखायी देने लगे। —भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहनें अपने भाइयों से —हमारे यहाँ यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, दिनों-दिन बढ़ती कीमतों और देश के विभाजन के बाद, जब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, वरन माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की पालन-कर्ता बनीं; तो घर में उनकी स्थिति अनायास बदल गयी और बेरोज़गार भाइयों के लिए कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसे कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था। न केवल यह, बल्कि माता-पिता को भी उनके इस व्यवहार में कोई असंगति दिखायी नहीं दी। उषा प्रियम्वदा ने अपनी कहानी 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु-सत्य को नयी दृष्टि से परखा है। इसी बीच मैंने एक बंगला लेखक की कहानी पढ़ी, जिसमें बड़ा भाई, जो कोई छोटी-सी नौकरी करता है, लगातार बहन से रुपया हथियाता है और इस बात से डरता हैं कि वह किसी से प्रेम करके शादी न कर ले। बहन आखिर इस दुश्चक्र को तोड़ देती है और अपने मन चाहे युवक के साथ चली जाती है।

दसियों पुराने राजनीतिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक सत्य इस तेहरी दृष्टि के प्रकाश में झूठे दिखायी देने लगे। मानव की सद्वृत्तियों ही को देखते रहने के बदले, लेखक का ध्यान उसकी ग्रन्थियों, कुप्रवृत्तियों और स्वभाव की विषमताओं की ओर भी गया। जब पुरानी कहानियों के आदर्श पात्र और उनकी स्थितियाँ जीवन में कहीं दृष्टिगोचर न हुईं तो वैसी कहानियों से वितृष्णा होने लगी : लेखक के साथ-साथ पाठक भी कहानी से मनोरंजन को अपेक्षा कुछ अधिक की माँग करने लगे। तब गढ़े-गढ़ाये काल्पनिक कथानकों का जादू टूटा, कथाकार ने बदलते जीवन के तकाज़े को मान, पहले निर्वैयक्तिक यथार्थवादी

दृष्टि से मानव और समाज को देखा और ऐसी कहानियाँ लिखीं, जो जीवन का एक जीता-जागता, उसकी गति से स्पन्दित, खण्ड-मात्र दिखायी देती थीं। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द के वक्त ही से लिखी जाने लगी थीं : प्रेमचन्द की 'बड़े भाई साहब,' अज्ञेय की 'रोज़,' अमृत राय की 'कस्बे का एक दिन' ऐसी ही कहानियाँ हैं। नये कथाकारों में अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन,' इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।···फिर कथाकार ने वैयक्तिक दृष्टि से अपने पात्रों के अन्तर में झाँका और अर्धचेतन, उपचेतन और अचेतन तक में गोते लगा कर मानव की ग्रन्थियों, विकृतियों और कुप्रवृत्तियों से पर्दा उठाया। जैनेन्द्र की 'रत्नप्रभा' और अज्ञेय की 'ह्लीलीबोन की बतखें,' से लेकर मोहन राकेश की 'मिस पाल,' मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार,' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' और राजकमल चौधरी की 'बस स्टॉप' तक—इन कहानियों की लम्बी श्रृंखला है।···यही नहीं, नये कथाकार ने उस वैयक्तिकता में भी नि:संग दृष्टि अपनायी और अपने ही मन के भावों का एक निरपेक्ष द्रष्टा की तरह विश्लेषण करने का प्रयास किया। जितेन्द्र की 'ये घर : ये लोग' और राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' इसके उदाहरण हैं।

दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले, तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक-प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उपजाने वाली, गठी-गठाई कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु-यथार्थता, जटिलता, संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिये हुए[1] सीधे-सादे स्केच की-सी,[2] निबन्ध की-सी,[3] संस्मरण[4] अथवा यात्रा-विवरण[5] की-सी, कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों का गुम्फन मात्र,[6] वर्णनात्मक,[7] चित्रात्मक,[8] डायरी के पन्नों[9] अथवा पत्रों का रूप लिये[10] हुए, एक ओर लोक कथा और दूसरी ओर उपन्यास की हदों को छूती[11] हुई—तरह-तरह की कहानियाँ लिखी जाने लगीं। पहले कहानियों में उपमाओं का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी, अब उनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और

1. जिन्दगी और जोंक (अमरकान्त), जानवर और जानवर (मोहन राकेश) प्लाट का मोर्चा (शमशेर बहादुर सिंह)
2. खेल, लड़के (रघुवीर सहाय)
3. समाप्ति (जैनेन्द्र)
4. अंकल (रामकुमार), द्रौपदी (लक्ष्मीनारायण लाल)
5. पहाड़ की स्मृति (यशपाल)
6. ख़ुशबू (राजेन्द्र यादव), खिड़की (मलयज)
7. ख़ामोशी (कृष्ण बलदेव वैद)
8. निशाऽऽजी (नरेश मेहता)
9. तिष्यरक्षिता की डायरी (नरेश मेहता)
10. सईदा के ख़त (अमृत राय)
11. नीलम देश की राजकन्या (जैनेन्द्र), तथा नीली झील (कमलेश्वर)

प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिससे उनकी जटिलता और संश्लिष्टता बढ़ी। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे,' मार्कण्डेय की 'धुन,' राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या,' अमृतराय की 'मंगलाचरण' ऐसी ही कहानियाँ हैं। लेकिन कहानी के नये शिल्प में प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्रायः बाहर की स्थितियों को समझाने में सहायता देती हैं, बिम्ब और प्रतीक मन की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझाने के लिए पैरे और पृष्ठ रँगने की आवश्यकता होती है, वह मात्र एक बिम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।

लेकिन जैसे वस्तु और शिल्प के ये प्रयोग पुराने कथाकारों में भी मिलते हैं, वैसे ही गठी-गठाई, झटका देकर खत्म होने या मन में एक टीस-सी छोड़ देने वाली कहानियाँ नये कथाकारों ने भी लिखी हैं। मैं यहाँ नये कहाने वाले कथाकारों में से प्रत्येक के यहाँ से दो-दो कहानियाँ देता हूँ, जिन में से पहली पुरानी कहायेगी और दूसरी नयी। जैसे राकेश के यहाँ 'मलबे का मालिक,' और 'नये बादल,' राजेन्द्र यादव के यहाँ 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' और 'खुशबू,' रेण के यहाँ 'तीर्थोदक,' और 'मारे गये गुलफाम,' कृष्णा सोबती के यहाँ 'सिक्का बदल गया,' और 'गुलाब जल गंडेरियाँ,' मन्नू भण्डारी के यहाँ 'सियानी बुआ,' और 'यह भी सच है,' 'मार्कण्डेय के यहाँ 'गुलरा के बाबा,' और 'माही,' अमरकान्त के यहाँ 'डिप्टी कलेक्टरी,' और 'दोपहर का भोजन,' भीष्म साहनी के यहाँ 'चीफ़ की दावत,' और 'इमला,'। इन कहानियों को पढ़कर मालूम होगा कि ये तथाकथित नये कथाकार कुछ एकदम नये नहीं हैं 'पुराने' के साथ जुड़े हैं।

नये कथाकारों को मैं तीन श्रेणियों में बाँटना चाहूँगा :

1. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे दो-एक नये प्रयोग किये हों, लेकिन साधारणतः उनकी कहानियाँ नख से शिख तक चुस्त और दुरुस्त पुरानी शैली के पूरे मँजाव के साथ लिखी जाती हैं। इनमें राकेश, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, ऊषा प्रियम्वदा और शेखर जोशी प्रमुख हैं।

2. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे चार-छह कहानियाँ पुरानी शैली की लिखी हों, पर जिनका रुझान नये शिल्प और नयी वस्तु की ओर है। इनमें राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, राजकमल चौधरी और प्रयाग शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं।

3. वे कथाकार, जिन्होंने एकदम नया शिल्प और नयी वस्तु अपनायी है। इनमें रामकुमार, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, राजेन्द्र किशोर, मुद्राराक्षस, रणधीर सिन्हा, वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, शरद जोशी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

ऐसे बेगिनती नये कथाकार, जिनकी दो-एक कहानियाँ ही मैंने पढ़ी हैं (जिनकी कहानियों की तो याद है, पर लेखकों की नहीं) इन्हीं तीन श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं। दयानन्द अनंत या ऐसा ही कुछ नाम याद आता है, जिनकी

बड़ी ही सुन्दर नख-से-शिख तक दुरुस्त कहानी 'गुइयाँ गले न गले' मैंने पढ़ी थी और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की कहानी 'वेश्या नहीं बनूँगी' अभी पढ़ी है, जिसमें शिल्पगत नया प्रयोग है, यद्यपि कहानी उतनी अच्छी नहीं। इन सभी कथाकारों के सम्मिलित प्रयत्नों से नयी कहानी का जो रूप सामने आता है, वह उज्वल दीखता है। पुरानी परम्परा से हट कर लिखने वालों ने भी कुछ बड़ी सुन्दर कहानियाँ दी हैं—मार्कण्डेय की 'माही,' रामकुमार की 'हुस्ना बीवी,' निर्मल वर्मा की 'परिन्दे,' नरेश-मेहता की 'तथापि,' अमरकांत की 'दोपहर का भोजन,' राजकमल चौधरी की 'बस स्टाप'—इस कथन के प्रमाण हैं। एक खतरा अवश्य है कि नयी कहानी नयी कविता की तरह पश्चिम की वस्तु-स्थितियों और मनोभावनाओं को अपने ऊपर लाद कर दुर्बोध, दुर्गम और अवास्तविक न हो जाय! विशिष्टता के चक्कर में कुछ नये कथाकार इसका भी प्रयास कर रहे हैं। श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'टोर्सो' इसका उदाहरण है। उसका पुरुष न यहाँ का पुरुष लगता है, न युवती यहाँ की युवती। मार्कण्डेय की 'घुन' और अमृत राय की 'मंगलाचरण' का प्रतीक इतना दुर्बोध है कि लेखक के समझाये ही समझ में आता है और इस पर भी वह कथा से स्वतः निःसृत नहीं, ऊपर से लादा हुआ प्रतीत होता है। फिर पद्य तो आत्मरत होकर जी सकता है (तथापि इसमें मुझे संदेह है) लेकिन गद्य के लिए दुर्बोध होकर जीना मुश्किल है। अच्छी बात यही है कि इन कथाकारों में राकेश, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, ऊषा प्रियम्वदा आदि के रूप में ऐसे सक्षम कथाकार हैं, जो परम्परा से कटे नहीं, वरन पुरानी परम्परा के गुणों को अपनी शैली में समो कर नयी वस्तु को अत्यन्त मनोरंजक और हृदयग्राही ढंग से दे रहे हैं।

जहाँ तक विगत की तुलना में वर्तमान कहानियों के सामर्थ्य का प्रश्न है, पुराने कथाकार के नाते मेरे लिए उस पर कोई राय देना संगत नहीं है। नये कथाकारों और आलोचकों को 'कफ़न,' 'मनोवृत्तियाँ,' 'बड़े भाई साहब,' 'नशा,' 'एक रात,' 'रत्नप्रभा,' 'पाज़ेब,' 'राजीव और उसकी भाभी,' 'जीवनी शक्ति,' 'रोज़,' 'लेटर बक्स,' 'हीलीबोन की बतखें,' 'पराया सुख,' 'पहाड़ की स्मृति,' 'अपनी-अपनी जिम्मेदारी,' 'धर्मयुद्ध,' 'समय' जैसी उच्चकोटि की पुराने लेखकों की नयी कहानियाँ पढ़कर अपनी राय बनानी चाहिए। बड़ी झिझक के साथ मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि नये लेखकों की कुछ कहानियाँ इनके बराबर चाहे पड़ जायँ, पर इन से भारी कम ही पड़ेंगी। लेकिन साहित्य में तुलना कोई अच्छी चीज़ नहीं। एक सुन्दर रचना की तुलना दूसरी सुन्दर रचना से की ही नहीं जा सकती। केवल दोनों का रस लिया जा सकता है। नये कथाकारों में नये ढंग से बात कहने की जो ललक है, नये रूपाकार को ढूँढ़ने या अपनाने की जो छटपटाहट है, पुराने के प्रति जो खिजलाहट अथवा आक्रोश है, वह उनकी यौवन शक्ति का ही प्रतीक

है और इसीलिए आश्वस्त भी करता है। क्योंकि पुराने के प्रति आक्रोश और नये की खोज ज़िन्दगी का परिचय देती है। नये लेखकों में जो लोग प्रयोग को महज़ प्रयोग के लिए, अपनी विशिष्टता सिद्ध करने या दूसरों को चौंकाने के लिए लेंगे, वे शायद दूर तक नहीं जा सकेंगे, जो विभिन्न प्रयोग करके ऐसी शैली अपना लेंगे, जिसमें वे अपनी अनुभूतियों को अपने विशिष्ट ढंग से व्यक्त कर सकें और ज़िन्दगी भर टामकटोये न मारें, वे ज़रूर साहित्य पर अपनी शैली की अमिट छाप छोड़ जायेंगे।

इसके अतिरिक्त नये लेखक के लिए इस बात का भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह कैसा भी नया प्रयोग क्यों न करे, उसकी दृष्टि साफ़ रहे और जो वह कहना चाहता है, वह ज़रूर कह दे। यह नहीं कि वह कहना कुछ चाहे और छपी कहानी कुछ और कहे। 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' में ऐसी ही बात हुई है। कथ्य वहाँ बोधगम्य नहीं रहा और लेखक जो कहना चाहता है, वह नहीं कह पाया। कहानी की अन्तिम पंक्ति—'वह मेरी आत्मा की लाश थी' सारे कथ्य को झुठला देती है। मेरे ख़याल में आत्मा की हत्या करके जो आदमी लौटता, वह यह कहानी न कहता। हुआ वास्तव में यह कि कथा का नायक आत्म की हत्या करने गया था, पर आत्म की लाश नहीं, सजीव आत्म को अपने कंधे पर लादे लौट आया। सुभद्रा उसके अन्तर की माँ, याने सृजन-शक्ति याने आत्म, और भी गहरे में जायँ तो—आत्मा ही का प्रतीक है। उसने उसे छोड़ा कहाँ? ख़त्म कहाँ किया? डुबाया कहाँ? उसे तो वह लेकर चला आया है, अपने शिशुओं के लिए, याने अपनी रचनाओं के पालन-पोषण के लिए···ऐसा ही किंचित धुंधलापन मार्कण्डेय की 'घुन' में भी है, लेकिन राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानी 'खुले पंख : टूटे डैने' में थीम को बड़ी कुशलता से निभाया है और मार्कण्डेय की 'माही' छोटे होने पर भी, प्रयोग के नयेपन और संकेत (सज्जेशन) के अति सूक्ष्म होने के बावजूद, मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। क्योंकि जो बात मार्कण्डेय उस कहानी में कहना चाहता है, वह उसने बड़ी बारीकी, लेकिन पूरी सफ़ाई से कह दी है।

यहाँ एक बात बोधगम्यता के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ। कई बार कहानी उच्चकोटि की होती है, पर चूँकि पाठक उसे उस ध्यान से नहीं पढ़ता जिसकी यह अधिकारिणी होती है, इसलिए वह उसके मर्म पर उँगली नहीं रख पाता, यद्यपि सूत्र पा जाने पर वह बार-बार उसे पढ़ता है। लेखक मीठा हलवा बना कर कहानी पाठक के सामने रखे कि वह एक ही बार में उसे गटक जाय, बोधगम्यता के नाम पर ऐसी माँग मैं नहीं करता। कहानी जहाँ अपने ही शिल्प-गत दोष के कारण दुर्गम हो जाती है, वहीं मुझे शिकायत है; और 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' और 'घुन' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

जहाँ तक मेरे मत का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि सबसे महत्त्व की चीज़ वस्तु और उसे देखने वाली दृष्टि है। उसके बाद शिल्प का स्थान है। 1938 से '48 तक

उर्दू-कहानी में लगभग वे सभी प्रयोग किये जा रहे थे, जो कि आज हिन्दी में किये जा रहे हैं (कोई अन्वेषी बड़ी आसानी से उस वक्त की पत्रिकाओं को देख कर मेरे कथन की सच्चाई को जान सकता है) और उस वक्त आज की हिन्दी कहानी की तरह उर्दू कहानी की गति में बाढ़ पर आयी नदी का वेग था और कथाकारों की तीन पीढ़ियाँ एक ही वक्त में प्रतिस्पर्धा के साथ, सृजनरत थीं। नये-नये प्रयोग आये दिन हो रहे थे। ऐन उस वक्त मॉपासाँ और मॉम के शिल्प से प्रभावित होकर मंटों ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं और उसी पुराने-शिल्प को पूरी तरह अपना कर, अपनी वस्तु के नयेपन, दृष्टि की गहराई और गहन मानवीयता के साथ उर्दू कहानी साहित्य में अपने लिए अमर स्थान बना गया।

नये कथाकारों के सामने मैं मंटों की मिसाल रखना चाहता हूँ। शिल्प वे कोई भी अपनायें, यदि उनकी दृष्टि साफ़ और गहरी है, कहने के लिए उनके पास कुछ नया है, अपना है, अनुभूत है (चुराया या सयत्न अपने ऊपर लादा हुआ नहीं) और उनके हृदय में गहरी मानवीयता है, तो जो वे लिखेंगे, सीधा दिल पर असर करेगा) और हिन्दी साहित्य ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से विश्व साहित्य पर अपनी नक़्श छोड़ जायगा।

सीधी-सादी भाषा में संश्लिष्ट अभिव्यंजना

पुराने विचारों की लादी

इस बार मैं दिल्ली के लिए चला तो दूसरे दसियों कामों में से एक यह भी था कि मैं दिल्ली में कुछ नये कवियों से मिलूँगा और उनसे न केवल उनके काव्य के बारे में चर्चा करूँगा, वरन यदि सम्भव हुआ तो उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ भी सुनूँगा। इस सिलसिले में सबसे पहले मैं रघुवीर सहाय से मिला। मैंने उनकी कविताएँ सुनीं और उनके नये संग्रह **आत्महत्या के विरुद्ध** पर उससे चर्चा की। मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि उनके नये काव्य संग्रह को पढ़ना और उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ उनके मुँह से सुनना मुझे अपने में एक अनुभव लगा—इन अर्थों में कि इस तरह कवि को जानने से ज़्यादा अपने को समझने और इस प्रक्रिया में अन्य समकालीनों को जानने-परखने का अवसर मुझे मिला।

मैं शुरू ही में मान लूं कि रघुवीर सहाय के विरुद्ध मेरे मन में एक पूर्वाग्रह था। पूर्वाग्रह कई बार यों ही हो जाता है। अकारण। रघुवीर सहाय की कहानियाँ **खेल** और **लड़के** मैंने पढ़ी थीं। **खेल** तो जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने मेरे अनुरोध पर ही **संकेत : हिन्दी** के लिए लिखी थी। लेकिन उसके बाद कहीं (शायद उनके पहले संग्रह ही में) अज्ञेय का लेख पढ़ा, जिसमें हिन्दी के कथाकारों में उन्होंने केवल रघुवीर सहाय का नाम लिया था। तब लगा कि यह व्यक्ति गुटबन्द है। क्योंकि रघुवीर के समकालीनों में और भी अच्छे कथाकार हैं। लेकिन दोष शायद रघुवीर का नहीं, अज्ञेय का था। अज्ञेय अपने साथ जिन्हें रखते हैं, अमरबेल की तरह उन्हें छा और खा जाते हैं। यह बात नहीं कि पुराने लेखक को नयों की मदद नहीं करनी चाहिए, पर ऐसे नहीं कि उनकी प्रतिभा ही क्षीण हो जाय। बाल और पंख निकलें तो उन्हें खुले आकाश में छोड़ देना चाहिए, बल्कि उन्हें मुकाबले के लिए ललकारते रहना चाहिए ताकि उनके भी जौहर खुलें और इस स्पर्धा में अपने भी···फिर मैंने रघुवीर को देखा कई वर्ष पहले, जाने किसी कान्फ़रेंस के सिलसिले में, वे इलाहाबाद आये थे। मेरे मन में तो

पूर्वाग्रह था ही। मुझे वे सूरत-शक्ल से भी कवि नहीं लगे। हिन्दी कवियों में जब सामने निराला, पन्त, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और बच्चन हों तो रघुवीर सहाय कहाँ नज़र में चढ़ते और जब वे मेरे यहाँ एक गोष्ठी में आये तो हँसते हुए मैंने आवाज़ कसी—'आइए छोटे अज्ञेय जी।' और गोष्ठी कहकहा-ज़ार हो उठी। तभी मेरे कान में सुरेन्द्रपाल सिंह ने कहा : 'अश्क जी आप क्या करते हैं। अपने घर में आये मेहमान पर आवाज़ कसते हैं।' और उस वक्त, जब लोग हँस रहे थे तो मैं सतर्क हो गया और याद नहीं मैंने माफ़ी माँगी या क्या किया, पर रघुवीर सहज हो गये और उन्होंने गोष्ठी में एक कविता पढ़ी—जो बाद में उनके संग्रह—**सीढ़ियों पर धूप में में दुनिया** के नाम से छपी। रघुवीर सहाय को वह आज भी पसन्द है, पर मुझे वह अच्छी नहीं लगी। कविता के चार बन्द हैं और चारों के अन्त में एक-एक कर चार पंक्तियाँ यों आयी हैं :

दुनिया एक पपड़ियायी हुई-सी चीज़ हो गयी है
दुनिया एक चिपचिपायी हुई-सी चीज़ हो गयी है
दुनिया एक फफुँदियायी हुई-सी चीज़ हो गयी है
दुनिया एक बजबजायी हुई-सी चीज़ हो गयी है

मुझे तब वे तुकें न केवल भद्दी लगीं वरन आरोपित भी लगीं। चूँकि पहली पंक्ति में 'पपड़ियायी' लिख दिया, इसलिए 'चिपचिपायी', 'फफुँदियायी, और 'बज-बजायी' जैसे शब्द लिखने पड़े। यही नहीं, पहले बन्द में 'पपड़ियायी' से पहले एक पंक्ति में 'चुरमुरायी' भी हैं। इन शब्दों के अर्थों में, मेरे ख़याल से, वे बन्द मेल नहीं खाते थे।...

और मेरा पूर्वाग्रह और भी मज़बूत हो गया। रघुवीर मुझसे दूसरे दिन मिले। उन्होंने अपनी सफ़ाई भी दी, लेकिन मुझे उनकी बातों का यकीन नहीं आया।

1960 में रघुवीर का पहला संग्रह **'सीढ़ियों पर धूप में'** छपा तो मैं उसे खरीद लाया। पहली कुछ कविताएँ पढ़ीं—**यही मैं हूँ, शक्ति दो, मेरा एक जीवन है, क्षमा न दो, ज्वार** आदि...। मुझे न केवल उनमें अज्ञेय ही का रंग दिखायी दिया, बल्कि शीर्षक भी अज्ञेय से प्रभावित लगे। यही नहीं, 'अनाहत जिजीविषा,' 'सुहृद,' 'सर्वत्र', 'विशालतर करुणा,' 'विगलित मन,' 'सम्पृक्त हृदय' —अनेक अज्ञेयिअन शब्द और :

तट पर रख कर शंख सीपियाँ चला गया हो ज्वार हमारा
या
जब हम कर सब, चुके हुए हों; सह सब, चुके हुए हों;
जब हम कह सब, चुके हुए हों।

जैसी पंक्तियाँ भी उन्हीं के रंग की लगीं।...और पहली चार-पाँच कविताएँ देख कर मैंने पृष्ठ पलटे तो कम्बख्त मेरी निगाह उसी कविता—**दुनिया**—पर जा पड़ी और वही वस्तु से बेमेल और फूहड़ शब्द 'चिपचिपायी हुई,' 'फफुँदियायी

हुई, और बजबजायी हुई'…और मैंने पुस्तक उठाकर रख दी; आज से पहले फिर नहीं उठायी और मेरा पूर्वाग्रह बदस्तूर बना रहा।

अभी दिल्ली आने से कुछ दिन पहले मैं एक शाम सिविल लाइन्ज़, 'नीलाभ प्रकाशन' के दफ़्तर गया तो मैनेजर ने रघुवीर सहाय का नया संग्रह मेरे हाथों में थमा दिया कि देखिए, यह नया काव्य-संग्रह आया है, कहिए तो घर भिजवा दूं? मैंने एक-दा कविताएँ वहीं खड़े-खड़े पढ़ीं और उसे वापस दे दिया।

दूसरे दिन दूधनाथ सिंह से मुलाकात हुई तो **आत्महत्या के विरुद्ध** की बात चल पड़ी। मैंने कहा, "यों ही है। रघुवीर सहाय कवि के रूप में मुझे कभी अच्छा नहीं लगा।"

"नहीं अश्क जी, मुझे तो पसन्द है।" दूधनाथ सिंह ने कहा, "आपने ध्यान से पढ़ा नहीं होगा! …"

उसी शाम मैंने दफ़्तर फ़ोन किया कि रघुवीर का वह नया संग्रह भिजवा दें। शाम को संग्रह आ गया और मैं पढ़ने लगा। लेकिन पहली ही कविता पर मेरी दृष्टि अटक गयी:

> यानी कि आप ही सोचें कि जो कवि नहीं हैं
> कि लोग एक तरफ़ और मैं एक तरफ़
> और मैं कहूँ कि तुम सब मेरे हो,
> पूछिए, कौन हूँ मैं?

'यह क्या कि-कि लगा रखी है?' मैंने मन-ही-मन कहा और मैंने चार में से तीन 'कि' उड़ा कर कविता फिर पढ़ी:

> याने आप ही सोचें, जो कवि नहीं हैं
> कि लोग सब एक तरफ़ और मैं एक तरफ़
> और मैं कहूँ—तुम सब मेरे हो,
> पूछिए कौन हूँ मैं।

और सच्ची बात है कि यदि दूधनाथ सिंह ने कविताओं की प्रशंसा न की होती तो मैं संग्रह उठा कर अलग रख देता। लेकिन उन दिनों हर सुबह मैं घूमता हुआ दूधनाथ सिंह के यहाँ जाया करता था, इसलिए मैं कुछ और कविताएँ सरसरी नज़र से पढ़ गया।

दूसरे दिन दूधनाथ ने पूछा तो मैंने कहा, "सरसरी नज़र पढ़ गया हूँ। ही इज़ जस्ट ट्राइंग टू बी स्मार्ट!"

"केवल इतना ही नहीं है।" दूधनाथ ने कहा।

"मुझे **नयी हँसी** कविता अच्छी लगी," मैंने कहा, "हालाँकि उसमें मुझे इन पंक्तियों पर एतराज़ है:

> जब मिलो तिवारी से—हँसो—क्योंकि तुम भी तिवारी हो
> जब मिलो शर्मा से—हँसो—क्योंकि वह भी तिवारी है।"

"क्या एतराज़ है ?" दूधनाथ ने कहा।

मैंने कहा :

"जब मिलो सक्सेना से—हँसो—क्योंकि तुम भी सक्सेना हो
जब मिलो वर्मा से—हँसो—क्योंकि वह भी सक्सेना है।

"ऐसा क्यों नहीं है ? इसलिए कि कवि कायस्थ है ?"

"नहीं, ऐसा शायद अनजाने है," दूधनाथ ने कहा, "रघुवीर सहाय ने कायस्थों पर भी बराबर चोट की है—। 'चित्रगुप्त के दाँत फाड़ कर निकला दिन' कुछ ऐसा भी उसने लिखा है। और अन्तिम कविता में, आप पढ़िएगा कुछ पंक्तियाँ हैं :

"अब नहीं हो सकता कोई लेखक महान
पहले तो बाम्हन होंगे, फिर ठाकुर होंगे
फिर बारी आयेगी चमारों की
तब तक चमार कायथ न बन गये होंगे।

"आपने पुस्तक ध्यान से नहीं पढ़ी। जातिवाद रघुवीर में नहीं है। ध्यान से पढ़िएगा तो कुछ कविताएँ आपको ज़रूर अच्छी लगेंगी।"

"मैं दिल्ली जा रहा हूँ।" मैंने कहा, "मैं संग्रह साथ लेता जाऊँगा और आ कर विस्तार से बात करूँगा।"

दिल्ली मुझे तीन महीने के लिए आना था, इसलिए मैं रघुवीर की ही नहीं, दूसरे कई कवियों की पुस्तकें साथ लेता आया। और मैंने रघुवीर सहाय को फिर से ध्यान से पढ़ा।

तब मुझे लगा कि अपने पूर्वाग्रह में **सीढ़ियों पर धूप में** की चार-पाँच कविताएँ पढ़ कर और **दुनिया** की 'चिपचिपाहट' और 'बजबजाहट' से घबराकर जो मैंने संग्रह फेंक रखा था, वह मेरी ही ग़लती थी। वास्तव में उस संग्रह का काव्य-खण्ड (क्योंकि संग्रह में तो कहानियाँ और लेख भी हैं) दो तरह की कविताओं में बँटा हुआ है और चाहे यह अनजाने हुआ हो या जाने, **दुनिया** के पहले की कविताओं में अज्ञेय का कोई-न-कोई शब्द, शीर्षक, वाक्यांश, अथवा शैली का प्रभाव दिखायी दे जाता है। बाद की कविताओं में रघुवीर सहाय उस प्रभाव से मुक्त हैं और लगता है कि उस ठण्डी, बौद्धिक करुणा, दया, व्यथा, दर्द और उन सारे आरोपित भावों से (जो अज्ञेय की अधिकांश कविताओं की विशेषता है) रघुवीर ने अपना दामन बरबस छुड़ा लिया है। कुछ अजीब-सा चुलबुलापन, कुछ विचित्र गर्माहट, एक तीखा व्यंग्य, सामाजिक परिवेश का मज़ाक उड़ाने और अपने पुरानेपन से बरबस अपने को तोड़ लेने का सजग प्रयास इन बाद की कविताओं में स्पष्ट दिखायी देता है :

आखिर कब तक यों ही धोता रहूँगा मैं
दूसरों के मैले विचारों की लादी
अथवा शिवलिंग-सा होकर प्रतिष्ठित यहाँ

सोचता रहूँगा, 'क्यों करूँ मैं शादी ?'

'इतने में किसी ने' नामक कविता में उपरोक्त पंक्तियाँ अजाने ही नहीं आ गयीं। एक जाने-समझे-सोचे प्रयास से उद्‌भूत हैं।

और तब मुझे ख़याल आया कि वर्षों पहले, मेरे घर गोष्ठी में रघुवीर सहाय ने यों ही वह कविता सुनायी थी—शायद वे परोक्ष रूप से बताना चाहते थे कि आप लोग अन्याय करते हैं···अज्ञेय मेरे मित्र हो सकते हैं, पर मैं उनसे भिन्न हूँ। अज्ञेय की सुरुचि इन शब्दों को अपने काव्य में नहीं रख सकती, जबकि मैं रख सकता हूँ :

लोग ज़्यादातर वक्त संगीत सुना करते हैं
पर साथ-साथ और कुछ ज़रूर करते रहते हैं
मर्द मुसाहबत किया करते हैं, बच्चे स्कूल का काम
औरतें बुना करती हैं—दुनिया की सब औरतें मिल कर
एक-दूसरे के नमूनों वाला एक अनन्त स्वेटर
दुनिया एक चिपचिपायी हुई-सी चीज़ हो गयी है।

ये पंक्तियाँ निश्चय ही अज्ञेय के सारे ठण्डे, सोचे, अभिजात भाव-बोध से भिन्न हैं और किंचित ध्यान से पढ़ने पर **दुनिया** के बाद संग्रह की कविताओं में मुझे कई बहुत अच्छी लगीं—विशेषकर **धूप, चाँद की आदतें, आज फिर शुरू हुआ** और **बसन्त** पर लिखी हुई विभिन्न कविताएँ। यही नहीं, संग्रह की अन्तिम कुछ कविताएँ ऐसी लगीं जो **आत्महत्या के विरुद्ध** की कविताओं का पूर्वाभास देती हैं।

अपने परिवेश का चितेरा

'सीढ़ियों पर धूप में' के बाद रघुवीर सहाय का नया संग्रह—**आत्महत्या के विरुद्ध** पूरे सात वर्ष बाद आया है। दिल्ली आते हुए रास्ते में उसे मैंने फिर से पढ़ा, दिल्ली पहुँच कर मैंने रघुवीर से वर्षों पुराना परिचय फिर ताज़ा किया और जैसा कि मैंने शुरू में कहा, उनके रामकृष्णपुरम के निवास-स्थान पर जाकर उनके मुँह से संग्रह की लम्बी कविता (जिसके शीर्षक पर ही संग्रह का नाम रखा गया है) उनके मुँह से सुन आया। छह फरवरी को श्रीमती शीला सन्धू के यहाँ एक छोटी-सी गोष्ठी थी। उसमें न केवल वह कविता, बल्कि कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कविताएँ भी मैंने कवि के मुँह से सुनीं। यद्यपि रिंग रोड से कार में घर आते हुए कुछ मित्रों ने मुझसे कहा कि रघुवीर महज़ पत्रकार है और जो प्रयोग उसने किये, उन्हें श्रीकान्त पहले कर चुका है और मैं कोई राय बनाने से पहले श्रीकान्त को भी पढ़ूं। लेकिन मुझे लगा कि अपने इस नये संग्रह में रघुवीर का कवि न केवल अज्ञेय से बहुत दूर निकल आया है और उसने अपनी एक अलग आइडेंण्टिटी बना ली है, वरन् अपने साथी कवियों से भी वह नितान्त भिन्न है। यदि उसमें अज्ञेय का ठण्डापन नहीं तो श्रीकान्त वर्मा की अनास्था भी नहीं;

न कैलाश वाजपेयी का, अन्धी गली तक पहुँचा देने वाला नैराश्य है; न राजीव सक्सेना जैसी दर्शन की खोज; न **विजप** के कवियों का ऐसा आरोपित प्रतीकवाद, सैडिज़्म, जिघांसा और दूसरे ऐसे जज़्बे, जिनमें तमाम पच्चीकारी और इमेजरी और उड़ानों के बावजूद इस देश की बू-बास नहीं। मुझे लगा—रघुवीर सहाय एक ऐसा कवि है, जो न केवल इस देश का है, बल्कि अपने तमाम परिवेश से जुड़ा हुआ है। उसकी कविताओं की बिनावट भी मुझे अपने पूर्ववर्ती और समवर्ती कवियों से भिन्न लगी।···**आँगन के पारद्वार** में **चक्रान्त शिला** की कविताओं को छोड़ कर, जिनमें अज्ञेय, सुमित्रानन्दन पन्त के अनुकरण में दैनन्दिन ज़िन्दगी से कट कर अध्यात्म की ऊँचाइयों या गहराइयों में चले गये हैं, उनके यहाँ वैसी अस्पष्टता कभी नहीं रही। **पूछ लूं मैं नाम तेरा** से लेकर **जनाह्वान, मैं वहीं हूँ, हरी घास में क्षण-भर, ओ पिया पानी बरसा, नदी के द्वीप, यह दीप अकेला, शोषक भैया** और **असाध्य वीणा** तक अज्ञेय की अनेक कविताओं में जो मुझे याद हैं, सीधी अभिव्यक्ति का गुण है। लेकिन रघुवीर के यहाँ मुझे लगा कि सीधी और सरल दिखायी देने पर भी वह अभिव्यक्ति गूढ़ है, संश्लिष्ट है और उस तक पहुँचने के लिए कविता को बार-बार पढ़ना ज़रूरी है, क्योंकि न केवल रघुवीर का कवि इम्प्रेशन-पर-इम्प्रेशन दिये जाता है और एक ही फलाँग में एक मध्यवित्त परिवार के डिब्बा-बन्द (रेडियो के) शोर से ऊबे कमरे से (जहाँ वह कविता की पंक्ति का एक-एक शब्द एक-एक चित्र खींचता हुआ चला जाता है) वहाँ ले जाता है, जहाँ अकादमी की महा परिषद जब अनन्त बैठकों के बाद और कुछ नहीं कर पाती तो ऊब का स्तर निश्चित कर देती है। फिर दूसरी फलाँग में वह नगर निगम के त्योहार और मन्त्री मुसद्दीलाल तक पहुँचा देता है और वहाँ से जयपुर के कांग्रेस अधिवेशन में उदास बैठे हुए अजय (मुखर्जी) और फिर पिटे हुए नेता के पिटे हुए अनुचरों तक ले जाता है। फिर अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते कवि और नन्हें बच्चे; राजधानी और छटपटाते कस्बे; नेहरू युग की घिसी हुई चूड़ियों से जूझते मिस्त्री-परिवार और अस्पताल, फिर विद्रोह करती भीड़ और गोली से मरते जवान—वह कहाँ-से-कहाँ पाठक को नहीं ले जाता। कई बार वह किसी पंक्ति के मध्य में आये किसी शब्द के सहारे दृश्य बदल देता है।···और कहीं एक भी शब्द या वाक्यांश या मुहावरा कठिन नहीं। रघुवीर सहाय की इस सरल दीखने वाली अभिव्यक्ति में अद्‌भुत कौशल है, जैसा उनके समवयस्कों में किसी के यहाँ दिखायी नहीं देता। लेकिन भाषा के ये प्रयोग ही रघुवीर की एकमात्र उपलब्धि हों (चाहे रघुवीर के मित्र इसी को बहुत बड़ी उपलब्धि मानते हैं) मैं नहीं मानता, क्योंकि भाषा अपने में कुछ नहीं। वही भाषा, वही शब्द किसी दूसरे के हाथों में बेजान और हास्यास्पद हो जाते हैं। मैं मासिक जन के आलोचक से सहमत हूँ कि रघुवीर सहाय की कविताओं का सुख केवल भाषा का सुख नहीं—'इन शब्दों के साथ एक संसार जुड़ा हुआ है और यथार्थ जुड़ा हुआ है।'···

जब मावलंकर हॉल, नयी दिल्ली में, 'परिवेश और सर्जनात्मक साहित्य' सम्बन्धी परिसंवाद की तीसरी बैठक में मोहन राकेश बड़े दर्द से, (जो उनकी वाणी और चेहरे के हाव-भाव में ही नहीं, उनके शरीर की ऐंठन तक में परिलक्षित था, और जिस दर्द का **दिनमान** में विशेष उल्लेख किया गया) कह रहे थे कि वे अपने परिवेश से किसी तरह तादात्म्य नहीं स्थापित कर पा रहे और हर दिन नहीं, बल्कि हर घड़ी उनके सामने यह प्रश्न आता है कि वे क्या लिखें तो मेरे सामने रघुवीर सहाय की नयी कविताओं में से कई सन्दर्भ सिनेमा के चित्रों की तरह आ रहे थे:

कल मैंने उसे देखा लाख चेहरों में एक वह चेहरा
कुढ़ता हुआ और उलझा हुआ वह उदास कितना बोदा
वही था नाटक का मुख्य पात्र

लौट आओ फिर उसी खाते-पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता पिटे अनुचर बुलाते हैं

अस्पताल में मरीज़ छोड़कर आ नहीं सकता तीमारदार
दूसरे दिन कौन बतायेगा कि वह कहाँ गया

गोल शब्दकोष में अमोल बोल तुतलाते
भीमकाय भाषाविद हाँफते डकारते हँकाते
अँगरेज़ी की अवध्य गाय
घण्टा घनघनाते पुजारी जयजयकार
सरकार से करार जारी, हज़ार शब्द रोज़

अध्यापक याद करो किसके आदमी हो तुम
याद करो विद्यार्थी तुम्हें आदमी से
एक दर्जा नीचे
किसका आदमी बनना है—दर्द ?

भीड़ भौंचक्क भीड़ धाँय धाँय
सौ हज़ार लाख दर्द आठ-दस क्रोध
तीन चार बन्द बाज़ार भय भगदड़ गर्द
लाल
छाँह धूप छाँह, नहीं घोड़े बन्दूक
धुआँ खून खत्म चीख···

आज की ज़िन्दगी के, अपने परिवेश के, हर कोण, हर रंग के दसियों सन्दर्भ रघुवीर सहाय की कविताओं से निकलकर मेरे दिमाग़ में कौंध गये ।

राकेश इस परिवेश से भागकर इतिहास के पन्नों की कोरी काल्पनिकता में कालिदास और राजा नन्द के प्रेमाख्यानों में त्राण पाते हैं और नये कवियों का एक पूरे-का-पूरा तबका सेक्स और सैडिज्म की गहरी अमोक घाटियों में, जबकि रघुवीर सहाय का कवि अपने सामान्य जीवन में जिस ज़िन्दगी का साक्षात्कार पत्र-प्रतिनिधि के रूप में करता है, उसे इतने सशक्त ढंग से काव्य का विषय बना लेता है। अपने परिवेश और विसंगतियों का रोना अपनी ही अक्षमता का ऐलान करना है। जो सक्षम हैं, वे उस परिवेश को अपनी कला के माध्यम से सजीव कर देते हैं। किसी फ्रान्सीसी कलाकार का कहना है कि हर पत्थर किसी विशेष मूर्ति में ढलने के लिए बेताब रहता है, इस तरह हमारे परिवेश का हर सन्दर्भ, हर घटना साहित्य का अंग बन सकती है, यदि सक्षम हाथ उसे वहाँ से कलम की नोक पर रख दें।

आत्महत्या के विरुद्ध में कुछ कविताएँ अत्यन्त सशक्त बन पड़ी हैं—**मेरा प्रतिनिधि, आत्महत्या के विरुद्ध, शराब के बाद का सबेरा, गिरीश की मृत्यु, स्वाधीन व्यक्ति**, बार-बार पढ़ने पर भी मुझे अच्छी लगीं और हर बार नये अर्थ दे गयीं।

रघुवीर का कवि भीड़ को पसन्द नहीं करता, लेकिन उसके दिल में भीड़ के लिए—उसकी बेबसी, मूर्खता, सहिष्णुता, भेड़-चाल, ठगे जाने, सहते जाने की अपरिमित क्षमता के प्रति अपार क्रोध है।

एक मेरी मुश्किल है जनता
जिससे मुझे नफ़रत है सच्ची और निस्संग
जिस पर मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।

और भीड़ के प्रति इस क्रोध को व्यक्त करने के लिए कवि ने बड़े तीखे व्यंग्य को साधा है और भीड़ के सम्बन्ध में उसका व्यंग्य सारे संग्रह में जहाँ-तहाँ दिखायी दे जाता है :

मरते मनुष्यों के मध्य खड़ा मक्कार मंत्री
कहता है सविश्वास
सरकार सिंचाई करे
सुनते हैं लड़के, अधेड़ पढ़ते हैं, याद करते हैं बूढ़े
यह विचार, अखबार सीने पर धर जाता है लोहे के
अक्षरों में एक धौंस, कोई छटपटाता नहीं।

भीड़ में एक मैलखोरा रंग
कुम्हलाये चेहरे, राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत हाजमे
ठुड्डियाँ

ख़ून का दौरा, निजी बाल,
निजी बग़ल शहर में
इन्सान एक ठोस व्यक्ति है और खोखला शब्द
गाँव में एक खोखला पिंजर है और एक खोखला शब्द

और इस व्यंग्य के निश्तर को रघुवीर सहाय ने हमारे सामाजिक और राजनीतिक और सांस्कृतिक व्रणों पर बड़ी निर्ममता से इस्तेमाल किया है और उन्हें बेबाकी और बेदर्दी से खोल कर रख दिया है। कविताओं की पंक्तियाँ कहीं-कहीं देश की स्थितियों का ऐसा यथार्थ चित्रण करती हैं कि अनायास दाद देने को जी चाहता है :

जो मुझसे नहीं मरा
शत्रु वह समाज में मृत्यु के नये प्रकार
खोजता रहेगा ! अत्याचार अगले कुछ वर्षों में
और भी अनायास होगा
विद्रोह और भी काइयाँ

बाँध में दरार
पाखण्ड वक्तव्य में
घटतौल न्याय में
मिलावट दवाई में
नीति में टोटका

सबसे बड़े नेता के बूढ़े हो जाते ही
लग लेगा पीछे एक कम बूढ़ा
जाने किस वक्त मर जाय जो ज़्यादा बूढ़ा है

बनिया बनिया रहे
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे
पर जब कविता लिखे आधुनिक हो जाये

कहीं-कहीं पंक्तियाँ सूक्तियों का रूप धर गयी हैं, लेकिन व्यंग्य उनमें भी तीखा है :

जिसको आगे चल कर रामराज करना है
दाँत माँज रखता है मुस्काने के लिए

संघ रहे संघ रहे उसने कहा
भारत का। चाहे हर भारतीय हर भारतीय का
ग़ुलाम रहे।

भाषा को मन्दिर में मत बन्द करो
उसे बोलो !

मुझे पूरा विश्वास है कि जो भी पाठक अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर रघुवीर सहाय की नयी कविताएँ पढ़ेगा, उसे इनमें रस के अलावा बहुत कुछ मिलेगा। अपने परिवेश में कुछ भी लिखने योग्य न समझने वाले अक्षम लेखकों और कवियों के लिए रघुवीर सहाय की कविताएं चुनौती के रूप में आयेंगी। अपने परिवेश से विद्रोह कर, जो कवि ज़िन्दगी को जीने योग्य नहीं समझते और आत्महत्या को ही एकमात्र रास्ता समझते हैं अथवा सेक्स की गहरी अमीक घाटियों में जा मुँह छिपाते अथवा मन बहलाते हैं, वे आत्महत्या के विरुद्ध में विद्रोह और अभिव्यक्ति की नयी राहें पायेंगे और प्रसाद, पन्त, महादेवी की भाषा की ज़ंजीरों में जकड़े हुए और अपने हाथों अपना गला घोंटते हुए कवि-मुक्ति का नया मार्ग !

आधुनिकता : खोटी और खरी

मेरे सामने तीन आधुनिक नाटक पड़े हैं। **आधे-अधूरे**, **बाकी इतिहास** और **चिन्दियों की एक झालर**। हिन्दी में पिछले दिनों इनमें से पहले दो की ख़ूब चर्चा हुई है और तीसरा लगभग गुमनाम रह गया है। मैं तीनों को दोबारा पढ़ गया हूँ और जैसा कि मुझे पहले लगा था, **चिन्दियों की एक झालर** कुल मिला कर पहले दोनों से बेहतर है। क्योंकि जहाँ **आधे-अधूरे** की थीम ज़ोरदार है (भले ही नाटककार ने उसका निभाव संतोषप्रद ढंग से न किया हो), **बाकी इतिहास** का रूपबन्ध निर्दोष है (चाहे उसकी थीम कमज़ोर और वस्तु काल्पनिक हो), वहाँ **चिन्दियों की एक झालर** में विचार, वस्तु और शिल्प तीनों का सुन्दर और सन्तोषप्रद समन्वय हुआ है। जब मैं यह देखता हूँ कि **चिन्दियों की एक झालर** लेखक का पहला नाटक है तो अनायस ही उसे दाद देने को जी होता है।

आधे-अधूरे का पिछले वर्ष बहुत शोर रहा है। उसे राकेश ने लिखा है और राकेश नये कथाकारों में सर्वाधिक चर्चित रहा है। उसने कुल तीन नाटक लिखे हैं। उसे दो बार संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कार मिला है और उसका तीसरा नाटक **आधे-अधूरे** (यद्यपि पुरस्कार उस पर नहीं मिला) पर पुरस्कार के अवसर पर संगीत नाटक अकादमी की ओर से उसे खेला गया और प्रकाशक, लेखक और उनके मित्रों ने यह आभास दिया कि इसी पर पुरस्कार मिला है। संगीत नाटक अकादमी की ओर से अनुदान दे-दे कर इसे जगह-जगह खेलाया गया। चूँकि इसकी पहली प्रति **धर्मयुग** के सम्पादक और उनकी पत्नी को समर्पित है, इसलिए **धर्मयुग** के पन्ने इसके प्रचारार्थ बड़ी उदारता इसे खोल दिये गये। से ओम शिवपुरी ने प्रोड्यूस किया और ओम शिवपुरी नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के के भाग्य-विधाता अलकाज़ी के प्रिय शिष्य हैं, इसलिए विशेष रूप से अलकाज़ी ने इसकी चर्चा की। चूँकि हमारे एक मिनिस्टर भी लेखक पर मेहरबान हैं, इसलिए सरकार ने इसके लिए अनुदान दिया और इसकी फ़िल्म भी बनी और इस तरह किसी रचना की सामाजिक और व्यवसायिक सफलता के लिए जितने उपकरण चाहिए, वह इसे उपलब्ध हुए और पिछला वर्ष लगभग आधे-अधूरे का वर्ष रहा है। इस स्थिति में जहाँ राकेश के भाग्य से ईर्ष्या होती है और

उसकी व्यवहार-कुशलता, कार्यपटुता और तेज़ी पर अनायस दाद देने को जी चाहता है, वहाँ इस बात पर खेद होता है कि जितना श्रम और सूझ-बूझ उसने इतने सारे लोगों को पटाने और नाटक को जमाने पर लगायी, उसकी आधी भी नाटक पर लगायी होती तो नाटक उच्चकोटि का बनता और उसके लिखने वाले से रश्क होता। अब नाटक आधा-अधूरा रह गया है और इसका अफ़सोस है। क्योंकि इन पंक्तियों के लेखक को राकेश से बड़ी आशाएँ थीं। लेकिन जिस प्रकार इधर उसने कहानी हो, उपन्यास हो अथवा नाटक-रचना, लिखने पर ज़ोर लगाने के बदले उसे जमाने पर ज़ोर लगाया है और साहित्य को साध्य नहीं साधन बनाया है, उससे उसके स्रष्टा के प्रति आस्था डिगने लगी है। कोई लेखक यदि साहित्य उच्चकोटि का लिखता है और फिर उसे जमाने के लिए दुनिया-जहान का ज़ोर लगाता है तो किसी को कोई शिकायत न होनी चाहिए, वरन् उसकी प्रतिभा की दाद देनी चाहिए। पर आदमी रचना द्वितीय कोटि की करे और उसे जमाने में ज़मीन-आसमान के कुलावे मिला दे तो सिवा अफ़सोस के और क्या हो सकता है, क्योंकि साहित्य-क्षेत्र बेहद बीहड़ और आने वाले पाठक नितान्त निर्मम होते हैं और तमाम शोर-शराबे के बावजूद रचना को उसी स्थान पर रख देते हैं जो कि वास्तव में उसका होता है। **आधे-अधूरे** को दोबारा ध्यान से पढ़ने पर यह खेद और भी ज्यादा हुआ कि नाटक में एक उच्चकोटि की रचना बनने की पूरी सम्भावनाएँ थीं, लेकिन नाटककार ने इतर सरगर्मियों में व्यस्त रहने के कारण उस पर पर्याप्त श्रम नहीं किया।

सबसे पहला घपला यह हुआ है कि नाटककार उसकी थीम के सन्दर्भ में अपने दिमाग में विभ्रम-रहित नहीं रहा। हम सब अधूरे हैं, पूरे नहीं हैं। यह थीम अपने में बहुत अच्छी है, लेकिन नाटक में इसका निर्वाह नहीं हुआ और नाटक की वस्तु पर, बिना यह देखे कि यह थीम उस पर फ़िट बैठती है या नहीं, इसे निहायत भौंड़े ढंग से का० सू० वा० के स्वगत-भाषण द्वारा थोप दिया गया है। हुआ यह है कि नाटक की वस्तु नाटककार ने जीवन से ली है और थीम तथा-कथित बौद्धिकता द्वारा उस पर ओढ़ा दी है। वह वस्तु से उद्भूत नहीं हुई। इसीलिए नाटक अधूरा रह गया है।

नाटक को ध्यान से पढ़ने पर मुझे उसमें तीन स्पष्ट थीम्ज़ दिखायी देती हैं :

(1) हम सब पूरे नहीं, अधूरे हैं; निश्चित नहीं, अनिश्चित पात्र हैं। यह आधारभूत विचार एम्बिशस (महत्त्वाकांक्षी) हैं, इसके निर्वाह के लिए कोई दूसरा ही नाटक लिखा जाता तो यह अभिव्यक्ति पाता। अब, जैसा कि मैंने कहा, वह नाटक पर ऊपर से ओढ़ाया गया लगता है और इसीलिए झुँझलाहट होती है।

(2) दूसरी थीम पात्र को लेकर है। एक आत्मकेन्द्रित महत्वाकांक्षिणी स्त्री है, जो ज़िन्दगी से बहुत कुछ चाहती है। वह सुन्दर, चंचल और एग्रेसिव है। वह एक उदार और हँसमुख ऐसे व्यक्ति से विवाह करती है, जो उसे बहुत

चाहता है और उसकी मांगें पूरी करने में वह तबाह हो जाता है। स्त्री उससे नफ़रत करने लगती है और एक के बाद एक व्यक्ति की ओर झुकती है और किसी से संतुष्ट नहीं हो पाती। और अन्ततः सभी द्वारा ठुकरा दी जाती है और वहीं उसका असफल पति (जो घर छोड़कर चला गया है और जिसे छोड़कर वह पूर्व-प्रेमी के साथ जाने की सोचती है) उसके पास आ जाता है।

यह सीधी-सादी घरेलू ट्रैजिडी है। यह कहा जाय कि यह एक ऐबनार्मल महत्त्वाकांक्षिणी स्त्री की ट्रैजिडी है। नाटककार ने यदि अपने आप को इसी तक सीमित रखा होता; बौद्धिकता के चक्कर में उस पर निरर्थक लबादे न ओढ़ाये होते; नाटक का नाम—'सावित्री : एक अधूरी नारी' या कुछ ऐसा ही रखा होता और फ़ैशन के मोह अथवा प्रयोग के चक्कर में इसे बिगाड़ा न होता तो इस पात्र में इतनी शक्ति थी कि उसको लेकर लिखा गया नाटक इब्सन के **हैंड गेबलर** की तरह अद्भुत नाटक बनता। सावित्री में इतनी जान है और वह पात्र इतना सच्चा है कि उसे ठीक से उकेरा गया होता तो वह मन पर अमिट छाप छोड़ जाता। अब जो लाइट कि उसी पात्र पर केन्द्रित रहनी थी, बिखर गयी है, इसलिए नाटक असन्तुष्ट करता है। वे पुरुष अधूरे नहीं हैं। स्त्री अधूरी है। पूरे-से-पूरा पुरुष भी (जैसा कि जुनेजा, पुरुष-4 कहता है) उसके साथ अधूरा उतरता। इसलिए पहली थीम इस वस्तु पर फ़िट नहीं बैठती और दूसरी पूरी तरह अभिव्यक्ति नहीं पाती।

(3) नाटक में एक तीसरी थीम और सम्भावनाओं से भरा एक तीसरा पात्र भी है। वह है बिन्नी—बड़ी लड़की! यह पात्र और उससे सम्बन्धित थीम भी नाटककार ने जीवन से ली है, पर प्रस्तुत नाटक में न वह थीम अभिव्यक्ति पाती है और न वह पात्र कोई रूप ग्रहण कर पाया है। जीवन में सच्ची होते हुए भी बड़ी लड़की नाटक में नितान्त झूठी और छठी उँगली की तरह निरर्थक हो गयी है। उसे लेकर अत्यन्त सशक्त नाटक लिखा जा सकता था।

आधे-अधूरे में बिन्नी सावित्री की बड़ी लड़की है। सावित्री अपने पति से ऊब कर मनोज को चाहने लगती है। मनोज वहाँ आता रहता है और एक रात वह बड़ी लड़की को भगाकर ले जाता है। लेकिन बिन्नी मनोज के साथ सुखी नहीं रह पाती। वह माँ के घर वापस आ जाती हैं। उसके पति को शिकायत है कि वह माँ के घर से कुछ ऐसी चीज़ ले गयी है, जो उनकी खुशी के मार्ग में बाधा है और बिन्नी वापस आकर माँ से निहायत मैलोड्रेमेटिक ढंग से पूछती है :

'तुम बता सकती हो ममा, क्या चीज़ है वह इस घर की, जिसे ले कर बार-बार मुझे हीन किया जाता है। **(लगभग टूटते स्वर में)** तुम बता सकती हो ममा, क्या चीज़ है वह, कहाँ है वह ? इस घर की खिड़कियों-दरवाजों में ? छत में ? दीवारों ? में तुम में ? डैडी में ? किन्नी में ? अशोक में ? कहाँ छिपी है वह

मनहूस चीज़ जो वह (मनोज) कहता है कि इस घर से अपने अन्दर लेकर गयी हूँ ? **(माँ को दोनों बाँहों में लेकर)** बताओ ममा, क्या है वह चीज़ ? कहाँ पर है वह इस घर में ?'

मैं जानता हूँ कि स्टेज पर इस सम्वाद ने लोगों को बहुत प्रभावित किया होगा और भावुक दर्शक करतल ध्वनि कर उठे होंगे, लेकिन दोनों बार इस स्थल को पढ़कर, इस नितान्त झूठे डायलाग पर जी हुआ कि पुस्तक को उठाकर दीवार से दे मारूँ। जो भोली लड़की अपनी माँ से ऐसा प्रश्न पूछ सकती है, वह अपने पति से क्यों नहीं पूछ सकती ? और उस त्रुटि को जानकर उसे दूर क्यों नहीं कर सकती ? लेकिन बिन्नी भोली नहीं। वह जानती है (अशोक के और बिन्नी के सम्वादों से पता चल जाता है।) कि वह चीज़ क्या है—कि उसकी माँ अस्थिर चित्त की, ज़िन्दगी से बहुत कुछ चाहने वाली नारी है, जिसे आम भाषा में 'चलती हुई' कहा जाता है। वह उनके बड़े अच्छे पिता को तबाह करके दूसरों से नाता जोड़ती है। उस सूरत में जब बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी के साथ भाग गयी है, उसके मुँह से यह डायलाग नितान्त हास्यास्पद हो जाता है। बिन्नी तो बड़ी लड़की है। उससे छोटी लड़कियाँ तक उस 'चीज़' को जान जाती हैं और माँ-बेटियों में प्रेमियों को लेकर घोर ईर्ष्या हो जाया करती है। सितम यह है कि मनोज को इस बात की शिकायत है, जो अपनी प्रेमिका की लड़की को भगा ले गया है। क्या वह नहीं जानता कि क्या है वह चीज़ ? और यही सच इस सम्वाद को झूठा और हास्यास्पद बना देता है।...मैं ज़िन्दगी में मनोज को भी जानता हूँ और बिन्नी को भी और मैं यह भी जानता हूँ कि उन्हें उस चीज़ का पता है और उसके चलते उन्होंने शादी की है और उस स्थिति से समझौता किया है और रास्ता निकाला है। मैं नहीं जानता राकेश ने उस सच को इस झूठ के माध्यम से नाटक में क्यों स्थापित किया है और क्यों नाटक को बिगाड़ दिया है ?

लेकिन बिन्नी की त्रासदी अथवा उसके जीवन-सम्बन्धी वस्तु अपने में सशक्त है और दो तरह रचनाओं में अभिव्यक्ति पा सकती है। अलग-अलग तरह के दो नाटक उसको लेकर लिखे जा सकते हैं।

1. यथार्थ पर आधारित : मनोज बिन्नी की माँ के सम्पर्क में आता है। बिन्नी की माँ उसे चाहने लगती है। लेकिन वह उसकी बड़ी लड़की पर आसक्त है और उसे भगा कर ले जाता है। लड़की पर उसकी माँ का असर है और वह उससे झगड़ता है। उसे ठीक कर लेता है। अथवा छोड़ जाता है, अथवा अपने ससुर की तरह छोड़ नहीं पाता और टूट जाता है।

2. कल्पना पर आधारित : बिन्नी एक एबनार्मल और महत्त्वाकांक्षिणी माँ की लड़की है। घर में माता-पिता में कलह रहती है और घर में दूसरे पुरुष आते हैं। बिन्नी भोली है और उस सब को पूरी तरह समझ नहीं सकती। घर में

उसका दम घुटता है। वह कहीं नौकरी करती है और वही दफ्तर में किसी मेधावी, सरल लेकिन निष्ठावान युवक से प्रेम करने लगती है और माँ की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उससे शादी कर लेती है। ज़ाहिर है कि वह अपनी माँ की बेटी है और अनजाने अपने पति से वैसा ही व्यवहार करती है, जैसा माँ उसके पिता से करती है। वह युवक इस बीच उस घर को कुछ-कुछ समझ जाता है। झगड़ा होता है और वह कहता है कि वह अपने ख़ून में उस घर से ऐसी चीज़ ले आयी है जो उनके सुख में बाधा है। वह उससे पूछती है तो उसके पति को उसकी माँ के बारे में भद्दी बात कहने में संकोच होता है। लड़की परेशान होकर माँ के घर आती है और वही डायलाग बोलती है। इस स्थिति में वह डायलाग एकदम सच्चा और प्रभावशाली लगेगा। नाटक का अन्त कुछ भी हो सकता है। लड़की समझ जाती है और अपने आपको एडजस्ट कर लेती है। अथवा उसकी माँ उसे पुरुषों की अधिकार-भावना पर भाषण देती है। लड़की विद्रोह करती है और पति को छोड़कर अपनी माँ के पास रहने लगती है।

और यों इस थीम पर अलग-अलग सशक्त नाटक लिखे जा सकते हैं।

आधे-अधूरे का सबसे बड़ा दोष यह है कि लेखक ने इन तीन अलग-अलग थीम्ज़ को बिना उसकी संगति बैठाये, एक ही नाटक में झोंक दिया है, जिससे नाटक झूठा बन गया है। रचना की ख़ूबी यह होनी चाहिए कि नितान्त काल्पनिक थीम भी सच्ची और विश्वसनीय लगे और यथार्थ जीवन से वस्तु नाटक में आये तो काल्पनिक न लगे। और यहाँ ज़िन्दगी की सच्ची ट्रेजिडी थोथी बौद्धिकता और प्रयोगबाज़ी के चक्कर में झूठी और अविश्वसनीय बन गयी है।

मुझे **आधे-अधूरे** में केवल थीम अच्छी लगी। शिल्प उसका निहायत दोषपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि उसमें का० सू० वा० की भूमिका नितान्त निरर्थक है। उसकी न संगति है, न जरूरत। का० सू० वा० जो कहता है, वह नाटक से उद्भूत होना चाहिए। प्रयोग ठीक है, पर वह निभा नहीं। जैसा कि मैंने पहले कहा, सावित्री की ज़िन्दगी में आने वाले चारों व्यक्तियों में से कोई भी अनिश्चित नहीं। सभी अपने में पूरे हैं। केवल स्त्री अधूरी है। पूरी होने के लिए छटपटाती है, पर वह कहीं इतनी ग़लत है और ज़िन्दगी से इतना कुछ चाहती है—इतना पाना और इतना कम देना—कि वह न केवल अपने पति को तोड़ देती है, वरन् ख़ुद भी टूट जाती है। इस स्थिति में यदि का० सू० वा० का वहाँ होना ज़रूरी है और उसके बिना नाटक माडर्न और प्रयोगवादी नहीं बनता तो उसका स्वगत-भाषण कुछ दूसरा होना चाहिए था, जो इस थीम की ओर संकेत करता है।

नाटक जैसे कि लिखा गया है, उसमें चारों पुरुषों का पार्ट अलग-अलग व्यक्तियों को करना चाहिए (इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रंगमंच पर वह ऐसे ही खेला गया और आगे भी ऐसे ही खेला जायगा) राकेश ने यह प्रयोग नाटक की संगति की दृष्टि से नहीं, उसे जमाने की सुविधाजनक दृष्टि से रखा—इस

कारण कि ओम शिवपुरी पाँचों भूमिकाएँ निभा सकें और अपनी अभिनय-कुशलता के बल पर नाटक को अपने कन्धों पर उठा ले जा सकें और इस दृष्टि से राकेश सफल भी रहा, पर इसी कारण नाटक चौपट हो गया।

इस मसलहत के कारण नाटक में जो दोष आ गया है, वह सबसे ज़्यादा वहाँ खलता है, जहाँ जगमोहन सावित्री को ले जाता है और जुनेजा पिछले दरवाज़े से आता है। नाटक की थीम का यह तकाज़ा था कि जगमोहन और सावित्री के बीच होने वाले वे सम्वाद जो जुनेजा अनुभव या कल्पना के बल पर बताता है, मंच पर होते। कोई ज़रूरत नहीं थी कि सावित्री जगमोहन के साथ गिज़ा या किसी दूसरे रेस्तरों में जाती। घर में वह उसे बढ़िया चाय पिलाती और अपने मन की बात कहती और जगमोहन उसे घिस्सा दे जाता और तब वैसी स्थिति में जुनेजा आता। अब वह उसके साथ रेस्तराँ में जाती है (माना कार में जाती है) पर बारह-पन्द्रह मिनट में लौट आती है और सारा प्रसंग अविश्वसनीय हो उठता है। किसी नज़दीकी रेस्तराँ में ही सही, कार में ही सही, वहाँ जाने और वैसी नाज़ुक बात करने और चाय पीने-पिलाने में आधघण्टा-घण्टा तो लग ही जाता है। राकेश को यह इसलिए करना पड़ा कि ओम शिवपुरी को पुरुष-4 की भूमिका में आने के लिए कपड़े बदलने का समय मिल सके। हालाँकि जगमोहन के जाने और जुनेजा के आने के बीच के अन्तराल में माँ और बड़ी लड़की में कोई सम्वाद रखा जा सकता था। जगमोहन के यों घिस्सा देकर चले जाने पर सावित्री की प्रतिक्रिया दिखायी जा सकती थी। बहरहाल यह स्थल बहुत कमज़ोर हो गया है।

फिर जुनेजा के लम्बे भाषण, पहले दो अंकों के चुस्त सम्वादों के मुकाबिले में बुरी तरह अखरते हैं। वे सारी सूचनाएँ यों फूहड़ ढंग से जुनेजा के लेक्चरों के माध्यम से नहीं, पुरुषों के व्यवहार से, सावित्री और बड़ी बेटी के वैसे अर्ध-स्फुट सम्वादों से अथवा बड़ी या छोटी लड़की के सम्वादों से मंच पर से दर्शकों तक पहुँचनी चाहिए थीं—और भी अच्छा होता यदि जगमोहन से ठुकराये जाने पर सावित्री के कुण्ठा-जनित स्वगत-भाषणों से दर्शकों को वह सब मालूम होता। यह कैसे किया जा सकता है ! यदि पाठक ओ'नील का एकांकी **बिफ़ोर द ब्रेक फास्ट** पढ़ें तो मेरी बात के मर्म को पा जायेंगे।

फिर नाटक में पुरुष-दो की भूमिका (भले ही वह आम दर्शकों को हँसाने वाली है) घटिया फ़िल्मों के घटिया गैंग्ज़ सरीखी है। ज़िन्दगी से उसका कोई ताल्लुक नहीं। चार हज़ार रुपया महीना पाने और इतनी बड़ी फ़र्म चलाने वाला मैनेजर वसा मूर्ख, फूहड़ और हास्यास्पद नहीं होता।

नाटक में किन्नी, अशोक, महेन्द्र और सावित्री विश्वसनीय लगते हैं और साल-भर के अन्तराल पर नाटक को दोबारा पढ़ने पर लगा—काश ! राकेश थोथी बौद्धिकता, फ़ैशन और प्रयोग के चक्कर में न पड़ा होता, उसने नाटक को अपने कैरियर और अपनी सामाजिक सफलता का साधन न बनाया होता और

इस प्रयास में उसकी थीम से समझौते न किये होते। उसे साध्य बनाकर लिखा होता—भले ही उसे ओम शिवपुरी न खेलता और भले ही उसकी फ़िल्म न बनती, तब थीम में इतनी जान थी कि वह अविस्मरणीय नाटक बनता। अब यह न आधा तीतर न आधे बटेर की तरह झूठा और अप्रमाणिक नाटक खीझ ज़्यादा उत्पन्न करता है और सन्तोष कम देता है।

बाकी इतिहास बादल सरकार का नाटक है। शम्भु मित्र और नेमिचन्द्र जैन एण्ड कम्पनी की मदद से न केवल यह बंगला में खेला गया और हिन्दी में छपा है, वरन् दिल्ली में भी खेला गया है। उसके लेखक को संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार मिला और चूंकि लगभग वही ग्रुप उसके पीछे भी काम करता रहा है जो **आधे-अधूरे** के, इसलिए उसकी खूब चर्चा हुई और राकेश की सफलता से चिढ़ने वालों ने **आधे-अधूरे** के मुकाबिले में उसे बहुत उछाला। सच्ची बात यह है कि वस्तु और थीम के लिहाज़ से वह **आधे-अधूरे** से बहुत कमज़ोर नाटक है। उसका कोई भी पात्र बिन्नी, अशोक, सावित्री या महेन्द्रनाथ जैसा यथार्थ और जीवन्त नहीं। सिवा वासुदेव के एक भी पात्र हाड़-माँस का नहीं लगता और वासुदेव गौण पात्र है। फिर उसके सम्वादों में राकेश के सम्वाद जैसी जान नहीं। वह कोरा बौद्धिक नाटक है। काल्पनिक और अयथार्थ। पश्चिमी विचारधारा को बिना पचाये, केवल वैचारिक स्तर पर लिखा गया! पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित लोगों को वह भले ही प्रभावित करे, पर भारतीय विचारधारा के पाठकों को वह महज़ बचकाना लगेगा। लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि उसका शिल्प और तकनीक, उसका दृश्यविधान और एक ही सेट के माध्यम से एक ही समय में तीन परिवारों की कहानी, मंच पर प्रस्तुत करने की कला न केवल सराहनीय है, वरन अनुकरणीय भी। रंगमंच से सम्बन्ध रखने वाले हर पाठक को उसके रूपबन्ध के लिए उसे ज़रूर पढ़ना चाहिए।

लेकिन दुर्भाग्य से नाटक की सराहना उसके रंग-शिल्प के लिए नहीं, उसकी बौद्धिक विचारधारा के लिए हुई है। नाटककार यह कहना चाहता है कि ज़िन्दगी जीने योग्य नहीं है। कि आदमी नितान्त बर्बर है। हम जो प्रगति देखते हैं, जिसकी सराहना करते हैं, वही इतिहास नहीं है। कौरव-पाण्डव, सिकन्दर, चंगेज़ खाँ, नेपोलियन, हिटलर, का इतिहास (नहीं जानता स्तालिन और माओ का नाम लेखक ने क्यों नहीं लिया, क्योंकि जो तर्क उसने प्रस्तुत किया है उससे ये दोनों नाम भी आते—चाहे प्रगति के लिए ही सही, पर हज़ारों-लाखों लोगों की मौत के मुँह में झोंक देने में ये तानाशाह किसी से पीछे नहीं रहे, पर केवल इन्हीं दो नामों के उल्लेख से शम्भु मित्र इसे बहुरूपी मंडल द्वारा प्रस्तुत न करते और न बादल सरकार रूस बुलाये जाते) हज़ारों वर्षों का इतिहास—पिरामिडों के पत्थरों में, कोलिसियम की बालू में, जलियाँवाला की दीवारों में, हिरोशिमा की झुलसी हुई मिट्टी में लिखा पड़ा है—हज़ारों वर्षों का बाकी इतिहास।

और यदि कुछ पहले की दो पंक्तियाँ इसमें और जोड़ दी जायँ तो लेखक का मन्तव्य पूरा हो जाता है :

"ग्यारह वर्ष (सफल लेकिन धीरे-धीरे बोर करने वाले वैवाहिक जीवन के), ग्यारह शताब्दियाँ, ग्यारह हज़ार वर्ष, असंख्य वर्षों की निरर्थकता का इतिहास। असंख्य मानव कीटों की निरर्थकता का इतिहास।"

और सीतानाथ का कहना है कि ऐसे में कोई कुछ नहीं कर सकता। अत्याचार, हत्या, दंगे, युद्ध सब चलते रहेंगे। सब मनुष्य ही करेगा। जो दोनों समय शान्ति से भोजन पाकर प्रसन्न हो जाता है, वही दूसरे के पेट में संगीन भोंकेगा, जो वैज्ञानिक एक जन्तु की पीड़ा नहीं देख सकता, वही एक साथ लाखों लोगों के विनाश का अस्त्र बनायेगा। ये सभी मनुष्य हैं। ये सभी जीवन का एक-न-एक अर्थ खोज कर जीने का प्रयास करते हैं। अर्थ जब नहीं बचता, तब, अभ्यासवश जीते रहने का ढोंग करते हैं।

और सीतानाथ और उसके माध्यम से लेखक कहना चाहता है कि ऐसे सहज बात एक ही है—आत्महत्या।

और जो आत्महत्या नहीं करते, जो जीते रहते हैं, वे केवल इस आशा पर जीते हैं कि एक दिन अर्थ फिर आयेगा। जीवित रहना समाप्त होने पर सोचते हैं कि एक दिन आरम्भ फिर होगा।

जबकि नाटककार के तर्क से, आरम्भ होने पर भी कुछ नहीं होगा। इसलिए जो आत्महत्या नहीं करता, वह बाकी इतिहास नहीं देखता और अपने आपको धोखा देता है।

लेकिन यह दर्शन कितना भी ठीक क्यों न लगे, स्थिति का केवल एक रुख पेश करता है—जो एकांगी है, अस्तित्ववाद का पश्चिमी आँखों से देखा गया ज़िन्दगी का चित्र है, भारतीय आँखों से देखा गया—कर्मयोगी और ज्ञानयोगी की आँखों से देखा गया—चित्र नहीं है। फिर लेखक नहीं जानता कि आम मनुष्य किसी आशा से नहीं जीता—वह बस जीता है, जैसे यह पृथ्वी घूमती है, सूरज रोशनी पहुँचाता है और चाँद ठण्डक। और अरबों-खरबों सितारे सृष्टि के किसी अज्ञात नियम से बँधे झिलमिलाया करते हैं। आत्महत्या सहज नहीं है। सहज जीना है। बाकी इतिहास बर्बरता और खून-खराबे का इतिहास नहीं है। वह तो इतिहास है। इतिहास में तो सिकन्दर और एटीला और चंगेज़ खाँ महान विजेता कहलाते हैं और मुसोलिनी तथा हिटलर अपने-अपने देशों में महान तानाशाह। इतिहास उन्हीं की विजय-गाथा, युद्धों और सन्धियों की कहानी कहता है। बाकी इतिहास न कीड़ों के समान जीने वालों का है, न पशुओं सरीखी बर्बरता से उन्हें कुचल देने वालों का। बाकी इतिहास पशुओं के दर्जे से उठकर मानव बनने की कोशिश करने वालों का है। बाकी इतिहास उस खून-खराबे, पशुता और बर्बरता में शान्ति का सन्देश देने वाले और अपनी आस्था के लिए क्रॉस पर चढ़ जाने वाले अथवा राम-राम कहते हुए सीने में गोली खाने वाले ईसा और गांधी का है।

बाकी इतिहास क्रूर बर्बरता के मुकाबिले में सुख-सुविधा को तज कर अपने स्वातंत्र्य के लिए हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाने वाले हमारे खुदीराम बोस, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह, राजगुरु तथा उनके साथियों और अन्य देशों के असंख्य क्रान्तिकारियों का है। बाकी इतिहास तानाशाहों की सत्ता के आगे न झुकने और पशुवत जीवन जीने से इनकार करने और उसका दण्ड भोगने वालों का है। बाकी इतिहास देश के व्यापक भ्रष्टाचार, स्वजनपालन, उत्कोचप्रियता, खुशामद और मसलहतपरस्ती और दयनीय समझौतों के आगे सिर न नवाने वाले उन चन्देक गुमनाम लोगों का है, जो मानवता जीना चाहते हैं और असंख्य तकलीफ़ों के बावजूद अपनी टेक नहीं छोड़ते। और जब वे पाते हैं कि वैसे जीना सम्भव नहीं तो आत्महत्या से गुरेज़ नहीं करते, आत्महत्या न सीतानाथ चक्रवर्ती (जैसा कि हम उसे मंच पर देखते हैं—तीनों रूपों में) कर सकता है, न शरद ! आत्महत्या स्टीफ़न ज़्वायग जैसा विचारक कर सकता है या फिर **चन्दियों की एक झालर** का नन्दन—जो टूट जाता है, पर झुकता नहीं।

वैचारिक स्तर पर ऐसे झूठे, बोदे और तथाकथित बौद्धिक नाटक को पढ़ने के बाद **चिन्दियों की एक झालर** को पढ़ना (उसकी मामूली त्रुटियों के बावजूद) अपने में एक अनुभव है और वह नाटक अन्त तक पहुँचते-पहुँचते न केवल बेतरह झकझोर जाता है, वर्तमान स्थितियों को पूरी तरह बेनकाब कर जाता है, वरन बरबस सोचने पर विवश कर जाता है। अमृत वर्षों से कहानियाँ, उपन्यास, लेख और निबन्ध लिख रहे हैं। नाटक उनका यही पहला है, और जैसा सरल उसका रूपबन्ध है, जैसे ज़ोरदार अर्थ-भरे उसके सम्वाद हैं और जैसा झकझोर देने वाला उसका अन्त है, वह न केवल उनकी सराहना को विवश करता है, वरन अमृत से और भी ऐसे नाटकों की आशा दिलाता है।

चिन्दियों की एक झालर में कोई दुरूहता नहीं, न बहुत अस्पष्टता है, न ऊलजलूल के माध्यम से स्थितियों की भयावहता जताने का तथाकथित बौद्धिक प्रयास है। यह घन की चोट-सा दिल-दिमाग़ को ठकोरता और पूरी शक्ति से बात कह जाता है। केवल तीन पात्र, एक कमरा, एक शाम, पुरानी स्मृतियाँ और आदर्श-च्युत नयी पीढ़ी के आक्रोश के माध्यम से वर्तमान का संस्पर्श—और इतने ही से नाटककार स्वातंत्र्योत्तर होने वाले घोर भ्रष्टाचार और विघटन को बेनकाब कर जाता है। इसका प्रमुख पात्र—नन्दन—अपनी पत्नी की आँखों में जीना छोड़ चुका है। अभ्यासवश जीता है। लेकिन दर्शक जानते हैं कि जहाँ वह समझौता नहीं करता, जहाँ वह अपनी टेक से जुड़ा है, वहीं वह जीवित है, (अन्दर से मुर्दा आदमी ही समझौते करता है) और जब नन्दन को लगता है कि वह उस तरह ज़िन्दा नहीं रह सकता, वह आत्महत्या कर लेता है। वह आत्म-हत्या **बाकी इतिहास** के सीतानाथ चक्रवर्ती की तीनों आत्महत्याओं-सी मनगढन्त और अविश्वसनीय नहीं है, और दर्शक जानते हैं, कि उसे यही करना चाहिए था।

नाटक का नायक नन्दन एक पुराना आस्थावान क्रान्तिकारी है, जिसने कभी अपनी पत्नी दीपा के साथ आज़ादी के सपने देखे थे—'जब दूध-घी की नदियाँ बहने वाली थीं, शेर-बकरी एक घाट पानी पीने वाले थे, सड़कों पर शराब की गगरियां लुढ़कने वाली थीं, ताज बालों के सर कलम होने वाले थे और सब तरफ फूलों की बरसात होने वाली थी, और उसी दिन को निकट लाने के लिए उन्होंने—उसने, उसकी पत्नी दीपा और उनके क्रान्तिकारी साथियों ने—अंग्रेज़ों की गोलियों का मुकाबिला किया, जेलों में गये, फ़रार रहे, दीपा ने उसकी अनुपस्थिति में बेइन्तिहा कष्ट सहे और कटु हो गयी, पर नन्दन अडिग रहा—उस शाम पति-पत्नी यादों के मूड में हैं, क्योंकि वे अपने पुराने साथियों की तस्वीरों को दीमकों से बचाने के लिए दीवार पर कपड़ा तान कर लगाना चाहते हैं। क्रान्तिकारी अतुल का साँवला-सलोना चेहरा दीपा को याद आता है, जो उस पर मरता था और नन्दन को शंकर का, जो अपनी टूटी टाँग लेकर जेल से भागा था और दीपा को गोस्वामी का···'सनसन गोलियाँ चलती रहीं, शरीर छलनी हो गया, मगर पिस्तौल के घोड़े पर हाथ चलता रहा, जब तक कि उसके सब लोग निकल नहीं गये और तब गोस्वामी का सिर एक ओर लुढ़क गया।' और गीता का जिसने गोरे सार्जेण्ट को पटाकर उसके गोली मारी और खिड़की के रास्ते भागी और गोलियों से छलनी हो गयी, और बीहड़ रामसुन्दर का जो बुरी तरह पिटता रहा, लेकिन जिसने उफ़ तक नहीं की!···

और यों अपने साथियों की बातें करते हुए नन्दन और दीपा उनकी तस्वीरों का बक्सा ले आते हैं और उन्हें एक-एक कर निकालने लगते हैं ओर एक-एक की स्मृति और वीरता को याद करते हुए वे फ़ोटो लाल कपड़े की पट्टियों पर पिनों से लगाने लगते हैं। ऊपर के फ़्लैट में लगातार शोर होता रहता है, उठा-पटक, धमा-चौकड़ी और बेसुरे गाने। जब बरदाश्त नहीं होता तो दीपा के मना करने के बावजूद नन्दन जाता है और थोड़ी देर बाद आता है तो वह एक टूटा हुआ आदमी है, क्योंकि ऊपर कुछ जवान लड़के-लड़कियाँ शराब के नशे मे धुत खर-मस्ती कर रहे हैं और उन्हीं में नन्दन ने अपने जवान लड़के मंगल को भी शराब के नशे में बदमस्त देखा है।

मंगल अपने बाप के पीछे-पीछे आता है। वह शराब पिये हुए है और उसे इस बात का ग़ुस्सा है कि उसके बाप ने बिना दरवाज़ा खटखटाये अन्दर क्यों प्रवेश किया और बाप-बेटे में एक तल्ख और ज़हर-भरा सम्वाद शुरू होता है। ज़हर सारा बेटा उँडेलता है और यों नन्दन और दीपा के सम्वादों से मंच पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले के क्रान्तिकारियों के सपनों की जो दुनिया आबाद हो गयी थी, वह एक झटके से आज की निहायत यथार्थ-भरी दुनिया में बदल जाती है : मंगल को इस बात का ग़ुस्सा है कि जब उसका बाप जेल में था और फ़रार था तो उसकी माँ ने पचास काम करके उसे पाला-पढ़ाया था और जब आज़ादी मिली तो उसके बाप से इतना भी नहीं हुआ कि अपने रसूख का इस्तेमाल करके

जान-पहचान वाले किसी बड़े आदमी से कहकर, उसे कोई अच्छी-सी नौकरी दिला दे। वह अपने बाप के तप का, त्याग का, खुद्दारी का, अहं का—सब का बुरी तरह मज़ाक उड़ाता है और अपने साथियों की जो तस्वीरें उसने टाँगी हैं उन्हें एक-एक करके नोंचने लगता है। जब सहने की हद हो जाती है तो नन्दन घुमाकर एक झापड़ उसके रसीद करता है। दीपा चीख उठती है और दूसरे क्षण नन्दन भाग जाता है। वह कमरे में अपने आपको बन्द कर लेता है। सहसा दीपा डर जाती है। वह भागती है। वे दरवाज़ा तोड़ते हैं। लेकिन नन्दन ने आत्महत्या कर ली है। एक चीख फिज़ा में गूंजती है और पुराने क्रान्तिकारियों की तस्वीरों की वह झालर हवा में काँपती है, जब पर्दा गिरता है!

मैंने निहायत सीधे-सादे शब्दों में नाटक का कथानक लिख दिया है, लेकिन नाटककार ने बड़े दक्ष हाथों से उसे सृजा है। उसमें सम्वाद हैं, जो कई अर्थ देते हैं, जो नश्तर की तरह सीने में चुभते चले जाते है; हँसी है, जिसके नीचे दर्द का सागर हिलोरें लेता है, काव्य है, जो सपनों को सजीव कर देता है और व्यंग्य है, जो ज़हर की तरह रग-रग में दौड़ता चला जाता है और मैं समझता हूँ **चिन्दियों की एक झालर** को पूरा जानने-समझने और उसका रस पाने के लिए उसे एकाधिक बार पढ़ना ज़रूरी है, और जब-जब प्रबुद्ध और हस्सास पाठक उसे पढ़ेगा उसके सम्वादों में नये और गहरे अर्थ पायेगा। क्योंकि नाटककार ने बड़े संयम से काम लेकर उन्हें लिखा है। उनकी स्पष्टता में अस्पष्टता और अस्पष्टता में स्पष्टता है। आधुनिक ऊल-जलूल का संस्पर्श भी है और असम्पृक्तता भी, और फ़न्तासी और यथार्थ का अभूतपूर्व मिश्रण भी।

लेकिन हर पाठक उसे पसन्द कर पायेगा, इसमें मुझे सन्देह है। केवल हस्सास, भावप्रवण और प्रबुद्ध पाठक ही इसे पसन्द करेगा। पिछले दिनों श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास **राग दरबारी** छपा था और मेरे जैसे पाठक जबकि उसे बिना अन्तराल के दो बार पढ़ गये श्रीपतराय ने उसे नितान्त ऊबाऊ और नेमिचन्द्र जैन ने उसे 'असन्तोष का खटराग' कहा। वे लोग जिन्होंने वर्तमान व्यवस्था से समझौता कर लिया है, **चिन्दियों की एक झालर** के हरिहर, राजवंश, महेश, सुन्दर की तरह जो अपने अतीत को भूल चुके हैं और आदर्श को मूर्खता समझते हैं, जिनकी खाल मोटी हो गयी है और जो साहित्य में आधुनिकता के नाम पर विकृतियों को उभार देना भर पर्याप्त समझते हैं और ऊल-जलूल तथा अस्पष्ट लेखन ही जिनके लिए एकमात्र आधुनिक लेखन है (कम से कम उस वक्त तक जबकि पश्चिम में कोई नया वाद शुरू न हो जाय) उन्हें शायद यह नाटक पसन्द न आये, पर जिनका एहसास मरा नहीं, जो मूल्यों के इस विघटन में सही मूल्यों का अब भी नाम लेते हैं, जिनके लिए किसी उच्चादर्श के बिना ज़िन्दगी निरर्थक और बेमानी है, उन्हें यह नाटक निश्चय ही रुचेगा।

शिल्प में हल्की-सी खामी खटकती है। ऊपर की मंज़िल में शोर शुरू ही से

होना चाहिए, जो बीच-बीच में असह्य हो जाना चाहिए। मंगल के बारे में जब शुरू में ज़िक्र आता है तो कहीं एहसास होना चाहिए कि उसकी गतिविधि से पिता सन्तुष्ट नहीं और नन्दन और दीपा की स्मृतियों के प्रसंग में कहीं दीपा के उन दिनों की स्मृतियाँ भी होनी चाहिएँ, जब नन्दन जेल में था या फ़रार था और दीपा को कई तरह के काम करके अपने बेटे को पालना पड़ा था। मंगल के मंच पर आने के बाद का प्रसंग थोड़ा लम्बा होना चाहिए। इतना सब हो जाय तो मंगल की आकस्मिक बर्राहट से जो झटका लगता है, वह नहीं लगेगा और नाटक अत्यन्त सहज हो जायगा। लेकिन ये इतनी छोटी त्रुटियाँ हैं कि आसानी से दूर की जा सकती हैं और तब नाटक निर्दोष हो जाता है।

इसे हिन्दी रंगमंच की ट्रेजिडी ही कहा जायगा और उन लोगों की घोर अबौद्धिकता, जो आज हिन्दी मंच के भाग्य-विधाता हैं, कि जिस नाटक को जगह-जगह खेला जाना चाहिए था, जो आज की स्थिति को बेतरह बेनकाब करता है, उसे किसी ने छुआ नहीं और न जाने कैसे ऊल-जलूल और प्रयोगवादी नाटक मंचों पर होते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में वाहवाही पाते हैं, पर जब नाटककार के कथनानुसार शेर माँदों में बैठे हों और चूहे सिंहासनों पर तो वे उस साहित्य को प्रश्रय देंगे जिन्हें वे पसन्द करेंगे। मगर **चिन्दियों की एक झालर** के स्रष्टा को हतोत्साह नहीं होना चाहिए, क्योंकि अच्छा साहित्य देर-सबेर अपनी सत्ता मनवा ही लेता है और उसका नाटक भी मनवा लेगा, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है।

उपन्यास

पत्थर-अलपत्थर

अश्क जी की ख्याति मूल रूप से मध्यवर्गीय जीवन पर उनकी अभूतपूर्व पकड़ के कारण है। अपने विपुल कृतित्व में उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के अनगिनत चित्र अनगिनत पहलुओं से खींचकर पाठकों के समाने सजाये हैं और साथ-साथ एक जागरूक रचनाकार के नाते विसंगतियों पर चोट करते हुए एक बेहतर समाज की रूप रेखा सामने रखी है। लेकिन इसके साथ-साथ अपनी कुछ रचनाओं में अश्क जी ने मध्यवर्ग से हटकर अपनी निगाह समाज के गरीब, सर्वहारा तबके की तरफ़ भी फेरी है और पूरी हमदर्दी के साथ उत्पीड़ित जनों की कहानी बयान की है।

कश्मीर की पृष्ठभूमि पर लिखा गया अश्क जी का उपन्यास 'पत्थर अल पत्थर' ऐसी ही कृति है जो उनकी कहानियों—डाची और काकड़ां का तेली—की तरह भूमिहीन किसान-मज़दूरों और मेहनतकश तबके के लोगों की तकलीफ़ को वाणी देता है और इस नाते 'पत्थर अलपत्थर' का भूमिहीन साईस हसनदीन प्रेमचन्द के होरी का ही एक दूसरा रूप है।

कश्मीर के अपार प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में अश्क जी ने 'पत्थर अल पत्थर' में एक ओर तो मध्यवर्गीय सैलानियों के टुच्चेपन की पोल खोली है और दूसरी ओर घोड़वानी अथवा कुलीगीरी करने वाले गरीब धर्मभीरु भूमिहीन किसानों के शोषण और उत्पीड़न का खाका खींचा है।

होरी के रूप में अगर प्रेमचन्द ने सामन्ती व्यवस्था के नीचे पिसने वाले किसानों की समग्र व्यथा का चित्रण किया था तो हसनदीन के रूप से अश्क जी ने अर्ध सामन्ती—अर्ध पूंजीवादी व्यवस्था के शिकंजों में जकड़े भूमिहीन किसान-मज़दूर की कहानी कही है। 'पत्थर अलपत्थर' का हसनदीन दो तरफ़ से मार सह रहा है—एक ओर तो सामन्ती व्यवस्था है जो धर्म, पुलिस के ज़ोर और व्यापक दरिद्रता की बुनियाद पर टिकी हुई है और दूसरी ओर है उभरती हुई पूंजीवादी व्यवस्था जो हर चीज़ को—यहाँ तक कि प्राकृतिक सौन्दर्य और व्यक्ति के नैसर्गिक गुणों को भी—पैसों के बल पर खरीदने में विश्वास करती है। अश्क जी की खूबी यही है कि उन्होंने अपनी ओर से कम-से-कम कहते हुए यह सब उपन्यास के पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से कह दिया है।

मुर्ग़ ने दूसरी बार अज़ान दी थी, जब नूर के तड़के हसनदीन की आँख खुल गयी। आँख खुल गयी, पर वह उठा नहीं। देर तक दम साधे पड़ा रहा कि कहीं किसी दूसरे मुर्ग़, किसी कुत्ते अथवा किसी किवाड़ के खुलने की आवाज़ आये, फिर यह जान कर कि अभी सुबह होने में बहुत देर है, उसने कम्बल से अच्छी तरह बदन ढँक लिया और पुनः सोने की कोशिश करने लगा। लेकिन उसका दिमाग़ परेशान था। दो दिन से उसे कोई सवारी न मिली थी। उसे नींद न आयी। आख़िर जब मुर्ग़ ने तीसरी बार गले की पूरी आवाज़ से गाँव वालों को जगाने का सन्देश दिया तो हसनदीन उठ बैठा। बुझी 'काँगड़ी' उसने 'फ़िरन' के अन्दर से निकाली तो सहसा उसे बचपन की वह घटना याद हो आयी, जब वह पहली बार काँगड़ी लेकर सोया था और उसने अपना फ़िरन जला लिया था और वह बुरी तरह पिट गया था।

'काँगड़ी भी ख़ुदा ने क्या चीज़ बनायी है !' उसने सोचा, 'कश्मीर के लोग इसके बिना कैसे ज़िन्दा रहते ? माँझी हो या किसान, गूजर हो या पण्डित, यहाँ पर तो प्रायः सभी घोर ग़रीबी में दिन गुज़ारते हैं। बरसों में एक बार ईद या 'नौराते' पर फ़िरन सिलवा पाते हैं, सोते-जागते उसे पहने रहते हैं। सर्दी-गर्मी उसी में गुज़ार देते हैं। फिर फ़िरन का जल जाना कयामत नहीं तो क्या है ! उसके बाप ने उसे पीटा तो बुरा नहीं किया। उसने स्वयं अपने बच्चों को पीट-पीटकर काँगड़ी का प्रयोग सिखाया था।'

हाथ से टटोलकर उसने काँगड़ी को कोने में रखा, फिर इत्मीनान से सोये हुए अपने बीवी-बच्चों पर निगाह डाली और अँधेरे ही में अभ्यस्त पगों से बायीं ओर पड़े घास के ढेर को लाँघता हुआ, वह खिड़की तक गया और उसने कुंडी से खूंटी निकालकर उसके पट खोले और बाहर के अँधेरे में घुलते हुए क्षीण-से प्रकाश को देखकर समय का ठीक अन्दाज़ लगाया।

आसमान में बड़ा ही हल्का झुटपुटा था, जिसमें बादल घिरे दिखायी देते थे। तभी मुर्ग़ ने फिर एक बार अज़ान दी और गाँव के परले कोने में कोई दूसरा जवाँसाल मुर्ग़ गले की पूरी आवाज़ से ललकार उठा और नीचे अस्तबल की गर्मी में सोया कोई कुत्ता बाहर निकलकर आकाश की ओर मुँह किये फरियाद करने लगा कि या ख़ुदा, देख, रात-भर का जगा हूँ, तड़के आँख लगी थी कि इन मुर्ग़ों

ने ज़मीन-आसमान एक कर दिया, इन कम्बख़्तों पर अपना क़हर नाज़िल कर !

हसनदीन ने खिड़की भेड़ दी, लेकिन कुण्डी नहीं लगायी। अन्दर के गहरे अँधेरे में खिड़की की झिरी में से आने वाले क्षीण-से आलोक की वह लकीर साफ़ दिखायी दे रही थी। मुड़कर उसने अपनी बीवी को जगाया कि वह उठे, जाकर लड़के को जगाये और समय से नमकीन चाय तैयार कर दे।

उसकी बीवी फ़िरन के नीचे से काँगड़ी निकालकर अँगड़ाई ले रही थी, जब हसनदीन ने बाहर का दरवाज़ा खोला, घास के ढेर में से दोनों बाँहों में घास भरा और अभ्यस्त पगों से लकड़ी की बेडौल और अनगढ़ सीढ़ियाँ उतरता नीचे आया।

गली के बीचों-बीच हानी का छोटा-सा नाला बेआवाज़ बह रहा था। उसके उधर लम्बे-लम्बे पायों पर खड़ी शाली की चोटियाँ थीं और इधर लकड़ी के टेढ़े-बेंगे अनगढ़ दो-मंज़िले घरौंदे, जिनके छोटे-छोटे अहातों को हर किसान ने धरती में बल्लियाँ गाड़कर, उन पर तख़्ते लगाकर एक-दूसरे से अलग कर रखा था। हसनदीन ने अपने अहाते के कोने में घास गिरा दी। निकट ही पत्थर का बड़ा भारी कूंडा पड़ा था। उसने जब से होश सँभाला, उसे इसी जगह देखा। उसने सुना था कि उसके परदादा ने इसे दो बरस में गढ़कर तैयार किया था और उसमें वह अपने घोड़े को दाना खिलाया करता था। सारे परेज़पर में वैसा कूँडा कहीं और नहीं था। लेकिन हसनदीन के पास अब तीन घोड़े थे। दो उसके और एक उसके भाई का। एक कूँडे से कैसे उनका काम चलता। सो घर की औरतें उस पर शाली फटक कर, उससे धान अलग किया करती थीं और कभी जब पैसे होते तो मोटे-से डण्डे की सहायता से नमक-मसाला तैयार कर लिया करतीं, नहीं वह कूंडा हसनदीन के घर की पहचान के काम आता और हसनदीन—'कूँडे वाला हसनदीन' प्रसिद्ध था।

कूंडे पर पैर टिकाये क्षण-भर को हसनदीन ने अपनी टेढ़ी गली और उसके टेढ़े मकानों के ख़ाकों पर नज़र डाली। उसने अड्डे पर सुना था कि सरकार लकड़ी के उन घरौंदों की जगह ईंट-चूने के पक्के मकान बनायेगी, जिसमें पक्के फ़र्श होंगे, पक्की सीढ़ियाँ और जिनमें बिजली की रोशनी होगी। पर जाने यह यह होगा भी या नहीं? होगा भी तो न जाने यह सब देखने को वह ज़िन्दा भी रहेगा या नहीं? लेकिन उसने यह भी सुना था कि 'पहलगाम' के किसानों को नोटिस मिलने वाला है कि गाँव ख़ाली कर दें, सरकार लकड़ी और जगह मुफ़्त देगी, मकान बनाने को पाँच सौ रुपया कर्ज़ देगी, दो मील ऊपर अपने नये घर बनायें। सरकार उन लकड़ी के मकानों की जगह विज़िटरों के लिए छोटे-छोटे बँगले बनाना चाहती थी और किसान अपने पैतृक मकान छोड़ना न चाहते थे···

'सरकार के मन की सरकार ही जाने या रब्बुल-आलमीन, जो सबका है और सबके मन की जानता है।' हसनदीन ने सोचा, 'जहाँ तक हमारा ताल्लुक है; अगर विज़िटर ज़्यादा आने लगें, हमें लगातार काम मिले तो हम अपने

इन्हीं टेढ़े-बेंगे कच्चे घरों में मस्त हैं। मकानों से ज़्यादा हमें काम चाहिए—काम और रोटी !'

वह चाहता तो था कि वहीं कूंडे पर पाँव टिकाये, उन नये मकानों की कल्पना करे। पर उसके पास कल्पना नहीं थी; न उसके लिए समय था और न दिमाग़। उसे तो बस-अड्डे पर समय से पहुँचने की जल्दी का अहसास भर था।

उसकी बीवी उसके पीछे-पीछे उसी की तरह बाँहों में घास भरे उतर आयी थी। "या अल्लाह !" हसनदीन ने लम्बी साँस भरते हुए उस अदृश्य शक्ति को पुकारा, जिस पर अपने सब भले-बुरे की ज़िम्मेदारी डालकर वह सोच से मुक्ति पा लेता था।

घास की बू पाकर अन्दर अस्तबल में घोड़े हिनहिनाये। "वार-वार, वार-वार !" सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने उन्हें सब्र का उपदेश दिया तथा घास लाने ऊपर चला गया।

उसकी बीवी ऊपर नहीं गयी। उसने अस्तबल से एक कोने में पड़े ममदू को जगाया। वह दूर के रिश्ते में उनका चचेरा भाई था। उसकी न ज़मीन थी, न जायदाद और वह उनके घोड़ों की रखवाली करता था और दो टुक्कड़ खा कर वहीं पड़ रहता था।

हसनदीन की बीवी मुश्किल से पच्चीस-तीस वर्ष की होगी। गोरा रंग, तीखा नाक-नक्शा और प्यारा-सा नाम—यासमन। पर कश्मीर की अधिकांश औरतों की तरह उसकी छातियाँ ढलक गयी थीं। परिश्रम, भूख और मैल ने उसे अधेड़ बना दिया था। ममदू के साथ घोड़े बाहर करके वह अस्तबल साफ़ करने लगी। हसनदीन इस बीच में दो-तीन बार घास ले आया था।

घोड़े घास में मुँह मारने लगे और उसकी बीवी अस्तबल साफ़ करके ऊपर चली गयी तो हसनदीन अपने अहाते के बे-किवाड़ गेट में आ खड़ा हुआ। जून का महीना खत्म होने को आ गया था और हवा में यद्यपि ठण्डक थी, पर उसकी धार कुन्द हो गयी थी। गेट में खड़े और नाले के सरसराते जल को देखते हुए हसनदीन के जी में आयी कि वह नाले के पानी में वजू करके फ़जर की नमाज़ पढ़े। यह अजीब बात है कि खुदा की हस्ती में अन्ध-विश्वास रखते हुए भी वह नमाज़-रोज़े और सोम-सलवात का उतना पाबन्द न था। घोर श्रम ने उसे इस बात का अवसर ही न दिया था कि वह पाँच बार नमाज़ पढ़े—खुदा-ए-दो जहाँ सबके दिल की बात जानता है। सबकी मुसीबत को समझता है ! क्या उसे नहीं मालूम कि हसनदीन कई बार नूर के तड़के उठकर चल पड़ता है, दिन-दिन-भर पैसेंजरों को सैर कराता फिरता है और रात पड़े ही घर आ पाता है। उसे विश्वास था कि खुदा उसकी तकलीफ़ को खूब समझता है और इसलिए वह सोते समय कलमा पढ़कर और दुआ माँगकर ही सन्तोष कर लेता था।

लेकिन हवा में कुछ अजीब-सी ताज़गी थी। नाले के जल में कुछ विचित्र-सा

आमन्त्रण था। वह बहुत तड़के उठ गया था। उसके पास समय भी काफ़ी था। तो क्यों न वह आज फ़जर की नमाज़ पढ़ने का सवाब[1] हासिल करे ?

यह ख़याल आते ही उसने ममदू को जल्दी से तैयार होने का आदेश दिया और नित्य-कर्म से निबटने, बाहर खेतों में निकल गया। वापस आकर उसने नाले के पानी में पहले हाथ धोये, फिर अँजुली में जल भरकर उसे तीन बार सूँघा, फिर तीन बार कुल्ला किया, फिर तीन बार मुंह धोया, फिर तीन बार कुहनियों तक हाथ धोये, फिर अंजुली में पानी भर, छिड़क, गीले हाथों को मुँह, नाक, माथे के ऊपर से बालों पर ले जाते और कानों में उँगलियाँ फेरते हुए मसा किया, फिर तीन-तीन बार दायें-बायें पैर धोये और यों विधिवत वज़ू करके (उसकी चिर-दिन से जमी मैल तो क्या उतरी, हाँ रस्म पूरी हो गयी) उसने वह कम्बल, जो वह गले से लपेटे था, ज़मीन पर बिछाया और फ़जर की नमाज़ पढ़ने लगा।

रात की स्याही में कुछ और सफ़ेदी मिल गयी थी। बादलों में मटमैला आसमान झांक रहा था। उस झुटपुटे में परेज़पुर के गूज़रों के ये लकड़ी के मकान अजीब-से उदास-उदास लग रहे थे। सर्दियों में जब गाँव के मकानों की निचली मंज़िलें बर्फ़ से ढक जाती होंगी और शाली की कोठियों के लम्बे-लम्बे पाये बर्फ़ में दब जाते होंगे तो शायद वे अच्छी लगती हों, पर उस समय तो अपने लम्बे-लम्बे सूने पायों पर खड़ी, लकड़ी के बड़े-बड़े सन्दूकों-सी वे कोठियाँ उस उदासी को और भी गहरा बना रही थीं। दो-चार कुत्ते अपनी पनाहगाहों से निकल आये थे और बेचैन रूहों-से भटक रहे थे। रात भर खुले में घास चरते रहने वाले घोड़े, पिछली दोनों टाँगें बँधी होने से, फुदक कर पिछले पाँव रखते वापस आ रहे थे। गाँव धीरे-धीरे जाग रहा था। लेकिन हसनदीन सब तरफ़ से बेपरवा, पूरी तल्लीनता के साथ ख़ुदा की इबादत में निमग्न था। नमाज़ पढ़, उसने दोनों हाथ फैलाकर दुआ की कि ऐ परवरदिगार! मैं तेरा ग़रीब बन्दा हूँ, गुनहगार हूँ, लेकिन तू बख़्शनहार है; मैं बेकार हूँ, पर तू कारसाज़ है। कई दिनों से मुझे कोई सवारी नहीं मिली। कुछ ऐसा कर कि मेरे तीनों घोड़े लग जायँ, मुझे अच्छी-तगड़ी सवारियाँ मिलें, जो गुलमर्ग ही नहीं, खिलनमर्ग और दोनाले तक जायँ और मेरी पिछले दिनों की कसर निकल जाय!

ख़ुदा ने शायद उसकी दुआ सुन ली थी, क्योंकि जब ममदू और ईदू के साथ वह टंगमर्ग के अड्डे पर पहुँचा तो उसने दूर ही से देखा कि न रैना है, न क्रीम खाँ, बल्कि सरदार हरनामसिंह वर्दी डाटे, छोटा-सा डण्डा हाथ में लिये, ड्यूटी बजा रहे हैं। नमाज़ की तल्लीनता में चाहे वह इस बात को भूल गया हो, लेकिन उसके बाद फीके स्च्येरु को नमकीन चाय से निगलते, घोड़ों की ज़ीनें कसते और टंगमर्ग के अड्डे की ओर घोड़े दौड़ाते समय लगातार उसे इस बात की चिन्ता सताती

---

1. सवाब = पुण्य

रही थी कि कहीं पिछले तीन दिनों की तरह क्रीम ख़ाँ या रैना सुबह की ड्यूटी पर न हों और वह निरन्तर मनाता था कि या ख़ुदा, आज हरनामसिंह को ड्यूटी पर भेज दो !

"सलाम हुज़ूर !" दूर ही से हरनामसिंह को देखकर, दाँत निपोरते हुए तनिक झुक गया।

"सुना बे, आ गया मोर्चे पर।" 'हुज़ूर' ने अपनी खुदरी-खुरदरी दाढ़ी पर वह हाथ फेरते हुए कहा।

हरनामसिंह मँझले कद का पतला-छरहरा सिक्ख था। कश्मीरी सिक्खों के चेहरे पर जो गोराई और उनके बालों में जो मकई के कच्चे भुट्टों का-सा सफ़ेदी-मायल सुनहरापन होता है, उसका हरनामसिंह के सिर अथवा चेहरे पर निशान न था। उसके चेहरे का रंग ही नहीं, बालों का रंग भी काला-स्याह था। दाढ़ी उसकी न मुँडासे से बँधी थी, न डोरे से कसी थी और उसके कद ही की तरह छोटी थी। उसके गहरे धँसे कल्लों और चौड़े जबड़ों पर उसकी दाढ़ी के यह अनबँधे, छोटे, खुदरे-खुरदरे काले बाल, उसके चेहरे को कुछ अजीब-सी रुखाई प्रदान कर रहे थे। 'आ गये बे मोर्चे पर' कहते हुए यद्यपि वह कुछ हँसा भी था और अपनी ओर से उसने हसनदीन से मज़ाक किया था, पर लगता था, जैसे वह बस पर कोई अभियोग लगा रहा है।

हसनदीन ने सरदार हरनामसिंह के मज़ाक का कोई उत्तर नहीं दिया। निरीहता से ख़ुशामद-भरी हँसी होटों पर लाकर वह अड्डे पर घोड़े बाँधने लगा।

वह परेज़पुर का एक छोटा-सा किसान था। थोड़ी-सी धरती, तीन घोड़े और लकड़ी के उस अनगढ़ टेढ़े-बेंगे मकान की वह तीन कोठरियाँ— यही उसकी कुल जायदाद थी। यद्यपि उसकी उम्र चालीस-पैंतालीस बरस की थी, लेकिन सख़्त मेहनत और आधे पेट खाने ने समय से पहले उसके चेहरे पर लकीरें बना दी थीं —मझोला कद, शरई दाढ़ी-मूँछें, मैले कश्मीरी फ़िरन में ढका शरीर, गहरे धँसे कल्ले, उभरे जबड़े, पीले दाँत—घोड़े बाँधते हुए मन-ही-मन उसने ख़ुदा को धन्यवाद दिया। हरनाम सिंह से उसकी मिली-भगत थी। वह ठेकेदार को उसका कमीशन दे-न-दे, पर हरनामसिंह को उसका हिस्सा ज़रूर देता था और हरनाम-सिंह चाहे दो-एक डण्डे उसको रसीद कर दे, पर सबसे अच्छी या अमीर सवारी को उसके घोड़े दिलवा देता था।

हाकिम को सलाम करके, वह अड्डे के दोनों होटलों के मालिकों को सलाम तथा बैरों-खानसामों और भिश्तियों से मुलाकात कर आया, क्योंकि कई बार सवारी का मन बनाने में वे लोग बड़ी मदद करते हैं। इस सबसे निबट कर, गले में लिपटा हुआ कम्बल धरती पर बिछा कर वह अड्डे की ढलान पर धूप में लेट गया।

उसे लेटे हुए अभी कुछ ही मिनट हुए होंगे कि दूर से बस आती दिखायी दी।

हसनदीन ने उचक कर देखा—प्राइवेट बस थी। उसके साथी एकदम उठे, कुली मुस्तैद हो गये, पर हसनदीन फिर लेट गया। प्राइवेट बसों में ज़्यादातर वे लोग आते थे, जो सरकारी बस के क़िराये से भी कुछ बचाना चाहते थे। जिनको आराम के मुकाबिले में दाम ज़्यादा प्यारे होते। इनमें से अधिकांश विज़िटर, बिस्तरे कुलियों को देकर स्वयं पैदल चना पसन्द करते थे। हसनदीन अपनी आँख हमेशा सरकारी बस पर रखता था।

लेकिन सरकारी बस भी प्राइवेट के पीछे पहुँची और अड्डे पर हलचल मच गयी। एक-एक बिस्तरे से तीन-तीन कुली लिपट गये। मुसाफ़िरों की जेबें नम्बरों से भर गयीं। बसों से सामान उतारना मुश्किल हो गया। सामान उतरा तो घोड़े वाले बढ़े। कुछ ग़रीब, जो सिर्फ़ ठेके पर घोड़ा चलाते थे, कुलियों में मिल गये।

हसनदीन पीछे खड़ा मुसाफ़िरों का जायज़ा लेता रहा। उसका माथा सिकुड़ गया, आँखें उकाब-सी तेज़ हो गयीं, पर इतने कुली बसों को घेरकर खड़े थे कि कुछ भी जान पाना मुश्किल था—फटी कमीज़ें या मैले फ़िरन पहने, बरसों से नहाये, नंगे पाँव, घुटनों तक मैल से जमी टाँगें लिये, हड्डी के एक टुकड़े के लिए एक-दूसरे को नोच डालने वाले कुत्तों की तरह, आपस में गुँथे जाते थे—तभी सरदार हरनामसिंह सिपाही-सुलभ गालियाँ देते हुए, छोटे कद के कारण डण्डा सिर से ऊपर उठाये, उनमें घुस पड़े। फिर, जैसे उनका डण्डा हाड़-माँस के इंसानों पर नहीं, मिट्टी के लौंदों पर पड़ रहा हो, उन्होंने जो सामने पड़ा, उस पर बरसा दिया।

पल-भर में सब कुली तितर-बितर हो गये। केवल वही रह गये, जिन्हें हरनामसिंह चाहते थे कि वहाँ रहें या दो-चार आनों के मुकाबिले में डण्डों की कोई हकीकत न समझते थे। तभी हसनदीन दूसरे घोड़वानों के संग आगे बढ़ा। उसकी नज़र एक सेठ पर पड़ी—तीस-पैंतीस बरस की उम्र; दोहरा, गोरा, शरीर; चौड़ा माथा; मक्खन-से गोरे और कुलचे-से फूले गाल; सिल्क की कमीज़ और कॉर्डराय की पतलून, बाँह पर गर्म कोट—हरनामसिंह से वे गुलमर्ग और खिलनमर्ग का किराया पूछ रहे थे। उनकी बीवी और बच्चा ज़रा दूर सामान के पास खड़े थे···खिलनमर्ग···हसनदीन चौकन्ना हो गया। हरनामसिंह से आँख मिलते ही उसने दाँत निपोर दिये।

सेठ कह रहे थे, "हमें असील घोड़े चाहिए सरदार जी। हममें से कोई घोड़ा चलाना नहीं जानता।"

"आप चलिए, चाय पीजिए। घोड़े मैं भिजवाता हूँ। वक्त मिला तो ख़ुद ले कर आऊँगा।"

होटल का गाइड कितनी देर से सेठ जी की प्रतीक्षा में खड़ा था। सेठ उसके पीछे-पीछे चले तो हसनदीन ने आँखों-ही-आँखों में हरनामसिंह को संकेत किया कि अभी आता हूँ, ज़रा इनसे बात कर आऊँ और वह कुछ अन्तर पर उनके पीछे-

पीछे चला।

होटल की पिछली ओर छोटा-सा घास का मैदान था, जहाँ से फ़ीरोज़पुर के नाले और उसके परिपार्श्व में पहाड़ों का बड़ा ही सुन्दर दृश्य दिखायी देता था। वहाँ तिपाइयाँ और कुर्सियाँ लगी थीं और मुसाफ़िर वहाँ चाय भी पीते थे और प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द भी लेते थे। सेठ अपने बीवी-बच्चे के साथ वहीं एक मेज़ पर बैठ गये। बैरे को उन्होंने चाय और तोस लाने का आदेश दिया।

हसनदीन इधर बरामदे ही में रुक गया और चुपचाप टोह लेने लगा।

तभी सेठ की पत्नी ने कहा, "जितने में चाय आती है, एक पोज़ लीजिए न खन्ना साहब !" और लड़का चहका, "हाँ हाँ, पापो जी (वह अपने बाप को प्यार से 'पापो जी' कहता था।) दो फ़ोटो लीजिए।" और कुर्सी से उठ कर अपने चांचल्य में उसने घास पर एक कलाबाज़ी लगायी।

"ज़रूर-जरूर !" कहते हुए खन्ना साहब (कि यही सिल्क की कमीज़ और कॉर्डराय की पतलून वाले सेठ का नाम था) उठे।

और हसनदीन ने देखा कि खन्ना साहब ने अपने चमड़े के छोटे-से बक्स से, जो उनके कन्धे से लटक रहा था, एक छोटा-सा सुन्दर कैमरा निकाला। खटका दबा कर उसे खोला। वह छोटा-सा कैमरा देखते-देखते बड़ा बन गया। फिर उन्होंने कोट की जेब से, जो उनकी बाँह पर लटक रहा था, एक छोटा-सा तीन पायों वाला स्टैण्ड निकाला और बारी-बारी उसकी तीनों टाँगें खींच कर उसे कितना ही बड़ा बना दिया। कैमरे को स्टैण्ड पर फ़िट करके, उन्होंने उस पर एक काला कपड़ा डाला।

हसनदीन ने बरसों पहले, जब कश्मीर में अंग्रेज़ों का दखल था, गुलमर्ग के नीडो हीटल में कैमरे वालों को इसी तरह अंग्रेज़ स्त्री-पुरुषों के फ़ोटो लेते देखा था—ज़रूर ही, यह बड़ी (पैसे वाली) सवारी है, उसने मन में सोचा और वह शेड की ओर भागा, जहाँ सरदार हरनामसिंह अभी तक इसको डाँटते, उसको फटकारते अपनी ड्यूटी सरअंजाम दे रहे थे।

खन्ना साहब ने कैमरा फ़िट करके पहले दो-एक चित्र फ़ीरोज़पुर के नाले और उसकी घाटी के लिये। इतने में चाय आ गयी। मेज़ पर लग गयी। तब दो फ़ोटो उन्होंने अपनी बीवी और बच्चे के (चाय पीते समय के) लिये। सिद्धहस्त फ़ोटो-ग्राफ़र की तरह उन्होंने बच्चे के हाथ में बिस्कुट और पत्नी के हाथ में चाय का प्याला दे दिया कि पोज़ बिलकुल नेचुरल लगे।

दूसरा पोज़ लेते समय वे कैमरे के बैलो पर कपड़ा ठीक कर रहे थे कि उसी बस से उतरने वाले एक साथी मुसाफ़िर ने पूछा, "आप क्या फ़ोटोग्राफ़र हैं ?"

"जी नहीं, मेरी तो एक छोटी-सी कपड़े की दुकान है, चाँदनी चौक में।" खन्ना साहब फ़ोटो लेते हुए रुक कर हँसे।

"पर कैमरा तो आपका···!"

"जी बिलकुल मामूली है, 620 ब्राउनी।"

"लेकिन काला कपड़ा तो आप···।"

"जी बहुत दिन पहले एक मित्र ने यह कैमरा खरीदा था। बेकार पड़े-पड़े इसका बैलो खराब हो गया··।"

"क्या हुआ इसे ?"

"कपड़ा छिद गया था और रोशनी फ़िल्म पर पड़ने लगी थी। हम कश्मीर की सैर को आये तो उनसे कैमरा माँग लाये। ख़याल था, शिमला स्टूडियों में इसे ठीक करा लेंगे। लेकिन कुछ ऐसे ज़रूरी काम आ पड़े और कुछ ऐसी अफ़रा-तफ़री में चले कि इसे ठीक कराने की याद नहीं रही। श्रीनगर में महट्टा से पूछा तो उसने कहा, 'इसे ठीक करने में तीन-चार दिन लग जायँगे, आप अभी काला कपड़ा रखकर काम चलाइए। गुलमर्ग से लौटिएगा तो हम ठीक कर देंगे।'—यह कपड़ा भी उन्हींने दिया है।"

और हँस कर खन्ना साहब फिर फ़ोटो लेने में निमग्न हो गये। दो तस्वीरें अपनी बीवी और बच्चे की लेकर उन्होंने एक तस्वीर ऐसे ली कि वे कैमरे की लोकेशन और फ़ोकस ठीक करके स्वयं अपनी बीवी की जगह बैठ गये और उन्होंने एक तोस मुँह में ले लिया और उनकी बीवी ने जाकर कैमरे का बटन दबा दिया।

नाश्ता करके वे लोग तैयार थे कि हसनदीन सरदार हरनाम सिंह को लिये हुए वहाँ आ पहुँचा। लेकिन लगता यही था, जैसे हरनामसिंह स्वयं उसे लेकर आ रहे हों। हसनदीन के पीछे ममदू और उसका बेटा ईदू अपने घोड़ों की लगामें थामे चले आ रहे थे।

"ये लीजिए, आपके लिए असील घोड़े लाया हूँ।" हरनामसिंह ने कहा। "आदमी मोतबर है। आपने हम पर छोड़ दिया तो हमने पचास घोड़ों में से यह तीन खुद चुने। ऐसे शरारती और शोख घोड़े हैं कि इस अड्डे पर कि अनजान सवारी को गिरा देते हैं, पर जो घोड़े मैं लाया हूँ, इन पर बच्चा भी इत्मीनान से चला जा सकता है!"

खन्ना साहब ने हरनामसिंह को धन्यवाद दिया और कहा कि सभी पुलिस वाले यदि इस तरह सहयोग दें तो मुसाफ़िरों की मुश्किल बड़ी आसान हो जाय।

"देख बे, इनको तंग न करना और आराम से सब कुछ दिखा लाना।" हसनदीन को डाँटकर और खन्ना साहब को 'जय हिन्द' बुला कर सरदार हरनामसिंह चले गये तो खन्ना साहब ने घोड़े देखने की इच्छा प्रकट की।

"कुछ फ़िकिर नहीं साब, देखिए साब!" कहते हुए हसनदीन ने बड़ी मुस्तैदी से घोड़ा खन्ना साहब के सामने ला खड़ा किया और एक ओर से काठी थाम उसने उन्हें चढ़ने में भी सहायता दी।

"साब एकदम असील घोड़ा है। सवार को गिरायेगा नहीं। लगाम को ढीला

छोड़ देगा तो सीधा अलपत्थर तक ले जायगा।"

खन्ना साहब सन्तुष्ट हो गये। फिर उन्होंने शेष घोड़े देखने की ज़रूरत नहीं समझी।

"यह सामान कैसे जायगा?" घोड़े से, उतरकर उन्होंने हसनदीन से पूछा।

"कुली ले जायगा। बारह आने रेट है साब। सिपाही से पूछ सकता है साब।"

खन्ना साहब के पास दो बिस्तरों के अतिरिक्त एक अटैची और एक थैला था। उनका खयाल था कि यह सारा सामान एक कुली उठाकर ले जायगा। लेकिन जब दोनों बिस्तर दो कुलियों ने बाँध लिये और तीसरा कुली अपने कम्बल में अटैची और थैला बाँध कर पीठ पर लाद, चलने को तैयार हुआ तो खन्ना साहब उसे रोककर हाँफते हुए फिर हरनामसिंह के पास पहुँचे और उन्होंने कुलियों की शिकायत की कि वे बिस्तर के अतिरिक्त कुछ और उठाने को तैयार नहीं।

तब हरनामसिंह ने उन्हें समझाया कि टंगमर्ग से गुलमर्ग का रास्ता बड़ी चढ़ाई का है। बिस्तरे भारी हैं। कुली नहीं उठा सकते। अटैची और बैग अगर छोटे हैं तो उन्हें घोड़वानों को दे दीजिए। कुली को आप बारह आने देंगे, उन्हें दो-दो चार-चार आने ऊपर से दे दीजिएगा।

वापस आकर खन्ना साहब ने सरदार हरनामसिंह के परामर्शानुसार तीसरे कुली से सामान उतरवा लिया और हसनदीन से कहा कि अटैची वह उठा ले और कैनवस का बैग उसका लड़का उठा लेगा। उन्हें कुछ बखशीश मिल जायगी।

ममदू मेम साब को लेकर बढ़ गया। ईदू अभी छोटा था। लेकिन हसनदीन ने कहा, "कुछ फ़िकिर नहीं साब।" और गले से लिपटा हुआ कम्बल धरती पर बिछा कर, उसमें अटैची बाँध, उसने उसे कन्धे पर रखा। उसके लड़के ने बैग उठा लिया। कुली इस बीच बिस्तर लिये शॉर्टकट (छोटे पैदल रास्ते) की ओर बढ़ गये थे। खन्ना साब हसनदीन की मदद से घोड़े पर चढ़े और अपनी बीवी और बच्चे के पीछे-पीछे गुलमर्ग की सड़क पर बढ़ चले।

कुछ दूर चलकर हसनदीन ने देखा कि उसके लड़के को बैग उठाने में कष्ट हो रहा है। तब बैग उससे लेकर उसने अपना कम्बल खोला और बैग को अटैची केस पर रखकर उसने कम्बल को अपनी पीठ से कुछ इस तरह बाँध लिया, जैसे चीनी और तिब्बती स्त्री-पुरुष बच्चों को पीठ से बाँध लेते हैं।

जब वह फिर चलने लगा तो उसकी कमर झुकी थी और उस पर एक बड़ा-सा कोहान बना था।

टंगमर्ग से गुलमर्ग की टेढ़ी-बेंगी, पर क्षण-क्षण ऊँची होती सड़क पर चढ़ते-चढ़ते हसनदीन ने फिर खुदा का शुक्र अदा किया कि उसने उस नाचीज़ की दुआ

कबूल कर ली और उसे उसकी मन-पसन्द सवारियाँ दिलवा दीं।

खन्ना साहब के घोड़े के पीछे, कमर पर बोझा उठाये हुए घोड़े के बिदकने पर अनायास 'वार-वार, वार-वार' पुकार उठते हुए हसनदीन ने हिसाब लगाया कि अगर ये सवारियाँ सचमुच खिलमर्ग तक जायें और सरकारी रेट भी उसे मिले तो आने-जाने के सत्रह-अठारह रुपये होते हैं। फिर वह उनका सामान भी उठा कर साथ ले जायगा और हर तरह उनकी सेवा करेगा; सेठ रंग-रूप और पहनावे से अच्छा धनी मालूम होता है; पाँच रुपया बख़शीश न देगा तो दो-तीन रुपये तो देगा ही और यदि वह उन्हें बाबा ऋषि ले जाने में सफल हो जाय तो सात-दस रुपये की और डौल हो जायगी। फिर खिलनमर्ग और दोनाले तक जा कर अगर सेठ ने अलपत्थर या फ़रोज़न लेक देखनी चाही तो वह गाइड के रूप में साथ जायगा। दो-एक रुपये बख़शीश मिलेगी। चाय और खाने के पैसे अलग···

मेम साहब और बच्चा काफ़ी आगे चले गये थे। हसनदीन ने कदम बढ़ा कर टिटकारी भरी। घोड़े ने तेज़ पग बढ़ाये। कुछ देर तक वह घोड़े के साथ तेज़-तेज़ चलता रहा, फिर जब वे दूसरे घोड़ों के बराबर आ गये तो वह फिर अपने विचारों में जा रमा।

···उसके पिछले कई वर्षों के चित्र घूम गये। हिन्दुस्तान या पाकिस्तान को आज़ादी मिली हो, पर कश्मीर के कारबार का तो इस आज़ादी ने सत्यानाश कर दिया। यहाँ इतनी खेती तो होती नहीं कि सारी जनता का पेट भरने को कुछ पैदा भी कर लें तो ज़िन्दगी के बाकी कामों के लिए पैसा कहाँ से आये? कश्मीर का बड़ा धन्धा सदा से विज़िटरों का आना रहा है। मही़गीर हों या कारीगर, किसान हों या मज़दूर—सब इसी धन्धे के बल पर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते रहे हैं और इस आज़ादी ने जिस चीज़ पर सब से भारी चोट की थी, वह यही धन्धा था। पहले बर्बर पठान लूट-पाट मचाते बढ़ आये—उत्पाती बरसाती नदी की तरह गाँव-बस्तियाँ उजाड़ते। फिर जब वे गये तो पीछे कश्मीर रह गया— नदी का उत्पात मिट जाने पर कीचड़-सनी दलदली धरती सरीखा, जिसमें मछलियाँ भूख और प्यास से छटपटाती थीं। हाँ, कुछ गढ़ों में पानी ज़रूर भर गया था और वहाँ मछलियाँ खूब मज़े कर रही थीं। भारत से मिलिट्री आयी थी। उसका आर्थिक लाभ था, पर उन्हीं गाँवों या शहरों को, जहाँ उसकी छावनियाँ थीं। विज़िटरों की जगह तो मिलिट्री ले नहीं सकती। हसनदीन के अपने गाँव पर तो भारी विपत आ पड़ी थी। खेती से दो जून का न सही, एक जून का सही— रूखा-सूखा खाना तो चल जाता था, पर शेष काम धरे-के-धरे रह जाते थे। उसकी बूढ़ी माँ की बड़ी इच्छा थी कि बाबा पामदीन के हुज़ूर में उसने अपने पोते-पोती की शादी के सम्बन्ध में जो मन्नत मानी थी, वह अपनी आँखों के सामने पूरी करे। लेकिन भोजन के संसे पड़े, धन की कैसी आस! रोटी के तो लाले पड़ गये थे, शादी-ब्याह की कौन कहे!

हसनदीन के सामने वह दिन घूम गया, जब दस-ग्यारह वर्ष पहले ईदू को

लेकर वे सब 'बापम रिषि' के हुज़ूर में गये थे । बात यह हुई कि यद्यपि उसकी शादी को पाँच बरस गुज़र गये थे, पर उसके घर औलाद न हुई थी । तब उसकी माँ उनको 'बाबा रिशी' के मज़ार पर ले गयी थी । वहाँ ज़यारतगाह की खिड़की की झिलमिली से उसकी बीवी ने अपनी चोटी से बालों की एक लट काट कर बाँधी थी और मन्नत मानी थी कि अगर 'बापम रिशी' उसकी गोद बेटे से भरेंगे तो वह अपने पहलौठी के बच्चे को ज़यारत की नज़र करेगी। दूसरे बरस ही उसके घर ईदू ने जन्म लिया था । उसकी अम्मा चाहती थी कि मन्नत के अनुसार पहला बच्चा बाबा पामदीन की खिदमत में दे दिया जाय, लेकिन न उसकी बीवी राज़ी हुई, न वह खुद । ईदू इतना सुन्दर, जुलगोथना बच्चा था कि वे किसी तरह भी उसे ज़यारतगाह की खिदमत में देने को तैयार न हुए । माँ ने 'बाबा रिशी' के क़हरो-ग़ज़ब का डर दिलाया तो वे दोनों जा मुजाविर की सेवा में उपस्थित हुए । जब हज़रत इब्राहीम के लड़के की जगह खुदा ने दुम्बा भेज दिया और उसकी कुर्बानी स्वीकार कर ली तो क्या 'बाबा रिशी' उनके बेटे की जगह दूसरी कुर्बानी न स्वीकार करेंगे ? तब मुजाविर ने बताया कि ज़यारतगाह में इसकी व्यवस्था है और उसी के परामर्श से उन्होंने बच्चे के सिर पर बालों की एक लट छोड़ दी । मुजाविर ने कहा कि इसे उस समय तक न छुआ जाय, जब तक 'बापम रिशी' की मन्नत पूरी न कर दी जाय। चूँकि लड़का वे अब वहाँ नहीं देना चाहते, इसलिए वे एक दुम्बे की कुर्बानी दें और सौ रुपया खैरात में बाँटें।

और जब इदू तीन बरस का हो गया था तो अम्मा उन सबको लेकर 'बापम रिशी' के मज़ार पर गयी थी । हसनदीन की आँखों के सामने वह सारा दृश्य घूम गया—अन्दर मज़ार के सामने हज्जाम ने ईदू के सिर की वह लट बाकायदा अपने उस्तरे से काट कर 'बाबा रिशी' के कदमों पर चढ़ायी थी और हसनदीन ने सौ रुपये की नज़र उतारी थी । फिर भरे-पूरे दुम्बे की कुर्बानी दे कर देग चढ़ा दी गयी थी। उसके गिर्द घेरा डाल कर स्त्रियों ने बाबा पामदीन की प्रशंसा में गीत गाते हुए बड़े-बड़े नान पकाये थे और सब को दावत दी गयी थी। मुजाविर ने उन सौ रुपये में से पचास रुपये रख लिये थे और शेष ग़रीब-गुर्बा में बाँट दिये थे।

हसनदीन का तीन सौ रुपया उठ गया था। पर वह ज़माना ही और था। अंग्रेज़ों का राज्य था और गुलमर्ग उनकी जन्नत थी। हर सीज़न में वे चार-पाँच सौ रुपया बचा लेते थे। सर्दियों का गुज़ारा कर, प्रति वर्ष उसने सौ रुपये धरती में गाड़े और तीन बरस बाद बड़े धूम-धड़ाके से बाबा पामदीन की मन्नत पूरी कर दी।

उसकी अम्मा ने उसी दिन मज़ार की झिलमिली से तागा बाँधकर दुआ माँगी थी कि यदि उसके बड़े लड़के के घर में एक लड़की हो तो वह दोनों का निकाह 'बाबा रिशी' के हुज़ूर में आकर करेगी। 'बाबा रिशी' की मेहरबानी से अगले ही वर्ष उसके बड़े भाई के घर एक लड़की हुई। जन्मते ही उसकी और ईदू

की सगाई कर दी गयी। लेकिन शादी की नौबत नहीं आयी। अम्मा तो चाहती थी कि उसकी आँखों के सामने पोते-पोती की शादी हो जाय, लेकिन एक साल बाद ही हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया और यह क़हर टूट पड़ा।

अम्मा का कहना था कि उसकी बीवी ने अपना पहलौठी का बच्चा 'बाबा रिशी' की खिदमत में न देकर बड़ा भारी गुनाह किया है! इसलिए उसकी गोद नहीं भरी और इसी गुनाह के कारण कश्मीर पर यह बिपत टूटी, उन्हें रोटी के लाले पड़ गये और उसके पोते-पोती की शादी रुक गयी।

एक ग़रीबी, दूजे बरखुरदारी! एक तो तंगी का ज़माना, दूसरे अम्मा के रोज़-रोज़ के ताने। हसनदीन झल्ला गया था। 'बाबा नाराज़ हो गये, तो उसी साल कयामत क्यों न टूटी। साल बाद क्यों टूटी?' वह एक दिन चिल्ला उठा था, 'तुम जाहिल औरत, तुम्हें इसकी क्या समझ है? शेरे-कश्मीर का लक्चर सुनो तो तुम्हें मालूम हो कि यह बिपत क्यों टूटी।'

यद्यपि उसे 'अलिफ़' से 'बे' न आती थी, लेकिन अंग्रेजों को गुलमर्ग, खिलनमर्ग, अलपत्थर, कान्तारनाग, तोसे मैदान और दूसरी जगहों में घुमाते-फ़िराते वह चन्द अंग्रेज़ी के शब्द बोलने लगा था और माँ को अनपढ़ और जाहिल समझता था, लेकिन माँ को डाँटने के बावजूद उसके मन में भय था कि 'बाबा रिशी' के हुज़ूर में उन्होंने बड़ा गुनाह किया है। ज़रूर बाबा उनसे नाराज़ हैं। उसके भाई के घर इस बीच में चार बच्चे हुए, जबकि उसके यहाँ ईदू के बाद दूसरा बच्चा नहीं हुआ।

"या पीर!" उसके मन का भय एकाएक मुखर हो उठा। "अपने बन्दे के गुनाह बख़्श!"

वह बाबा ऋषि से अपने गुनाह ब़ख़्शवा रहा था कि सामने से एक बेसवार घोड़ा सरपट भागता हुआ आया।

"इसे क्या हुआ?" अचानक खन्ना साहब ने मुड़कर पूछा।

इससे पहले कि हसनदीन जवाब देता, एक छोटा-सा लड़का उसी घोड़े के पीछे भागता हुआ उनके पास से निकल गया।

हसनदीन चौंका। प्रकृतिस्थ होकर बोला :

"साला ठेकेदार का घोड़ा है। बड़ा तेज़-तर्रार। गिरा दिया होगा सवार को।" और फिर पग बढ़ा, खन्ना साहब के बराबर होकर, उसने सरगोशी में कहा, "साब एक नम्बर का उखड़पेंच है ठेकेदार। मिला रहता है अफ़सरों से। हमारा तो घोड़ा साब अपना है। नौकर तो दूर रहा, हम तो अपने लड़के तक को हाथ नहीं लगाने देता। सदा असील घोड़ा रखता है।"

कुछ क्षण तक वह चुपचाप चलता रहा फिर जैसे अपने-आप से बात कर रहा हो, बोला, "हमारे पास साब, पहले यह घोड़ा नहीं था। दूसरा था। एक बार उसने एक सवार को गिरा दिया। दूसरा दिन हमने उसको बेच दिया। इधर तेज़ घोड़ा नहीं चल सकता साब।" और उसने अपने घोड़ों की तारीफ़ की।

"आप लगाम ढीली छोड़ दें तो इधर-से-उधर नहीं होगा और सीधा अलपत्थर तक ले जायगा। हम 'बापम रिशी' की कसम खाकर कहता है। कभी झूठ नहीं बोलता।"

"ये बापम ऋषि और बाबा ऋषि क्या अलग हैं ?"

"नहीं साब, एक ही नाम है। कोई 'बापम रिशी' बोलता है, कोई 'बाबा रिशी'। हिन्दू मुसलमान सब का पीर है, बाबा पामदीन।"

"प्यामुद्दीन।"

"जी हाँ, जी हाँ !"

"हमने भी बड़ा नाम सुना है श्रीनगर में। कितनी दूर है गुलमर्ग से उनका मज़ार !"

"अजी साब, आने-जाने में सात माइल पड़ता है। साब बोलेगा तो हम आज ही दिखा ला सकता है साब को।"

लेकिन साब चुप रहे। पर हसनदीन चुप नहीं रहा :

"बड़ा मशहूर 'रिशी' है बाबा पामदीन," बोझ से झुकी कमर के बावजूद तेज़-तेज़ डग भरता और घोड़े के साथ-साथ चलता हुआ वह बोला, "मुग़लों के वक्त में बड़ा ओहदा था उसका। एक हज़ार मोहर मिलता था। कश्मीर दरबार में बड़ा इज्ज़त था। बाबा साहब रोज़ घोड़े पर सवार होकर सैर को जाता था। एक दिन करना ख़ुदा का क्या हुआ साब, ढलान पर बाबा साहब घोड़े से उतरा कि कुछ कदम पैदल चले। क्या देखता है कि चींटी का कतार लगा है। सर्दी में वो दाना जमा कर रहा था। अचानक बाबा साहब के दिल में ख़याल गुज़रा कि चींटी-जैसा बेडिमाक (बेदिमाग़) जानवर भी आगे का ख़याल रखता है और मैं इंसान होकर 'अशफ़रुल-मलख़ूक़ात'[1] हो कर, आक़बत का फ़िकिर नहीं करता। तुफ़ है मुझ पर। बस बाबा साहब वहीं से उलटे पाँव वापस फिरा, नौकरी से जाकर स्तीफ़ा दे दिया, घर-बार को ख़ैरबाद कहा और जाकर ऐशमुकाम के ज़ैन बाबा का पाँव पकड़ लिया। बरसों वहाँ उसने रयाज़त[3] किया। सारे इलाहीरमूज़[4] से खबरदार हो गया। तब ज़ैन बाबा ने कहा कि जा बेटा, अब तुझे सिखाने लायक मेरे पास कुछ नहीं रहा। बाबा साहब ऐशमुकाम से यहाँ आ गया। यहीं दीन-दुनिया से अलग जंगल में यादे-इलाही में मरसूफ़[5] हो गया। दिनों ही में उसका मशाहूरी[6] सारे कश्मीर में फैल गया और लोग दूर-दराज़ से उसका ज़यारत[7] को आने लगा। अब सरकार, हुआ यह कि बाबा साहब जब घर छोड़कर आया था तो उसका बीवी बच्चे से था—वक्त पर लड़का हुआ। जब वह बड़ा हो गया तो बाप की तलाश करता हुआ यहीं आ पहुँचा। बाबा साहब लड़के को देखकर बड़ा ख़ुश हुआ। उसे अपने पास रखा और फिर

---

1. ठीक शब्द है अशरफ़ुलमख़लूक़ात = सृष्टि के प्राणियों में सबसे बड़ा = इनसान, 2. पर-लोक, 3. स्वाध्याय, 4. ख़ुदाई भेद, 5. मसरूफ = व्यस्त, 6. मशहूरी, 7. दर्शन

कुछ दिन बाद उसे हुक्म दिया कि जा तन्हाई में बैठ कर यादे-इलाही में मन लगा। अब लड़का सरकार ठहरा जवान। शहर की हवा खाये हुए। उससे वह कठिन इबादत कैसे हो? बुरे लोगों का सोहबत में फँस गया और बुरा काम करने लगा। जब बाबा साहब के पास उसका शिकायत पहुँचा तो उसको बड़ा ग़ुस्सा आया। उसने ख़ुदा से दुआ किया कि या ख़ुदा, अगर मेरा लड़का बदचलन हो तो तू उसे इस दुनिया से उठा ले। बाबा साहब ठहरा पहुँचा हुआ फ़क़ीर, उसका दुआ और ख़ुदा टाल दे! लड़के को ख़ुदा ने अपने पास बुला लिया।"

कुछ क्षण तक हसनदीन चुपचाप चलता रहा। फिर बोला, "साब, हमने तो नहीं सुना कि बाबा साहब से किसी ने मन्नत माना हो और वो पूरा न हुआ हो। बड़ी दूर-दूर से लोग 'बाबा रिशी' के दर्शन करने आते हैं।"

अब के खन्ना साहब बोले, "हमने सुना है कि बड़े मिनिस्टर भी वहाँ जाते हैं।"

"हाँ साब, बख़्शी साहब ने हुक्म दिया है, वहाँ तक बिजली का लैन लगाने का!"

वे बातों-बातों में वहाँ तक पहुँच गये, जहाँ घोड़े ने सवारी को गिरा दिया था। उन्होंने देखा कि एक जवान, लेकिन किंचित मोटी लड़की को सहारा देकर दो आदमी चले जा रहे हैं और उनके ख़ाली घोड़े उनके पीछे-पीछे आ रहे हैं।

"क्यों साहब, घोड़े ने गिरा दिया क्या?" खन्ना साहब अपने घोड़े पर बैठे, बराबर आगे बढ़ते हुए बोले।

"जी हाँ!" लड़की के साथ चलने वाले एक अधेड़ ने कहा। "सरकार जाने क्यों ऐसे घोड़ों को अड्डे पर रहने देती है।"

और खन्ना साहब हसनदीन से बोले, "हम तुम्हारे ही घोड़े पर आगे भी जायँगे हसनदीन!"

"कुछ फ़िकिर नहीं साब, जहाँ तुम बोलेगा, हम ले जायगा। सारे गुलमर्ग की सैर करायेगा। साब खिलनमर्ग जायगा तो हम वहाँ भी ले जायगा, उससे आगे जाने को बोलेगा तो अफ़राबट, अलपत्थर और फ़िरोज़न लेक[1] हम साब को दिखा लायगा।"

"बाबा ऋषि के मज़ार पर लोग बकरे की क़ुर्बानी देते हैं?" खन्ना साहब का मन बाबा ऋषि ही में अटका था।

"हाँ सरकार! यह मेरा लड़का है न ईदू। 'बाबा रिशी' का मेहरबानी से हुआ है। हमने दुम्बे का क़ुर्बानी दिया था और सौ रुपया ख़ैरात में बाँटा था।"

खन्ना साहब जाति से बनिया थे। क़ुर्बानी की बात उन्हें ठीक नहीं लगी। बोले, "क़ुर्बानी देनी क्या ज़रूरी है?"

---

1. फरोजन लेक—अलपत्थर की झील जब तक जमी रहती है, उसे फरोजन लेक (frozen lake) कहते हैं।

"नहीं साब, मुसलमान कुर्बानी देता है। हिन्दू मिठाई-फल चढ़ाता और ख़ैरात बाँटता है। जो भी चढ़ावा चढ़ता है, आधा ज़यारत को जाता है, आधा वहीं ग़रीब-गुर्बा में बाँट दिया जाता है।"

"हम चलेंगे बाबा ऋषि के दर्शनों को!" सहसा खन्ना साहब ने कहा।

गुलमर्ग की चढ़ाई शुरू हो गयी थी। घोड़ों की गति मन्द और उनके पीछे चलने वालों की गति मन्दतर हो गयी।

हसनदीन घोड़े के साथ-साथ चलने के बदले फिर पहले की तरह ज़रा पीछे-पीछे चलने लगा। घोड़ा जब चलते-चलते पहाड़ की दरारों में उगी घास में मुँह मारने को रुक जाता तो वह अचेतन रूप से टिटकारी भर देता और फिर अपनी उधेड़-बुन में लग जाता।

उसने साब को 'बाबा रिशी जाने के लिए तैयार कर लिया था, इससे वह मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ था। उसने फिर एक बार टंगमर्ग से गुलमर्ग, गुलमर्ग से बाबा ऋषि और वहाँ से वापसी का हिसाब लगाया—तीस रुपये तो उन्हें निश्चित ही मिल जायेंगे, यदि वह अलपत्थर और 'फ़रोजन लेक' तक ले जाय तो पाँच रुपये और कहीं नहीं गये। ख़ुशी से उसे साँस रुकती-सी महसूस हुई। अचानक उसे खयाल आया, सेठ अगर ज़्यादा दिन यहाँ ठहरने आया हो तो हो सकता है, जाते में कोई दूसरा घोड़ा कर ले। 'कर कैसे लेगा?' उसने मन-ही-मन कहा, 'मैं उसे ऐसा ख़ुश कर दूँगा कि वह किसी दूसरे घोड़े वाले की बात ही न सोचे।'

लेकिन इस निश्चय के बावजूद एक-दो डग जल्दी-जल्दी भर कर सेठ के बराबर होते और चढ़ती साँस को किंचित रोकते हुए उसने पूछा—

"सेठ, तुम गुलमर्ग कितना दिन ठहरेगा?"

पहला ज़माना होता तो वह हफ्तों-महीनों की बात पूछता। लेकिन गुलमर्ग तो उजाड़ था। उसकी पिछली शान-शौकत की याद में उसे देखने भर को मुसाफ़िर आते थे, दो-चार दिन अथवा ज़्यादा-से-ज़्यादा हफ़्ता भर रहकर चले जाते थे।

"हम कल लौट जायेंगे।" खन्ना साहब ने कहा, "हमें बहुत जल्दी है, गुलमर्ग देखने के बाद हम पहलगाम जायेंगे और वहाँ से अमरनाथ की यात्रा में शामिल होंगे।"

हसनदीन फिर पीछे हो गया। वह प्रसन्न हुआ कि सेठ एक ही दिन गुलमर्ग रहेगा। उसने अन्तर-मन से ख़ुदा का शुक्र अदा किया कि उसने सहर के वक़्त की उसकी दुआ स्वीकार कर ली। प्रातः की दुआ का बड़ा महत्त्व है। ख़ुदा के हुज़ूर में उसकी बड़ी क़द्र है। यों भी उसने बुज़ुर्गों से सुन रखा था कि चौबीस घण्टों में कभी मुँह से ऐसी दुआ या बद-दुआ निकलती है, जो शब्दशः पूरी हो जाती है, इसीलिए उनका कहना था कि सोच-समझकर मुँह से बात निकालनी चाहिए। आज सुबह यदि उसने कुछ और माँग लिया होता तो वह भी पूरा हो

जाता।...अगर उसने लाख रुपये माँगे होते?...और उसने देखा कि वह फ़ज़र की नमाज़ पढ़ रहा है और उसने ख़ुदा से दुआ माँगते समय एक लाख रुपया माँगा है। फिर उसने देखा कि वह अस्तबल में एक कोना खोद रहा है कि वहाँ दरवाज़ा लगाने की बल्ली गाड़े। तभी अचानक उसका फावड़ा किसी ठोस चीज़ से टकराता है; वह और खोदता है तो देखता है कि एक काँसे का घड़ा है। जल्दी से खोदना बन्द करके वह गढ़े में मिट्टी डाल देता है कि कहीं ममदू न आ जाय अथवा कहीं कोई पड़ोसी न देख ले। दिन को वह और उसकी बीवी बाहर से अस्तबल पर टाट का पर्दा लगा देते हैं। हसनदीन बहाने से ममदू को ऊपर सुला देता है और आधी रात के वक्त, जब सारा गाँव सोया होता है, वह और उसकी बीवी हरीकेन की लौ में ज़मीन खोदते हैं (इस बार बाहर के दरवाज़े के पास नहीं, बल्कि अन्दर के कोने में खोदते हैं। पहली जगह दरवाज़े और गली के निकट होने से अवचेतन मन दिवा-स्वप्न में जगह बदल देता है—इस सम्बन्ध में रात और दिन के सपने एक-सरीखी सुविधा जुटा देते हैं।) काफ़ी गहराई में, इस तरह सबर के साथ धीरे-धीरे खोदकर कि बाहर या ऊपर आवाज़ न जाय, दोनों मियाँ-बीवी बड़ी सावधानी से काँसे का घड़ा निकालते हैं। ऊपर का ढकना लाख से जड़ा है। बड़ी इहतियात से उसे खोलते हैं। देखते हैं—सोने की मोहरों से भरा है, जो हरीकेन के उस मद्धिम धुँधियाले प्रकाश में भी चमक उठती हैं। हसनदीन मुट्ठी भर मोहरें निकालता है और यासमन के विस्फारित नयनों के आगे उसे खोलता है, जो ठीक से देखने को हरीकेन ऊपर उठाती है। दोनों मियाँ-बीवी, चकित, विस्मित, किन्तु अनिर्वचनीय रूप से पुलकित, हथेली पर चमचम करती उन मोहरों को देख रहे होते हैं कि हल्का-सा खटका होता है। दोनों चौंकते हैं। ममदू अस्तबल के दरवाज़े में खड़ा है। आँखें मिलते ही खीसें निपोर देता है। दोनों उस घबराहट में उसे अपने भेद का साझीदार बना लेते हैं। हसनदीन कहता है कि घर के जितने प्राणी हैं, उन सब को बराबर-बराबर हिस्से मिलेंगे। अब जब ख़ुदा ने हमें इतनी दौलत दी है कि हम अपनी बाकी ज़िन्दगी आराम से गुज़ारें, हमें चाहिए, अपने घोड़ों को, जिन्होंने तंगी-तुर्शी में हमारा साथ दिया है और भूखे पेट रह कर हमारी ख़िदमत की है, पूरा आराम दें; उनसे आगे को किसी तरह का काम न लें, एक नौकर उन तीनों को सेवा के लिए रख दें और उन्हें ख़ूब खिलायें-पिलायें और आराम दें। उनकी इसी ख़िदमत को ध्यान में रखते हुए हसनदीन उनके भी तीन बराबर-बराबर के हिस्से करता है। ऐसा करते समय उसकी आकृति एक अलौकिक तेज से उद्भासित हो उठती है।

लेकिन यहीं ममदू का गधापन प्रकट होता है। वह घोड़ों को हिस्सा देने के लिए कभी तैयार नहीं होता। हसनदीन कुल मोहरों के आठ हिस्सा कर, एक ममदू को देना चाहता है। ममदू चौथा हिस्सा माँगता है। हसनदीन इस बात पर भी तैयार हो जाता है कि एक घोड़ा और उसका हिस्सा भी वह उसे देगा। लेकिन वही ममदू, जो उसके सामने आँख भी न उठाता था, उसे गालियाँ देने लगता

है। जाने कौन पुलिस को ख़बर कर देता है। धड़धड़ाती पुलिस आ पहुँचती है और न केवल घड़ा उठा ले जाती है, बल्कि उन्हें भी साथ पकड़कर ले जाती है···

हसनदीन ज़ोर-ज़ोर से साँस ले रहा था। उसके माथे पर पसीना आ गया था। घोड़ा पहाड़ में उगी झाड़ियों में मुँह मार रहा था और खन्ना साहब गिरने के भय से अन्धाधुन्ध लगाम खींच रहे थे। सहसा वहीं एक झाड़ी से एक पतली-सी डाल तोड़कर, ज़ोर से गाली देता हुआ हसनदीन उसकी ओर बढ़ा। लेकिन इससे पहले कि डाली घोड़े के पुट्ठे को छूती, वह चल पड़ा।

हसनदीन ने पीठ के बोझ को ठीक किया और फिर बढ़ चला। उसका मन फिर उसी दिवा-स्वप्न में खो गया। इस बार उसके अवचेतन ने दूसरी सुविधा जुटा दी। उसने देखा कि ममदू और उसका लड़का घोड़े लेकर कान्तारनाग गये हुए हैं। वह अस्वस्थ होने के कारण घर पर रह गया है। उसकी जगह उसका बड़ा भाई चला गया। यों ही मन को लगाने के लिए वह अस्तबल में काम करने लगता है कि उसका फावड़ा घड़े से जा टकराता है। वह अपनी बीवी को बुलाता है और दोनों रातों-रात सारी मोहरें निकालकर छत के फूस में दो-दो, चार-चार करके छिपा देते हैं। दूसरे दिन शाम को उसका बड़ा भाई, ममदू और उसका लड़का वापस आते हैं। हसनदीन की अस्वस्थता सोने की चमचमाती मोहरों को देखते ही भाग जाती है। वह टंगमर्ग जाकर शराब की बोतल और खाने-पीने का सामान ले आता है। ऊपर से उसकी बूढ़ी माँ और भाई के बीवी-बच्चे भी आ जाते हैं। एक-दो पड़ोसी भी शामिल हो जाते हैं। मर्द लोग पीते हैं और औरतें और बच्चे नमकीन चाय के बदले कहवा पीते और बढ़िया स्च्येरु और दूध-रोटी खाते हैं। सभी गयी रात तक मौज मनाते हैं···कि सहसा छत पर दो बिल्लियाँ लड़ने लगती हैं, एक धमा चौकड़ी मचा देती हैं और ठन-ठन मोहरें नीचे गिरने लगती हैं। सारे गाँव में ख़बर फैल जाती है कि हसनदीन की छत से सोना बरस रहा है और फिर होनी की तरह पुलिस आ पहुँचती है; छत का तिनका-तिनका उखाड़ फेंकती है; सारी मोहरें बटोर ले जाती है और घाते में उनको भी पकड़ लेती है और उनके घरों में भरे अखरोटों के सन्दूक उनकी रिहाई के हेतु बिक जाते हैं···

हसनदीन सिर को झटका देता है। अवचेतन मन फिर सुविधा जुटा देता है :

···वह देखता है कि एक नहीं, दो घड़े निकले हैं। वह एक घड़ा दूसरी जगह छिपा देता है, ऊपर घास-फूस डालकर घोड़ा बाँध देता है। और टंगमर्ग के दीवान जी से जाकर कहता है कि उसके घर ख़ज़ाना मिला है। वह सरकार को इत्तिला देने चला आया है। वे दो पुलिस के सिपाही लिये पहुँच जाते हैं और जगह खोदकर घड़ा निकालते हैं। जब एक घड़ा निकल आता है तो वे सिपाहियों को

इधर-उधर भी खोदने का आदेश देते हैं। जिस जगह से उसने घड़ा निकाला था, वह मिट्टी जल्दी निकल आती है और साफ़ दिखायी देता है कि यहाँ से घड़ा निकाल लिया गया है।···और अन्त वही होता है। वह बेतरह पिटता है, उसकी पत्नी उसके प्राणों के भय से दूसरे घड़ की बात बता देती है और पुलिस उसे चोरी के अभियोग में पकड़ कर ले जाती है···

हसनदीन ने ज़ोर से सिर को झटका दिया। उसकी दौलत हर बार हाथ से निकलती रही। तेज़ और किंचित बड़े गिरगिट को पकड़ने की की कोशिश करने वाले बिल्ली के बच्चे की तरह वह कभी इधर से और कभी उधर से उसे पकड़ता रहा, पर वह हाथ आकर भी निकल जाती रही। एक लाख की बात दूर रही, उसने कभी एक हज़ार रुपया भी न देखा था। सोने की मोहर उसके दादा-पर-दादा ने देखी हो तो और बात है, पर उसके दर्शन उसे कभी न हुए थे। सपने में भी वह उन्हें रख पाने के योग्य न था। अन्तिम बार सिर को झटका देकर उसने कदम बढ़ाये। लेकिन चढ़ाई खत्म हो गयी थी। रास्ते में छोटा-सा घास का टुकड़ा और दो-एक देवदार के पेड़ थे और आगे जाने वाले घोड़े उन्हीं के झुरमुट में दम ले रहे थे।

खन्ना साहब ने देखा कि उनकी बीवी और बच्चा उतर रहे हैं। कुछ दूसरी सवारियाँ भी उतर गयी थीं और घोड़े वहीं घास में मुँह मार रहे थे।

"क्या बात है ? यहाँ रुक क्यों गये ?" खन्ना साहब ने सहसा मुड़कर हसनदीन से पूछा।

पीठ का बोझ ज़मीन पर रखते हुए हसनदीन ने कहा, "साब इतनी चढ़ाई चढ़कर आता है, यहाँ घोड़ा आराम करता है, ज़रा हाथ लगाकर देखो कितना पसीना-पसीना हो रहा है।"

खन्ना साहब ने अनजाने घोड़े की पसली पर हाथ रखा। उनका हाथ गर्म पसीने से भीग गया। "हसनदीन हमें घोड़े से उतारो।" उन्होंने सहसा अपनी कॉर्डराय की पतलून से हाथ पोंछते हुए कहा।

"नहीं साब, उतरने की ज़रूरत नहीं, तुम बैठो। कुछ फ़िकिर नहीं, घोड़ा पाँच-दस मिनट रुककर चलेगा।"

यद्यपि उनसे पहले आने वालों में एक-दो मुसाफ़िर घोड़ों पर चढ़ने लगे थे, लेकिन खन्ना साहब ने कहा, "नहीं, हम उतरेंगे।"

हसनदीन ने उन्हें सहारा देकर उतार दिया। वे अपने बीवी-बच्चे से जा मिले।

"क्यों शकुन, थक तो नहीं गयीं।" उन्होंने अपनी बीवी से पूछा और फिर उसका जवाब सुने बिना वे अपने लड़के की ओर पलटे। उसकी दोनों बग़लों में हाथ देकर उसे प्यार से झकझोरते हुए, उसे चूमकर उन्होंने कहा "और तुम कुकू ?"

"ज़रा भी नहीं पापो जी !" और वह नवजात बछड़े की तरह वहीं कुदकड़े मारने लगा।

"देखो, देखो ! घोड़े के पीछे मत जाओ। दोलत्ती मारेगा।" हसनदीन ने बढ़ कर बच्चे को रोक लिया।

वह उसका हाथ छुड़ाकर फिर कुदकड़े मारता दूसरी ओर से भाग गया।

क्षण-भर तक हसनदीन खड़ा उस बच्चे को देखता रहा—ईदू भी तो इतनी ही उमर का है। दो-एक साल बड़ा होगा। लेकिन उसके भाग्य में यह सब कहाँ है ? उसे तो बचपन ही से रोज़ी कमाने की चिन्ता लग गयी है। अगर कश्मीर में अमन रहा तो वह निश्चय ही ईदू की शादी करेगा, उसके बच्चों को पढ़ायेगा और उन्हें ऐसा ही बनायेगा। उसे पिछले बरस की एक घटना याद आयी। अंग्रेज़ बच्चों को अपने माता-पिता के लिए 'डैडी, मम्मी पापा, मामा' कहते देखकर उसे कभी ईर्ष्या न हुई थी। लेकिन इधर ऐसे भारतीय भी आने लगे, जिनका स्तर बहुत ऊँचा न था, जो अफ़सर भी नहीं थे। कई तो उनमें से टुटपुँजिये दुकानदार थे, जिन्हें वे लोग उपेक्षा से 'दालि-विज़िटर' कहते थे—दाल-भात खाकर पैदल कश्मीर की जन्नत का लुत्फ़ उठाने वाले। जब उनके बच्चे भी 'डैडी-ममी' अथवा 'पापा-मामा' पुकारते थे तो हसनदीन का जी होता था कि उसका ईदू भी उसे अब्बा कहना छोड़, 'डैडी' कहे। और पिछले बरस उसने एक दिन यासमन के सामने अपनी वह इच्छा प्रकट भी की थी।

लेकिन न ईदू उसकी बात समझा, न यासमन। जब उसने अपनी बात समझायी थी तो वह ठहाका मार कर हँस दी थी, 'कल तुम मुझसे भी कहोगे कि तुम भी पौडर-सुर्खी लगाओ और उन भुतनियों की तरह नंगे सिर, नंगे बदन घूमो।' और ईदू ने एक बार भी उसे 'डैडी' नहीं कहा।

इस बात का ध्यान आते ही हसनदीन अपने-आप हँस दिया। लेकिन तत्काल वह गम्भीर हो गया। कुदकड़े मारते उस मृग-शावक से बच्चे को देखकर उसे खयाल आया—ईदू शादी करेगा, उसके बच्चे होंगे, स्कूल-कॉलेज में पढ़ेंगे तो ज़रूर उसको 'पापा' या 'डैडी' बुलायेंगे। उसकी ज़िन्दगी तो भार ढोते बीत गयी, लेकिन ईदू के बच्चे ज़रूर साहब बनेंगे। बख्शी साहब कहता है—तालीम सबको मुफ़्त मिलेगी, फिर ईदू के साहब बनने के रास्ते में कौन-सी रुकावट रह जायगी। वह न सही, उसका बच्चा तो सुख-आराम पायेगा।

और उसने सोचा कि भविष्य के हवा-महल बनाने के बदले, उसे हाल की फ़िक्र करनी चाहिए। मुसाफ़िरों से पता करना चाहिए कि कोई अलपत्थर या अफ़राबट भी जा रहा है या नहीं ? ऊँची जगहों में जाने और दर्शनीय स्थानों को देखने में विज़िटर ही विज़िटरों का मन बनाते हैं।

लेकिन जिन सवारियों के घोड़े अभी रुके हुए थे, उसमें से कोई भी अफ़राबट अथवा अलपत्थर जाने वाली न थी। एक व्यापारी था, जो गुलमर्ग का जायज़ा लेने आया था कि वहाँ कुछ कारबार की सम्भावना है या नहीं। दो सरकारी

नौकर थे। केवल दो विज़िटर थे, लेकिन उनका इरादा सप्ताह-भर वहाँ रहने का था और वे लोग कुछ आराम करके खिलनमर्ग जाना चाहते थे। यह सूचना हसनदीन ने उनके साइसों से प्राप्त की थी। घोड़े वहाँ आठ-दस मिनट से ज़्यादा नहीं रुकते थे। कुछ सवार तो उतरे ही न थे, घोड़े पर ही बैठे थे, जो उतर गये थे, वे फिर सवार हुए और दायें हाथ को ऊपर जाने वाली सड़क की ओर बढ़ गये।

हसनदीन वापस मुड़ा। वह खन्ना साहब से सवार होने को कह ही रहा था कि नीचे से वह पार्टी भी आ पहुँची, जिनके साथ की युवती घोड़े से गिर गयी थी। वह शायद किसी दूसरे घोड़े पर सबसे आगे थी। उसके पीछे सूट-बूट-धारी किंचित अधेड़ व्यक्ति थे। तीसरा युवक सबसे पीछे पैदल आ रहा था।

खन्ना साहब घोड़े पर सवार होने वाले थे कि उनको देखकर ज़रा रुक गये। "क्यों साहब, कुछ चोट तो नहीं आयी इनके?"

युवती शर्मा गयी।

"नहीं जी, बचाव हो गया," उत्तर अधेड़ आदमी ने दिया।

"कितने दिन का प्रोग्राम है?"

"चार-पाँच दिन ठहरने का इरादा है।"

"हम तो कल ही वापस आ जायेंगे। महीना-भर किसी तरह दुकान से छुट्टी पाकर आये हैं। और महीने-भर में कश्मीर का एक कोना ठीक से नहीं देखा जा सकता।"

और खन्ना साहब घोड़े की ओर बढ़े, पर चलने से पहले उन्होंने पूछा, "किस होटल में ठहरने का इरादा है आपका?"

"अभी तक तो फ़ैसला नहीं किया, लेकिन चल कर देख लेते हैं। गुलमर्ग होटल है, खालसा होटल है और भी कहते हैं कि बाज़ार में ठहरने का प्रबन्ध है।"

"हम तो खालसा होटल में ठहरेंगे।"

और यह कहते हुए खन्ना साहब हसनदीन की मदद से घोड़े पर सवार हो गये। वे भी ज़्यादा देर तक नहीं रुके। बहुत दूर तक तो पैदल ही थे। घोड़ों से उतरे भी नहीं। खन्ना साहब की पार्टी चली तो वे लोग भी चल दिये। युवक सब के पीछे-पीछे पैदल चला। हसनदीन ध्यान से उनकी बातें सुनता रहा था। कुछ दूर चलने पर वह युवक के साथ-साथ चलने लगा। फिर सहसा उसने पूछा :

"क्यों साब, तुम क्या दिल्ली से आया है?"

"अभी तो दिल्ली से आये हैं, लेकिन हम दिल्ली के रहने वाले नहीं हैं।"

"क्या कलकत्ता, बम्बई से आया है?"

"नहीं, हम अफ़रीका से आया है।"

"अफ़रीका, क्या अमरीका का सूबा है?"

"अफ़रीका हिन्दुस्तान और अमरीका के बीच है, जहाँ हब्शी लोग रहते हैं।"

हसनदीन ने ध्यान से उस युवक को देखा। फिर झिझकता हुआ बोला, "लेकिन तुम तो हिन्दुस्तानी है।"

"हाँ, हम हिन्दुस्तानी है, पर हमारा दादा उधर चला गया था। उधर हमारा कारबार है। हम हिन्दुस्तान देखने आया है।"

"कश्मीर में क्या देखा ?"

"अभी तो हम आया है। श्रीनगर में डल, नगीन और शालमार-निशात देखे हैं। तीन-चार दिन गुलमर्ग देखेंगे, फिर पहलगाम जायेंगे !"

हसनदीन को अपनी बात कहने का अवसर मिला।

"गुलमर्ग तो साब, कश्मीर का जन्नत है। इधर कवाइली लोग ने इसे बरबाद कर दिया। माल-सामान यहाँ से वो साथ ले गया, लेकिन इसका ख़ूबसूरती तो साब, चोर-डाकू नहीं ले जा सकता। अफ़राबट, अलपत्थर और फ़िरोज़न लेक को तो साब, अब भी दूर-दूर से लोग देखने को आता है। अभी दो दिन पहले चार विलायती आया था। और कान्तारनाग और तीसे मैदान गया था। साब, तुम जब गुलमर्ग आया है तो तुमको बाबा रिशी, फ़िरोज़पुर नाला, खिलनमर्ग, अफ़राबट, अलपत्थर और फ़िरोज़न लेक ज़रूर देखना चाहिए। हमारा साब तो कल वापस नीचे जाता है। तुम साब, चाहेगा तो जहाँ बोलेगा, हम तुमको घुमायेगा। हमारा घोड़ा साब, एकदम असील है।"

"तुम्हारा साब क्या अलपत्थर और फ़रोज़न लेक देखने जा रहा है ?"

"बोल नहीं सकता साब, बाबा रिशी तो वो जाने को बोलता है। खिलनमर्ग भी शायद वो जाय। आगे तो साब, अगर साथ मिला तो जायगा, नहीं तो खिलनमर्ग से वापस लौटेगा।"

"हम कल खिलनमर्ग जाने की सोचते हैं।"

"अगर साब तुम अफ़राबट और फ़िरोज़न लेक जाना माँगता है तो तुमको सुबह चलना चाहिए। एक बजे अफ़राबट की चोटी पर पहुँचने को माँगता है। अफ़राबट की चोटी से इतना ख़ूबसूरत व्यू मिलता है साब, कि तबियत खुश हो जाता है। हमारा साब अगर ऊपर चलेगा तो हम तुमको फ़िरोज़न लेक तक ले चलेगा। हम साब, गाइड का काम भी करता है···"

हसनदीन अपनी जमा रहा था कि पीछे से वही लड़का एक घोड़े को तेज़ दौड़ाता लाया और उनके पास आकर उतर गया।

"नहीं, नहीं, हम तुम्हारे घोड़े पर नहीं चढ़ेंगे," उस युवक ने कहा।

"साब, दूसरा वाला घोड़ा है। एकदम असील है। उसको तो हम अड्डे पर छोड़ आया है।"

"नहीं, हम इतनी दूर पैदल आये हैं तो आगे भी पैदल जायेंगे।"

"साब, अभी बहुत रास्ता बाकी है। साब, हम गरीब मारा जायेगा, ठेकेदार हमारा पैसा काटेगा। साब हम गरीब आदमी है।"

और वह लड़का घोड़ा वहीं छोड़कर उसके पाँव पड़ गया। घोड़ा चुपचाप

अनासक्त खड़ा रहा। पहाड़ में उगी झाड़ियों में भी उसने मुँह मारने की कोशिश नहीं की। युवक ने निमिष-भर के लिए पाँवों में पड़े उस लड़के और चुप-चाप खड़े उस घोड़े को देखा; दोनों की आकृतियों पर कुछ ऐसी निरीहता थी कि वह बिना दूसरा शब्द कहे, लगाम थाम कर उस पर जा चढ़ा। और वह घोड़ा, जो लगता था कि जाने अब आगे चलेगा भी या नहीं, एकदम दौड़ पड़ा।

"वार-वार···वार-वार !" लड़का उसके पीछे भागता हुआ बोला और घोड़ा मन्थर-गति से चलने लगा। पर इतने ही में वह आगे जाने वाले लोगों के साथ जा मिला था।

हसनदीन ने अपने बोझ को एक बार फिर ठीक किया और कदम बढ़ाकर चल पड़ा।

'जो आता है, गुलमर्ग के बाद पहलगाम जाता है और गुलमर्ग में दो दिन रहता है तो पहलगाम दो महीने,' हसनदीन ने सोचा, 'पहलगाम के साइसों और किसानों की चाँदी है। गुलमर्ग जिन लोगों के लिए बना था, जो यहाँ की सर्दी में अपने देश की गर्मी पाते थे, वे लोग तो सात समन्दर पार चले गये। अब यहाँ आते हैं हिन्दुस्तानी, जिन्हें गुलमर्ग में खाँसी-जुकाम हो जाता है। यहाँ की ठण्डी, पाकीज़ा हवा से जिन्हें निमोनिया का डर रहता है···।'

'लेकिन उनका भी क्या कसूर है,' उनके विचारों ने पलटा खाया। 'गुलमर्ग में है ही क्या ! एक ढब की दुकान नहीं, ढब का होटल नहीं, ढब का बाज़ार नहीं। न डॉक्टर, न अस्पताल। कोई रहना भी चाहे तो क्योंकर। नीडो होटल है, पर सभी तो नीडो में नहीं जा सकते। रहा पहलगाम, तो उसकी क्या बात है ! दसियों जगह तो वहाँ से रास्ते जाते हैं। चन्दनवाड़ी, शेषनाग और अमरनाथ को वहाँ से लोग जायँ; आडू, लिद्दर-वट और कोलोहाई को वहाँ से लोग जायँ; तार-सर, मार-सर, दूध-सर और तुलियन झीलों को वहाँ से लोग जायँ। फिर लिद्दर का किनारा—लोग वहीं खेमों में रहें, वहीं नहायें, वहीं कपड़े धोयें—गुलमर्ग अंग्रेज़ों का बहिश्त था तो पहलगाम हिन्दुस्तानियों की जन्नत है। शेरे-कश्मीर की कोशिशों से जब कश्मीर में अमन हुआ और विज़िटर आने लगे और उसने सुना कि तीन हज़ार आदमी अमरनाथ की यात्रा को गये तो उसने सोचा था कि अगले साल वह अपने घोड़े लेकर पहलगाम चला जायगा। अमरनाथ की यात्रा शुरू हुई है तो अगले साल पाँच हज़ार लोग जायेंगे। वह सीज़न भर कमा कर घर आयगा। लेकिन दूसरे सीज़न के शुरू में जब उसने अपना इरादा ज़ाहिर किया था तो उसकी बूढ़ी अम्मा ने रोड़ा अटका दिया—'खुदा मछली को पानी में पैदा करता है, तो वहीं उसे ख़ूराक देता है। उसने हमें परेज़पुर में पैदा किया है तो यहीं खाने को भी देगा, अगर सभी घोड़वान पहल-गाम चले जायँ तो वहाँ भी भूखों ही मरेंगे, पहलगाम में अमरनाथ है तो गुलमर्ग में 'बाबा रिशी' है और 'बाबा रिशी' की शोहरत अमरनाथ से कम नहीं। दुआ माँग कि अमन कायम रहे और विज़िटर आयें, कहीं दूसरी जगह जाने की ज़रूरत

नहीं रहेगी। नीचे विज़िटर आने लगे हैं तो गुलमर्ग देखने ज़रूर आयेंगे। कोई श्रीनगर आये और गुलमर्ग न आये! अच्छा है दो-दो, चार-चार दिन रहें। रोज आयें-जायें, रोज़ सवारी मिले। घर की सूखी बाहर की चुपड़ी से भली है।'

और वह यहीं रह गया था। माँ की बात सच निकली थी। पिछले दो साल से सीज़न कुछ भरने लगा था और इसी साल बख़्शी साहब ने उजड़े गुलमर्ग में दो सरकारी दुकानें खुलवा दी थीं। फिर बात इतनी ही न थी। उनकी खेती भी थी। अखरोट और ख़ूबानी और आड़ू के पेड़ भी थे। उन्हें पेड़ों से उतारना और बाज़ार में बेचना औरतों का काम न था। यह ठीक है कि उसका भाई खेती देखता था, पर अकेले का वह काम न था।

उसके सामने पिछले कुछ बरस घूम गये, जब कबाइलियों के हमले के कारण कश्मीर में विज़िटर न आने के बराबर आये थे और उसके परिवार ने इन्हीं पेड़ों की बदौलत अपना पेट भरा था। कपड़े के बिना चल सकता है, पर पेट के दोज़ख को तो ईंधन चाहिए। अखरोट और ख़ूबानी और आड़ू खा-खा कर उन्होंने दिन काटे थे।

लेकिन अब तो हिन्दुस्तान से चावल और गेहूँ और अनाज आने लगा था और कश्मीर की चीज़ों के बाहर जाने पर बन्दिश लग गयी; एक पैसे की सब्ज़ी या दाल या मकई या चावल बाहर न जा सकते थे और उनके पेड़ ख़ूब फल रहे थे। पिछले साल उन्होंने पच्चीस रुपये के अखरोट बेचे थे। इस साल तो पचास रुपये भर के अखरोट उतरेंगे। लकड़ी के अनगढ़ सन्दूक अखरोटों से भरे हुए थे। बीस-तीस रुपये दूसरे फलों से कमा लेना बड़ी बात नहीं। अगर यह सीज़न लग जाय और यदि वह सब खर्च निकाल कर दो-तीन सौ रुपया बचा ले तो सौ रुपया सर्दियों के लिए अलग करके वह इसी साल ईदू का विवाह कर दे!...

अचाचक उसके कानों में अपना नाम पड़ा। खन्ना साहब उसे पुकार रहे थे। घोड़ा एकदम रुक कर किनारे की झाड़ियों में मुँह मार रहा था और खन्ना साहब बेतहाशा लगाम खींच रहे थे और उनकी डरी हुई आवाज़ सुनायी पड़ रही थी—"हसनदीन—हसनदी-ी-ी-न!"

"साब तुम गिरेगा नहीं, घोड़ा नीचे को झुके तो तुम पीछे को तन जाओ।" वह दूर से चिल्लाया।

"पीछे को तन जायँ, लेकिन तुम साथ-साथ क्यों नहीं चलते?" खन्ना साहब चिल्लाये, "वो देखो सब लोग कहाँ चले गये। यह कैसा घोड़ा है, जो चलते-चलते बीच में रुक जाता है। और तुम कहते थे—लगाम छोड़ दो तो सीधा अलपत्थर ले जायगा।"

"साब एकदम असील जानवर है, मगर जानवर है, आदमी नहीं। घास-पत्ती में मुँह मार देता है। साब ज़रा एड़ी लगायें तो सरपट चले।"

और उसने हाथ की पतली-सी टहनी उठायी और खन्ना साहब ने एड़ लगायी। घोड़ा उछलकर चला तो खन्ना साहब ने बेतहाशा लगाम खींची और

हसनदीन चिल्लाया—"वार-वार···वार-वार !"

घोड़ा धीमा पड़ा। खन्ना साहब की साँस इतने ही में फूल गयी। "वो लोग देखो कितनी दूर चले गये और यह घोड़ा तुम्हारे साथ ही चलता है, तुम्हारे बिना तो चलता ही नहीं।"

"साब, घबराओ नहीं, हम पहुँच गया है। बस इसी चढ़ाई के बाद गुलमर्ग का मैदान है। हमारी पीठ पर बोझ है, नहीं हम साब का लगाम हाथ में लेकर चलता।"

और बढ़कर उसने घोड़े की लगाम हाथ में ले ली।

चढ़ाई पार करते ही खन्ना साहब ने क्षण भर के लिए हसनदीन को गहरी झील के बाँध सरीखी उस सरकुलर रोड पर रुक जाने को कहा—सामने धानी घास की विशाल हरी तश्तरी-सा गुलमर्ग का मैदान फैला था। तश्तरी के पेंदे की इमारत तथा दूर दायीं ओर लकड़ी के मकानों की एक-सी पंक्ति इस तश्तरी की विशालता को और भी बढ़ा रही था।

"खालसा होटल कहाँ है ?"

हसनदीन ने तश्तरी के पेंदे में जूठन-सी लगी उस इमारत की ओर संकेत कर दिया।

लेकिन दूसरे क्षण खन्ना साहब की निगाह बिलकुल निकट ही बायीं ओर के बैरक-ऐसे मकान की ओर खिच गयी, जिसकी छोटी-सी बगिया में चादर-सा चौड़ा, उथला, पर समतल नाला बह रहा था। उसके किनारे तिपाइयाँ और कुर्सियाँ लगाये लोग बैठे थे और ऊपर एक बड़ा-सा बोर्ड टँगा था—'गुलमर्ग होटल'।

"साब एकदम सस्ता होटल है। कुक इसका दिल्ली में काम कर चुका है। खाना साब को खालसा होटल से अच्छा मिलेगा।" खन्ना साहब की निगाह का अनुसरण करते हुए हसनदीन ने जल्दी-जल्दी कहा।

"हम खालसा होटल उतरेंगे," खन्ना साहब बोले। लेकिन उन्होंने देखा कि उनकी बीवी और बच्चा होटल के गेट के पास रुके हैं और कुली बिस्तरों को होटल की, घोड़ों के कद जितनी ऊँची, चार-दीवारी से टिकाये, बीड़ी पी रहे हैं और दूसरी पार्टी के आदमी अन्दर चले गये हैं। और होटल के बरामदे में खड़े शायद कमरे तय कर रहे हैं। उन्होंने हसनदीन से चलने को कहा और वे सरकुलर रोड से नीचे उतरे।

"यह तो बड़ी सुन्दर जगह है," उनकी पत्नी ने उनके निकट आने पर कहा।

"सुन्दर है तो महँगी भी होगी," खन्ना साहब बोले, "हमें पहले खालसा होटल जा कर वहाँ कमरों का रेट ले लेना चाहिए।"

"साब, आपको सिर्फ़ एक दिन को रहना है···" हसनदीन ने कहना चाहा।

"चाहे एक घण्टे के लिए रहना हो! जब पैसा देना तो पैसे का दाम लेना।" उन्होंने किंचित चिढ़ कर उसकी ओर देखा, फिर बोले, "यों हम हज़ारों खर्च करते हैं, लेकिन जो खर्च करते हैं, उसका दाम भी वसूल करते हैं। यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती।"

और सचमुच यह बात हसनदीन की समझ में नहीं आयी।

लेकिन खन्ना साहब आगे नहीं बढ़े। हुआ यह कि कमरा तय करके अधेड़ आयु के वे व्यक्ति बाहर आये और उन्होंने कुलियों से समान अन्दर ले चलने को कहा।

"क्यों साहब, यहीं तय कर लिया?" खन्ना साहब ने पूछा।

"जी हाँ, यह उषा बाबा ऋषि जाना चाहती है। अगर वहाँ चलना है तो कुछ खाना-वाना तैयार कराना होगा। हम लोगों के रहने लायक यही दो होटल हैं और यह खालसा होटल से महँगा नहीं।"

खन्ना साहब होटल के सामने निरन्तर सरकती चादर-से बहते उस झरने को देख रहे थे। उन्हें शायद वह बड़ा अच्छा लग रहा था। तो भी उन्होंने कहा, "हमने सुना है, बाज़ार में भी कुछ रिहाइश का प्रबन्ध है।"

"दो-एक सिक्खों के ढाबे हैं।" वे बोले, "नीचे के ढाबे का धुआँ ऊपर कमरे में भर जाता है। बटोत के ढाबे-नुमा होटलों की तरह! मैं तो बटोत में भी रेस्ट-हाउस के खेमे में रहा था। हमारे लिए वहाँ रात काटना मुश्किल है। फिर ऊषा आज बाबा ऋषि देखना चाहती है। दिन-भर यदि कमरा देखने ही में बिता देंगे तो वहाँ कब जायँगे।"

और वे कुलियों के पीछे-पीछे चल दिये।

खन्ना साहब दुविधा में रुके रहे। फिर उन्होंने हसनदीन से कहा, "बाबा ऋषि तो हम भी जाना चाहते हैं, लेकिन बिना दूसरे होटल देखे हम यहाँ नहीं ठहरना चाहते!"

"साब, घोड़ा यहीं छोड़कर तुम कमरा देख लो!" हसनदीन ने उत्तर दिया, "खालसा होटल से महँगा नहीं। पसन्द न आया तो खालसा होटल चलेगा।"

मन में उसने दुआ की—'या खुदा, इन्हें यहीं ठहरा! यहाँ ठहरेंगे तो शायद अलपत्थर तक जायँ, नहीं शायद दोनाला भी न जायँ।'

खन्ना साहब को उसकी बात पसन्द आयी। बीवी और बच्चे को घोड़ों पर बैठे रहने का आदेश दे कर वे हसनदीन की मदद से नीचे उतरे और होटल के गेट के अन्दर बढ़े। हसनदीन ने कम्बल की गाँठ खोलकर अटैची केस और हैण्ड-बैग को होटल की चारदीवारी के साथ टिका दिया और कम्बल को लपेटता हुआ खन्ना साहब के पीछे भागा।

बड़ी ही छोटी बगिया में से होते, नाले पर बने छोटे-से लकड़ी के पुल को पार करते और एक दृष्टि नाले की उथली, लेकिन समतल तह में बिखरी बजरी पर डालते हुए, जिसके कारण वह सरकती चादर-सा लगता था, दोनों होटल के

बरामदे में गये, और हसनदीन भागकर बैरे को बुला लाया ।

नाले के पार सामने बरामदे ही में तीन और चार नम्बर के कमरे खाली थे । खन्ना साहब ने पहले तीन नम्बर का कमरा देखा—लकड़ी के फ़र्श पर मैली-सी दरी बिछी थी और अँगीठी के नीचे चारपाई पड़ी थी । एक चारपाई इधर दीवार से लगी थी । एक छोटी-सी मेज़-कुर्सी भी थी । कमरा बहुत बड़ा नहीं था । बाथरूम साथ ही था । उसका भी फ़र्श लकड़ी का था । बाहर के कमरे से वह बड़ा था अथवा खाली था, इसलिए बड़ा लगता था ।

चार नम्बर का कमरा और बाथरूम दोनों छोटे थे । चारपाई वहाँ एक ही आ सकती थी । तीन नम्बर का चार और चार नम्बर का तीन रुपया दैनिक किराया होटल के बैरे ने बताया ।

खन्ना साहब आश्वस्त हुए, क्योंकि उनके मित्र ने श्रीनगर में यही बताया था कि खालसा होटल में कमरा तीन-चार रुपये रोज़ पर मिल जायगा । किन्तु मुँह-माँगे दाम दे देना उनकी कारोबारी वृत्ति को स्वीकार नहीं था, इसलिए उन्होंने चार रुपये वाले के दो और तीन रुपये वाले का एक रुपया कहा ।

बैरे ने कुछ उत्तर नहीं दिया । हिकारत की एक दृष्टि उन पर डालता हुआ वह चला गया ।

'यह कैसी धनी सवारी है ?' क्षण-भर को हसनदीन के मन में कौंधा । लेकिन दूसरे क्षण उसने मन को समझाया कि अंग्रेजों का समय नहीं रहा, हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया तो क्या हुआ, हिन्दुस्तानियों की दास-वृत्ति तो नहीं गयी । 'बड़े-से-बड़ा अमीर आदमी भी भाव-ताव करना नहीं भूलता ।' यह बात वह पिछले दो-तीन वर्षों के अनुभव ही से जान गया था । इसलिए उनकी इस बात को नजर-अन्दाज़ करते हुए उसने उन्हें समझाया कि चाहे वे घण्टों सारे गुलमर्ग में मारे-मारे फिरें, इस किराये पर उन्हें कमरा नहीं मिलेगा । ढाबे के ऊपर शायद दो रुपये में मिल जाय, पर वहाँ रहने पर मेम साब और बच्चे को तकलीफ़ होगी । बाथरूम वहाँ है नहीं और सख्त सर्दी में बाहर जाना पड़ेगा । "साब, मैं उसको बोलता हूँ । शायद वो चार के बदले तीन और तीन के बदले दो मान जाय ।" उसने खन्ना साहब से कहा ।

बैरे की उस हिकारत-भरी नज़र से खन्ना साहब स्वयं सकपका गये थे, इसलिए जब हसनदीन ने उन्हें समझाया तो वे तत्काल मान गये ।

यों सेठ को मना कर हसनदीन बैरे के पास गया और उसने उसे मना लिया ।

"किस कमरे में सामान रखेगा साब ?" आ कर उसने खन्ना साहब से पूछा ।

"चार नम्बर में !"

"साब उसमें तो एक ही पलँग है । मेम साब और बच्चा को तकलीफ़ होगा ।" हसनदीन की आँख में आश्चर्य का जो भाव था, वह उनसे छिपा नहीं

रहा। बरामदे से एक कुर्सी घसीट कर नाले के किनारे रखते और उस पर पसरते हुए बड़ी बेपरवाही से उन्होंने कहा, "अरे भाई, हमको पलँग-वलँग की क्या ज़रूरत है। पहाड़ पर आने को हम लम्बी पिकनिक समझते हैं। हम पहाड़ पर जाते हैं तो हमेशा ज़मीन पर सोते हैं।।

"पर साब यहाँ ठण्ड है, बच्चा को सर्दी लग जायगा।"

खन्ना साहब उससे हज़ारों रुपया ख़र्च करने का बात कह चुके थे। तभी वहाँ बैरा भी आ गया, उसकी आँखों में उनके प्रति जो घृणा का भाव था, उसे वे झुठला देना चाहते थे, इसलिए उसी शाहाना बेपरवाही से उन्होंने कहा, "अरे भाई तो तीन नम्बर का ले लो। क्या फ़र्क पड़ता है! मेम साहब और बच्चे को जाकर ले आओ! हम यहीं बैठते हैं।"

हसनदीन बैरे से बात पक्की कर, बाहर भाग गया और दूसरे क्षण खन्ना साहब की श्रीमती बच्चे के साथ सामान के आगे-आगे आ गयीं।

"तीन नम्बर का कमरा लिया है।" खन्ना साहब ने वहीं बैठे-बैठे कहा और ज़ोर से अँगड़ाई ली।

अपने साम्राज्य में प्रवेश करने वाली "साम्राज्ञी की तरह" खन्ना साहब की बीवी उस कमरे में दाखिल हुई और उसने हसनदीन को आदेश दिया कि वह कुलियों से सामान उतरवाये। फिर वह खट-खट करती बाहर आयी और उसने खन्ना साहब से पूछा :

"कितना किराया है रोज़ का ?"

"तीन रुपये।"

"सस्ता नहीं था ?"

"चार नम्बर का कमरा दो रुपये में मिलता था, लेकिन वहाँ दो चारपाइयाँ नहीं आ सकती। ज़मीन पर सोना पड़ता।"

"सो लेते पहाड़ पर आ कर भी चारपाइयों पर सोये तो सैर का क्या मज़ा रहा !"

"यहाँ ज़्यादा ठण्ड है और फिर बच्चा साथ है, रिस्क (risk) नहीं लेना चाहिए।" और यह कहते हुए उन्होंने बरामदे की तरफ़ देखा कि कहीं हसनदीन ने उनकी बातें तो नहीं सुन लीं।

खन्ना साहब की बीवी वापस चली गयी और वे नाले की उस फिसलती-सी चादर को देखने लगे, दूसरे क्षण उनका बच्चा उनके पास आ बैठा।

कुली सामान कमरे में छोड़, और मेम साहब के आदेशानुसार बिस्तर खोल-कर और उन्हें चारपाइयों पर बिछा कर आ गये थे। खन्ना साहब ने उन्हें विदा किया। हसनदीन ज़रा अन्तर पर चुपचाप आ खड़ा हुआ कि साहब उधर ध्यान दें तो बाबा ऋषि का प्रोग्राम तय करे।

"पापो जी, यहाँ फ़ोटो नहीं लेंगे ?" बच्चे ने कहा।

"जरूर लेंगे !" पापो जी बोले, "ज़रा तुम्हारी मम्मी आ जाय।" बच्चा

उठा और उन अधेड़ आयु वाले साहब से जा मिला, जो बरामदे के अपने कमरे के बाहर खड़े थे। उन्हें घसीटता हुआ वह अपने पापा के पास ले आया।

"आइए साहब, आइए, आइए बैठिए!"

और खन्ना साहब दूसरी कुर्सी घसीट कर वहाँ ले आये।

तब बातों-बातों में मालूम हुआ कि उन अधेड़ उम्र वाले व्यक्ति का नाम ज्ञानचन्द्र उप्पल है। दिल्ली के एक कॉलेज में प्रोफ़ेसर हैं। साथ में उनकी भतीजी है, (खन्ना साहब ने उसे उनकी बुढ़ापे की नयी-ब्याही पत्नी समझा था, क्योंकि उसकी आयु तीस-बत्तीस की ज़रूर थी।) बी० ए० है, उसकी तबीयत कुछ खराब हो गयी थी, इसलिए उसे ले आये हैं।

खन्ना साहब ने अपना परिचय दिया और पूछा, कौन-सा सबजेक्ट पढ़ाते हैं?

उन्होंने बताया कि उन्होंने इतिहास और अर्थशास्त्र में एम० ए० किया है और अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट ली है। पढ़ाते वे अर्थशास्त्र हैं, लेकिन आवश्यकता पड़ने पर इतिहास की कक्षाएँ भी लेते हैं।

"यह लड़का आपका रिश्तेदार है क्या?"

"नहीं यह भी कश्मीर देखने आया है। बड़ा भला लड़का है। अकेला था। हमने साथ मिलकर हाउस-बोट ले लिया, इसलिए यह हमारे साथ गुलमर्ग आ गया।···" और कुछ रुक कर उन्होंने पूछा, "आप चल रहे हैं बाबा ऋषि?"

"इरादा तो है।"

"खाना खाकर चलेंगे या वहाँ चलकर खायेंगे? सुना है वहाँ ऋषि की समाधि से ज़रा इधर झरना बहता है। उसी के किनारे खाना खायें। दरी साथ ले चलेंगे।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

"तो मैं कुछ सैंडविच तैयार करा लूं, आप···"

"हमारी फ़िक्र न कीजिए। अव्वल तो हमने टंगमर्ग में काफ़ी नाश्ता कर लिया था, फिर हम साथ परांठे लाये हैं···"

श्री उप्पल चले गये। खन्ना साहब ने देखा—हसनदीन उनकी बात सुन रहा है। उन्होंने अपना रुख उसकी ओर मोड़ लिया।

"··· ये सैंडविच-फैंडविच हमसे नहीं खायी जातीं, कहाँ शुद्ध घी में रचे परांठे और कहाँ ये मैदे के सैंडविचें!" और वे स्वयं हँसे।

हसनदीन ने अंग्रेज़ों को सदा अण्डे या पनीर की सैंडविच पिकनिकों पर साथ ले जाते देखा था। उसे स्वयं भी उन्हें खाने का अवसर मिला था और अपने मोटे चावलों या मक्कई की रोटी और स्च्येरू के मुकाबिले में वह उसे अच्छी भी लगी थीं, लेकिन खन्ना साहब को हँसते देखकर वह भी समर्थन के रूप में हँस दिया। मन-ही-मन उसने बाबा ऋषि के हुज़ूर में सिर झुकाया, जिन्होंने उसके मन की मुराद पूरी की थी, फिर वह बाहर ईद्दू और ममदू को यह ख़बर देने चला गया कि साहब अभी बाबा ऋषि देखने चलेंगे।

जब वे लोग बाबा ऋषि के लिए चलने लगे तो उप्पल साहब ने सहसा ऊषा से कहा कि एक दरी ले ले।

"साब तुम भी एक दरी ले लो।" हसनदीन ने खन्ना साहब को सुझाया।

"क्यों ?"

"साब बैठने को, खाना-वगैरा खाने को, मेम साब और बच्चा के आराम करने को।"

"वहाँ क्या घास नहीं है ?"

"है साब।"

"तो फिर चलो ! इन नज़ाकतों और नफ़ासतों के हम कायल नहीं—'घर में चाहे गद्दों और गदेलों पर सोओ, लेकिन वक्त आने पर सूखी धरती पर सोने में मत झिझको'—अपने बच्चे को मैं यही सिखाता हूँ।"

उप्पल साहब और उनकी पार्टी आगे निकल गयी थी। अपनी बीवी और बच्चे को घोड़ों पर सवार करके खन्ना साहब स्वयं भी हसनदीन की मदद से घोड़े पर सवार हुए।

कुछ दूर मैदान में चलकर वे बाज़ार के इस किनारे से पीछे की ओर को, कुछ ऊपर की तरफ़ बढ़े। हसनदीन ने उन्हें बायीं ओर दुकानों के खँडहर बताये, जिन्हें कबाइलियों ने लूट कर जला दिया था और फिर दो-तीन वर्षों की निरन्तर बर्फ़बारी ने ढा दिया था।

"पहले क्या बर्फ़ नहीं पड़ती थी ?" खन्ना साहब ने पूछा।

"ख़ूब पड़ता था साब, पर हटा दिया जाता था। लेकिन जब गुलमर्ग लुट गया और लड़ाई शुरू हो गया। विज़िटर लोग आना बन्द हो गया तो ये सब दुकान अपने-आप ढह गया।

ओर हसनदीन के सामने वे दिन घूम गये, जब कबाइलियों की सेना का एक हिस्सा बारामूला सें श्रीनगर को जाता हुआ गुलमर्ग को मुड़ आया था। टंगमर्ग और गुलमर्ग पर उन्होंने अधिकार कर लिया था और गुलमर्ग और टंगमर्ग की लूट से पाँच सौ ट्रक भरकर साथ ले गये थे।

उस सूने खँडहर बाज़ार की समाप्ति पर एक रास्ता नीचे की ओर बाबा ऋषि को जाता था। खन्ना साहब ने हसनदीन से कहा कि वह लगाम थामकर उनके साथ-साथ चले और उन्होंने आवाज़ देकर ईदू और ममदे से कहा कि वे घोड़ों को थामकर चलें।

"साब, कुछ फ़िकिर नहीं। ढलान पर घोड़ा उतरे तो पीछे तन कर बैठो।"

खन्ना साहब पीछे को तनकर बैठ गये, पर हसनदीन ने आगे बढ़कर लगाम थाम ली।

तब जाने क्यों खन्ना साहब ने फिर वही सैंडविचों वाली बात चला दी। बोले—"हम लोग दिल्ली में जब पिकनिक पर जाते हैं तो मालूम है क्या साथ ले जाते हैं ?"

क्षण-भर वे हसनदीन का उत्तर सुनने को रुके ।

जब हसनदीन एक बार उनकी ओर देखकर, बिना उत्तर दिये उसी तरह घोड़े की लगाम थामे चलता रहा तो खन्ना साहब सोल्लास बोले, "सैंडविच-फैंडविच, जैम-फैम नहीं, आलू-मूली के पराँठे और बढ़िया जमा हुआ दही या फिर शलजम और गोभी का अचार ! ख़ूब घूमने-फिरने और धमा-चौकड़ी मचाने के बाद अचार या दही के साथ आलू के पराँठे खाने का मज़ा खाने वाले ही जान सकते हैं ।"

और जैसे खन्ना साहब कल्पना ही में वह स्वाद लेने लगे थे, कुछ क्षण तक चुपचाप, पीछे को तने, घोड़े पर बैठे चलते रहे, फिर बोले, "लेकिन आज के ये बेचारे आधे साहब आधे हिन्दुस्तानी लोग करें भी क्या ! उन पराँठों को हज़म करने के लिए आँतें भी तो मज़बूत चाहिएँ । पंजाबी खाने को पंजाबी ही पचा सकते हैं ।"

हसनदीन बहुत-से ऐसे पंजाबी साहबों को जानता था, जो अंग्रेज़ों के ज़माने में भी गुलमर्ग आते थे और रहन-सहन में, खाने-पीने में किसी तरह अंग्रेज़ों से कम न थे । "साब, इधर तो पंजाबी लोग भी अंग्रेज़ के माफ़िक खाना खाता और कपड़े पहनता है ।" सहसा उसने पलट कर कहा ।

"अब पहनने को तो हमीं पैंट-कोट पहन लेते हैं," खन्ना साहब बोले, "लेकिन खाना तो भाई हम अपना ही खाते हैं । यह उबला हुआ गोश्त और सब्ज़ी, तरकारियाँ बिना नमक-मिर्च और मसाले के, यह भी कोई आदमियों का ख़ाना है ! कहाँ रोस्ट मटन और कोल्ड मटन और कहाँ कोरमा और रोग़न-जोश ! कहाँ डबलरोटी और सलाइसें और कहाँ घी में रचे हुए पराँठे ! और फिर भाई, यह पैंट-कोट भी हम बाहर ही पहनते हैं । यहाँ घोडों पर जगह-जगह घूमना पड़ता है, इसके लिए यही लिबास अच्छा है । लेकिन नीचे तो हम सिवाय तहमद के और कुछ नहीं पहनते । जो मज़ा लम्बे कुर्ते और तहमद में है, वह साला इन कोट-पैंटों में क्या होगा ?—गले में सिल्क का लम्बा कुर्ता, कमर में सिल्क का तहमद और पाँव में कमालिये का जूता—लगता है, जैसे आदमी को पंख लग गये हों—पंजाबियों की सेहत का राज़ इसी खुले खाने-पीने और खुले रहन-सहन में है ।"

अब हसनदीन को कहने के लिए कुछ बात मिली, हँसते हुए बोला, "हाँ साब, पंजाबी लोग का क्या बात है, ख़ूब खाने-पीने और मौज उड़ाने वाला आदमी है । पाँच-छह साल पहले की बात है, एक पंजाबी साब हर साल गुलमर्ग आता था । यहीं नीडो में ठहरता था । आते ही हमको खबर देता था कि हसनदीन अपना घोड़ा लेकर आओ । वह हमारे घोड़े के सिवा किसी दूसरे पर चढ़ता नहीं था । एक बार साब, हम उसको अलपत्थर ले गया । ऊपर अफ़राबट पर तूफ़ान आ गया । बर्फ़-गाड़ी कोई थी नहीं । साब हम नीचे मोमजामा बिछाकर आगे बैठा, साब को हमने पीछे बैठाया और हम बर्फ़-गाड़ी की तरह फिसलता साब को नीचे

ले आया। साब इतना खुश हुआ कि उसने हमको दस रुपया इनाम दिया। बख़्शीश देने में वो किसी अंग्रेज़ से कम नहीं था।"

"अरे पंजाबियों की क्या बात है," खन्ना साहब ने दायें हाथ से हवा को चीरते हुए कहा, "दिल के तो दरिया होते हैं, दरिया।" और उन्होंने अपनी एक दरियादिली का किस्सा सुनाना शुरू किया कि किस तरह पिछले इतवार उन्होंने डल की सैर करने के लिए दिन-भर को एक शिकारा लिया, शालामार, निशात, चश्माशाही देखते हुए वापसी पर नेहरू पार्क में रुककर अमीराकदल आने का प्रोग्राम था। वहीं एक हाउस-बोट में ठहरे थे। शिकारे वाला तेरह रुपया माँगता था, दस रुपये में फ़ैसला हुआ। लेकिन जब वे वापस आये तो उन्होंने उसको पन्द्रह रुपये दिये।

और यह किस्सा बताते हुए उनके चेहरे पर एक अलौकिक उल्लास और आभा झलक उठी।

"लेकिन वो पंजाबी साब कभी मोल-भाव नहीं करता था।" हसनदीन ने घोड़े को एक नाले से बचाकर जाते हुए कहा।

क्षण-भर को खन्ना साहब के चेहरे का उल्लास हवा हो गया। लेकिन जब घोड़ा सहज भाव से उस नाले को लाँघ गया तो वे बोले, "हम भाई कारोबारी आदमी हैं। मोल-भाव किये बिना तो हम एक कदम नहीं चल सकते और हमारा विश्वास है कि हिसाब माँ-बेटी का और बखशीश लाख टके की!"

और जैसे इस बात से उन्होंने हसनदीन की बात को काट दिया हो, वे फिर ख़ुशी से फूल उठे। हसनदीन ने भी उनकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलायी, "हाँ साब, यह बात तुम ख़ूब बोला है, हम भी इसको मानता है।"

और खन्ना साहब खुश होकर अपने दादा का किस्सा सुनाने लगे कि वे कितने उदार-दिल थे। कौड़ी-कौड़ी जोड़कर उन्होंने लाखों रुपये पैदा किये, भारी कारोबार फैलाया, लेकिन एक दिन बात आ पड़ने पर उन्होंने सारी ज़िन्दगी की कमाई पलक झपकते दान कर दी।

हसनदीन की उत्सुकता ऐसे हातिमताई की कहानी सुनने को बढ़ रही थी कि सहसा खन्ना साहब ने देखा, उनके बच्चे का घोड़ा दौड़ने लगा है और कुक्कू लगामें खींचने की बजाय उन्हें ढीली छोड़े, घोड़े को एड़ लगा रहा है और वे भयातुर होकर चिल्ला पड़े और यद्यपि हसनदीन ने उन्हें विश्वास दिलाया कि घोड़ा गिरायेगा नहीं, लेकिन खन्ना साहब ने उसे घोड़े के पीछे भगा दिया कि उसे रोके और ईदू को हिदायत दे कि घोड़े की लगाम न छोड़े।

बाबा पामदीन की समाधि पर पहुँचकर हसनदीन ने छोटे-से बाज़ार के सिरे पर घोड़े रोक दिये और खन्ना साहब को सहारा देकर उतारा और संकेत करते हुए कहा, "साब, रिशी का ज़यारतगाह उस तरफ़ है। घोड़ा यहीं तुम्हारा इन्तज़ार करेगा। पहले तुम रिशी का दर्शन करेगा या लंच खायगा? तुम्हारा साथी लोग

तो वो देखो, उधर जा रहा है। ढलान पर शायद आराम करेगा।"

"नहीं, हम लोग पहले बाबा ऋषि के दर्शन करेंगे।" खन्ना साहब ने उत्तर दिया।

लेकिन उनका लड़का घोड़े से उतरते ही भागकर दुकान पर पहुँच गया था और हरे मनकों की माला लेने के लिए शोर मचा रहा था।

खन्ना साहब और उनके पीछे-पीछे हसनदीन दुकान पर पहुँचे—

"अरे, यह तो लड़कियों की माला है। तुम लड़के हो या लड़की?" खन्ना साहब ने बच्चे को खींचते हुए कहा।

छोटा-सा बाज़ार था। दो-तीन दुकानें थीं, जिनमें कश्मीरियों की ज़रूरत का सामान था, चावल, आटा, दाल, राजमाश, स्च्येरु नान, दूध-रोटी, लवास, हरी चाय, बीड़ी, चार मीनार और सस्ते सिगरेटों की डिब्बियाँ, दियासलाइयाँ, कुछ सस्ते कपड़े, टोपियाँ, इत्यादि···विज़िटरों के लिए तो सिवाय रंगीन पत्थरों की मालाओं और चाँदी के दिखायी देने वाले, पर वास्तव में गिलट के, गहनों के अतिरिक्त कुछ न था।

"अरे साब, ले दो बच्चा को माला!" हसनदीन ने पीछे से कहा।

खन्ना साहब ने एक खोखला ठहाका लगाया, "लो देखो कुक्कू, हसनदीन तुम्हें लड़की बनाने को कहता है।"

पर तब लड़का कुल्ले-ऐसी कश्मीरी टोपी लेने की ज़िद करने लगा।

खन्ना साहब और भी ज़ोर से हँसे, "यह तो कश्मीरी साईसों की टोपी है। यह देखो हसनदीन ने पहन रखी है। तुम क्या हातो बनोगे?"

तभी श्रीमती खन्ना ने पीछे से आकर लड़के का हाथ खीचा:

"चलो, "पहले ही देर हो गयी है। बाबा ऋषि के दर्शन कर खाना खायेंगे, फिर जो चाहो, ले देंगे!"

उनकी बीवी बच्चे का हाथ पकड़े आगे-आगे चली तो खन्ना साहब भी हँसते हुए पीछे चले। बच्चा ज़िद कर रहा था और उनकी बीवी समझाती हुई उसे बरबस लिये जा रही थी और हसनदीन सोच रहा था—'अगर साब बच्चे को टोपी ले देता तो क्या बिगड़ जाता। क्या माला पहनने से वह लड़की और टोपी पहनने से साईस बन जायगा? यह साब कैसा है, जो आठआने-रुपये के लिए बच्चा को रुला रहा है···'

"हसनदीन, चलो तुम आगे-आगे!" सहसा खन्ना साहब ने उसकी विचार-धारा तोड़ते हुए कहा।

ईदू और ममदे को वहीं आराम करने के लिए कह कर वह उनके आगे-आगे हो लिया।

बाबा ऋषि की समाधि बाज़ार से ज़रा दूर थी। बीच में बाहर से आने वाले श्रद्धालुओं और ज़ियारतगाह के खिदमतदारों के लिए कोठड़ियाँ बनी हुई थीं। उस वक्त भी वहाँ कोई कश्मीरी परिवार उतरा हुआ था। कोठड़ियों के

बाहर खुले में देग चढ़ी थी और उसके इर्द-गिर्द कश्मीरी औरतों का झुण्ड बाबा ऋषि की स्तुति के गीत गा रहा था। हसनदीन उनके पास से निकलता हुआ खन्ना साहब को समाधि तक ले गया।

"इसकी छत शाह हमदान के मकबरे जैसी बनी है। मकबरे के बाहर क्षण-भर को रुककर खन्ना साहब ने अपनी बीवी को समझाया।

मकबरे के छोटे-से दरवाज़े पर रंगीन पर्दा पड़ा था। उनके पहुँचते ही मुजा--विर ने पर्दा हटा दिया। अन्दर बड़ा-सा चौकोर कमरा था। जिसके बीचों-बीच बाबा ऋषि की कब्र थी। हसनदीन ने अन्दर प्रवेश करते ही बाबा ऋषि के हुज़ूर में सिर झुकाया। खन्ना साहब, उनकी बीवी तथा बच्चे ने उसका अनुकरण किया। फिर हसनदीन के पीछे-पीछे उन्होंने परिक्रमा की। ज़ियारतगाह लकड़ी की बनी थी और उसकी दीवारों में हवा के लिए बड़ी खूबसूरत झिलमिली जालियाँ बनी थीं। सहसा खन्ना साहब ने रुककर पूछा:

"हसनदीन, यह झिलमिली में तागे और बाल कैसे बँधे हैं!"

हसनदीन ने उन बँधे हुए तागों और बालों की लटों का महत्व उन्हें समझाया और बोला, "साब, तुम भी मन्नत मानो, बाबा रिशी ज़रूर-बर-ज़रूर पूरा करेगा।"

तब खन्ना साहब ने तागा और उनकी पत्नी ने बालों की लट झिलमिली में बाँधकर मन्नत मानी। खन्ना साहब ने कहा कि उन्हें मिलिट्री का ठेका मिल जाय और खन्ना साहब की बीवी ने दूसरे बच्चे की कामना की। कुक्कू दस बरस का था और उसके बाद उसके दूसरा बच्चा न हुआ था।

मन्नत मानकर दोनों ने बाबा के हुज़ूर में सिर नवाया और परिक्रमा पूरी करके बाहर निकल आये।

मुजाविर आशा-भरी निगाहों से उनकी ओर देख रहा था।

"साब यहाँ कुछ ख़ैरात करना चाहिए।" हसनदीन ने उन्हें सुझाया।

खन्ना साहब ने जेबें टटोलीं। फिर मुजाविर से बोले, "मेरी जेब में रेज़गारी नहीं, दस-दस के नोट हैं। हम बाबा ऋषि की खिदमत में फिर हाज़िर होंगे और अगर हमारे मन की मुराद पूरी हो गयी तो बाबा को खूब खुश कर देंगे।" (रिश्वत की इस भाषा के अतिरिक्त वे दूसरी भाषा नहीं जानते थे।)

मुजाविर ने हँसकर दुआ दी कि उनके मन की मुराद बर आये और वे फिर वहाँ तशरीफ़ लायें और ख़न्ना साहब और उनकी देखा-देखी उनके बीवी-बच्चे ने हाथ जोड़े और वे वापस फिरे।

खन्ना साहब ने अपनी पत्नी को अंग्रज़ी में समझाया कि जब तक मुराद पूरी न हो जाय, वे ख़ैरात करने में विश्वास नहीं रखते और चलते-चलते वे आत्म-तोष से हँस दिये।

लेकिन हसनदीन को बाबा ऋषि की समाधि पर उनका कुछ भी ख़ैरात न करना अच्छा नहीं लगा। वह कहना चाहता था, 'साब, हम एक-दो रुपया दे

दें !' पर साब बुरा न मान जाय, इस डर से वह चुप रहा। हाँ, उसने यह किया कि जेब से दो आने के पैसे निकाल बाबा की चौखट पर रखकर सजदा कर दिया और भागकर उनसे जा मिला।

बाज़ार के निकट पहुँच कर खन्ना साहब ने कहा, "हसनदीन, अब हम खाना खायेंगे और कुछ आराम करेंगे, तुम भी चाय-वाय पी लो और आराम कर लो। दो घण्टे बाद हम चलेंगे।"

और यह कहकर उन्होंने कैनवस का बैग उठाया।

हसनदीन ने बढ़कर बैग उनसे ले लिया।

खन्ना साहब आगे चलते हुए बोले, "झरना किधर है ? हम वहीं चलेंगे, ताकि पानी की दिक्कत न हो।"

"पानी की फ़िकिर साब तुम मत करो। पानी हम लायेगा। तुम उधर घास पर बैठो।" फिर खन्ना साहब को तनिक रोककर उसने कहा, "साब, हमको कुछ मिल जाता तो हम उन लोगों के चाय-पानी का इन्तज़ाम कर देता।"

खन्ना साहब ने बेपरवाही से जेब में हाथ डाला और एक दस का नोट निकाला, "मैं भूल गया रेज़गारी लेकर चलना। मेरे पास दस-दस के नोट हैं, इसीलिए बाबा ऋषि से उधार कर लिया।"

और वे हँसे।

नोट देखकर हसनदीन ने कहा, "साब एक रुपया मिल जाता तो हमारा काम चल जाता।"

खन्ना साहब फिर हँसे। "चलते वक्त, मैं नोट तुड़वाना भूल गया।" फिर निमिष-भर रुककर उन्होंने पूछा, "यहाँ कहीं नोट टूट जायगा ?"

"साब दस का नोट यहाँ कौन तोड़ेगा।"

खन्ना साहब ने नाटकीय ढंग से नोट आगे बढ़ाया, "तुम यह ले लो। तुम्हारा तो काफ़ी पैसा हमें देना है।"

हसनदीन चाहता था कि कल खिलनमर्ग भी वे उसी के घोड़े पर जायँ। बोला, "नहीं साब, रहने दो ! हम अपने पास से खर्च कर लेता है। दस रुपया हम क्या करेगा ?"

खन्ना साहब ने नोट तत्काल जेब में रख लिया और बड़ी बेपरवाही से बोले, "हाँ, हाँ, तुम अपने पास से ख़र्च कर लो। फिर हिसाब हो जायगा।"

"साब तुम चलो बैठो। हम उन लोगों को कुछ पैसा देकर दो मिनट में आता है।"

और हसनदीन भागा। उसने ममदे को आठ आने दिये और कहा कि साहब के पास तो दस का नोट है, अभी कुछ बखशीश नहीं मिली। यह आठ आने लेकर वह कुछ खाने-पीने का सामान ले आये और वे दोनों चाय बनवा कर पियें, वह साब लोग को खाना खिलाकर आता है।

और वह पलटा।

खन्ना साहब उसकी प्रतीक्षा में रुके थे, उनकी बीवी ज़रा अन्तर पर रुकी, उन दोनों का इन्तज़ार कर रही थी, लेकिन बच्चा भाग कर उप्पल साहब के पास चला गया था।

खन्ना साहब अपनी बीवी के साथ इस तरह चले, जैसे उनका इरादा उप्पल साहब से तनिक फ़ासले पर अड्डा जमाने का हो। तभी उनका बच्चा वहीं से आवाज़ देने लगा, "पापो जी, इधर आइए।"

"इधर आओ, हम इधर बैठेंगे।" उन्होंने कृत्रिम क्रोध से पुकारा।

बच्चा वहीं मचलने लगा। तब उप्पल साहब ने आवाज़ दी, "इधर आ जाइए साहब।"

खन्ना साहब जैसे अनिच्छापूर्वक चले। उप्पल साहब, उनकी भतीजी और वह युवक जैम इत्यादि के डिब्बे खोले खाना खा रहे थे। खन्ना साहब का लड़का निःसंकोच उनके साथ सैंडविच उड़ा रहा था।

"आइए साहब, नोश फ़रमाइए!"

"हम तो पराँठे लाये हैं।"

"पराँठे भी खाइए और ये भी लीजिए। हमारा तो पेट ही ठीक नहीं रहता, नहीं पराँठे कभी मेरी कमज़ोरी रहे हैं। ऊषा आपका साथ देगी।"

और यह कहते हुए उन्होंने बड़े इत्मीनान से एक सैंडविच को जैम लगाकर उसे दाँतों में रखा।

खन्ना साहब ने हसनदीन से बैग लेकर उसमें से पराँठों का डिब्बा निकाला और एक-एक उन्होंने सबके आगे रखा। उप्पल साहब तो पहले ही अपने आमाशय की शिकायत कर चुके थे, उनकी भतीजी ने बासी पराँठा देखकर ऐसा मुँह बनाया कि उप्पल साहब को आँख से उसे शिष्टता बनाये रखने का संकेत करना पड़ा। उसी संकेत के कारण उस अफ़रीकी युवक ने पराँठे का एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में रख लिया और उसकी प्रशंसा भी की।

"ज़रा दही अथवा शलजम के आचार के साथ खाइए!" खन्ना साहब प्रसन्न होकर बोले, "ज़रा ठण्डे हो गये हैं। गर्म-गर्म तवे से उतरें तो उँगलियाँ तक चाट जाने को जी चाहता है।" और पराँठों की तारीफ़ करते और ऊषा और उस अफ़रीकी युवक को एक-दो ग्रास और खाने का अनुरोध करते हुए वे बड़े निःसंकोच भाव से सैंडविचों पर हाथ साफ़ करने लगे।

हसनदीन काफ़ी देर से किंचित फ़ासले पर चुपचाप खड़ा यह सब देख रहा रहा था। पराँठों का डिब्बा खाली करके खन्ना साहब ने उसे दिया कि उसे मिट्टी से माँज-धोकर भर लाये।

श्रीमती खन्ना ने कहा कि वे भर लायेंगी। लेकिन खन्ना साहब ने कहा, "नहीं, वह भर लायेगा' तुम बैठो।" हसनदीन पानी भर लाया तो बच्चे ने उससे डिब्बा छीन लिया। श्रीमती खन्ना झरना देखने के बहाने उठ गयीं और उन्होंने वहाँ झरने पर जाकर पहले पानी पिया, फिर कुल्ला करके मुँह-हाथ

धोया ।

जब कुक्कू पानी पी चुका तो खन्ना साहब ने एक ही साँस में डिब्बा खाली कर दिया । पानी ठण्डा था, पर वे ज़्यादा खा गये थे और उन्हें बड़ी प्यास लग आयी थी । एकदम तृप्त होकर उन्होंने ज़ोर की डकार ली और अधलेटे हो गये । तब उन्होंने प्रोफ़ेसर साहब से पूछा कि वे बाबा ऋषि की समाधि देखने क्यों नहीं गये और उन्होंने हसनदीन से सुने बाबा ऋषि के चमत्कारों की बात सुनायी ।

"हमें इन ऋषियों-विशियों में कोई विश्वास नहीं," उप्पल साहब बोले, "ऊषा देखना चाहती थी, फिर जीवानन्द भी (उन्होंने अफ़रीकी युवक की ओर संकेत किया) यह जगह देखना चाहता था, सो हम चले आये । भूख लग आयी थी, इसलिए सोचा पहले पेट-पूजा कर लें, फिर ऋषि पूजा करेंगे ।"

इस पर खन्ना साहब ज़ोर से हँसे, लेकिन हसनदीन ने कानों पर उँगलियाँ रख लीं कि उसे 'बाबा रिशी' की निन्दा न सुननी पड़े ।

"कहिए, कल का क्या प्रोग्राम है ?" सहसा खन्ना साहब ने पूछा । हसनदीन चौकन्ना हो गया ।

"ऊषा तो कह रही है कल खिलनमर्ग चलने को, पर हमारा तो इरादा आराम करने का है ।

"हम स्वयं कल खिलनमर्ग जाना चाहते हैं । आप लोग साथ चलें तो अलत्थर की फ़रोज़न लेक भी देख आयें ।"

"अंकल आप ज़रूर चलिए ।" और खन्ना साहब का बच्चा उनके गले से झूल गया ।

बच्चा इतना प्यारा था कि उप्पल साहब ने उसे सीने से लगा लिया ।

"चलिए न अंकल । आप थक जायेंगे तो दोनाले पर बैठ जाइएगा, हम लोग झील देख आयेंगे !" ऊषा ने कहा ।

"नहीं अंकल, मैं आपको अपने साथ ले जाऊँगा, आप चढ़ाई पर मेरी बाँह पकड़ लीजिएगा ।" बच्चे ने उनकी गर्दन से झूलते हुए कहा ।

"अच्छा बेटा, चलेंगे ।" और उन्होंने उसे चूम लिया ।

"ख़ुदा बड़ा कारसाज़ है !" हसनदीन ने मन-ही-मन ख़ुदा के हुज़ूर में सजदा किया, 'उसने मेरी दुआ कबूल की तो उसे पूरा करने का ज़रिया इस बच्चे को बना दिया ।

खाना खा चुकने के बाद उप्पल साहब तो वहीं लेट गये, ऊषा और जीवानन्द से उन्होंने कहा कि वे जल्दी से बाबा ऋषि की समाधि देख आयें ।

तब हसनदीन ने अपने आपको पेश किया कि वह उन्हें दिखा लाता है और खन्ना साहब से बोला, "साब, अभी खाना खाया है, तुम कुछ देर आराम कर लो । हम इधर इनको बाबा रिशी के दर्शन करा देता है और ज़रा चाय भी पी

आता है।"

खन्ना साहब स्वयं कुछ ज्यादा खा गये थे। वे भी दरी की एक ओर अधलेटे हो गये, उनकी पत्नी बच्चे को दुकान से वही टोपी लेकर देने चल दीं और हसनदीन बड़े उत्साह से ऊषा और जीवानन्द को ले चला।

मन उसका उत्फुल्ल था। बाबा ऋषि के लिए एक असीम श्रद्धा से भरा हुआ था। खुदा और बाबा ऋषि में वह कोई अन्तर न देख पाता था। बाबा ऋषि पहुँचे हुए फ़कीर थे और जन-साधारण की भाषा में पहुँचे हुए का मतलब खुदा को पहुँचे हुए से है और इसीलिए हसनदीन की दृष्टि में बाबा पामदीन और खुदा कोई दो नहीं थे। वह गुलमर्ग की सैर करने के लिए आने वालों को बाबा ऋषि के दर्शन कराना एक कारेसवाब—पुण्य का काम—समझता था। क्या 'बाबा रिशी' नहीं जानते कि वह पैसा इसीलिए न इकट्ठा करना चाहता है कि वह उनकी मन्नत पूरी करे, इसीलिए तो वे उसकी मदद खुद कर रहे हैं, उसने सोचा और वह दूने उत्साह से ऊषा और जीवानन्द को बाबा ऋषि के कारनामे सुनाने लगा। उसने न केवल उनको समाधि की परिक्रमा करायी, बल्कि वहाँ रखे बड़े-बड़े देगों के बारे में बताया कि कैसे उत्सव के दिनों में ये चढ़ाये जाते हैं और कुर्बानी के कई-कई दुम्बे इनमें पकते हैं। उसने उन्हें बाबा ऋषि के स्मृति-चिह्न दिखाये और उनसे कहा कि वे खिड़की की झिलमिली में तागा बाँधकर कोई मन्नत मानें।

जीवानन्द लम्बा-छरहरा, हल्के साँवले, किन्तु तीखे नाक-नक्शे वाला युवक था। वह हसनदीन की बातें चुपचाप सुनता आया था, उसने बाबा ऋषि, उनके जीवन, उनके कृतित्व अथवा उनकी समाधि अथवा मुजाविरों के सम्बन्ध में एक भी प्रश्न न किया था, यद्यपि ऊषा लगातार चहकती चली आयी थी और हसनदीन बड़े उत्साह से बाबा ऋषि के दर्शनों का महात्म्य सुनाता और हर प्रश्न का उत्तर देता आया था। जब हसनदीन ने झिलमिली से तागा बाँधकर मन्नत मानने के लिए कहा तो जीवानन्द मौन रूप से इस तरह शून्य में तकता रहा, जैसे यह बात उससे नहीं कही गयी, किसी और से कही गयी है।

ऊषा ने एक बार शंकर-सा ध्यान लगाये उस युवक को देखा। उसकी आँखें अनायास चमक उठीं, होंठ पहले मुस्कराये फिर लजा गये और उसका मुख अपने-आप लाल हो गया।

"मैं मन्नत मानूँगी," उसने अचानक सिर उठाकर जीवानन्द की ओर देखते हुए कहा।

लेकिन जीवानन्द झिलमिली के पार, बहुत दूर, जैसे अफ़रीका के अथाह अनजाने जंगलों की गहराइयों में खो गया था।

ऊषा चंचल हो उठी। वह मँझले कद की युवती थी। मोटी तो नहीं थी, पर उसका झुकाव मोटापे की ओर को जरूर था। पहली दृष्टि में वह एक-आध बच्चे की माँ, घरेलू स्त्री लगती थी और हसनदीन ने भी उसे उप्पल साहब की

बीवी समझा था, लेकिन बाद में उसे मालूम हुआ था कि वह उनकी भतीजी है और दो-एक वर्ष पहले उसने बी० ए० पास किया है। वह अपने-आपको 21-22 वर्ष की बताती थी लेकिन देखने में 31-32 वर्ष की लगती थी। इसका कारण शायद मोटापे की ओर को उसका झुकाव अथवा बनाव-सिंगार में, ग्रैज्युएट होने के बावजूद, हल्का-सा फूहड़पन अथवा यों कहा जाय कि आधुनिकता का अभाव था। लेकिन उस क्षण उसके फूले-फूले गालों और अधमुंदी आँखों में कुछ ऐसी मादकता आ गयी थी, जैसे कोई उदास, अँधेरा कमरा किसी अनजाने झरोखे में से आने वाली धूप की एक तेज़ किरण से चमक उठे। अचानक वह हसनदीन से बोली, "यहाँ बाँधने को तागा कहाँ से लाऊँ?"

हसनदीन के होठों पर आया, कहे, 'चोटी के परांँदे में से ले लीजिए।' क्योंकि वे लोग तो स्वयं ऐसे ही करते थे। फटे दुपट्टे की छीर, परांँदे अथवा तावीज़ की डोरी का कोई तागा यहाँ बाँध कर वे लोग अपनी मन्नत मान लेते थे। लेकिन यह सब साहब लोग, जाने बुरा मान जायँ। दूसरे क्षण उसने अपनी जीभ काट ली और भागा-भागा मुजाविर के पास गया और एक सूत का तार ले आया।

ऊषा ने तागा उससे ले कर तड़ित-सी एक दृष्टि शंकर-से ध्यानस्थ उस जीवानन्द पर डाल, तागा बाँध दिया और मन्नत मानी—उसकी आँखें क्षण भर को बन्द हो गयीं। आकृति का सारा चांचल्य दूर हो गया। एक अपूर्व शान्ति और स्निग्धता, एक अजीब-सी मधुरता और मदिरता धूप से तपी हुई धरती पर अजाने ही उतर आने वाली मीठी साँझ की तरह उसकी आकृति पर छा गयी। हल्के-हल्के बेआवाज़ उसके होंठ हिलते रहे और सहसा उसने आँखें खोल कर उस साँवले, लम्बे, छरहरे, मौन युवक की ओर देखा। युवक की निगाहें दूर अफ़रीका के घने अँधेरे जंगलों से पलट आयीं। दोनों की निगाहें मिलीं। ऊषा के मुख पर एक अपूर्व मिठास आ गयी और युवक का रंग कुछ और श्याम हो गया और दोनों चल पड़े।

लेकिन हसनदीन ने यह सब नहीं देखा। आँखें बन्द किये वह 'बाबा रिशी' का शुक्रिया अदा करता रहा कि उसने अपने उस नाचीज़ बन्दे की सुन ली और उसे ऐसी अच्छी सवारियाँ दीं और बापम ऋषि से उसने वादा किया कि ज्यों ही उसके पास पैसे हुए, वह अपनी अम्मा की मन्नत के मुताबिक ईदू का निकाह करने उनके हुज़ूर में आयेगा और उसने ऊषा के लिए भी दुआ की कि बाबा उसके मन की मुराद पूरी करे। वे लोग फिर गुलमर्ग आयें और वही उनको बापम ऋषि के हुज़ूर में मन्नत पूरी कराने लाये।

जब उसने आँखें खोलीं तो जीवानन्द और ऊषा चल चुके थे। दरवाज़े पर जब ऊषा ने हाथ जोड़े तो हसनदीन ने कहा, "हुज़ूर कुछ ग़रीबों के लिए खैरात को दीजिए।"

ऊषा ने बेबसी से हाथ मले। बटुआ वह अपने चाचा के पास ही छोड़ आयी

थी, लेकिन बिना पलक झपकाये अथवा चेहरे पर किसी तरह का भाव लाये; जीवानन्द ने जेब से रुपये-रुपये के कुछ नोट निकालकर बाबा पामदीन के मज़ार पर चढ़ा दिये।

हसनदीन को लगा जैसे ख़ुद उसने रुपये चढ़ाये हों। जैसे खन्ना साहब के कुछ भी ख़ैरात न करने से जो गुनाह हुआ था, वह धुल गया हो। जब जीवानन्द रुपये चढ़ा रहा था तो वह सजदे में झुका हुआ था।

समाधि से बाहर आकर उन्होंने हसनदीन से कहा कि वह चाय-वाय पिये। उसके साहब इन्तज़ार कर रहे होंगे। और जीवानन्द ने एक रुपये का नोट उसकी ओर बढ़ाया।

"नहीं साब, इस कारे-सवाब का हम पैसा नहीं लेगा। आप हमारे घोड़े पर चलेगा, हम ख़िदमत करेगा तो माँग कर बख़शीश लेगा।"

जब बहुत कहने पर भी उसने रुपया नहीं लिया तो जीवानन्द ने उसे वापस जेब में डाल लिया और दोनों समाधि के पीछे को निकल गये।

हल्के-से नशे में सरशार हसनदीन बाज़ार को लौटा। वहाँ उसने स्च्येरु के साथ हरी नमकीन चाय पी और फिर उसने खन्ना साहब से कहा कि वे चलें, नहीं तो देर हो जायेगी।

वे जिस रास्ते से नीचे गये थे, उधर से वह उन्हें नहीं लाया। ज़रा-सा चक्कर देकर सरकुलर रोड के एक हिस्से से उधर के पहाड़ों के दर्शन कराता हुआ वह उन्हें बिलकुल गुलमर्ग होटल के पास ले आया। एकदम वहीं, जहाँ वे टंगमर्ग से आते समय उतरे थे। सरकुलर रोड से घोड़े जब नीचे को हुए तो सहसा बच्चा चिल्ला उठा, "पापो जी, हम तो अपने होटल पहुँच गये।"

होटल के बाहर ही खन्ना साहब और उनका परिवार घोड़ों से उतर गया। खन्ना साहब ने बैग हसनदीन से ले लिया और, "कितने हुए तुम्हारे पैसे?" कहते हुए जेब से बटुआ निकाला।

लेकिन हसनदीन ने न पैसे बताये, न लिये। "लेकिन साब, तुम तो कल खिलनमर्ग और अलपत्थर जाने वाला है? हम तुमको कल अलपत्थर दिखा कर लायेगा फिर पैसा लेगा।" वह बोला।

"हम खिलनमर्ग तो ज़रूर जायेंगे।" खन्ना साहब बोले, "अलपत्थर का हम नहीं कह सकते। हमारी सीटें बुक्ड हैं, टिकट हम ले आये हैं। कहीं ऐसा न हो कि हम बस से रह जायें और आठ-दस रुपये की डज़ और पड़ जाय।"

"कुछ फ़िकिर नहीं साब, तुम सुबह चलेगा तो हम तुमको अलपत्थर और फ़िरोज़न लेक दिखा कर टाइम से बस पर पहुँचा देगा।"

"कितने बजे चलना होगा?"

"सुबह सात बजे यहाँ से निकल चलें तो ग्यारह बजे अफ़राबट पहुँच सकता है। तुम इस वक्त जल्दी सो जाओ और सुबह छह बजे उठ कर तैयार हो जाओ।"

"तुम सुबह कितने बजे आओगे ?"

"हम साढ़े छह बजे यहाँ पहुँच जायगा।"

"लेकिन हमारे पास अलारम-वलारम तो है नहीं। हमें जगायेगा कौन ? तुम ऐसे करो, सुबह छह बजे आ जाओ, हमें भी जगाओ और हमारा नाश्ता भी तैयार कराओ, आर्डर हम अभी दे देंगे। जितने में तुम नाश्ता बनवाओगे, हम हाथ-मुँह धो, कपड़े बदल कर तैयार हो जायेंगे।

"कुछ फ़िकिर नहीं साहब, हम सुबह छह बजे यहाँ आयेगा, तुम सब को भी जगायेगा और बैरे से नाश्ता भी तैयार करायेगा। आर्डर तुम अभी दे दो।"

"हमको तो दस-बारह पराँठे चाहिएँ और कोई आलू-वालू की सूखी सब्ज़ी। अचार हमारे पास काफ़ी है।"

"साब, कुछ आमलेट-वामलेट बना लो। ऊपर सर्दी है, बदन गर्म रहेगा।"

"अण्डे-वण्डे हम नहीं खाते।"

"कुछ फ़िकिर नहीं साब, हम अभी जा कर बैरे को बोलता है कि तीन नम्बर वाले साब के लिए बारह पराँठे और आलू-गोभी की सूखी तरकारी बना दे। सुबह तुम बेड-टी तो लेगा ?"

खन्ना साहब ने ज़ोर का ठहाका लगाया, "ये बेड-टी वग़ैरा अंग्रेज़ों की नकल करने वाले लेते हैं, हम तो सुबह उठ कर ठण्डे पानी का गिलास पीते हैं। हमें बेड-टी की आदत नहीं।"

और हसनदीन अन्दर की तरफ़ बढ़ा। तब खन्ना साहब चिल्लाये, "देखो, बैरे से कहना अभी पराँठे बना कर न रख दे। सुबह उठ कर हमको ताज़ा पराँठे बना दे!"

वहीं से मुड़ कर और कम्बल को गले में लपेटते हुए हसनदीन ने कहा, "कुछ फ़िकिर नहीं साब, हम उसको यही बोलेगा।"

यद्यपि छह से ज़्यादा का समय नहीं था, लेकिन शाम गुलमर्ग के मैदान पर पूरी तरह उतर आयी थी। सामने बाज़ार की दुकानों की अकेली पंक्ति धुँधली-सी पड़ गयी थी। एक-दो बत्तियाँ भी जल आयी थीं, ठण्ड बढ़ गयी थी और बायीं ओर अफ़राबट की चोटी पर बर्फ़ की धारियाँ आभाहीन हो गयी थीं। खन्ना साहब की बीवी उनके हाथ से बैग ले कर अन्दर जाने लगी तो उन्होंने कहा, "चलो, ज़रा बाज़ार तक हो आयें।"

"उसे आप बाज़ार कहते हैं! सब दुकानें बन्द पड़ी हैं। ईदू कहता था कि एक सिक्ख का ढाबा खुला है और सरकारी इम्पोरियम है। क्या देखेंगे वहाँ ?"

"तो भी चलो ज़रा घूम ही आयें।"

"घूमने से आपकी तबीयत नहीं भरी। यहाँ तो पोर-पोर दर्द कर रहा है।"

हसनदीन बैरे को आर्डर दे कर आ गया था। उसने कहा, "साब इस वक्त

तुम आराम करो। सुबह जाते वक्त हम आपको बाज़ार की तरफ़ से ले चलेगा। छह बज चुका है, इम्पोरियम तो बन्द हो गया होगा।''

और उसने साहब और मेम साहब दोनों को सलाम बोला।

''हमको भी सलाम बोलो, हम बड़ा साब है।'' सहसा बच्चा बोला।

हसनदीन हँसा। और भी झुकते हुए उसने कहा, ''बड़े साब सलाम!'' और मुड़ कर कम्बल को लपेटता हुआ वह घोड़ों के पास पहुँचा। ममदू और ईदू वहीं रास्ते के एक ओर बैठे बीड़ी पी रहे थे। हसनदीन ने सिर का इशारा किया। दोनों उठे। घोड़े की लगाम थाम और रकाब में पैर रख, एक ही झटके से चढ़ते हुए हसनदीन ने जोश और खुशी से पुकारा—''यौ पीर!...''

''...दस्तगीर!'' ईदू और ममदा दोनों घोड़ों पर चढ़ते हुए चिल्लाये।

और घोड़े टंगमर्ग की ओर उड़ चले।

सुबह अभी पूरब का अहेरी पहाड़ों के पीछे से जागने का प्रयास ही कर रहा था, जब हसनदीन अपने बेटे और ममदू के साथ घोड़े दौड़ता हुआ गुलमर्ग पहुंचा...

रात उसने घर पहुँचते ही पहले घोड़ों को दाना खिलाया था, फिर उनकी दोनों पिछली टाँगें ऐसे बाँधकर कि वे चल सकें, लेकिन भाग न सकें, उसने उन्हें गाँव के बाहर पहाड़ की ढाल पर चरने छोड़ दिया था।

परेज़पुर यद्यपि अपेक्षाकृत समतल जगह पर बसा था, पर ढलानों पर खूब घास थी। घोड़े घास चरते-चरते पिछली दोनों टाँगों को एक साथ उठा कर फुदकते काफ़ी दूर निकल जाते थे, लेकिन नूर के तड़के उठ कर किसान उन्हें पकड़ लाते थे। हसनदीन के घोड़े सुबह से सवारी पर थे, वह उन्हें उस जगह ले गया, जहाँ ढलवान पर घास का एक खेत-ऐसा समतल भू-खण्ड था। घोड़े वहाँ पहुँचते ही लोटनियाँ लगाने लगे। चारों पैर आसमान की ओर करके लोटनी लगाते, उचक कर उठते और फिर उसी तरह लोटने लगते।

हसनदीन कुछ क्षण तक उन्हें लोटनियाँ लगाते देखता रहा था। वह जब भी उन्हें लोटनियाँ लगाते देखता था, उसे वह कहावत याद आ जाती थी, जो उसने एक पैसेंजर से सुनी थी—

पान क्यों सड़ा?
मुर्चा क्यों पड़ा?
घोड़ा क्यों अड़ा?

और उत्तर भी उसके मस्तिष्क में कौंध जाता—

फेरा न था!

यह अजीब बात है कि आदमी थक जाता है तो सोना चाहता है और घोड़ा थक जाता है तो लोटनियाँ लगाता है। और उसे ख़याल आया कि यदि उसे दौलत मिल जाय तो वह अपने घोड़ों के लिए एक ऐसा आदमी रखे, जो उनके

पुट्ठों को दिन की थकान के बाद खूब ज़ोर-ज़ोर से मले और उनकी सेवा करे। उसने बहुत साल पहले एक अंग्रेज़ के बँगले में साईस को घोड़े की खिदमत करते देखा था और उसके मस्तिष्क में वह दृश्य सदा के लिए अंकित हो गया था।

वह वापस मुड़ा। अंग्रेज के उस अस्तबल की याद आते ही अमीर होने के सम्बन्ध में उसका दिवा-स्वप्न फिर उसकी आँखों के आगे आ गया। इस बार उसे पुलिस ने नहीं पकड़ा और वह एक लाख रुपये का वितरण करता हुआ वापस फिरा। उसकी पहली आवश्यकता कपड़े और रोटी की थी। उसने न केवल अपने बीवी-बच्चे, बल्कि अपने भाई के बीवी-बच्चों के लिए भी बढ़िया कपड़े सिलवाये। उसके भण्डार हर प्रकार के अन्न से भर गये। फिर गाँव के बाहर उसने एक बड़ा मकान बनवाया, फिर उसने बड़ी शान-शौकत से बाबा ऋषि की मन्नत मानी और ईदू का निकाह अपने बड़े भाई की बेटी से किया। फिर उसने घोड़ों का बड़ा अस्तबल बनवाया—उसके घोड़े श्रीनगर, पहलगाम और गुलमर्ग में चलने लगे। उसने कल्पना-ही-कल्पना में देखा कि दिन-भर सवारी करके घोड़े वापस आते हैं तो उन्हें बढ़िया दाना मिलता है और साईस लोग उनके पुट्ठों को बड़े ज़ोर से कपड़ों के गद्दों से सहलाते है—जैसे वर्षों पहले उसने उस अंग्रेज़ के अस्तबल में देखा था---पैसा उसके पास खिंचा चला आ रहा है और उसने एक और शादी कर ली और टंगमर्ग में बँगला बनवाया है···

लेकिन तभी उसके कानों में यासमन की आवाज़ पड़ी। वह ममदे से कह रही थी कि वह जाये, देखे कि ईदू का अब्बा रहमान की दुकान पर तो नहीं रह गया; सुबह नूर के तड़के उठ कर जाना होगा। वक्त से खाना खाये और सोये···

और हसनदीन ने खुदा का शुक्र अदा किया था कि उसके पास दौलत नहीं और वह गुनाह की ज़िन्दगी से बचा हुआ है और उसे ताज्जुब हुआ कि वह अपनी उस मेहनतकश, वफ़ादार बीवी का खयाल कैसे छोड़ बैठा, लेकिन खुदा का शुक्र अदा करने और सिर को झटका देकर उस दिवा-स्वप्न को भगाने के बावजूद अपने घरौंदे की अनगढ़ सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने फिर सोचा कि उसके पास यदि दौलत आयी तो वह अपनी उस वफ़ादार बीवी को गहनों-कपड़ों से लाद देगा।

खाना खाते हुए उसने सोल्लास अपनी बीवी को बताया था कि आज सुबह उसने सच्चे दिल से खुदा के हज़ूर में जो दुआ की थी, वह लगता है कि उसने सुन ली है, उसे बड़ी अच्छी सवारियाँ मिली हैं, उसे यह भी पता चला है कि इस महीने सुबह हरनामसिंह ही की ड्यूटी रहेगी और उसे पूरा यकीन है वह इतना कमा लेगा कि खाने-कपड़े के लिए निकालकर बाबा रिशी की मन्नत पूरी कर सके!

खाना खा कर वह ऊपर अपनी अम्मा और बड़े भाई को भी अपने मन की बात सुना आया था और जब वह सोया था तो यासमन उसके पास आ गयी थी और दोनों देर तक ईदू के निकाह और बाबा रिशी की ज़याफ़त के ब्योरों में

उलझे रहे थे ।

…गहरी तश्तरी सरीखा गुलमर्ग अभी नींद के ख़ुमार में सोया हुआ था। धानी घास की मख़मल सुबह के झुटपुटे में मूँगी के रंग की गहरी हरी दिखायी दे रही थी। मर्ग का नाला घास के उस मैदान में अजगर-सा सोया पड़ा था। पगडण्डियाँ घास में सोयी-खोयी-सी बेहोश थीं। सामने ख़ालसा होटल और परे दायीं ओर बाज़ार की एक जैसी दुकानों की कतार स्तब्ध सन्नाटे में मौन थी और बायीं ओर अफ़राबट के नीचे दोनाले की दूधिया नहरें उन तन्वियों-सी मौन, उदास लेटी थीं, जिनकी स्वप्निल खुली आँखों में प्यार की निगाहों ने अभी न झाँका हो।

लेकिन हसनदीन की निगाहों ने वह सौन्दर्य देखकर भी नहीं देखा। रिज पर से घोड़ा दौड़ाता वह ढलान पर जा कर रुका। गुलमर्ग होटल के गेट पर वे घोड़ों से उतरे। हसनदीन ने अपने घोड़े की लगाम ईदू को दी और कम्बल के लटकते सिरे को दूसरे कन्धे पर डालता हुआ वह गेट के अन्दर गया। जाकर उसने बैरे को जगाया कि वह उठकर साब लोगों के लिए नाश्ता और लंच का सामान तैयार करे।

विज़िटर चूँकि ज़्यादा नहीं आते थे, इसलिए होटल के मालिक ने एक बैरा और एक कुक होटल के लिए रख छोड़ा था। बैरा ही होटल का मैनेजर भी था। विज़िटरों से किराया तय करना, बिल बनाना, पैसे लेना—सब काम वही करता था। जाने वह पेशे से बैरा था, या होटल के मालिक का ही कोई रिश्तेदार अथवा विश्वस्त आदमी था।

"तीन नम्बर वाले साब को आज ही अलपत्थर देख कर टंगमर्ग से बस पकड़ना है," हसनदीन ने बैरे को समझाया, "और एक नम्बर वाले को बेड-टी नहीं मिलेगा तो वो उठेगा नहीं। उसका लड़की को फ़िरोज़न लेक जाना है।"

यद्यपि यह बात बैरे को पिछली शाम ही समझा दी गयी थी तो भी हसनदीन ने इस पर जोर देना अनावश्यक नहीं समझा। उसने दोनों साहबों से पिछली शाम वादा किया था कि वह सुबह सब चीज़ें उन्हें वक्त से बनवा देगा।

जब बावर्ची भी जग गया और उप्पल साहब के लिए चाय तैयार हो गयी तो इधर बैरा उनके कमरे में चाय ले गया, उधर हसनदीन ने खन्ना साहब को जगा दिया कि वे नित्य-कर्म से निबटकर, नाश्ते के लिए तैयार हो जायें, इतने में वह नाश्ता भिजवाता है।

और वापस जाकर उसने किचन में बैरे से कहा कि वह स्वयं कुक की मदद करता है, वह सेंडविच वग़ैरा तैयार करे। एक घण्टे के अन्दर-अन्दर उसने सब कुछ तैयार करा दिया।

लेकिन साहब लोग अभी तैयार न हुए थे। उनको जल्दी तैयार होने के लिए कह कर और इस बात का डर दिखाकर कि 'वो लोग जल्दी नहीं चलेगा तो खिलनमर्ग से जेहलम और वुलर का बढ़िया व्यू नहीं मिलेगा,' वह बीड़ी का

कश लगाने के लिए बाहर आ गया ।

उप्पल साहब के घोड़े वाले भी आ गये थे । और ईदू और ममदू के साथ ही होटल की दीवार के साथ पीठ लगाकर बैठे थे । हसनदीन भी उन्हीं के साथ जा बैठा । अपने फ़िरन की गहरी जेब से उसने बीड़ी निकाली और उसे सुलगा कर चुपचाप कश लगाने लगा ।

धूप निकल आयी थी और उसकी सुनहरी किरणें उस विशाल मैदान पर जहाँ-जहाँ पड़ी थीं, धानी चकत्ते पड़ गये थे । सुबह की कुन्दनी धूप ने मर्ग को अजीब सुन्दरता प्रदान कर दी थी । अफ़राबट की तन्वियों ने यद्यपि अभी तक अरुण के प्यार की निगाहों का परस नहीं पाया था, किन्तु उनकी उदासी दूर हो गयी थी और कुछ अजीब-सी सजग, सतर्क उत्सुकता उनमें भर गयी थी । आठ बजने वाले होंगे, जब हसनदीन को आवाज़ पड़ी ।

हसनदीन उछल कर उठा । सेठ तैयार हो गये थे । भागता और अपने कम्बल को कन्धे पर डालता हुआ वह अन्दर गया । उप्पल साहब भी तैयार थे । हसनदीन ने उनके घोड़वानों को भी आवाज़ दी ।

"लो भाई, उठाओ सामान और चल दो ।" खन्ना साहब ने कहा ।

वही कल वाला कैनवस का थैला था । दो बरसातियाँ और एक छाता और दो छड़ियाँ थीं, जो हसनदीन ही के कहने पर उन्होंने साथ ले ली थीं ।

"साब लंच सँभाल लिया ?" उसने सावधानी के रूप में पूछा ।

"हाँ, पराँठे बनवा लिये हैं—बारह । आलू और गोभी की तरकारी है और अचार तो वधावा सिंह का है, जिसके शलजम के आचार की सारे हिन्दुस्तान में धूम है ।"

हसनदीन ने कैनवस का बैग कम्बल में बाँधकर कमर में लटका लिया । छाता और बरसातियाँ ममदे को दे दीं, एक छड़ी ईदू को दी और एक स्वयं हाथ में ली और सवारियों को घोड़े पर सवार कराया ।

"किधर को चले ?" सहसा उप्पल साहब ने पूछा, "रास्ता तो इधर से जाता है ।"

"तुम इधर से चलो साब ।" हसनदीन बोला, "हम साब को बाज़ार से घुमाकर लाता है ।"

"भाई पानी तो ऊपर मिल जायेगा ?" सहसा खन्ना साहब ने पूछा ।

"साब पानी तो होगा, लेकिन बर्फ़ का । फिर पानी ऊपर अफ़राबट पर ही मिलेगा ।"

"प्यास लगे तो ?"

"प्यास तो चढ़ाई में साब खूब लगता है···" फिर कुछ क्षण रुक कर उसने कहा, "साब, तुम एक लैमन स्कुआश का बोतल साथ रख लो ! अंग्रेज़ लोग जब ऊपर जाता था, लैमन स्कुआश का बोतल साथ रखता था । बर्फ़ का पानी से

गला खराब हो जाता है।"

"अरे वो अंग्रेज़ों के नाज़ुक गले होंगे, जो खराब होते होंगे," खन्ना साहब ने ठहाका लगाया। "बाज़ार से कुछ लैमन ड्रॉप ले लेंगे, प्यास लगने पर चूस लेंगे।"

"कुछ फ़िकिर नहीं साब, जितना बोलेगा, ले लेगा।"

खन्ना साहब हँसे, "अरे जितना क्या, हमें कोई दुकान खोलनी है। चार आने का ले लेना।"

"चार आने का क्या करना है? पड़ा जेबों में चिप-चिप करेगा। दो आने का काफ़ी होगा।" श्रीमती खन्ना बोलीं।

बाज़ार में बनिये की एक छोटी-सी दुकान थी, जिसमें आटा-चावल, दाल-घी भी था, सब्ज़ी-तरकारी भी और जनरल मर्चेण्डाइज़ की छोटी-मोटी ज़रूरत की चीज़ें भी। खन्ना साहब ने घोड़े पर चढ़े-चढ़े एक रुपये का नोट हसनदीन को दिया।

"चार आने···दो आने के लैमन ड्रॉप ले लो।" वे बोले।

हसनदीन ने बनिये से दो आने के लैमन ड्रॉप माँगे।

बनिये ने चौदह आने की रेज़गारी और एक अदद लैमन ड्रॉप उसकी हथेली पर रख दिया।

खन्ना साहब वहीं घोड़े पर बैठे हुए बड़े ही झल्लाये हुए स्वर में चिल्लाये, "यह क्या, दो आने का एक लैमन ड्रॉप! वहाँ तो पैसे-पैसे मिलता है।"

बनिया कश्मीरी था, शायद वह जाति से बनिया था भी नहीं, पण्डित था और दुर्दिन ने उसे बनिया बना दिया था। मैला-सा फ़िरन उसने पहन रखा था और सिर पर उसके पगड़ी थी; चेहरे पर उसके झुर्रियाँ थीं और कमर झुक गयी थी। लेकिन उसके रंग का गोरापन और उसकी तीखी नाक उसके कश्मीरी ब्राह्मण होने की चुगली खाती थी।

खन्ना साहब की बात सुनकर वह हँसा। "साहब यहाँ मिल तो जाता है, इस बात को आप बहुत नहीं समझता। जहाँ यह पैसे-पैसे में मिलता है, वहाँ से यह जगह कितना दूर है, इस बात को आप नहीं सोचता।"

खन्ना साहब हतप्रभ हो गये, पर अपनी खिन्नता को एक खोखले ठहाके में छिपाते हुए और, 'भाई खूब बात कही है तुमने,' से बनिये की दाद देते हुए उन्होंने बड़े ही दरियादिली के ढंग से कहा, "अच्छा एक छटाँक दे दो।"

जब बनिया एक बड़े-से तरकारी तोलने वाले तराज़ू में, जिसमें एक छटाँक का पासंग ही हो सकता था, लैमन ड्रॉप तोलने लगा तो हसनदीन की निगाहें लैमन स्कुआश की बोतलों पर जम गयीं—'कैसे-कैसे विज़िटर आने लगे हैं!' उसने मन-ही-मन कहा, बनिये से लैमन ड्रॉप की पुड़िया लेकर खन्ना साहब को दी और घोडे की लगाम थाम कर चल पड़ा।

पीली-पीली, धूप से चमकती हुई धानी घास का मैदान पार करते हुए वे

'नीडोज़ होटल' के पास से गुज़रे । "इस नीडो होटल को कबाइलियों ने नहीं लूटा ?" सहसा खन्ना साहब ने पूछा ।

"लूटा क्यों नहीं साब । एक-एक चीज़ ले गया । दरियाँ, ग़लीचे तक ढोकर ले गया । बिजली की फ़िटिन (fitting) को सोने का समझ कर ले गया ।" और हसनदीन उनकी मूर्खता पर हँसा, "पीतल की चमकती चीज़ को वो लोग सोने का समझता था ।"

"विज़िटर नहीं थे ?"

"सर्दी का मौसम था साब, सीज़न ख़त्म हो गया था, बँगला और बाज़ार सब बन्द था ।"

"हमने सुना है कि इधर के लोगों ने भी यहाँ लूट-पाट मचायी ।"

"हाँ साब, भला-बुरा लोग सभी जगह होता है ।"

उसने यह उत्तर कुछ इस तरह दिया कि खन्ना साहब को आगे सवाल करने का साहस नहीं हुआ । वे चुप हो गये । लेकिन हसनदीन के सामने वह सुबह घूम गयी, जब अचानक जीत और लूट के नशे में चूर कबाइली ट्रकों में टंगमर्ग आये थे और उसे लूटकर गुलमर्ग की ओर बढ़े थे । उन्हें गाँव से ज़बरदस्ती साथ ले लिया गया था और वे तीन दिन तक गुलमर्ग से सामान ढोते रहे थे । तीन-तीन घोड़ों का सामान एक-एक घोड़े पर लादा गया था, बहुत-से कुली भी उन्होंने पकड़ लिये थे । यही नहीं, वे खुद अपने सिरों और कन्धों पर लूट का सामान ढोते रहे थे । जब वे चल दिये थे तो इर्द-गिर्द के गाँव वालों ने हल्ला बोल दिया था और जिन घरों के बरामदों तक में उन्हें पाँव रखने का साहस न होता था, उनके खाने, बैठने और सोने के कमरों को वे रौंदते फिरे थे, कबाइलियों के हाथों जो छोटी-मोटी चीज़ें बच गयी थीं, वे उन्होंने लूट ली थीं । आपस की दुश्मनियाँ खुल खेली थीं और लूटने के बाद कुछ लोगों ने दुकानों को जला दिया था ।

"यौ पीर !"—हसनदीन ने कल्पना की आँखों के आगे से उन दृश्यों को हटाते हुए लम्बी साँस भरी । तभी खन्ना साहब ने पूछा, "क्यों भई हसनदीन, अंग्रेज़ों के आने से पहले यहाँ क्या था ? क्या कोई गाँव था ?"

"नहीं साब, यहाँ तो, हम सुनता है, जंगल था और जहाँ पोलो ग्राउण्ड है, वहाँ दलदल था ।"

"दलदल ?"

"जी साब, हमने तो नहीं देखा, लेकिन दादा कहता था कि यह नाला इस जगह इसी पोलो ग्राउण्ड की गहरायी में फैल जाता था और ज़मीन दलदल वाली हो गयी थी और गर्मियों में गडरिया लोग भेड़-बकरी चराता था ।"

"अंग्रेज़ों से पहले यहाँ कोई न बसता था ?"

"दादा कहा करता था कि सुल्तान यूसुफ़ शाह कभी-कभी यहाँ आता था, लेकिन अंग्रेज़ ने ही गुलमर्ग को बसाया था ।"

और हसनदीन के सामने गुलमर्ग के सुनहरी मैदान की वह तस्वीर खिच गयी, जो दादा की बातें सुन कर उसकी कल्पना ने बना ली थी। प्रकृति जब वहाँ अपने आदिम रूप में थी और सनोवर और शमशाद के जंगल इस मैदान को घेरे थे, जिनमें कहीं-कहीं चीड़, मेपल और स्प्रूस के पेड़ थे। न होटल, न बँगले, न झोपड़ियाँ, न पोलो और गोल्फ़ के मैदान, न सड़कें, न बाज़ार। नागिनों सरीखी छोटी-छोटी सँकरी पगडण्डियाँ घास में सरसराती हुई जंगल में गुम हो जाती थीं। आठों पहर सन्नाटा रहता था। हवाओं की 'सर-सर' और पत्तों की 'मर-मर' ही से सन्नाटा जी बहलाता था या कभी खुले दिन की निस्तब्धता में किसी बन-पाखी की सीटी या किसी अकेले गड़रिये की तान गूँज उठा करती थी। फिर इंसान के हाथ लगे (हाथ तो काले इंसान ही के लगे, लेकिन लगे गोरे इंसान के आदेश पर) और धीरे-धीरे जंगल सध गये, नाले बँध गये, पोलो और गोल्फ़ के मैदान बने, बाज़ार, होटल कोठियाँ और छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनीं और अंग्रेज़ स्त्री-पुरुषों का, हिन्दुस्तान के हाकिमों का स्वर्ग—भारत के स्वास्थ्यकर स्थानों का राजा—गुलमर्ग—अंग्रेज़ हाकिमों के सपनों को साकार करने लगा।

चढ़ाई शुरू हो गयी थी। हसनदीन ने लगाम छोड़ दी थी और घोड़े के पीछे-पीछे चढ़ा जा रहा था। 'वार-वार' घोड़े को तेज़ चलते देखकर अचानक उसके मुंह से निकल जाता। और घोड़ा सधी चाल से चलने लगता। आगे एक और टोली जा रही थी। तीन जने थे, पर घोड़ा एक ही था। शायद बारी-बारी से उस पर चढ़ते थे। सहसा खन्ना साहब को खयाल आया, वे पैदल क्यों नहीं आये ? जब ये लोग पैदल आ सकते हैं तो वे क्यों नहीं आ सकते···और उन्होंने अपनी बीवी से कहा—

"हम भी एक घोड़ा कुक्कू के लिए ले लेते और खुद पैदल आते। घोड़ों पर लदे चले आये तो सैर का मज़ा क्या रहा···"

"पैदल तो साब तुम आ सकता था," हसनदीन ने उनकी बात काटकर कहा, "लेकिन तुम टाइम से वापस नहीं पहुँच सकता। तुम रिटर्न टिकेट लेकर आया है।"

खन्ना साहब चुप हो गये और हसनदीन फिर अपने विचारों का तार पकड़-कर सोचने लगा—और उन दिनों कितनी मौज थी। ऐसे विज़िटर गुलमर्ग में कदम भी नहीं रखते थे। अंग्रेज लोग निहायत खुला खर्च करते थे। गर्मियों के चार महीनों ही में नहीं, सर्दियों में भी जब सारी घाटी बर्फ़ से ढक जाती थी, उन्हें काम मिल जाता था—शीइंग (skiing) के शौकीन ज़ौक-दर-ज़ौक आते और अफ़रावट से चलते तो श्रीनगर के आधे रास्ते तक शीइंग करते, बर्फ़ पर फिसलते चले जाते। गुलमर्ग के बारे में गोरे हाकिमों के कैसे ख्वाब थे—वे गोल्फ़ की ऐसी ही एक और सुन्दर ग्राउण्ड (लिंक्स) बनाना चाहते थे। मैदान के किनारे-किनारे घोड़े दौड़ाने के लिए रास्ता बिछाना चाहते थे, झील में मछ-

लियाँ छोड़कर मछली का शिकार करने वालों को सुविधा पहुँचाना चाहते थे। अंग्रेज़ अपनी जाति के बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष सब के लिए गुलमर्ग को बहिश्त बना देना चाहते थे। उन्होने अपने कुछ ख्वाब पूरे भी किये। पर तभी हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया और तब उन्हें हिन्दुस्तान ही नहीं, कश्मीर भी अपने हाथ से निकलता महसूस हुआ। वे इस जन्नत को आसानी से छोड़ना न चाहते थे उन्होंने सरहद के भेड़िये इस उपवन में छोड़ दिये और चौबीस घण्टों में घाटी की इस दुल्हन को शृंगारहीन बना डाला। गुलमर्ग की जो दुकानें जलने से रह गयी थीं, उन्हें पिछले वर्षों की बर्फ़-वारी और सन्नाटे ने ढा दिया। पहले छतों पर बर्फ़ गिरती थी तो उसे हटाने वाले भी थे; अब बर्फ़ गिरती तो सर्दियों-भर पड़ी रहती और छतों को खा जाती। अब जब वर्षों बाद वादी फिर जगी थी, नीचे श्रीनगर में दो-तीन बरस से विज़िटर आ रहे थे, गुलमर्ग की दुलहन उसी तरह शृंगार-विहीन, लुटी-पिटी, उदास पड़ी थी। एक डिसपेंसरी तक न थी। सरकार ने दो दुकानें अवश्य खोली थीं और होटल वालों ने भी एक-आध मुंशी अथवा एक-दो बैरे भेजे थे, लेकिन इतने से क्या रौनक होती। पहले जहाँ विज़िटर महीनों रहते थे, वहाँ अब एक दिन, दो दिन, या ज़्यादा हुआ तो सप्ताह-भर रह कर चले जाते थे।

लेकिन ख़ुदा का हज़ार-हज़ार शुक्र है कि मर्ग के भाग कुछ तो जगे थे, लोग आने तो लगे थे, ऐसा ही अमन रहा तो जहाँ अब दो दुकानें खुली हैं, वहाँ सारा बाज़ार खुल जायगा, जो बाज़ार गिर गये या जल गये हैं, वे फिर बन जायँगे। होटल बन जायँगे। बंगले, कॉटेज और क्लब बस जायँगे...गुलमर्ग फिर गुल-ज़ार हो जायगा और आस-पास के गाँवों की भूख भरेगी...और घोड़े के पीछे चलते-चलते हसनदीन ने ख़ुदा के हुज़ूर में दुआ माँगी कि अब और झगड़ा न हो, लूट-पाट न हो, विज़िटर आयें, गुलमर्ग में ठहरें और फिर पुराने राग-रंग हों, सैर-तमाशे हों, पिकनिकें और पार्टियाँ हों...

"क्यों भाई हसनदीन, ये सामने टेण्ट कैसे लगे हैं?" सहसा खन्ना साहब ने उसकी विचार-धारा को तोड़ा।

"वही खिलनमर्ग है साब," हसनदीन कदम आगे बढ़ाकर बोला, "बस अभी आध घण्टे में वहाँ पहुँच जायँगे।" और शमशाद के पेड़ की पतली-सी शाख तोड़कर उसने घोड़े की पीट को छुआ और घोड़े ने तेज़-तेज़ कदम बढ़ाये।

उप्पल साहब, उनकी मुटकी भतीजी और वह अफ़रीकी युवक उनसे पहले पहुँच गये थे और खेमे में लगे, एक सिक्ख के सफ़री रेस्तराँ के सामने सफ़री मेज़-कुर्सियों पर बैठे थे।

"साब के लिए चाय बनाओ सरदार जी।"

खन्ना साहब को घोड़े से उतारने के बाद हसनदीन उस पतले-छरहरे सिक्ख से बोला, जो उन मेज़-कुर्सियों के पीछे अपने टेण्ट के आगे खड़ा विज़िटरों को

चाय पिला रहा था।

"लओ बाश्शाहो, हुणे तैयार हो जान्दी है।" और सरदार ने अँगीठी में कोयले डाले और उप्पल साहब के आगे से खाली प्याले उठाकर धोने लगा।

गुलमर्ग से खिलनमर्ग की ऊँचाई तो पन्द्रह सौ फ़ुट थी, पर रास्ता ख़ासा ऊबड़-खाबड़ और ऊँचा-नीचा था। कल के थके खन्ना साहब के अंग दुखने लगे थे। घोड़े से उतरकर उन्होंने ज़ोर की अँगड़ाई ली और बीवी-बच्चे को साथ लेकर सरदार जी के सफ़री रेस्तराँ की ओर बढ़े।

"कहिए, आ गये।" उप्पल साहब ने उनका अभिवादन किया। "मेरा तो यहाँ तक आते-आते हुलिया टाइट हो गया है और ये लोग अफ़राबट तक जाने की सोचते हैं।"

और ऊषा तथा जीवानन्द की ओर संकेत करते हुए वे अपने-आप हँसे।

'हुलिया तो अपना भी टाइट है, लेकिन अफ़राबट तक नहीं तो दोनाले तक तो जायँगे।" उन्होंने निगाह उठाकर दोनाले की दूधिया नहरों की ओर देखा। "ज़रा बर्फ़ को छूकर, उस पर खड़े होकर देखें तो कैसी लगती है।"

"नहीं पापो जी, हम ऊपर तक जायँगे, वहाँ चोटी तक। वहाँ हमारी फ़ोटो खींचना।" कुक्कू मचला।

"अरे हम तो तुम्हारे लिए ही कहते हैं। थक जायगा, नहीं हम तो अफ़राबट क्या, अलपत्थर और फ़रोज़न लेक तक जायँ।"

"पापो जी, हम अलपत्थर और फ़रोज़न तक जायँगे, हम बिलकुल नहीं थकेंगे!" और बच्चा अपनी जगह से उठकर खन्ना साहब से चिमट गया।

"हाँ-हाँ, जायँगे।" मिसेज़ खन्ना ने उसे पकड़कर घसीटते हुए कहा, "इधर बैठकर पहले चाय पी।" और उन्होंने रेस्तराँ के मालिक सिक्ख से पूछा, "सरदार जी, कुछ खाने को है?"

"हाँ हाँ, भैन जी बिस्कुट ने, बन्द ने, तोस ने, की लओगे?"

"दो तोस इसके लिए दीजिए।"

"नहीं मम्मो जी, मैं तो क्रीम-रोल लूँगा।"

"क्रीम-रोल यहाँ कहाँ पगले।" मम्मो जी ने कहा।

"नहीं-नहीं, मैं तो क्रीम-रोल लूँगा।" बच्चा मचला।

"लओ बेटा जी, हुणे क्रीम-रोल दिन्ने आँ।" सरदार ने कहा और अन्दर खेमे में चला गया। दूसरे क्षण उसके हाथ में ताज़ा दिखायी देने वाला क्रीम-रोल था।

बच्चे ने हाथ बढ़ाया था कि मम्मो जी ने उसकी बाँह पकड़ ली, "कितने का है?" उन्होंने जैसे गोली दागी।

"छह आने का।"

"तीन आने में श्रीनगर में क्रीम-रोल मिलता है और तुम इस सूखे-सड़े बासी के छह आने माँग रहे हो।"

"रात को यह श्रीनगर से आया है—एकदम ताज़ा है।"

"हाँ ताज़ा है ! अभी मुश्किल से नौ साढ़े नौ बजे हैं और तुम श्रीनगर से ताज़ा पेस्ट्री ले आये हो।"

"बीवी जी अब तो दस बजने वाले हैं। अभी आपके आगे मेरा भाई यह सब लेकर पहुँचा है।"

मिसेज़ खन्ना ने इस बात का जवाब नहीं दिया। कुछ प्यार और कुछ डाँट से उन्होंने बच्चे से कहा, "नहीं बेटे बासी पेस्ट्री नही खाते, पेट दुखने लगता है। अभी तोस ले लो।"

सरदार ने और बहस करना व्यर्थ समझा। वह क्रीम-रोल लिये हुए वापस टेण्ट में चला गया।

तभी खन्ना साहब चिल्लाये—"अरे सरदार जी, चाय कितनी देर में देंगे ?"

"बस हुणे तैयार हो जान्दी ऐ बादशाहो, ज़रा कोले बुझ गये सन।" और वह अँगीठी को हवा करने लगा, "ठण्ड वी किन्नी ऐ, हुणे अँगीठी बाली सी, इक केतली गर्म कीत्ती ते कोले ठण्डे पै गये।" अँगीठी को हवा करते-करते उसने कहा।

कुक्कू अभी तक क्रीम-रोल के लिए मचल रहा था कि हसनदीन ने कहा, "चलो, तुम्हें वुलर दिखायें।"

बच्चा तत्काल उठा। खन्ना साहब भी उठे। चलते-चलते उन्होंने उप्पल साहब से कहा, "क्यों साहब, आपने वुलर देखी ?"

"हमें तो नज़र नहीं आयी। धुन्ध हो गयी है। दो घण्टे पहले आते तो शायद नज़र आती।"

"आइए साहब, हम दिखायें।" हसनदीन ने कहा और आगे-आगे चला।

खिलनमर्ग में पेड़-पौधे नहीं हैं। पेड़-पौधे खिलनमर्ग से नीचे रह जाते हैं। वहाँ तो बस पत्थर हैं या घास है, जहाँ भेड़ें चरती हैं। घास का यह टुकड़ा, जिस पर सरदार जी ने टेण्ट लगा रखा था, बहुत बड़ा नहीं था। लेकिन एकदम सम-तल था और वहाँ एक भी पत्थर नहीं था और वह घाटी की ओर को बढ़ा हुआ था। हसनदीन उन्हें उस छोटे-से मैदान के सिरे पर ले गया।

"वो देखिए, वुलर और जेहलम।" उसने सामने की ओर उँगली बढ़ाते हुए कहा।

खन्ना साहब, उनकी बीवी और बच्चे ने आँखें फाड़-फाड़कर हसनदीन की उँगली की सीध में देखा, पर उन्हें न कहीं झील दिखायी दी और न दरिया—आसमान साफ़ हो तो खिलनमर्ग की उस ऊँचाई से गुलमर्ग और उसके परे कश्मीर की सारी घाटी बिछी दिखायी देती है—जंगल, नदी-नाले, धान के खेत, वुलर झील और उसके परे हरमुख और नाँगा पर्वत की भव्य बर्फ़ानी चोटियाँ—लेकिन सूरज चढ़ आया था, हल्की-हल्की धुन्ध धरती पर छा गयी थी और

यद्यपि निकट के जंगल नदी-नाले और धान के खेत दिखायी देते थे, लेकिन वुलर और जेहलम और हरमुख और नाँगा पर्वत के हिम-मण्डित शिखर उस धुन्ध में दिखायी न दे रहे थे।

"कहाँ है वुलर झील, मम्मो जी ?" बच्चे ने माँ से चिमटते हुए पूछा।

"हमें तो कहीं दिखायी देती।" मम्मो जी झल्लाकर बोलीं।

"मेरी उँगली की सीध में देखिए मेम साब।" हसनदीन ने उत्तर के पहाड़ों की ओर संकेत करते हुए कहा, "वह उस पहाड़ी के साथ, जहाँ अरबी ऊँटों के-से दो कोहान बने हुए हैं।"

"अच्छा—वहाँ—।" खन्ना साहब सहसा प्रसन्न होकर बोले। फिर उन्होंने अपनी बीवी को बताते हुए कहा, "देखो, वह ऐम जैसी पहाड़ी है न···"

"ऐम ? ऐम क्या ?"

"ऐम नहीं जानतीं, अरे अंग्रेज़ी का एक अक्षर ऐम—वह देखो सामने के पहाड़ों के इधर बीच में ऐम जैसी पहाड़ी।"

"जी ?"

"जी, उससे परे पहाड़ों तक जो गहराई है, वही वुलर झील है," हसनदीन बोला, "और वो उसके इधर जो पतला-पतला लकीर है, वही जेहलम दरिया है।"

"हाँ, हाँ," खन्ना साहब कुछ अतिरिक्त प्रसन्नता से बोले, "समझ गये, समझ गये!" हालाँकि इस उल्लास के बावजूद उनके स्वर में निश्चय का अभाव था।

"क्या समझ गये!" उनकी बीवी झल्लायी, "हमें तो कुछ दिखायी नहीं देता और यह कहता था कि खिलनमर्ग से बड़ा अच्छा व्यू दिखायी देगा। झूठे वादे करके ये लोग बाहर से आने वाले भोले-भाले लोगों को ठगते हैं।"

"हमको बापम रिशी की कसम मेम साब, अगर हम झूठ बोला हो। तुम उस सिक्ख से पूछो कि सुबह-सुबह कैसा अच्छा व्यू दिखायी देता है, इसलिए हम बोलता था सुबह आने को। हम तो छह बजे आ गया था। उसी वक्त चलता तो यह धुन्ध और बादल नहीं होता। एकदम क्लीयर व्यू दिखायी देता। वो देखिए, बादलों में हरमुख की चोटी और नाँगा परबत। इस वक्त बादल है, फिर भी दोनों चोटी दिखायी देता है।"

खन्ना साहब ने उधर निगाह डाली। सफ़ेद-सफ़ेद बादलों में बर्फ़ानी चोटियों को अलग कर लेना आसान न था, लेकिन उसी अतिरिक्त उल्लास से उन्होंने कहा, "हाँ-हाँ, दिखायी देती हैं।"

"अफ़राबट से व्यू और भी अच्छा दिखायी देगा, साब! हम साब को सब दिखायेगा। साब को चाय जल्दी पीना चाहिए। वापस बस पकड़ना है तो एक बजे ऊपर होना चाहिए।"

खन्ना साहब की बीवी और बच्चा वुलर और जेहलम को देखने का असफल

प्रयास कर रहे थे, जब रेस्तराँ वाले सिक्ख ने आकर कहा, "साब चाय तैयार है, आकर पी लें, फिर व्यू देखें, ठण्डी हो जायगी।"

"लीजिए साहब, हमने तो तय कर लिया है," खन्ना साहब को अपने पास की कुर्सी बैठने के लिए देते हुए उप्पल साहब हँसे, "ऊषा और जीवानन्द आपके साथ फ़रोज़न लेक देखने जायेंगे, हम दोनाले पर आपकी प्रतीक्षा करेंगे।"

और उन्होंने गठिये के उस मूज़ी रोग की प्रशंसा में बड़े प्यार से भारी-भरकम गालियाँ दीं, जिसके कारण उनके लिए चढ़ाई पर चढ़ना एकदम असम्भव था।

"मेरा तो अपना इरादा दोनाले से वापस फिरने का है, लेकिन यह बच्चा तंग कर रहा है ऊपर जाने को।"

रेस्तराँ वाले सिक्ख ने चाय का प्याला उनके आगे रख दिया और तोस बनाकर उनके बच्चे को देने लगा। तब खन्ना साहब ने देखा कि हसनदीन अभी तक उनके पास खड़ा है।

"क्यों, क्या बात है हसनदीन," उसकी याचनापूर्ण दृष्टि को लक्ष्य करके खन्ना साहब ने पूछा।

"हुज़ूर, हम लोगों को चाय के लिए पैसे मिल जायँ।"

"पैसे क्या करोगे?" खन्ना साहब बोले, "एक-एक प्याला तुम लोग भी पी लो!"

"जी नहीं साब, हम उधर टेण्ट में पियेगा।"

तब खन्ना साहब ने देखा कि पीछे भी एक छोटा-सा मैला टैण्ट लगा है, जहाँ कुछ घोड़े वाले और कुली चाय पी रहे हैं।

"नहीं, नहीं, तुम भी यहीं पियो।" उन्होंने कहा और रेस्तराँ वाले सिक्ख को आदेश दिया कि उनके लिए भी एक-एक प्याला बनाये।

"जी नहीं, ये लोग हमारी चाय नहीं पीते।" सिक्ख के स्वर में कुछ अजीब-सी विवशता थी।

"तुम बनाओ तो सही, ये पियेंगे।"

"साब, हमें क्या एतराज़ हो सकता है, हम बना देंगे।"

तब हसनदीन ने आगे बढ़कर किंचित् दृढ़ता से कहा, "जी नहीं साब, हम यहाँ चाय नहीं पीता। आप हमें पैसे दीजिए।"

"पैसे-वैसे नहीं मिलेंगे। तुम्हें चाय पीना है या हमसे पैसा ठगना है?"

"साब, हम लोग यहाँ चाय नहीं पीता। अपने खेमे में पीता है।"

"हमसे पीना है तो हमारे साथ पियो, नहीं अपने पैसे से पियो।"

"लाइए, हमारे हिसाब में एक अठन्नी दे दीजिए।"

"यह लो, रुपया ले लो।" खन्ना साहब ने जैसे बड़ी दरियादिली से कहा और रुपया उसकी ओर फेंककर चाय पीने लगे।

हसनदीन रुपया उठाकर पीछे टेण्ट में चला गया और उसने मुसलमान चाय-फ़रोश को तीनों के लिए नमकीन चाय बनाने को कहा। समावार में कश्मीरी चाय खौल रही थी। चाय-फ़रोश ने ईदू, ममदू और हसनदीन को मिट्टी का एक-एक प्याला थमा दिया और हल्की-सी ललाई लिये हुए नमकीन चाय उनके प्यालों में उँडेली। चाय बहुत गर्म थी। हसनदीन के हाथ जलने लगे, तब उसने प्याले को फ़िरन के दामन में रखा और धीरे-धीरे चाय पीने लगा। उसका माथा पहली बार ठनका और उसे लगा कि सवारियों को समझने में उससे भारी ग़लती हो गयी है। अच्छे ख़ानदानी विज़िटर अपने साइसों को ऐसे मजबूर नहीं करते। बनी हुई बात थी, सब जानते थे कि कश्मीर के मुसलमान सिक्खों के हाथ का नहीं खाते। बात केवल हलाल-झटके की थी या उसकी जड़ें उस गहरी, तीव्र घृणा में जमी थीं, जो राणा रणजीत सिंह के सिक्ख सूबेदारों के अत्याचारों अथवा कुछ ही वर्ष पहले के साम्प्रदायिक दंगों ने मुस्लिम कश्मीरी जनता के दिलों में पैदा कर दी थी, कारण कुछ भी हो, हसनदीन बचपन से यह देखता आया था कि अच्छे विज़िटर, हिन्दू हों, अंग्रेज़ हों या सिक्ख, उनकी इस भावना का मान रखते थे। खिलनमर्ग के पड़ाव पर चार-चार आने प्रति साईस मिल जाना मामूली बात थी। अंग्रेज़ तो रुपया भी दे देते थे। प्रकट ही खन्ना साहब ने पैसे बचाने के लिए यह बहाना बनाया था। 'जो चाय के लिए चार आने नहीं देता, वह बख़शीश और गाइड के पैसे क्या देगा!' हसनदीन ने सोचा।

उसने जल्दी-जल्दी चाय के घूंट भरे, लेकिन उसकी तबियत नहीं खिली। "एक गर्म प्याला और दो। पैसेंजर तो ऐसा कंजूस मिला है कि चार आने चाय को नहीं दिये।" उसने कश्मीरी भाषा में चाय-फ़रोश से कहा।

"मैंने तो समझा, रुपया उसीने दिया है। बख़शीश में।" ममदा कश्मीरी ही में बोला।

"बख़शीश-उख़शीश की कोई उम्मीद नहीं। बस दोनाले से आगे नहीं जायँगे। साब तो बनास्पति मालूम होता है।"

चाय-फ़रोश ने ठहाका लगाया। ममदा और ईदू भी हँसे, पर उनकी हँसी में दर्द और निराशा थी।

तभी चाय-फ़रोश से समावार से हसनदीन का प्याला भर दिया। वह चुप-चाप चाय पीने लगा। मन में उसने तय कर लिया कि अब वह इस बात के सम्बन्ध में नहीं सोचेगा। लेकिन एक-दो घूंट भरने पर वही बात उसके सामने आ गयी। पिछले दिन की छोटी-छोटी घटनाएँ, जिनकी ओर अपने उत्साह में उसने पूरा ध्यान न दिया था, यथार्थ रूप में उसके सामने आने लगीं—वास्तव में इन हिन्दुस्तानी विज़िटरों को वह अच्छी तरह समझ नहीं पाया था। उसने ऐसे हिन्दुस्तानी सेठ भी देखे थे, जो प्रकट बड़े सीधे-साधे लगते थे, खाने को सिर्फ़ दाल-रोटी खाते थे, लेकिन बख़शीश किसी अंग्रेज़ से कम न देते थे। यही कारण था कि जब खन्ना साहब ने लंच में सैंडविच न बनवा कर परांठे लिये थे तो उसने

इस बात को महत्व न दिया, लेकिन अब उसे याद आया कि यद्यपि उन्होंने सैंड-विचों के प्रति उपेक्षा दिखायी थी, पर उप्पल साहब की सैंडविचों पर बढ़-बढ़कर हाथ मारा था। बापम ऋषि की ज़ियारतगाह पर उनका कुछ न चढ़ाना और चाय आदि के लिए उन्हें कुछ न देना और दस रुपये का नोट दिखाकर टरका देना अब उसे अखरा और उसे लगा कि वह सेठ को पहचानने में धोखा खा गया है। बहुत कम ऐसे विज़िटर उसके सम्पर्क में आये थे, जिन्हें उसने अफ़राबट पर लैमन स्कुआश की बोतल ले जाने का परामर्श दिया हो और उन्होंने लैमन ड्रॉप्स पर सन्तोष कर लिया हो। उसे सुबह ही खबरदार हो जाना चाहिए था, लेकिन सेठ ने बापम ऋषि को जाते समय अपनी दरियादिली का जो बखान किया था; वह उसके धोखे में आ गया। 'यकीनन यह कोई दालिया है।' उसने मन-ही-मन कहा, 'दालिया नहीं तो नम्बरी बखील (कंजूस) है।'

और जैसे इस निर्णय पर पहुँचने से उसका दिमाग़ कुछ साफ़ हो गया और वह चाय की चुस्की लेने लगा।

लेकिन खन्ना साहब चाय पीकर ऊपर जाने को तैयार हो गये थे। वह चाय पी रहा था, जब उन्होंने टेण्ट के पास आकर कहा, "चलो भाई हसनदीन, लंच के टाइम हमें अफ़राबट पर पहुँच जाना चाहिए।"

हसनदीन चल दिया, यद्यपि चलने को उसका मन ज़रा भी न था। वह तो बड़ा खुश होता यदि खन्ना साहब खिलनमर्ग ही से वापस हो जाते। लेकिन वह जानता था कि खिलनमर्ग आने वाले, दोनाला की बर्फ़ को छुए और उस पर दो-एक कदम चलकर देखे बिना वापस नहीं जाते। दोनाला तक तो उसे जाना ही पड़ेगा—उसने सोचा—लेकिन दोनाला से आगे वह हरगिज़ नहीं जायगा। वे लोग अफ़-राबट जायें या अलपत्थर, लेकिन यह आगे नहीं बढ़ेगा।

सबसे आगे खन्ना साहब का बच्चा था, फिर उनकी बीवी, फिर खन्ना साहब और उनके पीछे उप्पल साहब की पार्टी। उप्पल साहब की भतीजी और जीवानन्द आगे हो गये थे, लेकिन खन्ना साहब का बच्चा रोने लगा था कि वह सबसे आगे जायगा और ऊषा की मिन्नत करके उन्होंने बच्चे को सबसे आगे कर दिया था। फिर क्योंकि उनका बच्चा आगे था, इसलिए वे भी आगे हो गये थे शमशाद और सनोवर के ऊँचे-ऊँचे छायादार पेड़ और बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ कहीं बहुत नीचे छूट गयी थीं, खिलनमर्ग और दोनाले के मध्य केवल पत्थर थे और बीच-बीच में अपने-आप उग आने वाली घास अथवा छोटी-छोटी झाडियाँ या जड़ी-बूटियाँ। सामने अफ़राबट की चोटी थी, जिसकी बर्फ़ एक जमी हुई नदी की सूरत में नीचे तक चली आयी थी और दोनाले पर आकर दो हिस्सों में बँट गयी थी—एक हिस्सा खिलनमर्ग से कोई एक मील के अन्तर पर था और दूसरा और भी नीचे दूसरी ओर चला गया था और दिखायी न देता था।

वे लोग नाले के उस हिस्से की ओर बढ़े जा रहे थे, जो खिलनमर्ग के निकट

था। सबकी निगाहें बर्फ़ की उस चमचमाती ढलान पर जमी थीं। हसनदीन जानता था कि वे लोग वहाँ पहुँचकर कुछ पल चुपचाप, ठगे-से खड़े, मूर्खों का तरह उस बर्फ़ानी ढलान को देखते रहेंगे, फिर उसे छूकर देखेंगे, फिर शायद कोई बर्फ़ का गोला बनाकर एक-दूसरे पर फेंकें, या चार कदम चलकर फिसलें या बर्फ़ पर खड़े होकर एक-आध फ़ोटो लें—बस इतने भर के लिए ये लोग इतनी दूर आते थे! सिर्फ़ इतनी-सी बात के लिए वे लोग क्यों इतना रुपया खर्च करते थे? यह बात कभी हसनदीन की समझ में न आयी थी। उसने सुन रखा था कि शहरों में यही बर्फ़ शरबत या पानी में डालकर पी जाती है, फिर ये लोग उसी को यहाँ देखने के लिए हज़ारों मील की मंज़िल मारकर, हज़ारों रुपया खर्च करके क्यों आते हैं? और यद्यपि वह रोज़ खुदा के हुज़ूर में दुआ करता था और 'बाबा रिशी' से मनाता था कि वे लोग और भी अधिक संख्या में आयें और दोनाला ही नहीं, अफ़राबट और अलपत्थर तक जायें, लेकिन उसके यह सब मनाने का कारण उसकी समझ में आता था—वह ग़रीब था, वे लोग उसके घोड़ों पर आते थे और उसे मज़दूरी मिलती थी। जो बात वह समझ नहीं पाता था, वह उन लोगों के आने का कारण! पैसे वाले हैं, मन के मुताबिक पैसा लुटाते हैं, यह कर वह अपने मन की जिज्ञासा शान्त कर लेता था। वह अपने साथियों के साथ बैठता था तो वे लोग इन शहरियों की सनक पर हँसा करते थे। अंग्रेज़ों की बात उनकी समझ में आती थी। वे लोग सर्द मुल्कों के रहने वाले थे, गर्मियों में नीचे रह पाना उनके लिए कठिन था, फिर वे यहाँ आकर बेवकूफ़ों की तरह बर्फ़ को देख-छूकर न चले जाते थे, वे कई-कई महीने यहाँ रहते थे, इस बर्फ़ का लुत्फ़ उठाते थे, उस पर खेल खेलते थे, भालू और कस्तूरी मृग का शिकार करने जाते थे। इन शहरियों की तरह मुँह बाये, बर्फ़ को देखकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे। और हसनदीन सोचता कि अगर उसके पास खूब पैसा हो तो वह कश्मीर में रहने के बदले बम्बई, कलकत्ता जाय। अपने लड़के का निकाह करने और गाँव में पक्का मकान बनवाने के बाद वह खूब ज़मीन खरीदे; उसमें सेब, नाशपाती, खूबानी, अखरोट और बादाम के पेड़ लगाये और उनका व्यापार करे और दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता की सैर करे···वहाँ की सुनी-सुनायी रंगीन ज़िन्दगी की अस्पष्ट-सी तस्वीरें उसकी कल्पना में घूम जातीं और उसे समझ न आता कि ये शहरी उस रंगीन ज़िन्दगी को छोड़कर उन उदास, तनहा पहाड़ों में क्या करने आते हैं!

अभी वे दोनाले से इधर ही थे कि खन्ना साहब ने आँखों पर काला चश्मा लगा लिया। बस पर उन्हें किसी यात्री ने बताया था कि चमकती बर्फ़ को सीधी आँखों कदापि न देखना चाहिए, नज़र कमज़ोर हो जाती है और श्रीनगर पहुँचते ही उन्होंने पहली बात यह की थी कि एक बाज़ारी चश्माफ़रोश से बड़े सस्ते अमरीकी रंगीन चश्मे खरीद लिये थे, जो आँखों पर कीमती चश्मों-ऐसे लगते थे। स्वयं चश्मा लगाकर पत्नी और बच्चे को भी उन्होंने चश्मे लगाने का आदेश दिया।

हसनदीन हँसा। यह लोग कितने मूर्ख हैं, उसने मन-ही-मन कहा, बर्फ़ पर तो मिट्टी की तह जमी है; उसमें वह चमक कहाँ, जो सर्दियों में होती है! ये लोग सर्दियों में आयें तो शायद आँखों पर काली पट्टियाँ बाँध लें। फिर उसे ख़याल आया कि ये लोग पैसे वाले हैं, व्यर्थ की चीज़ों पर उड़ाने के लिए इनके पास पैसा है और अभी उसके मस्तिष्क में यह ख़याल मूर्त रूप भी न ले पाया था कि उसे उनके साथ अलपत्थर तक चले जाना चाहिए कि उसके सामने चाय वाली घटना आ गयी और उसने तय किया कि वे अमीर चाहे हों, लेकिन बड़े कंजूस हैं और चाहे जो हो, वह दोनाले के आगे उनके साथ कदापि न जायगा।

दोनाले से काफ़ी ऊपर, किनारे पर भेड़ों का एक बड़ा-सा रेवड़ बैठा था। घोड़ों की पदचाप सुनकर वे घबराकर उठीं और उनमें से एक बर्फ़ को पार करती हुई दूसरे किनारे की ओर चल दी। दूसरी उसके पीछे चली, फिर तीसरी, फिर चौथी···ढालुवीं बर्फ़ पर काली भूरी भेड़ों की पतली-सी लकीर खन्ना साहब को बड़ी भली लगी। घोड़े से उतरते ही अपने बच्चे की उँगली पकड़े हुए खन्ना साहब भागे और उन्होंने जाकर बर्फ़ को छुआ, फिर उन्होंने बच्चे के साथ ही बर्फ़ को खोदकर गोले बनाये और एक-दूसरे पर फेंके। उनकी बीवी आकर किनारे के एक पत्थर पर बैठ गयी। खन्ना साहब ने बर्फ़ का एक गोला उसकी ओर फेंक दिया। वह ऐसे बची जैसे बर्फ़ का नहीं, जलता हुआ ईस्पात का गोला उसकी ओर आ रहा हो। तब खन्ना साहब ने अपना कैमरा निकाला और उसे किनारे पर फ़िट किया, उस पर काला कपड़ा डाला और अपनी बीवी और बच्चे को आदेश दिया कि वे दोनों बर्फ़ में से उभरी एक शिला पर जा बैठें।

दोनों चन्द कदम बर्फ़ पर गये होंगे कि फिसल गये।

कैमरा वहीं छोड़ कर खन्ना साहब भागे, लेकिन इससे पहले कि उन्हें उठाते, वे स्वयं फिसल गये। बर्फ़ और विशेषकर ढालुवीं बर्फ़ पर चलने के लिए पैरों में मूंज के जूतों और किंचित अभ्यास की आवश्यकता है। एड़ियों को बर्फ़ में दबा कर चलना पड़ता है। तीनों एक-दूसरे को थामकर उठे, लेकिन दो कदम चल कर फिर गिर पड़े।

इसी बीच उप्पल साहब भी आ गये थे और किनारे पर खड़े होकर उस जमे हुए नाले का दर्शन कर रहे थे। खन्ना परिवार को एक साथ गिरते देख कर वे हँसी न रोक सके। हाँ, यह कोशिश उन्होंने ज़रूर की कि उनकी हँसी खन्ना साहब न सुन सकें! जीवानन्द केवल मुस्कराया। ऊषा खुल कर हँसी और खन्ना साहब की पत्नी को उठाने के लिए भागी। लेकिन बर्फ़ पर पहला कदम पड़ते ही फिसल गयी। अब के उप्पल साहब ज़ोर से हँसे।

हसनदीन अपना घोड़ा ममदू के हवाले करके दोनाले के किनारे आ बैठा था। उनके सिर में हल्का-सा दर्द था। बैठे-बैठे उसने पाँव पसार लिये थे और कम्बल को कुहनी के नीचे गोल-मोल करके इस तरह तिरछा लेट गया था कि आराम भी कर ले और कैमरे से फ़ोटो लिये जाते भी देख ले। उसने कभी फ़ोटो

न खिचवाया था और वह जब भी कभी कहीं फ़ोटो खींचे जाते देखता, बच्चों की तरह रुककर देखने लगता। कोई दूसरा वक्त होता और उसकी सवारी बर्फ़ पर फिसल जाती तो वह भाग कर उसे उठाता और बर्फ़ पर चलना सिखाता, लेकिन न जाने क्यों.न जाने कैसी शिथिलता अनायास उसके तन-मन पर छा गयी कि वह चाह कर भी नहीं उठा, बल्कि एक बड़ी अस्पष्ट-सी मुस्कान उसके होंठों पर फैल गयी। लेकिन अपनी सवारी के गिरने पर हँसना गुनाह ख़याल कर, उसने तत्काल उस मुस्कान को होंटों से पोंछ दिया; मगर जब ऊषा भी फिसल गयी और खन्ना साहब उठने का प्रयास करते हुए फिर फिसल गये तो उसकी स्वाभाविक तत्परता ने उसे झकझोर दिया। वह उठा। उसने ऊषा को उठाया और उसे वापस किनारे पहुँचा दिया, फिर बढ़ कर उसने खन्ना परिवार को उठाया। उन्हें बताया कि बर्फ़ पर कैसे एड़ी गाड़ कर, उस पर जोर देते हुए चलना चाहिए और वह पहले मेम साहब और छोटे साब को नाले के बीच उभरे शिला-खण्ड पर बैठा आया, फिर उसने साहब को वापस कैमरे तक पहुँचा दिया और उन दोनों को हिदायत दी कि वापसी पर वे लोग उन्हीं पद-चिन्हों पर पैर रखते हुए वापस आयें, जो शिला-खण्ड को जाते हुए बर्फ़ पर बन गये थे। इस तरह फिसलने की कोई सम्भावना न रहेगी। उन्हें यह सब समझा कर वह फिर चुपचाप किनारे अपनी जगह आ बैठा और खन्ना साहब को अपने बीवी-बच्चे का और जीवानन्द को उनका और चचा-भतीजी का फ़ोटो लेते देखता रहा। लेकिन यह सब देखते-देखते, न जाने कैसे, गत दिन की वही छोटी-छोटी घटनाएँ उसके सामने आने लगीं, जिन्हें वह खिलनमर्ग से दोनाले तक दोहरा-तेहरा चुका था। फिर बार-बार वही चाय वाली बात उसके मन को कोंचने लगी। खन्ना साहब की और कोई बात उसे इतनी बुरी न लगी थी, जितना उनका उसे सिक्ख की दुकान पर चाय पीने के लिए विवश करना। आज तक कभी ऐसा न हुआ था। ऐसे घटिया यात्री भी मिल जाते थे, जो चाय के लिए पैसे न देते थे, लेकिन ऐसा कोई न मिला था, जिसने उनकी धार्मिक भावना का मान न रखा हो। बार-बार उसके मन में यही बात आती थी कि सिक्ख यात्री तक उन्हें अलग अपने टेण्ट से चाय पीने के लिए पैसे दे देते हैं। हसनदीन यों सीधा-सरल आदमी था, पर इतने बरसों से विज़िटरों को लाते-ले जाते वह उन्हें अच्छी तरह समझ गया था। खन्ना साहब के कपड़ों, उनकी दिखावे की फूँ-फाँ और लनतरानियों ने उसे चाहे धोखे में रखा हो, पर चाय की उस घटना के बाद उनकी असलियत उस पर पूरी तरह खुल गयी थी। वे उदार भी बने रहना चाहते थे और पैसे भी न देना चाहते थे। बाबा ऋषि के यहाँ दस-दस के नोट दिखा कर उसे टाल दिया और यहाँ अपने साथ (सिक्ख की दुकान पर) चाय पिलाने का बहाना बना कर जान छुड़ा ली···और यह सब सोच-सोच कर उसका मन बेतरह खिन्न हो उठा था। चाय की वह छोटी-सी घटना अनायास उसके मन को एकदम उत्साहहीन बना गयी थी और अपनी सवारी की जी-जान से खिदमत करने का, उसे अच्छी-से-अच्छी जगह दिखाने

का सारा उत्साह बुझा गयी थी—दो रातों का रतजगा और थकान, जिसे अच्छी मजदूरी और बख़शीश की आशा ने अपने प्रकाश में छिपा रखा था, न जाने उसके तन-मन के किन तारीक कोनों से निकल कर उसकी नस-नस में भर गयी थी। उसका सिर भारी होने लगा, उसकी आँखें झपने लगीं और फ़ोटो खिंचते देखते-देखते वह लेट गया और फिर सो गया।

खन्ना साहब अपने बीवी-बच्चे के फ़ोटो खींच चुके तो उनकी पत्नी ने पूर्ववत उनका एक फ़ोटो बच्चे के साथ लिया। जीवानन्द ने ऊषा के कई पोज़—कभी बर्फ़ पर बैठे, कभी गोले बनाते, कभी बर्फ़ उड़ाते और कभी बर्फ़ पर फिसलते समय के—लिये। फिर ऊषा ने भी उसके दो-तीन पोज़ लिये। (चचा को वे दोनों नहीं भूले—उनके पोज़ भी उन्होंने साथ-साथ लिये।) जब वे लोग हर तरह से दोनाले को देख चुके और उनकी समझ में न आया कि अब क्या करें, तब उन्होंने फ़ैसला किया कि अफ़राबट चलें। क्योंकि चचा ने फ़ैसला दे दिया कि वे स्वयं आगे नहीं जायेंगे, इसलिए ऊषा और भी पीछे पड़ गयी कि वह अफ़राबट देखे बिना वापस न जायगी और अन्त को चचा ने जीवानन्द से कहा कि वे दोनों अफ़राबट तक हो आयँ, वे खुद दोनाले पर उनकी प्रतीक्षा करेंगे और उन्होंने खन्नासाहब से भी कहा कि वे उनकी भतीजी को अफ़राबट दिखा लायें। कुक्कू ने अपने पिता के उत्तर से पहले ही अपनी उस नयी आण्टी का हाथ पकड़ लिया और घोड़े की ओर बढ़ा

तब खन्ना साहब ने हसनदीन को आवाज़ दी। जब दो आवाजें देने पर भी वह नहीं उठा और उन्होंने देखा कि इस बीच में वह आधा कम्बल ऊपर और आधा नीचे लेकर सो गया है तो उन्होंने उसे झकझोरा।

आँखें मलता हुआ वह उठा!

"चलो भई," खन्ना साहब ने कहा।

हसनदीन का सिर दर्द करने लगा था, अँगूठे और तर्जनी की सहायता से दोनों कनपटियाँ दबाते हुए उसने कहा, "साब, घोड़ा तो यहीं तक आता है, आगे रास्ते पर बर्फ़ पड़ी है।"

"तुमने कहा था कि जहाँ तक चलेगा, ले जायगा।"

"नहीं साब, आगे नहीं जाता। खिलनमर्ग़ से दोनाले तक आने का एक रुपया और लगता है, लेकिन आगे घोड़ा नहीं जाता। साब, ज़्यादा लोग तो दोनाले तक आता है।"

तभी खन्ना साहब ने देखा—कुछ लोग ऊपर जा रहे हैं—दो विलायती साहब थे और कुछ देसी लोग।

"क्यों साब, कहाँ तक जाने का इरादा है?" उन्होंने आगे जाने वाले से पूछा।

"अभी तो ऊपर अफ़राबट तक चलेंगे। समय रहा तो फ़रोजन लेक देखेंगे।"

"कैसी है फ़रोज़न लेक?"

"यह तो हमने भी नहीं देखा।"

"देखिए साब, वो लोग पैदल जा रहे हैं।" सहसा हसनदीन ने कहा, "आगे घोड़ा नहीं जाता।"

लेकिन खन्ना साहब गर्म हो गये, "तुमने कहा था—मैं अलपत्थर तक ले जाऊँगा, घोड़ा जहाँ तक जायगा, ले जाऊँगा। हमको धोखे से लाये हो और यहाँ आ कर बैठ गये हो। हमें पता होता कि ऊपर तक नहीं जाओगे तो हम खिलन-मर्ग से ही मुड़ जाते, यहाँ तक भी नहीं आते।"

उप्पल साहब, ऊषा और जीवानन्द चुपचाप तनिक ऊपर रास्ते पर खड़े यह बहस सुन रहे थे। उनके साईसों ने उन्हें दोनाले तक पहुँचाने की बात की थी। लेकिन यदि खन्ना साहब आगे घोड़ों पर जायेंगे, वे सोच रहे थे, तो वे भी जायेंगे।

हसनदीन चुप रहा। उसके अन्तर में कोई कह रहा था—बस यहीं, तक, अब मत हिलना। ऊपर मत जाना, पहचानने में कहीं ग़लती हो गयी है। यहाँ तक के दाम वसूल करो, आगे न मरो। यहाँ तक तो सरकारी रेट है, मिल ही जायगा। ऊपर का क्या भरोसा? कितनी मेहनत पड़े और बाद में पाई न मिले। उसके सिर में दर्द धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उसका मन होता था: ये लोग लौट चलें, वह पैसे वसूल करे, घर जा कर गर्म चाय के दो प्याले पिये और सो जाय और अगला सारा दिन सोया रहे।

लेकिन खन्ना साहब गरज रहे थे—

"चलो, हम आगे नहीं बढ़ेंगे, लेकिन यह जान लो कि एक कौड़ी हम नहीं देंगे। चलो उठाओ।"

हसनदीन घोड़ों की तरफ़ बढ़ा। वह जानता था कि यहाँ तक के पैसे वे लोग झख मार कर देंगे। हाँ, शोर ज़रूर मचायेंगे। न देने के लिए कहेंगे, लेकिन सरदार हरनामसिंह की ड्यूटी है, पैसे तो वह ले ही मरेगा।

लेकिन खन्ना साहब कच्ची गोलियाँ नहीं खेले थे। हसनदीन के मुड़ते ही गरजे, "ठीक है, तुम जाओ, अपने घोड़े ले जाओ। हमको नहीं चाहिएँ घोड़े, हम पैदल चलेंगे।"

और कैनवस का बैग उससे छीन कर वे चन्द कदम बढ़े।

उप्पल साहब बड़ी उत्सुकता से यह सत्र कौतुक देख रहे थे। खन्ना साहब की बीवी और बच्चा असमंजस में वहीं खड़े थे। बीवी सोच रही थी—कहीं सचमुच पैदल ही न चल दें। बढ़ कर हसनदीन से बड़े खिजलाहट-भरे स्वर में बोली, "जब इतनी बातें करके लाये थे तो क्यों नहीं ले जाते ऊपर?"

"मेम साब, घोड़ा इससे आगे नहीं जाता।"

"जहाँ तक जाते हैं, ले चलो।"

"मेम साब, हमारा सिर दर्द कर रहा है। नहीं हमको पैसा मिलता, हम क्यों नहीं जाता?"

"लो, मैं तुम्हें बाम देती हूँ, मल लो।" और उसने खन्ना साहब को आवाज़ दी, "सुनिए जी, ज़रा बैग दीजिए!"

खन्ना साहब वापस हुए। वास्तव में वे आगे बढ़े नहीं थे, बढ़ने का अभिनय भर कर रहे थे।

अपने पति से बैग ले कर, उसमें अमृतांजन निकाल कर खन्ना साहब की बीवी ने थोड़ा-सा बाम हसनदीन को दिया, "जहाँ दर्द हो रहा है, वहाँ मल लो।"

बाम को मलते-मलते हसनदीन ने सोचा—उसे चलना चाहिए! वह टंगमर्ग के अड्डे का साईस, गुलमर्ग से उसे सवारी मिलेगी नहीं। दिन खराब हो जायगा। वापसी के पैसे मारे जायेंगे। सेठ खिलनमर्ग से पैदल उतरेगा तो फिर उनके घोड़ों पर तो जायगा नहीं···माथा ठनक रहा है···बखशीश मिले-न-मिले, उसे चलना ज़रूर चाहिए। मन से उसने समझौता कर लिया। वह अपनी तरफ़ से खिदमत कर देगा। फिर जो खुदा को मंजूर हो।

और उसने तीनों को घोड़ों पर चढ़ाया, खन्ना साहब की बीवी से बैग लेकर कन्धे पर लटकाया और चल पड़ा। उप्पल साहब ने भी अपने साईसों को तैयार कर लिया कि जहाँ तक वे लोग घोड़ों पर जायेंगे, वहाँ तक वे ऊषा और जीवानन्द को ले जायँ। स्वयं उन्होंने दोनाले अथवा खिलनमर्ग पर उनकी प्रतीक्षा का फ़ैसला किया।

"यू सी, दे आर रोग्ज़ (rogues)। आई नो हाऊ टु डील विद देम।" उन्होंने उप्पल साहब और अपनी बीवी को सुनाते हुए विजयोल्लास से कहा।

हसनदीन को लगा, जैसे उसके सिर में कोई हथौड़े मार रहा है। उसने कम्बल सिर से लपेट लिया।

उनकी बीवी इतनी अंग्रेज़ी न पढ़ी थी कि अपने पति की बात ठीक से समझ लेती, पर वह मतलब समझ गयी और अपने पति की बुद्धिमानी पर प्रसन्न हो कर मुस्करायी।

तभी उनके बच्चे की नज़र एक लड़के पर गयी, जो अफ़राबट से बर्फ़-गाड़ी पर फ़र्राटे से फिसलता चला आ रहा था और उनके निकट आकर दोनाले पर रुक गया था। उसके पीछे परिवार के दूसरे लोग बर्फ़-गाड़ियों पर तेज़ी से उतरे आ रहे थे। और कुक्कू चिल्लाया, "पापो जी, हम भी बर्फ़-गाड़ी पर चढ़ेंगे।"

"हाँ, हाँ, चढ़ना, चढ़ना!" खन्ना साहब ने कहा और घोड़े को टिटकारी मारी।

और जैसे वह इसी संकेत की प्रतीक्षा कर रहा था, एक कश्मीरी हातो, कन्धे पर बर्फ़-गाड़ी लादे, किनारे के पत्थरों से निकल कर उनके रास्ते पर आ गया और उनके साथ-साथ चलने लगा।

"क्यों भाई, स्लेज पर अफ़राबट से उतरने का फ़ी-सवारी क्या लेते हो?" खन्ना साहब ने पूछा।

"आठ रुपये!"

"आठ रुपये !" खन्ना साहब हँसे और सिर को झटका देकर उधर से ध्यान हटा, उन्होंने घोड़े को एड़ लगायी।

लेकिन वह कश्मीरी उनके साथ-साथ चलता रहा।

दोनाले से आगे रास्ता बायीं ओर के पत्थरों और चट्टानों में कभी बायें और कभी दायें होता, चक्कर खाता ऊपर चढ़ता था। दायीं ओर अफ़राबट से दोनाले तक आनेवाली बर्फ़ की ढलान थी। न जाने बर्फ़ कितनी गहरी जमी थी ! उसके नीचे-कहीं बहुत नीचे-नाला बहता होगा, लेकिन सर्दियों में बर्फ़ से सारी की-सारी खड्ड भर गयी थी, बर्फ़ किनारों तक आ गयी थी और अभी तक पिघली नहीं थी। ज्यों-ज्यों वे अफराबट की ओर चढ़ते जाते थे, बर्फ़ का पाट बढ़ता जाता था और ऊपर—बहुत ऊपर—अफ़राबट की चोटी पर तो बड़ा चौड़ा हो गया था और अनायास मन में जिज्ञासा उठती थी कि दूसरी ओर क्या बर्फ़ का मैदान है अथवा दोनाले जैसी बर्फ़ीली ढलान ! बार-बार वे इस बर्फ़ के किनारे आते फिर दूर हो जाते, फिर निकट आ जाते और इस तरह मन्थर गति से ऊपर चढ़ते जाते।

वास्तव में रास्ता कोई था नहीं, दर्शकों के आने-जाने से एक छोटी-सी पगडण्डी बन गयी थी और हसनदीन लगातार बड़बड़ाता जा रहा था कि उसके किसी घोड़े की टाँग टूट जायगी; घोड़ा दोनाले तक रहता है, ऊपर नहीं जाता; अगर साब टंगमर्ग पर पक्की तरह कह देता कि वह अलपत्थर जायगा तो वह उसे दूसरी ओर से लाता; इधर से अलपत्थर जाने वाला लोग तो दोनाले पर उतरकर आगे पैदल जाता है।

लेकिन खन्ना साहब उसकी बड़बड़ाहट पर कान दिये बिना बर्फ़-गाड़ी वाले से भाव-ताव किये जा रहे थे। इस एक मील के रास्ते में वह आठ रुपये से चार रुपये तक उतर आया था और वे एक रुपये से डेढ़ रुपये तक बढ़ गये थे। न जाने उसने अपने साथियों को इशारा कर दिया अथवा चूंकि वह अभी उनके घोड़े के साथ लगा चल रहा था, इसलिए वे समझ रहे थे कि वह मामला पटा रहा है और बर्फ़-गाड़ियाँ कन्धों पर रखे किनारे-किनारे सीधी चढ़ाई चढ़ रहे थे। रास्ता जब बर्फ़ के निकट आता तो वे धीरे-धीरे चढ़ते दिखायी दे जाते। शायद ये वही लोग थे, जो कुछ देर पहले ऊपर से सवारियाँ लाये थे।

कुक्कू कई बार बर्फ़-गाड़ी पर चढ़ने के लिए अनुरोध कर चुका था, "पापो जी, हम अफ़राबट से बर्फ़-गाड़ी पर उतरेंगे न ?" वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद कुछ ऐसे ही बात करता और जब खन्ना साहब कहते—हाँ हाँ, बेटा जी, उतरेंगे—वह बायें हाथ में लगाम पकड़कर दायें हाथ से हवा को ऊपर से नीचे तक चीरता कि यों सर्र से उतरेंगे और लगातार हाथ से हवा में गाड़ी चलाये जाता। फिर कुछ देर बाद अपनी माँ से पूछता—"क्यों मम्मो जी, आप भी मेरे साथ बर्फ़-गाड़ी में उतरेंगी न ?" वह हर तरह से बर्फ़-गाड़ी की सैर के सम्बन्ध में आश्वस्त हो

जाना चाहता था।

खन्ना साहब को उसका यों बार-बार पूछना बड़ा बुरा लगता था। यदि स्लेज वालों को यह विश्वास हो गया कि ये लोग ज़रूर बर्फ़-गाड़ियाँ किराये पर लेंगे तो वे कभी भाव कम न करेंगे और चार रुपये प्रति सवारी तो वे इस जन्म में नहीं देंगे। इसलिए चाहे लड़के को उन्होंने आश्वस्त कर दिया था, पर गाड़ी वाले से कहा, "भाई, तुम जाओ, क्यों परेशान कर रहे हो, तुम्हें देखकर बच्चा मचलता है, क्यों अपना वक्त खराब करते हो, पीछे सवारियाँ आ रही हैं, बड़े अमीर लोग हैं, उन्हें घेरो, हम पैदल ही आयेंगे।"

लेकिन बर्फ़-गाड़ी वाला निरंतर पीछे लगा था, "साब, तुम इतना बड़ा सेठ है, क्या चार-छह रुपये का मुँह देखता है। इतनी दूर से कश्मीर की सैर को आया है। बर्फ़-गाड़ी पर अफ़राबट से उतरेगा तो जन्नत का मज़ा आ जायगा। हम तो ख़ुदा कसम आठ रुपया से डब्बल कम नहीं लेता। अभी तुम्हारे सामने हमारा साथी लोग आठ-आठ रुपये में ऊपर से सवारी लाया है।"

"अरे भाई, कोई राजा-महाराजा होता तो इसी आठ के बदले अस्सी रुपये दे देता, पर हम ग़रीब आदमी हैं।"

"अरे सेठ, क्या बात करता है। ग़रीब आदमी कश्मीर की सैर को नहीं आता। हजारों रुपया खर्च करके आया है, हम ग़रीब पर क्यों कसर निकालता है। तुम इतना बड़ा सेठ है···

'बड़ा सेठ है!'—हसनदीन उस भाव-ताव को देखकर मन-ही-मन झल्लाया —'खाक बड़ा सेठ है! कोई बनिया-बक्काल है!'···उसका सिर दर्द से फटा जा रहा था। कुछ देर बाम की चुनचुनाहट रही थी और लगा था कि आराम आ रहा है, लेकिन अब फिर सिर में हथौड़े चलने लगे थे। ढीले होते कम्बल को उसने फिर सिर पर लपेटा। नाक में पानी चला आ रहा था, आस्तीन के बाज़ू से उसे पोंछा। मन-ही-मन उसने कहा—'पैसे से कोई थोड़ा ही बड़ा हो जाता है! बड़ा वह, जिसका दिल बड़ा!'

"क्यों भाई, हमारा सौदा करा दो ना," स्लेज वाले ने कुछ कदम पीछे हो कर कश्मीरी भाषा में हसनदीन से कहा।

"सेठ बड़ा कंजूस है।" हसनदीन ने कश्मीरी ही में उत्तर दिया, "लेकिन उसे शाम को टंगमर्ग से बस पकड़नी है और वह अलपत्थर भी देखना चाहता है, इसलिए बर्फ़-गाड़ी लेगा जरूर, लेकिन दो-अढ़ाई से ज्यादा नहीं देगा।"

और बर्फ़-गाड़ी वाले ने आगे बढ़कर कहा, "साब, तुम्हारा बच्चा बर्फ़ पर सवारी करने को माँग रहा है, उसकी ख़ातिर हम तुमसे पौने चार रुपया ले लेगा। बस इससे कम हम एक डब्बल नहीं लेगा, तुम्हारा खुशी गाड़ी लो, चाहे न लो।"

खन्ना साहब ने उत्तर में सिर्फ़ घोड़े को एड़ लगायी और टिटकारी भरी।

और हसनदीन ने सिर में पड़ते हथौड़ों के मध्य सोचा, वह बर्फ़ के पुल तक

जायगा, आगे एक कदम नहीं रखेगा, चाहे सेठ उसका घोड़ा रखे, चाहे छोड़े और उसने फ़िरन की आस्तीन से अपनी बहती नाक पोंछी।

यह बर्फ़ का पुल दोनाला से एक मील ऊपर था। पुल-वुल वहाँ उस वक्त कुछ नहीं था, क्योंकि बर्फ़ अफ़राबट की चोटी से लगातार नीचे दोनाले तक चली गयी थी। एक-दो महीने बाद, जब नीचे की बर्फ़ पिघल जाती होगी, और नीचे नाला तेज़ी से बहता दिखायी देता होगा तो उसे बर्फ़ के पुल की संज्ञा दी जाती होगी। उस वक्त तो वहाँ इस किनारे से उस किनारे तक बर्फ़ पर एक मैली-सी पगडण्डी बनी हुई थी। घोड़े इस किनारे रुक गये और हसनदीन ने कहा कि बस घोड़े इससे आगे नहीं जायँगे और वे लोग उतर जायँ।

"तुम बोला था—घोड़ा सीधा अफ़राबट तक जायगा।" खन्ना साहब ने घोड़े पर बैठे-बैठे कहा।

"साब, तुम अगस्त में आता, यहाँ का रास्ता खुल जाता तो घोड़ा अफ़रावट तक जाता, लेकिन आगे रास्ता बन्द है। घोड़ा की टाँग टूट जायगा और घोड़ा फिसल गया तो तुम नीचे दोनाला तक लुढ़कता चला जायगा।"

खन्ना साहब क्षण-भर चुप रहे। घोड़े पर बैठे रहे। फिर बोले, "ये घोड़े तो बर्फ़ पर चल लेते हैं।"

"साब, हमको यहाँ तक आने पर ही दूसरे साईस गालियाँ दे रहे हैं। हमारा हुक्का-पानी बंद कर देंगे। हम एक कदम आगे नहीं जायगा।"

उसके स्वर में ऐसी दृढ़ता थी कि खन्ना साहब ने उतरने का फ़ैसला कर लिया, लेकिन वे उतरे नहीं। ज़िद्दी बच्चे की तरह बोले, "तुमने हमसे कहा था —हम अलपत्थर तक ले जायगा।" यह कहते हुए उन्होंने पीछे की ओर देखा—ऊषा और जीवानन्द घोड़ों से उतर रहे थे।

"साब, हम ले जाता, पर रास्ता बन्द है," हसनदीन बोला। फिर निमिष भर रुक कर उसने कहा, "हमको अपना फ़िकिर नहीं साब, घोड़े का भी फ़िकिर नहीं साब, हमको साब का, मेम साब का और बच्चा का फ़िकिर है। कहीं घोड़ा का पैर फिसल गया तो हम ग़रीब मारा जायगा साब, हमारा नाम बदनाम हो जायगा साब।"

खन्ना साहब को भी उसकी या उसके घोड़े की चिन्ता नहीं थी, लेकिन उन्हें अपने बीवी-बच्चे की चिन्ता बहुत ज़रूरी थी। वे घोड़े से उतर गये और उन्होंने अपने बीवी-बच्चे को भी घोड़ों से उतारा!

सामने पगडण्डी इतनी पतली थी और बर्फ़ ऐसी ढालुवीं थी कि उसे देखते ही डर लगता था, "लेकिन हम बर्फ़ पर कैसे चलेंगे?" सहसा उन्होंने कहा।

"उसका फ़िकिर नहीं! हम साब को ले जायगा! साब को पार पहुँचा कर आयेगा।"

"तुमको हमारे साथ अफ़रावट तक चलना होगा।"

"साब, हमारा तबीयत ठीक नहीं ।"

"हम तुम को ख़ुश कर देंगे ।"

"उसका फ़िकिर नहीं, हम साब का ग़ुलाम है, लेकिन हमारा सिर दर्द करता है, हम ठीक से खड़ा नहीं हो सकता ।"

और हसनदीन ने घोड़े की लगाम ममदू को दी और उसे आदेश दिया कि वे लोग दोनाले पर उन सब का इन्तज़ार करें ।

खन्ना साहब के बच्चे को किसी तरह का डर न था । वह सबसे पहले पार जाने को मचल रहा था । हसनदीन ने उसे साथ लिया । समझाया कि बायीं ओर को पैर वर्फ़ में दबा कर चलो और वह उसे सहारा देता हुआ, विज़िटरों के जूतों से गँदली हो जाने वाली उस लकीर-सी पगडण्डी पर बढ़ा ।

बच्चा वर्फ़ के पार पहुँच कर ख़ुशी से उछलने लगा कि वह सबसे पहले पहुँचा । तब हसनदीन खन्ना साहब की बीवी को पार ले गया ।

यद्यपि उनका बच्चा और बीवी हसनदीन के सहारे आसानी से उस बर्फ़ के पुल के पार हो गये थे, लेकिन खन्ना साहब दो बार फिसले । वे ऐसे घबराये हुए थे कि इर्द-गिर्द कैसा सुन्दर दृश्य है, यह देखना उनके लिए नितान्त असम्भव था । दूसरी बार जब वे फिसले और हसनदीन ने खींच कर उन्हें खड़ा किया तो उनकी दृष्टि बर्फ़ की उस ढलान पर लुढ़कती हुई नीचे तक चली गयी और उन्होंने देखा —नीचे, बहुत नीचे, जहाँ वे बैठे थे, चींटियों की एक कतार सरक रही है —वही भेड़ें थीं, जो दूसरे किनारे चली गयी थीं, अब फिर उसी किनारे वापस आ रही थीं । सहसा एक ख़याल खन्ना साहब के दिमाग़ में कौंध गया । यदि वे फिसल जायँ, लुढ़कते चले जायँ तो ज़रूर उन चीटियों को रौंदते चले जायँगे··· और उनकी भयभीत कल्पना ने देखा कि वे फिसल गये हैं, लुढ़कते जा रहे हैं और उन चींटियों-सी भेड़ों को अपने साथ लुढ़काते हुए कहीं बहुत नीचे जा गिरे हैं, जहाँ बर्फ़ ख़त्म हो गयी है और नाला बर्फ़ की कैद से आज़ाद होकर पत्थरों में बहता है—कल्पना मात्र से, उस सर्दी के बावजूद उन्हें पसीना आ गया, कपड़ों के नीचे उन्होंने नमी-सी महसूस की और वे हसनदीन के सहारे दो-चार लम्बे पग धरते हुए बर्फ़ की उस पगडण्डी के पार हो गये ।

हसनदीन का ख़याल था कि वह उप्पल साहब की भतीजी और जीवानन्द को भी पार आने में सहायता देगा, लेकिन खन्ना साहब को इस पार लाकर जब वह मुड़ा तो उसने देखा कि जीवानन्द ऊषा को सहारा देकर लगभग पार आ गया है ।

पार आकर खन्ना साहब कुछ क्षण चुपचाप खड़े रहे, अफराबट एकदम ऊपर दिखायी देता था । सीधी चढ़ाई और उनकी साँस पगडण्डी पार करते ही फूल गयी थी, लेकिन उनका लड़का चलने को उतावला था और अपनी माँ का हाथ खींच रहा था ।

खन्ना साहब अपनी बीवी के पीछे चलने ही लगे थे कि हसनदीन ने कहा;

"साब आप बैग ले लीजिए, हमारा तबीयत बहुत खराब है, हम नीचे दोनाला पर आपका इन्तज़ार करेगा।"

"अफ़राबट तक तो तुम्हें चलना ही पड़ेगा," खन्ना साहब झुँझलाकर बोले, "तुम्हारी ही वजह से हम आये हैं।"

"साब हमारा सिर दर्द करता है।"

"शकुन, इसे थोड़ा-सा बाम दो।" उन्होंने अपनी पत्नी से कहा।

"अरे साब को ले जाता क्यों नहीं अफ़राबट तक। बड़ा सेठ है, खूब बख़शीश देगा···"

खन्ना साहब की बीवी बैग से बाम की शीशी निकाल रही थी। आवाज़ सुनकर खन्ना साहब मुड़े। उन्होंने देखा कि वही बर्फ़-गाड़ी वाला कन्धे पर बर्फ़-गाड़ी उठाये इस पार आ गया है।

"बख़शीश का बात नहीं, हमारा सिर दर्द करता है!" हसनदीन ने बेबसी से कहा।

बर्फ़ गाड़ी वाले कश्मीरी ने गाड़ी धरती पर रखकर श्रीमती खन्ना से बाम लिया और हसनदीन के माथे पर मल दिया, फिर वह गाड़ी कन्धे पर रखकर हसनदीन को दायीं बग़ल में लेता और, "कहकर लाये हो तो साब को अफ़राबट पहुँचा दो!" कश्मीरी भाषा में यह कहता हुआ आगे बढ़ा।

खन्ना साहब चल दिये। ऊषा और जीवानन्द कुछ आगे निकल गये थे और कुछ ऊँचाई पर जा रहे थे, खन्ना साहब का बच्चा उन्हें और आगे बढ़ने के लिए खींच रहा था और वे भरसक तेज़ चलने का प्रयास कर रहे थे।

हसनदीन और बर्फ़-गाड़ी वाला दोनों सब के पीछे चल रहे थे।

"यार, हमारा तय करा दो, हम तुम्हें चाय पिलायेंगे।" बर्फ़-गाड़ी वाले ने अपनी भाषा में बड़े धीमे स्वर में हसनदीन से कहा।

"मेरा सिर फटा जाता है, तुम्हें अपनी पड़ी है।"

"दो गोली 'इस्प्रो' बढ़िया कहवे के साथ खाना, सिर-दर्द का पता न चलेगा।"

"हमारी किस्मत में तो वही अपनी नमकीन चाय है।"

"हम पिलायेंगे तुम्हें कहवा।" और उसने सीने पर ज़ोर से हाथ मारा।

पैदल आने वाली पार्टी बर्फ़ का पुल पार कर रही थी। हसनदीन ने एक नज़र उन लोगों पर डाली और आगे बढ़कर खन्ना साहब से कहा, "साहब, अफराबट तक पहुँचते-पहुँचते एक बज जाएगा, तुम खाना भी खायगा, तुमको टंगमर्ग से बस भी पकड़ना है, बर्फ़-गाड़ी तुमको पाँच मिनट में दोनाला पहुँचा देगा, पैदल तो एक घण्टा लग जायगा।"

"लेकिन हम चार-पौने चार नहीं दे सकते।"

"तुम बोलो, तुम ज़्यादा-से-ज़्यादा कितना दे सकता है?"

"हम दो-अढ़ाई रुपये से ज़्यादा हरगिज़ नहीं दे सकते?" मन में उन्होंने

हिसाब लगाया कि यदि वे समय से बस पर न पहुँचे तो उनके आठ रुपये व्यर्थ जाएँगे, क्योंकि वे वापसी टिकट ख़रीद कर गुलमर्ग आये थे, वही आठ वे बर्फ़-गाड़ियों पर खर्च कर देंगे। बच्चा भी ख़ुश हो जायगा, बर्फ़-गाड़ियों की सैर भी कर लेंगे (उनको स्वयं शौक था कि वे चढ़ कर देखें कैसे इतनी ऊँचाई से आदमी सर्र से एकदम मीलों नीचे चला जाता है ?)

"इतने कम पर तो शायद तैयार न हों।" हसनदीन ने कहा।

"तुम कोशिश तो करो। उनको देने के बदले हम तुम्हें देंगे, देखो भाई अढ़ाई रुपये प्रति सवारी पर उन्हें मनाओ।"

लेकिन जब कुछ ही क्षण बाद हसनदीन ने आ कर बताया कि उसने बड़ी मुश्किल से उन्हें राज़ी कर लिया है तो खन्ना साहब को बड़ा अफ़सोस हुआ। उन्हें लगा कि उन्हें दो रुपये प्रति सवारी कहना चाहिए था और बच्चे के तो आधे पैसे होने चाहिए थे। पलट कर उन्होंने हसनदीन से कहा—"बच्चे का हम सवा रुपया देंगे। उसका तो बस में भी आधा टिकट लगता है।"

खन्ना साहब का बच्चा अपनी माँ को ले कर सबसे आगे निकल गया था। पीछे से आने वाले भी आगे निकल गये थे। चढ़ाई ऐसी सीधी थी कि खन्ना साहब को हर मोड़ पर साँस लेनी पड़ती थी।

"साब, हमारे पास तो दो बर्फ़-गाड़ी है, हम तीसरा आदमी को भेज देता है, तुम उससे तय कर लो।" स्लेज वालों ने कहा।

"नहीं, हम तय-वय कुछ नहीं करेंगे, हम सवा रुपया बच्चे का देंगे, तीसरा आदमी तुम्हीं तैयार करो।"

और वे तेज़-तेज़ चलने लगे, पर दो मोड़ पार करते-करते ही उनकी साँस फूल गयी, लेकिन इस प्रयास में वे ऊषा और जीवानन्द से आगे निकल आये।

"पापो जी, हमको छुओ। देखो हम कितना ऊपर चढ़ गये हैं।" कुक्कू ने एक मोड़ ऊपर से कहा।

"आपका बच्चा साहब बड़ा तेज़ है!" दोनाला से पैदल आने वाले एक बुज़ुर्ग ने कहा, "इतने में ही उसने हमें दोस्त बना लिया है। अपने कॉन्वेण्ट, साथियों और टीचरों के नाम—उसने सब बता दिये हैं।"

"साब, हम तो कॉन्वेण्ट के हक में नहीं, पर हमारे बड़े भाई के कोई लड़का नहीं, वे इसे ही अपना लड़का मानते हैं, सो यह कॉन्वेण्ट में पढ़ता है।" खन्ना साहब वहीं से बोले।

"नहीं साब, आप बहुत अच्छा करते हैं, आपके लड़के को देख कर तबीयत ख़ुश हो गयी।"

"हम तो इसके थक जाने के डर से इस ऊँचाई पर आ नहीं रहे थे, लेकिन यह तो भागा जा रहा है, हमीं थक गये हैं।"

चढ़ाई एकदम सीधी हो गयी थी, उन बुज़ुर्ग को कष्ट हो रहा था। "अंकल जी, मैं आपकी मदद करता हूँ।" सहसा खन्ना साहब का बच्चा नीचे उतर आया

और उनका हाथ थाम कर उन्हें चढ़ने में मदद देने लगा। और देखते-देखते उन्हें छोटी और सीधी पगडण्डियों के रास्ते सबसे आगे ले गया। बच्चे के साथ बुज़ुर्ग भी बच्चा बन गये।

खन्ना साहब थक कर सुस्ताने के लिए एक पत्थर पर बैठ गये। वहीं बैठे-बैठे उन्होंने देखा कि दो-तीन मोड़ नीचे, ऊषा थक कर एक चट्टान पर बैठ गयी है और जीवानन्द उससे सटा, अपनी दायीं बाँह से उसे घेरे, बातों में निमग्न है। उसे अलपत्थर पहुँचने की कोई जल्दी नहीं। जैसे वे अनन्त काल तक वहीं बैठे रहेंगे।

खन्ना साहब को क्षण-भर के लिए जीनानन्द से ईर्ष्या हुई, फिर उन्हें खयाल आया, मुड़ कर उसे इस बदतमीज़ी से रोकें—ऊषा के चचा ने उन्हें उसका खयाल रखने और अफ़राबट दिखा लाने के लिए कहा था। लेकिन इससे पहले कि वे उठते, उन्होंने सोचा, जाने उप्पल साहब इस तरह उस लड़के को फाँस ही रहे हों, जभी तो उसे अकेले उसके साथ भेज दिया है, दिल्ली में उस मुटकी को ऐसा अच्छा अमीर युवा वर कहाँ मिलेगा और उनके कर्त्तव्य का जोश पानी की झाग-सा बैठ गया और एक लम्बी साँस उनके होंटों से निकल गयी—पहाड़ की सैर का मज़ा तो ये लोग ले रहे हैं, वे खुद तो जैसे बेगार काट रहे हैं और उन्होंने मन-ही-मन फ़ैसला किया कि चाहे कुछ ज़्यादा पैसे ही देने पड़े, वे अफ़राबट को चोटी से स्लेज द्वारा ज़रूर उतरेंगे। कुछ याद तो रहे कि हाँ, पहाड़ की सैर को गये थे। और कल्पना-ही-कल्पना में वे स्लेज-ड्राइवर के पीछे आँधी के वेग से बर्फ़ को चीरते अफ़राबट से उतरे···

कि बर्फ़-गाड़ी वाला दायीं ओर बर्फ़ीले किनारे से एक बुड्ढे को साथ लेकर उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ, हसनदीन को भी उसने साथ ले लिया। "साब, यह तो अढ़ाई रुपये पर भी तैयार नहीं होता।"

और यद्यपि अभी मन-ही-मन खन्ना साहब ने कुछ ज़्यादा खर्च करके भी बर्फ़-गाड़ी की सैर करने का फ़ैसला किया था तो भी जब उन्होंने उत्तर दिया तो 'ठीक है, चलेंगे,' उनके होंटों से नहीं निकला। वे उठ खड़े हुए। "तो कोई बात नहीं, हम पैदल ही जायेंगे, हमें जल्दी नहीं।" उन्होंने कहा और एक हाथ से अपनी दायीं रान पर ज़ोर दे कर चढ़ाई चढ़ने लगे।

वे लोग खन्ना साहब के पीछे आते हुए, कश्मीरी भाषा में तेज़-तेज़ बातें करने लगे। कुछ देर बाद पहले कश्मीरी ने आगे बढ़ कर कहा, "साब, यह अढ़ाई रुपये तो ले लेगा, पर इससे कम नहीं लेगा।"

"हम सवा रुपये से कौड़ी ज़्यादा नहीं देंगे," खन्ना साहब ने बिना रुके कहा। लेकिन हसनदीन को आवाज़ दे कर वे धीरे से बोले, "तुम ठीक समझो तो उन्हें डेढ़ रुपये पर राज़ी कर लो। इससे ज़्यादा हम नहीं देंगे।"

वे सब अफ़राबट पहुँच गये थे, जब आखिर तय हुआ कि वे लोग चाहे जैसे बाँटें, खन्ना साहब तीनों सवारियों के सात रुपये देंगे और कश्मीरी बर्फ़-गाड़ी

वाले उनकी बात मान गये।

जैसे अफ़राबट के कन्धे पर एक बड़ा छोटा-सा, किंचित ढालुवाँ घास का मैदान था। वहाँ चन्द ही कदम के अन्तर पर बर्फ़-ही-बर्फ़ फैली थी, जो कुछ और ऊँचे पर अफ़राबट की चोटी तक चली गयी थी। उस बर्फ़ के उधर क्या है, यह उस घास के मैदान से नज़र न आता था। जो लोग पहले आ गये थे, उनमें से कुछ थक कर अध-बैठे, अध-लेटे हो गये थे और कुछ उस मैदान के किनारे जा कर नीचे फैली कश्मीर की वादी का नज़ारा कर रहे थे। खन्ना साहब का बच्चा उन बुज़ुर्ग से सामने के पहाड़ों और चोटियों के सम्बन्ध में प्रश्न कर रहा था। उनकी बीवी थक कर लेट गयी थी। तभी उन्होंने देखा—अफ़राबट की चोटी के नीचे बर्फ़ के उस चौड़े पाट पर वही बर्फ़-गाड़ी वाला जल्दी-जल्दी पैर रखता हुआ, ऊपर को चढ़ा जा रहा है।

बर्फ़ की उस श्वेत विशालता में वह आगे को बढ़ता चींटा-सा उन्हें बड़ा भला लगा। हसनदीन बैग उनकी पत्नी को सौंप कर कम्बल बिछा कर लेटने का उपक्रम कर रहा था कि उन्होंने उठ कर उससे पूछा—"वह कहाँ जा रहा है ?"

"शायद मुण्डी बूटी लेने।"

"मुण्डी बूटी !"

"यहाँ उगता है, खूब महँगा बिकता है।"

खन्ना साहब कुछ क्षण तक वहीं खड़े उसे देखते रहे, फिर वे पलटे। वहाँ गये, जहाँ उनका बच्चा और बुज़ुर्ग खड़े थे। सामने वही दृश्य था, जो खिलनमर्ग से दिखायी देता था—हाँ कुछ और विशाल, कुछ और विराट हो गया था। सामने, जहाँ वुलर थी, काफ़ी धुन्ध उठ रही थी और हरमुख और नाँगा पर्वत के हिम-शिखर बादलों में छिप गये थे—'अप्रैल-मई में यहाँ का नज़ारा शानदार होगा।' उन्होंने सोचा। तब कोई कह रहा था—"बादल हँटने के बाद आकाश खुला हो और बढ़िया दूरबीन आँखों पर हो तो यहाँ से शालामार और निशात तक दिखायी दे जाते हैं।"

एक दूसरा व्यक्ति उस विलायती साहब से अंग्रेज़ी में पूछ रहा था, "क्यों साब, आपका स्विटज़रलैण्ड कश्मीर से अच्छा है ?"

"स्विटज़रलैण्ड छोटा है, कश्मीर की एक घाटी में समा जाय, लेकिन वह विकसित ज़्यादा है।" उन्होंने अंग्रेज़ी ही में उत्तर दिया। उनके उच्चारण में 'ट' के बदले 'त' और 'ड' के बदले 'द' था।

एक बजने को था, जब लोग लंच पर बैठे। ऊपर आकाश पर बड़े निकट ही, बादलों के टुकड़े उड़ रहे थे। अपने बच्चे की प्रगल्भता और चांचल्य के कारण खन्ना साहब ने उन बुज़ुर्ग और उनकी टोली से मैत्री कर ली। उन्होंने अपना एक-एक पराँठा सब को बाँट दिया और बदले में षड-रस-स्वाद पाया। उन बुज़ुर्ग तथा उनके साथियों के पास तो लैमन स्कुआश की बोतल और थर्मास में पानी

था, पर खन्ना साहब अपनी बीवी के साथ हसनदीन से पता ले कर वहाँ गये, जहाँ कश्मीरी स्लेज वाले खड़े थे। वहाँ किनारे पर, यद्यपि ऊपर-ऊपर बर्फ़ हल्की थी, लेकिन नीचे उसी तरह जमी थी, जैसे कारखानों में जमी होती है और उसी से पानी की पतली-सी धार टपक रही थी। वहीं से उन्होंने चार-चार घूंट पानी पिया। प्यास तो नहीं मिटी, लेकिन पानी इतना ठण्डा था कि पीना मुश्किल था। उस टोली के एक-दो मनचलों के पास बढ़िया कैमरे थे, जब उन्होंने फ़ोटो लिये तो खन्ना साहब भी उनमें शामिल हो गये। वे लोग दिल्ली ही के थे। (खन्ना साहब ने अपना पता उन्हें लिखवा दिया और उनका लिख लिया कि यदि वे स्वयं उन्हें फ़ोटो का प्रिंट न भेजें तो वे खुद जा कर ले लें। अपने कैमरे से फ़ोटो ले कर उन्होंने एक-दो फ़िल्में बर्बाद करना ठीक नहीं समझा।)

पौने दो बजने को होंगे, जब कुछ लोगों ने अलपत्थर और फ़रोज़न लेक देखने का फ़ैसला किया। यद्यपि कुछ लोगों का ख़याल था कि वहीं से वापस चलना चाहिए, लेकिन उस टोली में एक अमृतसर का युवक लाला भी था, उसने कहा कि जब पैसे खर्च किये हैं तो उनका पूरा लाभ उठाना चाहिए और खन्ना साहब को उसकी बात पसन्द आयी। उनके अपने मन में भी यही बात थी। इतना पैसा खर्च करके और इतना शारीरिक कष्ट सह कर क्या वे इस छोटे-से घास के टुकड़े पर बैठने को आये थे! घाटी का दृश्य तो खिलनमर्ग से भी दिखायी देता था। उनके बच्चे ने जब सुना कि लोग फ़रोज़न लेक चलने की सोच रहे हैं तो वह खुशी से उछलने लगा, "पापो जी, हम ज़रूर फ़रोज़न लेक देखेंगे, पापो जी, हम ज़रूर फ़रोज़न लेक देखेंगे।" उसने रट लगायी और अपने नये बने अंकल का हाथ खींचने लगा कि अंकल तुम भी चलो। और हालाँकि उन्होंने वहीं अपने साथियों की वापसी का इन्तज़ार करने की सोची थी, पर उस छोटे-से बच्चे को तैयार होते देख कर वे भी तैयार हो गये।

खन्ना साहब की बीवी ने बैग ठीक किया और खन्ना साहब ने हसनदीन को जा झकझोरा।

हसनदीन ने कम्बल हटाया। उसका सिर फटा जा रहा था, नाक बह रही थी और शायद उसे हरारत भी थी। आँखें मलते हुए उसने आसमान की ओर देखा और बोला—

"साब, टाइम बहुत हो गया है। तुमको बस पकड़ना है। तुमको अब चलना चाहिए।"

"नहीं, नहीं, अब इतनी दूर आये हैं तो अलपत्थर और फ़रोज़न लेक देखे बिना वापस न जायेंगे। जाते में तो बर्फ़-गाड़ियों से जायेंगे?"

"साब, तुम देख आओ। हम नीचे दोनाले पर तुम्हारा इन्तज़ार करेगा।"

गाइड किसी भी आदमी के साथ न था। साथ की टोली में से एक आदमी कभी बहुत पहले लड़कपन में आया था, लेकिन ऐसी अकेली जगह खन्ना साहब

किसी तरह का सकट मोल लेने को तैयार न थे।

"नहीं, नहीं, तुम चलो। इतनी दूर आ कर तुम हमें नहीं छोड़ सकते !" उन्होंने कहा, फिर मिन्नत के स्वर में बोले, "यकीन करो, हम तुम्हें ख़ुश कर देंगे। यकीन नहीं आता तो पहले रुपये ले लो।" और उन्होंने जेब में हाथ डाला।

"नहीं साब, उसका बात नहीं। हमारा सिर दर्द करता है। हमको सर्दी लग गया है। बुखार लगता है।"

खन्ना साहब का बच्चा भाग आया और उसने हसनदीन का हाथ पकड़ कर खींचा, "चलो, हमको बर्फ़ पार कराओ।"

हसनदीन ने क्षण भर उस चंचल बच्चे को देखा। फिर बेबसी से बोला, "बच्चा, हमारा तबीयत खराब है। तुम अपने पापा-ममी के साथ जाओ।"

बच्चे ने होंट तरेर लिये। हसनदीन के मन को कुछ होने-सा लगा। अपना सिर का दर्द और बुखार उसे भूल-सा गया।

तभी खन्ना साहब की पत्नी ने बैग से बाम निकाला और इस बार उसे स्वयं हसनदीन के माथे, कनपटियों और नाक की ठोड़ी के दोनों ओर मल दिया।

हसनदीन फिर चल पड़ा।

वे लोग जहाँ खाना खाने बैठे थे, वहाँ से कुछ ही कदम ऊपर को बढ़े तो उन्हें सामने बर्फ़ फैली दिखायी दी। उसे पार कर वे ऐसी जगह पहुँचे जहाँ बर्फ़ कुछ ढल गयी थी। लेकिन वहाँ से चोटी के दूसरी ओर का दृश्य दिखायी न देता था। हसनदीन के पीछे-पीछे वे बायीं ओर को मुड़े तो फिर दूर तक बर्फ़ फैली दिखायी दी। वास्तव में यह उसी बर्फ़ का ऊपरी भाग था, जो नीचे दोनाले तक फैली चली गयी थी। चूंकि ढलान यहाँ नहीं थी, और उनके बच्चे को बर्फ़ पर चलना आ गया था, इसलिए वह इसे बर्फ़ पर भी अपने आप चन्द कदम बढ़ गया। लेकिन खन्ना साहब ने उसे डाँट दिया कि वह हसनदीन के साथ जाय।

हसनदीन ने फिर एक बार कहा, "साब, बादल घिर रहा है, बरसेगा, तुमको वापस जाना चाहिए।"

लेकिन वहाँ पहुँच कर, उस पार का नज़ारा न करना, अलपत्थर और उसकी जमी हुई झील को न देखना, उन्हें अपने पैसे के पूरे दाम न वसूल करना लगा। फिर यदि उनका बच्चा या बीवी आपत्ति करते, थके दिखायी देते तो शायद वे लौट पड़ते। लेकिन बच्चा उनका शोख और चंचल था। फिसलने अथवा गिरने की परवाह किये बिना, हसनदीन के साथ वह पिछली बर्फ़ पर भागता चला आया था और अब बर्फ़ की यह नदी पार करने को मुस्तैद था।

"साब, नीचे जाने का वक्त नहीं रहेगा।" हसनदीन ने रुक कर फिर एक बार कहा।

खन्ना साहब ने घड़ी पर नज़र डाली और हसनदीन का हाथ खींचते हुए,

बर्फ़ पर कदम रखे, अपने बच्चे की ओर देखा। उसे देखते हुए माँ की आँखों में जो चमक थी, उसे लक्ष्य किया और बोले, "हम स्लेजों में वापस जा रहे हैं, तुम जल्दी करो, हमारे पास एक घण्टा है। इतनी दूर आ कर अब फ़रोज़न लेक देखे बिना वापस न लौटेंगे।"

हसनदीन बच्चे को लिये हुए बढ़ा। खन्ना साहब कन्धे पर कैमरा और बरसाती सँभालते हुए अपनी पत्नी को लेकर उनके पद-चिन्हों में पैर रखते हुए एक-दूसरे को सहारा देते हुए बढ़े। उनकी पत्नी छाते से छड़ी का काम लेती रही।

वे अभी आधे रास्ते में होंगे कि हसनदीन बच्चे को छोड़ कर आ गया और दोनों को सहारा देता तेज़-तेज़ ले चला। पिछली टोली के आदमी गिरते-पड़ते पीछे आ रहे थे।

ठीक उस बर्फ़ की नदी के पार अफ़राबट की चोटी थी, जहाँ से दूसरी ओर का दृश्य दिखायी देता था। खन्ना साहब वहीं मन्त्र-मुग्ध से खड़े रहे। दृश्य वर्णनातीत रूप से सुन्दर था। इस चोटी से सामने के शिखर तक दायें-बायें, आमने-सामने—सारी जगह बर्फ़ से ढँकी थी और एक ओर से ऊँचा और मुँह की ओर को झुका विशाल बीकर* सा बन गया था। कहीं भी तो चट्टान या पत्थर दिखायी न देता था। दायीं ओर, जहाँ बर्फ़ ढालुवाँ होती हुई अफ़राबट के पीछे-पीछे नीचे तक चली गयी थी, दूर सब्ज़ी-मायल झलक लिये हुए नीला जल झाग उड़ाता बह रहा था। उसके परे कहीं नीचे देवदार का जंगल था। वहीं जंगल के ऊपर आकाश का रंग गहरा नीला हो रहा था और रह-रह कर बिजली चमक उठती थी।...

लेकिन हसनदीन को यह सब सौन्दर्य दिखायी न दे रहा था। उसका सिर फटा जा रहा था और वह चाहता था कि वे लोग यह सब देख-दिखा कर नीचे को चलें और वह अपने घर पहुँच कर लिहाफ़ ओढ़ ले और एकदम सो जाय।

"साब, पानी आ रहा है, शायद पत्थर पड़ें।" उसने जैसे अपने स्वर से ही उन्हें आगे ठेलते हुए कहा और कम्बल को सिर से लपेटते हुए ज़ोर से बर्फ़ पर नाक साफ़ की।

"पानी तो अब आयेगा ही, चाहे हम आगे जायें या पीछे मुड़ें।" खन्ना साहब बोले, "इसलिए हम मुड़ेंगे नहीं।" और बरसाती पहनते हुए उन्होंने नीचे घाटी से नज़र हटा कर सामने के पहाड़ के पीछे से सिर उठाती हुई कान्तारनाग की की हिम-मण्डित चोटी की ओर देखा। नीले-नीले आकाश की पृष्ठ-भूमि में वह बड़ी सुन्दर और भव्य लग रही थी।

लेकिन उनके पास इत्मीनान से यह सब सौन्दर्य देखने का समय नहीं था। उन्होंने हसनदीन से पूछा, "क्यों भई, अलपत्थर कहाँ है?"

---

* Beaker=चोंच वाला प्याला

हसनदीन ने हाथ से सामने इशारा किया, "बस, यह सामने अलपत्थर है।"

खन्ना साहब ने देखा—अफ़राबट के बायीं ओर बर्फ़-ही-बर्फ़ थी, जिसे नीचे से पार करके वे आये थे, लेकिन दायीं ओर शायद वह पिघल गयी थी और बहुत बड़े-बड़े लाल पत्थर बिखरे थे।

"फ़रोज़न लेक यहाँ से कितनी दूर है ?"

"मील भर होगी साब।"

"नज़र कहाँ से आयेगी ?"

"अलपत्थर के परे, जहाँ यह चोटी खत्म होती है, वहाँ से।"

"तो चलो।"

और वे छड़ी की मदद से उधर को बढ़े। दो जगह उन्हें फिर बर्फ़ पार करनी पड़ी। वे दूसरी बार बर्फ़ पार कर, छड़ी की मदद से बड़े-बड़े पत्थरों पर लगभग भागते जा रहे थे कि तूफ़ान ने उन्हें आ लिया और सूखे अम्बर ओले गिरने लगे। दूसरे लोग न जाने कहाँ पीछे रह गये थे।

पत्नी ने ओवरकोट पहन रखा था, उसने छाता तान लिया। बच्चे ने नोकदार टोपी वाली बरसाती पहन ली। लेकिन वे बहुत बढ़ नहीं पाये। क्योंकि ओले तड़ातड़ गिरने लगे और आकाश पर रह-रह कर बादल गरजने लगे।

खन्ना साहब पर जैसे जुनून सवार हो गया। पत्थरों पर छड़ी टिकाते हुए वे लगभग भागते गये कि ओले और भी ज़ोर से गिरने लगे। हसनदीन ने निकट आकर कहा, "हुज़ूर, अब चलिए, यह सामने फ़रोजन लेक है।"

खन्ना साहब ने देखा—सामने के पहाड़ पर बर्फ़ कुछ ऐसे जमी थी कि गोल दायरा-सा बन गया था। लेकिन ध्यान से देखने पर उन्हें उस आँचल में दो-तीन जगह वैसे ही गोल घेरे दिखायी दिये। तीनों ओर हिमाच्छादित पहाड़ थे, जिससे बीच में बर्फ़ का प्याला-सा बना था। इसी प्याले में छोटे-छोटे दायरे दिखायी देते, जिससे लगता कि यहाँ पानी जमा होगा। खन्ना साहब रुके नहीं, अपने बीवी-बच्चे को वहाँ रुकने के लिए कह कर वे आगे बढ़े।

बादल शायद नीचे खिलनमर्ग की ओर उड़ गये थे। पत्थरों पर फलाँगते, दरारों से बचते, खन्ना साहब अलपत्थर के किनारे की ओर बढ़ते गये। आखिर वे उस चोटी के किनारे पर पहुँच गये। सामने दूसरी चोटी तक सब जगह बर्फ़ जमी थी और अलपत्थर के काफ़ी नीचे एक जगह, वैरीनाग के चश्मे जैसे सब्ज़ी-मायल नीले, जहरमोहरा रंग के पानी की एक लकीर-सी दिखायी दे रही थी।

तब तक हसनदीन भी आ मिला। साब, यह एक महीने तक पिघल जायगा। अगस्त में तुम इधर आयगा तो यहाँ लेक मिलेगा। अभी यह फ़रोज़न है, जमा है। बस अभी तो यहाँ ज़रा-सा पानी है।"

खन्ना साहब सहसा पीछे मुड़े, अपनी बीवी और बच्चे को उन्होंने आवाज़ दी। फिर उन्होंने हसनदीन को आदेश दिया कि उन्हें जाकर ले आये।

हसनदीन ने नाक साफ़ की, कम्बल को सिर के गिर्द लपेटा और जाकर उनको ले आया।

केवल एक दृष्टि उस पर डाल कर वे सब मुड़े। खन्ना साहब तेज़ी में सबसे आगे चल रहे थे।

रास्ते में उन्हें वही बुज़ुर्ग और टोली के दूसरे आदमी मिले। बिना रुके, चलते-चलते खन्ना साहब ने उनका पथ-निर्देश किया और यह कहते हुए कि उन्हें बस पकड़नी है, भागे। आते समय हसनदीन उन्हें शॉर्टकट से लाया। उन्हें बर्फ़ का वह दरिया पार नहीं करना पड़ा। बर्फ़-गाड़ी वाले अफ़राबट की उस बर्फ़ानी नदी के इस किनारे आ गये थे। हसनदीन उन्हें शॉर्टकट से इसी किनारे ले आया।

आकाश खुल गया था। सहसा खन्ना साहब को खयाल आया, क्यों न अफ़राबट की चोटी पर फैली इस बर्फ़ पर अपने बीवी-बच्चे का फोटो लें और उन्होंने बैग माँगा; कैमरे का स्टैण्ड निकाल, उसे बर्फ़ में गाड़ा और कैमरा फ़िट करके जल्दी-जल्दी दो फ़ोटो लिये। वे कैमरा बन्द कर रहे थे कि उनका बच्चा बर्फ़-गाड़ियों पर चढ़ने की खुशी में उधर को भागा और पत्थर पर फिसल गया। खन्ना साहब कैमरा वहीं छोड़कर भागे। हसनदीन से उन्होंने मेम साहब को लेकर आने के लिए कहा और स्वयं बच्चे को उठाकर वर्फ़-गाड़ियों की ओर बढ़े।

बर्फ़-गाड़ियाँ छोटी-छोटी थीं—बे-पहिये की—और लगाम की जगह उनमें रस्सी लगी थी। ड्राइवर आगे बैठे थे। एक-एक आदमी को अपने पीछे बैठने के लिए उन्होंने कहा। बच्चा सबसे अगली गाड़ी में बैठना चाहता था, सो खन्ना साहब ने उसे सबसे अगली गाड़ी पर बैठा दिया।

"मेरी कमर में बाँहें डालकर उसे कसके पकड़ लो और जैसे मैं दोनों पर फैला दूँ, ऐसे फैला लो—देखो, कमर मत छोड़ना!" ड्राइवर ने कहा।

खन्ना साहब ने यही आदेश दोहरा दिया। बच्चा उसी तरह बैठ गया। और बर्फ़-गाड़ी बह चली।

बच्चे के बाद खन्ना साहब की पत्नी बैठी।

सबसे अन्तिम गाड़ी पर वे स्वयं बैठे।

चलने से पहले उन्होंने एक बार पीछे मुड़कर देखा। हसनदीन ने बरसाती नीचे बिछा ली थी, दोनों पाँव फैला कर बर्फ़ में गाड़ लिये थे और छड़ी को बर्फ़ में गाड़ कर स्टीरिंग के लिए दोनों हाथों में ले लिया था और वह खन्ना साहब के पीछे उतरने को बिलकुल तैयार था...

उसके परे खन्ना साहब की नज़र अलपत्थर की ओर चोटी पर गयी। बर्फ़ के ऊपर ऊषा और जीवानन्द खड़े थे। पीछे केवल नीला आकाश था। दोनों के बाल उड़ रहे थे और दोनों के हाथ एक-दूसरे की कमर में थे।

खन्ना साहब और कुछ नहीं देख सके, क्योंकि स्लेज चल पड़ी थी। केवल

हसनदीन ने एक क्षण ऊषा और जीवानन्द को देखा और एक क्षण खन्ना साहब को और सिर को ज़रा-सा झटका देकर वह भी नीचे को फिसल चला।

बर्फ़-गाड़ियाँ बिजली की गति से बर्फ़ की ढलान पर उड़ी जा रही थीं। स्लेज वाले बड़े कुशल चालक थे। पाँव बर्फ़ पर धँसाते, दोनों हाथों से स्लेजों की रस्सियाँ पकड़े, उड़े जा रहे थे। उनके फैले हुए पैरों की एड़ियों से बर्फ़ पर दो गहरी लकीरें बनती चली जा रही थीं। अचानक खन्ना साहब को ख़याल आया—काश, कैमरे में इस दृश्य को उतारा जा सकता। और कैमरे का ख़याल आते ही उन्होंने दृश्य से आँखें हटा कर कमर में सदा लटकने वाले कैमरे पर निगाह डाली। दिल धक्क से रह गया। कैमरा नहीं था। तभी उन्हें याद आया कि कैमरा तो उन्होंने हसनदीन से सँभालने को कहा था। तब चिल्लाकर उन्होंने अपने पीछे आते हसनदीन से पूछा—

"हसनदीन, कैमरा और स्टैण्ड तो सँभाल लिया है न ?"

हसनदीन ने देखा—कैमरा कन्धे से लटक रहा है, पर फ़िरन की जेबें देखीं तो स्टैण्ड नदारद !

"साब, स्टैण्ड तो शायद जल्दी में ऊपर रह गया।" वह चिल्लाया।

खन्ना साहब ने गाड़ी वाले को रोकने के लिए कहा। कुछ आगे जाकर गाड़ी रुक गयी।

हसनदीन खन्ना साहब के बराबर आ गया, उसने कैमरा उनके गले में डाल दिया।

"साब, स्टैण्ड शायद ऊपर चोटी पर रह गया। हम अभी उसे लाता है। तुम चलो। हम शॉर्टकट से आता है।"

और नीचे से बरसाती निकालकर उसे कन्धे पर डालते हुए एड़ियों को बर्फ़ में गाड़ता हुआ, वह बर्फ़ पर सीधा चोटी की ओर चल दिया।

खन्ना साहब का बच्चा और बीवी दूर निकल गये थे। "भई, हमें बस पकड़नी है, बस अब गाड़ी को उड़ा ले चलो।" उन्होंने स्लेज वाले से कहा।

"साब, मेरी कमर को कस कर पकड़िए और पैर उठाकर पीछे से मेरी गोद में रख लीजिए।" और उसने उनके दोनों पैर उठाकर अपनी गोद में रख लिये और स्लेज हवा से बातें करती दोनाले की ओर लपकी।

हसनदीन धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा जा रहा था। उसके पाँव मन-मन भर के हो रहे थे, सिर फटा जा रहा था, आँखों के आगे झिलमिला-सा छा रहा था और वह कभी फ़िरन की आस्तीन से, कभी कम्बल के कोने से अपनी नाक पोंछता था और बार-बार अपने फ़िरन की जेबें टटोलता था। लेकिन स्टैण्ड कोई सुई-सिलाई तो थी नहीं कि जेबों में गुम हो जाती। स्टैण्ड या तो ऊपर रह गया था, या तेज़ी से उतरते वक्त गिर गया था।

उसे इतना याद था कि अलपत्थर से लौटते समय वह खन्ना साहब को शॉर्टकट से लाया था, जहाँ स्लेज वाले अपनी छोटी-छोटी स्लेजें लिये खड़े थे। यहाँ—उस बर्फ़ानी देव के सीने पर, जिसके पैर खिलनमर्ग तक फैले हुए थे, खन्ना साहब रुके थे और उन्होंने हसनदीन से कैमरा माँगा था और फ़ोटो लिये थे। वे कैमरा बन्द कर रहे थे कि इस बीच उनका लड़का बर्फ़-गाड़ियों की ओर भागा और पत्थर पर फिसल गया। खन्ना साहब ने कैमरा वहीं छोड़कर उसे भागकर उठाया था। हसनदीन भी भागा था, लेकिन उससे उन्होंने कहा कि वह कैमरा वग़ैरा सँभालकर मेम साहब को जल्दी लेकर आये, उन्हें ज़रा भी देर न करनी चाहिए···वह वापस आया था तो मेम साहब ने कैमरा और स्टैण्ड बन्द कर उसे दिया था। खन्ना साहब नीचे से जल्दी मचा रहे थे और वह बैग उठाये, उनकी बीवी को सहारा देता चला आया था···

हसनदीन को यह सब अच्छी तरह याद था। इसके बाद उसे कुछ भी याद न आ रहा था। कैमरा तो उसे ही दिया गया था, क्योंकि जब खन्ना साहब ने पूछा तो उसकी गर्दन में लटक रहा था, लेकिन स्टैण्ड?—शायद स्टैण्ड उसने बर्फ़-गाड़ी वाले की पीठ से बैग बाँधते वक्त उसमें रख दिया था।

यह ख़याल आते ही वह मुड़ा। उसने देखा—खन्ना साहब नीचे दोनाले पर पहुँच गये हैं। दो घोड़े तैयार खड़े हैं। ममदू का घोड़ा हाथ नहीं आ रहा। पानी और ओले पड़ने के कारण उन्होंने शायद काठियाँ उतार ली थीं और घोड़ों को चरने के लिए छोड़ दिया था और वह पकड़ा न जा रहा था, या रस्सी तुड़ा कर भाग गया था। खन्ना साहब हाथ-पाँव चलाते हुए उस ऊँचाई से चींटे-सरीखे लग रहे थे। हसनदीन कयास ही से उन्हें पहचान रहा था। हो सकता है, घोड़ा ईदू का ही हो। उस साले का काम में मन नहीं लगता, ज़रूर उसी ने बेपरवाही से घोड़ा भगा दिया है। उसने भारी-सी गाली मन-ही-मन अपने बेटे को दी।

उसके जी में आया, उड़कर नीचे पहुँच जाय और एक बार बैग खोलकर देख ले, लेकिन एक तो घोड़ा पकड़ में आ गया और उसके देखते-देखते उस पर काठी कसी गयी और वे सवार हो गये, दूसरे उसने सोचा—यदि स्टैण्ड बैग में न हुआ तो···उसे एक बार ऊपर उस जगह पर देख ही लेना चाहिए, जहाँ फ़ोटो लिये गये थे। और वह तेज़-तेज़ चलने लगा। रास्ते में आँख फाड़-फाड़कर वह देखता जाता था, आस्तीन से आँखों का पानी और बहती नाक पोंछता जाता था।

लेकिन बर्फ़ का वह पूरा मैदान देखने पर भी, उसे स्टैण्ड कहीं दिखायी न दिया। स्टैण्ड जहाँ गाड़ा था, वहाँ बर्फ़ में तीन गड्ढे अभी तक बने हुए थे, लेकिन स्टैण्ड कहीं न था। हसनदीन ने चोटी पर खड़े होकर बर्फ़ की उस ढाल पर निगाह डाली। उस सफ़ेदी में कहीं एक काला धब्बा भी न था—क्षण भर को उसकी निगाह और नीचे गयी। खिलनमर्ग और उससे परे गुलमर्ग के मैदान पर ओले बिछे हुए थे, जो घास पर छाये थे, लेकिन हरी-हरी धुली-निखरी फुनगियाँ

उनमें से निकली हुई थीं। बादल सामने के क्षितिज में जाकर इकट्ठे हो गये थे। वुलर पर कदाचित वर्षा हो रही थी। उस गहरे नीले आकाश की पृष्ठभूमि में हरी-हरी घास में बिछी ओलों की चादरें अथवा उन चादरों में झलकती घास की हरियाली बड़ी भली लग रही थी। लेकिन हसनदीन की परेशान आँखें वहाँ कैमरे का स्टैण्ड ढूँढ़ रही थीं। दूधिया हरियाली के उस सौन्दर्य पर उसकी निगाह नहीं गयी—कैमरे का स्टैण्ड ढूँढ़ती हुई उसकी दृष्टि उसी बर्फ़ानी ढाल पर वापस लौट आयी···

उसने फिर चारों ओर एक बेबसी की निगाह डाली। फिर बरसाती नीचे बिछायी, हताश-सा उस पर बैठ गया, छड़ी उसने बर्फ़ में गाड़ी, पाँव फैलाये और तेज़ी से नीचे को फिसल चला।

बस के समय के पहले टंगमर्ग पहुँच जाय, बस एक ही चिन्ता उसे लगी थी।

अफ़राबट से अन्धाधुन्ध उतरते वक्त न जाने बर्फ़ में छिपे किसी पत्थर की नोक से या न जाने किस चीज़ से उसकी एड़ी कट गयी। बर्फ़ में उसे पता नहीं चला, पर जब वह दोनाले से भागता हुआ खिलनमर्ग की ओर चला तो उसकी एड़ी में ज़ोर से टीसें उठने लगीं। उनकी परवाह न करता हुआ, लँगड़ाता-लँगड़ाता, वर्षा के कारण कीचड़ हो जाने से गिरता, फिसलता, लेकिन लगातार भागता हुआ वह दोनाले से खिलनमर्ग और खिलनमर्ग से गुलमर्ग पहुंचा···अगर स्टैण्ड न मिला तो साहब उसे एक पैसा भी न देगा और तीनों की दो दिन की मेहनत बेकार हो जायगी, लेकिन यदि बस न निकली हो तो वह साहब के पाँव पकड़कर कुछ-न-कुछ ले ही मरेगा···उनके लिए न सही, घोड़ों के लिए चारे और दाने भर का तो हो जायगा···लेकिन यदि बस निकल गयी तो···और विचार मात्र से उसका सिर घूमने लगता···और वह वापस रिशी और खुदा, दोनों से मनाता कि न केवल बस न निकली हो, बल्कि कैमरे का स्टैण्ड भी मिल गया हो।···कभी वह अपनी मूर्खता पर क्रोध करता कि उसने क्यों पिछले दिन का हिसाब उसी दिन न कर लिया। सवारी पैसे-पैसे पर जान देने वाली है। ऐसी सवारी के पास पैसे कहीं छोड़े जाते हैं! कभी अपनी मूर्खता को, कभी अपनी किस्मत को, कभी खन्ना साहब की जल्दी को कोसता, लँगड़ाता-लँगड़ाता वह गुलमर्ग होटल पहुँचा और उसने बैरे से पूछा कि साहब को गये कितनी देर हुई है?

"वे लोग टंगमर्ग पहुँच गये होंगे," बैरे ने बताया, "तुमने उनका कैमरे का स्टैण्ड गुम कर दिया, फिर बरसाती और छड़ी भी उनकी तुम्हारे पास है। वे बड़े परेशान थे। तुम कोई घोड़ा लेकर जल्दी पहुँचो। बस में अभी टाइम है।"

वह होटल से बाहर निकला तो उसे खन्ना साहब का सन्देश भी मिला। एक घोड़े वाला सवारी को टंगमर्ग पहुँचाकर नीचे से आ रहा था। उसने हसनदीन को देखते ही कहा, "तुम्हारा साब नीचे जाता हुआ मिला था। बड़ा घबराया

हुआ था। तुम जल्दी पहुँचो।"

"मेरा पाँव कट गया है।"

"मेरा घोड़ा ले लो और भाग जाओ। एक रुपया दे देना।"

और कोई समय होता तो हसनदीन कभी यह स्वीकार न करता, लेकिन उस वक्त बढ़कर उसने घोड़े की लगाम थाम ली। घुड़सवार उतर आया। दूसरे क्षण हसनदीन घोड़े पर था और घोड़ा हवा से बातें कर रहा था।

टंगमर्ग के रास्ते पर लगाम घुमाने और घोड़े को एड़ लगाने के सिवा उसे किसी बात का ध्यान नहीं रहा। सौभाग्य से पानी इधर नहीं पड़ा था और घोड़े को भागने में ज़रा भी कठिनाई न हो रही थीं। हसनदीन ने इसे शुभ लक्षण समझा और उसने पीर को दुआ दी और उसे विश्वास हो गया कि न केवल बस खड़ी होगी, बल्कि कैमरे का स्टैण्ड भी बैग से मिल गया होगा।

दूर ही से जब उसे सरकारी बस खड़ी दिखायी दी तो उसने जोश से 'यौ पीर' का नारा मारा और घोड़े को एड़ लगायी। मिनटों में वह अड्डे पर पहुँच गया।

ईदू और ममदा सरदार हरनामसिंह के पास सहमे-से खड़े थे।

"घोड़ा ले ईदू।" अपने बेटे को आदेश देता हुआ, घोड़े से उतर, वह बस की ओर भागा।

लेकिन वह बस तक नहीं पहुँच पाया। रास्ते ही में सरदार हरनामसिंह ने उसे जा लिया और तड़ एक थप्पड़ और तड़ दूसरा थप्पड़…

"ओ उल्लू के पट्ठे, ओ खर के पिसर! कैमरे का स्टैण्ड कहाँ दबाया? बरसाती और छड़ी कहाँ है?"

"यह रही सरदार जी!"

और हरनामसिंह ने उससे दोनों चीज़ें लेकर साथी सिपाही को दीं कि साहब को पहुँचाये।

"लेकिन कैमरे का स्टैण्ड कहाँ है?" उन्होंने फिर उसकी ओर मुड़कर उसके एक थप्पड़ जमाया।

"सरदार जी…"

"मिला क्या? कहाँ है? चालीस रुपयों का स्टैण्ड है। साले पैसेंजरों को परेशान करते हो।"

और सरदार जी ने दो थप्पड़ और जमा दिये।

"जी…जी…"

"जीजी के बच्चे, कहाँ है स्टैण्ड?" और तड़ थप्पड़ और धड़ घूँसा।

हसनदीन धरती पर गिर गया। और उसने महसूस किया, सरदार हरनाम सिंह के घूँसों और गालियों के साथ रैना और करीम खाँ की ठोकरें और गालियाँ भी मिल गयी हैं।

"ले जाओ इसे हवालात में ! मैं ज़रा पैसेंजर से रिपोर्ट पर दस्तखत कराऊँ।"

बस वापस चलने को घरघरा रही थी। खन्ना साहब दरवाज़े में खड़े हसनदीन को पिटते देख रहे थे। अचानक उन्होंने ड्राइवर से कहा, "एक मिनट रोको।" और वे उतरे।

लेकिन सरदार हरनामसिंह उन्हीं की ओर आ रहे थे।

"सरदार जी, मारो नहीं, कहीं गिर गया होगा," उन्होंने कहा और जेब से अट्ठाइस नहीं, तीस नहीं—केवल पन्द्रह रुपये निकालकर सरदार हरनामसिंह के हाथ पर रख दिये, "उन्हें दे दीजिएगा, पाँच-पाँच बाँट लेंगे," और वे मुड़े। फिर रुककर उन्होंने दो रुपये के नोट और निकाले—"ये हसनदीन को दे दीजिएगा। उसकी बखशीश रही।"

और यों हातिमताई की कब्र पर लात मारकर वे भागते हुए घरघराती बस में जा चढ़े।

सरदार हरनामसिंह पैसे हाथ में लिये क्षण भर स्तम्भित-से खड़े रहे, फिर ऊँचे स्वर में बड़बड़ाये, "स्टैण्ड उन्हें कहीं ज़रूर मिल गया है, नहीं इतनी देर से शोर मचा रहे थे।"

"जी स्टैण्ड उनके बैग में था। मेम साब ढूँढ़ रही थीं तो मैंने खुद देखा था। पर उन्होंने वहीं दबा दिया···" एक साईस बच्चे ने कहा।

लेकिन सरदार हरनामसिंह ने उसे बात नहीं खत्म करने दी। ज़ोर का एक चाँटा उसके मुँह पर मारा।

"भाग जा यहाँ से, नहीं तू भी उसके साथ जेल में पहुँच जायगा।"

साईस बच्चा हवा हो गया।

साँझ के साये गहरे होकर टंगमर्ग पर छा गये थे। हवालात में कम्बल बिछाये हसनदीन खुदा के हुज़ूर में झुका हुआ था। खुदा ने तो उसे समय से चेता दिया था, यह उसकी मूढ़ता थी कि उसने उस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया। सजदा करके उसने खुदा से अपने सब गुनाहों की माफ़ी माँगी और दुआ की कि उसे इस मुसीबत से नजात दिलाये।

और थाने के एक कमरे में सरदार हरनामसिंह और करीम खाँ और रैना बैठे थे। सत्रह में से [illegible] को भिजवा दिये थे और शेष नौ आपस में ब[illegible] की बीवी को समझा रहे थे कि वह कहीं से प[illegible] सकता है, क्योंकि सरकार पैसेंजरों को [illegible] और घाटी के लोग भूखों मरेंगे। स्टैण्ड तो [illegible]

•••